प्रकाशक :
पंचशील प्रकाशन
फिल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता,
जयपुर—302 003

संस्करण : चतुर्थ,

मूल्य : सत्तर रुपये मात्र

शब्द-संयोजक : पंचशील कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक : शीतल प्रिन्टर्स, जयपुर

तृतीय संस्करण का आमुख

प्रस्तुत पुस्तक के तृतीय संस्करण के प्रकाशन पर हमें हार्दिक प्रसन्नता अनुभव हो रही है। अल्प-समय में पुस्तक के दो संस्करणों की समाप्ति, पुस्तक की लोकप्रियता तो प्रदर्शित करती ही है, लेकिन साथ ही यह शिक्षक बन्धुओं और हमारे प्रिय विद्यार्थियों के असीम सहयोग का भी परिणाम है। इससे हमारे उत्साह में अत्यधिक वृद्धि हुई है तथा इससे हमें एक नई प्रेरणा भी प्राप्त हुई है।

प्रस्तुत पुस्तक के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन के बाद कुछ विश्वविद्यालयों ने अपने पाठ्यक्रम में आंशिक संशोधन एवं परिवर्द्धन किया तथा हमें कुछ वरिष्ठ एवं प्रबुद्ध शिक्षकों एवं मेधावी छात्रों के बहुमूल्य सुझाव भी प्राप्त हुए। फलस्वरूप हमने नवीन पाठ्यक्रम और उन बहुमूल्य सुझावों के आधार पर पुस्तक को पूर्णतः संशोधित एवं परिवर्द्धित किया है। सम्पूर्ण पुस्तक की भाषा अधिक सरल एवं बोधगम्य बनाने का भी प्रयास किया है, ताकि हमारे प्रिय विद्यार्थी इस पुस्तक से अधिकाधिक लाभान्वित हो सकें। प्रस्तुत पुस्तक से विद्यार्थियों को कुछ भी लाभ हुआ तो हम अपना यह प्रयास सफल समझेंगे।

अन्त में हम उन सभी शिक्षक बन्धुओं और हमारे प्रिय विद्यार्थियों के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं, जिन्होंने न केवल पुस्तक को अपनाकर हमारे उत्साह में वृद्धि की है, अपितु समय-समय पर पुस्तक में सुधार करने हेतु बहुमूल्य सुझाव देकर हमारा मार्गदर्शन भी किया है। यदि भविष्य में भी, पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने की दृष्टि से कोई सुझाव देंगे तो हम उनके आभारी रहेंगे और निश्चित रूप से उनके उचित सुझावों को अगले संस्करण में समाविष्ट करने का प्रयास करेंगे।

हम, पंचशील प्रकाशन के संचालक श्री मूलचन्दजी गुप्ता के प्रति भी अपना आभार प्रकट करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते हैं, जिन्होंने अल्प समय में अपने अथक परिश्रम से पुस्तक को नवीन रूप में पाठकों तक पहुँचाने में अत्यन्त रुचि ली है।

—लेखकगण

विषय-सूची

अध्याय-1

18वीं शताब्दी के मध्य में भारत की राजनीतिक स्थिति

1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के साथ ही भारत के इतिहास में एक नये युग का पदार्पण होता है। जिस साम्राज्य की नींव बाबर ने डाली थी और अकबर ने जिसे सुदृढ़ बनाया था, वही मुगल साम्राज्य औरंगजेब की मृत्यु के लगभग 50 वर्षों के भीतर ही लड़खड़ा गया और अन्त में धराशायी हो गया। मुगल साम्राज्य का वैभव एवं ऐश्वर्य लुप्त हो गया। मुगल साम्राज्य की पतनोन्मुख स्थिति का लाभ उठाते हुए विभिन्न सूबों के सूबेदारों ने अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया, जिससे स्थानीय राज्यों का उदय हुआ। इससे देश की राजनीतिक एकता लुप्त हो गयी और मुगल साम्राज्य सिमटकर दिल्ली तथा उसके आसपास के प्रदेशों तक ही सीमित रह गया। पूर्वी भारत में अवध, बंगाल, बिहार और उड़ीसा जैसे समृद्ध प्रान्त केन्द्रीय सत्ता के प्रभाव से मुक्त हो गये। दक्षिण भारत में एक तरफ तो निजाम ने हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य की नींव रखी तो दूसरी तरफ मराठे द्रुत गति से उत्तर भारत को अपने राजनीतिक प्रभाव में लाने का प्रयास करने लगे। राजस्थान के राजपूत शासक भी मुगलों के कठोर नियन्त्रण से मुक्त होकर अपने-अपने राज्यों की सीमाओं का विस्तार करने में जुट गये। पंजाब में सिक्खों ने अपनी शक्ति को संगठित किया और एक संगठित सिक्ख राज्य की स्थापना का प्रयास करने लगे। दक्षिण भारत में यूरोपीय शक्तियाँ भी देश में फैली अव्यवस्था का लाभ उठाने हेतु उत्सुक हो उठीं। ऐसी स्थिति में ईरान के शासक नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण करके मुगल साम्राज्य की अर्थी तैयार कर दी।

मुगल साम्राज्य की अवनति

मुगल साम्राज्य की अवनति के लिए मुख्य रूप से उनमें उत्तराधिकार के नियम का अभाव तथा औरंगजेब के अयोग्य उत्तराधिकारी उत्तरदायी थे। औरंगजेब का प्रत्येक पुत्र भारत का बादशाह बनने का स्वप्न देखता था। शाहजादा अकबर तो औरंगजेब के जीवन काल में ही मुगल तख्त पर आसीन होने हेतु प्रयत्नशील हो गया था, परन्तु राजपूतों का सहयोग प्राप्त करने के बावजूद भी उसे सफलता नहीं मिली और उसे भागकर ईरान जाना पड़ा था। औरंगजेब के इस लोक से विदा होते ही उसके पुत्रों—मुअज्जम और आजम—के बीच उत्तराधिकार के लिए संघर्ष आरम्भ हो गया। इस संघर्ष में शाहजादा आजम अपने दोनों पुत्रों सहित मारा गया। शाहजादा

मुअज्जम, बहादुरशाह के नाम से मुगल तख्त पर आसीन हुआ। जनवरी 1708 को औरंगजेब का एक अन्य पुत्र कामबख्श भी हैदराबाद के निकट बहादुरशाह की सेना से परास्त हुआ और मारा गया। अपने राज्यारोहण के समय बहादुरशाह की आयु 65 वर्ष थी। वह बहुत ही अनिश्चित और उदार प्रकृति का व्यक्ति था और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को टालता रहता था अथवा समझौते के द्वारा उनका हल निकालने का प्रयत्न करता था। उसके शासनकाल (1707-12) में नीतियों में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं हुआ, परन्तु अमीरों में गुटबन्दी बढ़ गई और उसकी उदारता ने शाही राजकोष को बिल्कुल खाली कर दिया। 71 वर्ष की आयु में 1712 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

बहादुरशाह की मृत्यु के बाद उसके चार पुत्रों—जहाँदारशाह, अजीम-उश-शान, रफी-उश-शान और जहानशाह में गद्दी के लिए संघर्ष आरम्भ हो गया। इस उत्तराधिकार संघर्ष में जहाँदारशाह अपने तीनों भाइयों को परास्त करने तथा मारने में सफल रहा, परन्तु एक शासक के रूप में वह पूर्णतः अयोग्य सिद्ध हुआ। वह अत्यधिक विलासी था और एक नाचने वाली लड़की लालकुंवर के प्रेम में इतना आसक्त हो गया कि उसने लालकुंवर के रिश्तेदारों को दरबार में ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त कर दिया। शासन कार्यों की ओर उसकी उदासीनता से दरबार में षड्यन्त्र आरम्भ हो गये और महत्त्वाकांक्षी अमीरों को अपनी शक्ति और प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिल गया। बहादुरशाह के लड़के अजीम-उश-शान के पुत्र फर्रुखसियार ने इस स्थिति का लाभ उठाया। जनवरी 1713 ई. को जहाँदारशाह की गलाघोंट कर हत्या कर दी गई और फर्रुखसियर दिल्ली का बादशाह बन गया। इस समय फर्रुखसियर की उम्र 30 वर्ष थी और वह सर्वथा अविवेकशील था। फर्रुखसियर को बादशाह बनाने में सैयद बन्धुओं (सैयद अब्दुल्ला और सैयद हुसैनखाँ) ने सहयोग दिया था। अतः प्रशासन में सैयद बन्धुओं का महत्त्व बढ़ गया और मुगल बादशाह उनके हाथों में कठपुतली बन गया। फर्रुखसियर ने सैयद बन्धुओं के प्रभाव को नष्ट करने का प्रयास किया, परन्तु अपनी अयोग्यता एवं निर्बलता के कारण वह असफल रहा। फर्रुखसियर की विरोधी कार्यवाहियों के कारण सैयद बन्धु भी उसके विरोधी हो गये। 1719 ई. में सैयद हुसैनखाँ ने मराठा सेना की सहायता से दिल्ली पर आक्रमण कर फर्रुखसियर की हत्या कर दी और बहादुरशाह के पुत्र रफी-उश-शान के लड़के रफी-उद-दरजात को गद्दी पर बैठा दिया। रफी-उद-दरजात भी 20 वर्ष का युवक था तथा शराबी व क्षयरोग से पीड़ित था। चूँकि वह बहुत अधिक बीमार रहता था, अतः तीन माह बाद ही जून 1719 ई. में सैयद बन्धुओं ने उसे सिंहासन से हटा दिया और उसके बड़े भाई रफीउद्दौला को नया बादशाह बनाया। साढ़े तीन माह बाद पेचिस की बीमारी से उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के बाद बहादुरशाह के पुत्र जहानशाह के लड़के मुहम्मदशाह को बादशाह बनाया गया। इस प्रकार सम्राट-निर्माता सैयद बन्धुओं ने एक वर्ष में तीन बादशाह दिल्ली की गद्दी पर बैठा दिये।

मुहम्मदशाह ने 1748 ई. तक शासन किया। परन्तु समस्त सत्ता सैयद बन्धुओं के हाथ में केन्द्रित रही। सैयद बन्धुओं ने सहिष्णुता की नीति का पालन करते हुए राजपूत शासकों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने चाहे, परन्तु निज़ाम-उल-मुल्क के नेतृत्व में अनेक अमीर सैयद बन्धुओं के विरोधी हो गये। स्वयं मुहम्मदशाह भी सैयद बन्धुओं के नियन्त्रण से तंग आ

चुका था। अतः मुहम्मदशाह ने निजाम-उल-मुल्क के सहयोग से 1720 ई. में षड्यंत्र रचकर सैयद बन्धुओं को ठिकाने लगा दिया। परन्तु इसके बाद मुहम्मदशाह विलासिता और चाटुकारों का शिकार हो गया और वह 'मुहम्मदशाह रंगीला' के नाम से पुकारा जाने लगा। प्रशासन के प्रति उसकी उदासीनता के कारण साम्राज्य के विघटन की गति तेज हो गयी। 1723 ई. में निजाम-उल-मुल्क शिकार का बहाना लेकर दक्षिण चला गया और हैदराबाद (दक्षिण) के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली। निजाम के आदर्श पर चलते हुए अवध, बंगाल, बिहार व उड़ीसा के सूबेदार भी स्वतन्त्र हो गये। मराठे मालावा, गुजरात व बुन्देलखण्ड तक धावा मारकर उत्तर भारत में अपने प्रभाव में वृद्धि करने का प्रयास करने लगे। आगरा के निकट बसे जाटों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और राजपूत शासकों ने भी मुगल सत्ता की अवहेलना आरम्भ कर दी। इस प्रकार देश के अराजकतापूर्ण राजनैतिक वातावरण में ईरान के शासक नादिरशाह ने 1738-39 ई. में भारत पर आक्रमण कर दिया। उसने दिल्ली में भयंकर लूटमार की तथा लूट में कोहनूर हीरा व मयूर सिंहासन भी ले गया। मुहम्मदशाह ने सिन्ध नदी के पश्चिम के प्रदेश नादिरशाह को दे दिये। रक्तपात और लूटमार के द्वारा नादिरशाह ने देश को बर्बाद कर दिया और मुगल साम्राज्य के लिए अर्थी तैयार कर दी। उसने मुगल बादशाह को भी बन्दी बना लिया। ऐसी परिस्थितियों में 1748 ई. में मुहम्मदशाह की मृत्यु हो गयी।

मुहम्मदशाह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अहमदशाह (1748-54) गद्दी पर बैठा। अल्पआयु (21 वर्ष) का होने के कारण उसे प्रशासन का अनुभव नहीं था। अतः वह भी निकम्मा शासक सिद्ध हुआ। वह सर्वथा निकम्मे और बदनाम हिंजड़े जाविदखाँ के हाथों में खेलने लगा। साम्राज्य का सारा प्रशासन जाविदखाँ के सुपुर्द कर दिया गया। अतः दरबार के अन्य अमीर उससे द्वेष रखने लगे। दरबार में दलबन्दी आरम्भ हो गयी। तुरानी और हिन्दुस्थानी दलों के आपसी झगड़ों ने ज़ोर पकड़ लिया। अमीरों के इन षड्यंत्रों के कारण शासन की सम्पूर्ण श्रृंखला ही विश्रृंखल हो गयी। इस समय तक नादिरशाह के एक सेनापति अहमदशाह अब्दाली ने अफगानिस्तान में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करली थी। 1748 ई. में उसने भारत पर आक्रमण कर दिया, किन्तु शाही सेना ने उसे मानपुर के समीप परास्त कर दिया। इससे खिन्न होकर 1749 ई. में अब्दाली ने पुनः आक्रमण कर दिया। पंजाब का मुगल सूबेदार मीर मन्नू अब्दाली से परास्त हुआ और उसने अब्दाली की प्रभुता स्वीकार करते हुए उसे बहुत-सा धन दिया। धन पाकर अब्दाली वापिस काबुल लौट गया। लेकिन धन और भूमि के लालची अब्दाली ने 1752 ई. में पुनः भारत पर आक्रमण कर कश्मीर पर अधिकार कर लिया। मुगल बादशाह अहमदशाह, अब्दाली का सामना करने में असमर्थ था, अतः उसने अब्दाली को सरहिन्द का प्रदेश भी दे दिया। अब्दाली ने मीर मन्नू को अपनी ओर से पंजाब का सूबेदार नियुक्त किया और वापिस काबुल लौट गया। इधर मुगल सम्राट और उसके वजीर सफदरजंग में मनमुटाव आरम्भ हो गया। सफदरजंग ने छल कपट से जाविदखाँ की हत्या करवा दी, जिससे सम्राट और वजीर में अघोषित युद्ध शुरू हो गया। सम्राट ने मराठों की सहायता से सफदरजंग को परास्त किया। परास्त सफदरजंग अपने सूबे अवध की ओर चला गया। मुगल सम्राट ने सफदरजंग के स्थान पर इन्तिजामउद्दौला को अपना ।या वजीर बनाया। हैदराबाद के निजाम का पुत्र गाजीउद्दीन भी उसके साथ हो गया। गाजीउद्दीन

अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी तथा षड्यंत्रकारी युवक था। उसने मराठों की सहायता से सम्राट अहमदशाह को 1754 ई. में बन्दी बनाकर मौत के घाट उतार दिया तथा जहाँदारशाह के दूसरे पुत्र अजीजउद्दीन को गद्दी पर बैठा दिया। अजीजउद्दीन ने आलमगीर द्वितीय (1754-59) की उपाधि धारण की।

आलमगीर द्वितीय भी तत्कालीन परिस्थितियों में मुगल साम्राज्य की रक्षा नहीं कर सका। वह अपने वजीर गाजीउद्दीन के हाथों की कठपुतली बना रहा। वजीर गाजीउद्दीन अपनी ही स्वार्थपूर्ति में लगा रहा। 1753 ई. में पंजाब के सूबेदार मीर मन्नू की मृत्यु होने पर उसकी विधवा मुगलानी बेगम, अपने शिशु पुत्र के नाम पर शासन चलाने लगी। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए फरवरी 1756 ई. में गाजीउद्दीन ने पंजाब पर आक्रमण कर मुगलानी बेगम तथा उसकी लड़की और धन-सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया और उन्हें दिल्ली ले आया। गाजीउद्दीन ने साम्राज्य का राजस्व भी हड़पने का प्रयास किया, जिससे शाही परिवार के लोग भूखों मरने लगे। अतः शाही परिवार के लोगों ने तथा मुगलानी बेगम ने रोहिला सरदार नजीबउद्दौला से सहायता माँगी। नजीबउद्दौला ने शाही परिवार की ओर से अब्दाली से सहायता माँगी। अतः 1757 ई. के प्रारम्भ में अब्दाली भारत आ पहुँचा। उसने लाहोर पर अधिकार कर लिया तथा दिल्ली के निकट पहुँच गया। अब्दाली ने दिल्ली और मथुरा के आस-पास के प्रदेशों में भयंकर लूटमार की। लौटते समय उसने नजीबउद्दौला को मुगल साम्राज्य का मीर बख्शी बना दिया तथा अपने पुत्र तैमूरशाह को पंजाब का शासन सौंप दिया। लेकिन मुगल सम्राट से सहयोग करते हुए मराठों ने तैमूरशाह को पंजाब से भगा दिया। इससे क्रुद्ध होकर अब्दाली पुनः भारत की ओर रवाना हुआ। इसी समय 30 नवम्बर, 1759 ई. को वजीर गाजीउद्दीन ने सम्राट आलमगीर द्वितीय, भूतपूर्व वजीर इन्तिजामउद्दौला तथा कुछ अन्य मुगल अमीरों का वध करवा दिया।

सम्राट आलमगीर द्वितीय की हत्या होने के समय उसका पुत्र अलीगौहर पटना में था। अतः पटना में ही उसका अभिषेक किया गया। अलीगौहर ने शाहआलम द्वितीय की पदवी धारण की। शाहआलम द्वितीय (1759-1806) के शासनकाल की प्रमुख घटना पानीपत का तीसरा युद्ध था। जब तैमूरशाह को पंजाब से भगा दिया गया तब अब्दाली ससैन्य भारत पर आ धमका। उधर मराठे भी सदाशिवराव भाऊ के नेतृत्व में पानीपत के मैदान में आ पहुँचे। 14 जनवरी, 1761 ई. को अफगानों व मराठों के बीच भीषण युद्ध हुआ, जिसमें मराठा पूर्णतः परास्त हुए। इस युद्ध ने मुगल साम्राज्य को मरणासन्न कर दिया तथा मराठों की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया। अब्दाली लौटते समय नजीबउद्दौला को मुगल साम्राज्य का वजीर नियुक्त कर गया। शाहआलम, बंगाल व बिहार में भटकता रहा और नजीबखाँ दिल्ली में तानाशाह के रूप में शासन करता रहा। बक्सर के युद्ध (1764 ई.) के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के गवर्नर लार्ड क्लाइव ने उसके साथ इलाहाबाद की सन्धि करके उसे अपने संरक्षण में ले लिया। 1772 ई. में वह मराठों के प्रभाव में आ गया तथा मराठे उसे अपने संरक्षण में दिल्ली ले आये। 1803 ई. में कम्पनी सरकार ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया तथा शाहआलम अँग्रेजों का पेन्शनर बन गया। मराठे उसे सुरक्षा प्रदान नहीं कर सके। यद्यपि 1788 ई. में अमीरों ने उसे अन्धा कर दिया था, फिर भी 1806 ई. तक वह अँग्रेजों से पेन्शन पाता रहा और इसी अवस्था में 1806 ई. में उसकी मृत्यु हो

गयी। इस प्रकार शाहआलम द्वितीय का शासन मुगल साम्राज्य की सुरक्षा नहीं कर सका, बल्कि भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना में सहायक हुआ।

शाहआलम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अकबर द्वितीय (1806-37) गद्दी पर बैठा। वह भी अँग्रेजों का पेन्शन भोक्ता बना रहा। उसका साम्राज्य केवल दिल्ली के लाल किले तक सीमित रह गया। 1837 में उसकी मृत्यु हो गयी। तत्पश्चात् उसका पुत्र बहादुरशाह द्वितीय (1837-57) गद्दी पर बैठा, जो मुगल वंश का अन्तिम शासक सिद्ध हुआ। 1857 ई. की क्रान्ति के समय क्रान्तिकारियों ने दिल्ली पहुँचकर उसे अपना नेता घोषित कर दिया। क्रान्ति के असफल होने पर अँग्रेजों ने उसे बन्दी बनाकर रंगून भेज दिया। रंगून में एक बन्दी का जीवन व्यतीत करते हुए 1862 ई. में उसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार बहादुरशाह भी मरणासन्न मुगल साम्राज्य को नहीं बचा सका।

मुगल दरबार में दलबन्दी

दरबार में दलबन्दी एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मुगल दरबार में निजी स्वार्थों और आपसी स्पर्द्धा के कारण बहुत पहले से ही दलबन्दी चली आ रही थी। औरंगजेब की मृत्यु के समय उसके दरबार में कई दल थे। ये दल विभिन्न स्वार्थों के प्रतीक थे। यह दलबन्दी, औरंगजेब की मृत्यु होते ही उत्तराधिकार संघर्ष के रूप में उभर कर आई। बहादुरशाह के शासनकाल में मुगल दरबार ईरानी तथा तूरानी, दो दलों में विभक्त हो गया। प्रथम दल का नेतृत्व सैयद बन्धु कर रहे थे। सैयद बन्धुओं का उत्थान फर्रुखसियर के समय में हुआ था। चूँकि फर्रुखसियर सैयद बन्धुओं के सहयोग से सम्राट बना था अतः सम्राट बनने पर उसने सैयद अब्दुल्ला को अपना वजीर तथा सैयद हुसैन अली को मीर बख्शी बनाया। 1720 ई. तक मुगल साम्राज्य पर सैयद बन्धुओं का पूर्ण प्रभुत्व रहा। साम्राज्य की सम्पूर्ण राजनैतिक सत्ता उनके हाथ में केन्द्रित रही। मुगल सम्राट फर्रुखसियर उनके हाथ की कठपुलली बनकर रह गया। इस स्थिति से तंग आकर फर्रुखसियर ने सैयद बन्धुओं के प्रभाव को समाप्त करने हेतु षड्यंत्र रचना आरम्भ कर दिया। सम्राट को मीर जुमला, निजाम-उल-मुल्क, इनायतउल्ला कश्मीरी का सहयोग प्राप्त हो गया। फर्रुखसियर ने हुसैनअली को राजपूतों के विरुद्ध भेजकर उसे मरवाना चाहा, लेकिन वह सफल न हो सका। तत्पश्चात् उसे दक्षिण का सूबेदार बनाकर भेज दिया तथा पीछे से दाउदखाँ को गुप्त रूप से उसकी हत्या करने के लिए रवाना कर दिया। लेकिन सम्राट का यह प्रयत्न भी असफल रहा। फर्रुखसियर ने सैयद अब्दुल्ला को मरवाने के भी षड्यंत्र किये, जिससे सैयद बन्धुओं को फर्रुखसियर के षड्यंत्रों का पता चल गया। सैयद अब्दुल्ला ने सैयद हुसैनअली को मराठों से सहायता लेकर दिल्ली पर आक्रमण करने हेतु लिखा। सैयद हुसैन अली मराठों से सैनिक सहायता लेकर दिल्ली पर आ धमका। सैयद बन्धुओं ने फर्रुखसियर को बन्दी बनाकर उसकी हत्या कर दी।

फर्रुखसियर को अपदस्थ करने तथा उसकी हत्या करने से सैयद बन्धुओं के हौंसले बढ़ गये। अब वे सम्राट निर्माता (King Maker) बन गये। सैयद बन्धुओं के निर्देश पर अगले दस माह के भीतर तीन मुगल शाहजादे मुगलतख्त पर बैठे। इन तीनों शाहजादों में से कोई भी

गद्दी पर वैठना नहीं चाहता था। कहा जाता है कि जव रफी-उद-दरजात को गद्दी पर विठाने के लिए लाया जा रहा था, तव उसकी माता फूट-फूटकर रो रही थी। तीनों शाहजादे सम्राट वनकर सैयद वन्धुओं के हाथों की कठपुतली बने रहे। जिस गति से मुगल शाहजादे गद्दी पर वैठाये जाते थे और हटाये जाते थे, उससे सैयद वन्धुओं का प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा था। सैयद वन्धुओं के प्रभाव को रोकने का तुरानी दल के नेता मीर जुमला ने अथक् प्रयास किया, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। धीरे-धीरे सैयद वन्धुओं की निरंकुश शक्ति के विरुद्ध मुगल दरवार में अन्य अमीर भी उठ खड़े हुए और स्वयं मुगल सम्राट मुहम्मदशाह ने अपने आपको सैयद वन्धुओं के चंगुल से मुक्त कराने का संकल्प कर लिया। मुहम्मदशाह ने एक षड्यन्त्र रचकर अक्टूबर 1720 ई. में फतेहपुर सीकरी से 45 मील दूर एक स्थान पर हुसैन अली का क़त्ल करवा दिया। सैयद अव्दुल्ला ने अपने भाई की हत्या का बदला लेने के लिए विद्रोह कर दिया। लेकिन मुहम्मदशाह ने उसे वन्दी वना लिया। 1722 ई. में सैयद अब्दुल्ला को विष देकर उसकी हत्या कर दी गई।

सैयद वन्धुओं के पतन के वाद मुहम्मदशाह ने अमीनखाँ को अपना वजीर बनाया, जिसने एतमामुद्दौला की उपाधि धारण की। किन्तु जनवरी, 1721 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। अतः सम्राट मुहम्मदशाह ने निजाम-उल-मुल्क को दक्षिण से बुलाकर अपना वजीर नियुक्त किया। निजाम अत्यन्त ही योग्य प्रशासक था और उसने सैयद बन्धुओं का दमन करने में अपना पूर्ण सहयोग दिया था, जिसके फलस्वरूप उसे वजीर का पद प्राप्त हुआ था। वह प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त करना चाहता था, किन्तु तात्कालिक परिस्थितियों में ऐसा करना असम्भव था। अतः सम्राट से उसके मतभेद उत्पन्न हो गये। इसलिए वह दक्षिण जाकर हैदराबाद में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के प्रयास में लग गया, लेकिन सिद्धान्त रूप में वह मुगल सम्राट के प्रभुत्व को मानता रहा। निजाम के दक्षिण जाते ही दरवार में पुनः दलवन्दी आरम्भ हो गयी। तुर्की व मुगलों का नेता कमरुद्दीनखाँ वना जवकि हिन्दुस्तानी मुसलमानों का नेता खानेदौरां रहा। खानेदौरां निजाम और मराठों की वढ़ती हुई शक्ति को रोकना चाहता था, लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। फिर भी वह मुगल दरवार पर अपना प्रभाव वनाये रखा। नादिरशाह के आक्रमण के समय निजाम दिल्ली में था तथा साम्राज्य का शासन सूत्र उसके हाथ में था। खानेदौरां मीर वख्शी के पद पर आसीन था। खानेदौरां, नादिरशाह की सेना का मुकावला न कर सका। युद्ध में वह घायल हो गया और कुछ ही दिनों वाद उसकी मृत्यु हो गयी। अव मीर वख्शी के पद के लिए निजाम और सआदतखाँ के वीच प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ हो गयी। सआदतखाँ ने नादिरशाह को प्रलोभन दिया कि यदि वह दिल्ली पर आक्रमण करता है तो उसे 20 करोड़ रुपये दे दिये जायेंगे। मार्च, 1739 ई. में नादिरशाह ने दिल्ली पर आक्रमण कर दिया। किन्तु सआदतखाँ 20 करोड़ रुपयों का प्रवन्ध न कर सका। अतः उसने नादिरशाह के भय से आत्महत्या कर ली। 1740 ई. में निजाम पुनः दक्षिण लौट गया। कमरुद्दीन वजीर पद पर वना रहा।

नादिरशाह के हाथों करारी पराजय के वाद भी मुगल दरबार की दलवन्दी समाप्त नहीं हुई। 1740 ई. में तीसरा गुट वन गया, जिसमें मुहम्मद अमीरखाँ, मुहम्मद इसहाक और

असदयारखाँ प्रमुख थे। इस गुट के सदस्यों ने वजीर और उसके दल को समाप्त करने का प्रयास किया, किन्तु भेद खुल जाने पर अमीरखाँ को नीचा देखना पड़ा। 1745 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। 1748 ई. में अब्दाली के आक्रमण के समय भी मुगल दरबार में दलबन्दी बनी रही। 1748 ई. में ही मुहम्मदशाह की मृत्यु के बाद अहमदशाह ने सफदरजंग को अपना वजीर बनाया। वह तूरानी अमीरों का कट्टर विरोधी था। अतः उसने तूरानी गुट को समाप्त करने का प्रयास किया। परन्तु सम्राट अहमदशाह और वजीर सफदरजंग में मतभेद आरम्भ हो गये। सम्राट पर उसकी माता ऊधमबाई तथा उसके प्रेमी जाविदखाँ का प्रभाव था। जाविदखाँ ने तूरानी अमीरों का सहयोग प्राप्त कर सफदरजंग की सारी सम्पत्ति जब्त करली। लेकिन सफदरजंग ने उसे 70 लाख रुपया देकर वजीर पद पुनः प्राप्त कर लिया। यह सफदरजंग की एक चाल थी, क्योंकि कुछ ही दिनों बाद उसने धोखे से जाविदखाँ की हत्या करवा दी। इसके बाद सफदरजंग पुनः शक्तिशाली बन गया। लेकिन ऊधमबाई ने इन्तजामुद्दौला, इमादुलमुल्क, संसामुद्दौला और अकवितखाँ के सहयोग से एक नया दल बना लिया। इमादुलमुल्क बड़ी चतुराई से सफदरजंग के प्रभाव को समाप्त कर स्वयं सर्वेसर्वा बन गया। सफदरजंग को दिल्ली छोड़कर अपने सूबे अवध की ओर लौटना पड़ा। परन्तु इमादुलमुल्क के निरंकुश शासन ने सम्राट को भी नाराज कर दिया। इमादुलमुल्क ने 1754 ई. में सम्राट अहमदशाह को मरवा दिया तथा 55 वर्षीय अजीजुद्दीन को आलमगीर द्वितीय के नाम से बादशाह बनाया। लेकिन वह भी इमादुलमुल्क के हाथों की कठपुतली बना रहा। इमादुलमुल्क का दुर्व्यवहार केवल सम्राट तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि उसके दुर्व्यवहार से तंग आकर शाहजाद अलीगौहर भारत के पूर्वी प्रान्तों की ओर जाकर इधर-उधर भटकने लगा। इमादुलमुल्क के दुर्व्यवहार से तंग आकर ही शाही परिवार की बेगमों ने तथा नजीबखाँ ने अब्दाली को आमंत्रित किया। अब्दाली ससैन्य दिल्ली पर आ धमका। इमादुलमुल्क ने आलमगीर द्वितीय की हत्या करवा दी और स्वयं सूरजमल जाट की शरण में भाग गया।

आलमगीर द्वितीय की मृत्यु के बाद अलीगौहर, शाहआलम द्वितीय के नाम से मुगल सम्राट बना। 1765 ई. में अँग्रेजों के साथ हुई इलाहाबाद की सन्धि के अन्तर्गत ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उसे 26 लाख रुपये वार्षिक पेंशन देना स्वीकार कर लिया। मुगल सम्राट पर अँग्रेजों का प्रभाव स्थापित होने पर ही मुगल दरबार की दलबन्दी समाप्त हो सकी।

प्रान्तीय राज्यों का उदय

औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल शासकों की अयोग्यता और निर्बलता के कारण महत्त्वाकांक्षी अमीरों ने अपने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना के प्रयास आरम्भ कर दिये। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने स्वार्थी और महत्त्वाकांक्षी अमीरों के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा कर दीं। मुगल दरबार की दलबन्दी, प्रशासनिक अराजकता तथा मुगल सम्राट की निर्बलता उन अमीरों को स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना करने से नहीं रोक सकी।

अवध—मुगल साम्राज्य के नियन्त्रण से मुक्त होने वाला पहला सूबा अवध था। अवध के स्वतन्त्र राज्य का संस्थापक मीर मुहम्मद अमीन सादतखाँ बुरहान-उल-मुल्क था। वह मुगल दरबार में ईरानी गुट का नेता था। सैयद होते हुए भी उसने सैयदों के पतन में सहयोग दिया,

जिसके परिणामस्वरूप उसे पाँच हजार जात और तीन हजार सवार का मनसब तथा "सादतखाँ वहादुर" की उपाधि पुरस्कार में मिली। दो साल बाद उसका मनसव बढ़ाकर छः हजार जात और छः हजार सवार कर दिया गया। उसने भरतपुर के उपद्रवी जाटों का दमन किया। 1722 ई. में उससे आगरा की सूबेदारी छीन ली गई और वादशाह ने उसे तुरन्त अवध चले जाने का आदेश दिया। इसी समय से अवध के स्वतन्त्र राज्य का इतिहास प्रारम्भ होता है। 1724 ई. तक सादतखाँ ने अवध में अपनी सत्ता को सुदृढ़ बना लिया और अपने भतीजे तथा दामाद सफदरजंग को नायब सूबेदार बनाकर, स्वयं दिल्ली की राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगा। 1737 ई. में उसने मराठों की एक सेना को आगरा के निकट परास्त किया और मुगल वादशाह को यह सूचना भिजवा दी कि उसने पेशवा बाजीराव को चम्बल के उस पार खदेड़ दिया है। इस पर क्रोधित बाजीराव ने दिल्ली पर धावा मारकर सादतखाँ के कथन को झूठा सिद्ध कर दिया। इससे सादतखाँ मुगल बादशाह की दृष्टि में गिर गया। 1739 ई. में नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया। सादतखाँ ने नादिरशाह से मिलकर मुगल वादशाह को अपमानित करवाया, परन्तु जब नादिरशाह ने उससे वायदे के मुताबिक धन की माँग की तो उसने आत्महत्या करली। उसकी मृत्यु के बाद सफदरजंग अवध का सूबेदार बना। सफदरजंग ने अवध की शासन व्यवस्था में पर्याप्त सुधार किया। 1748 ई. में वह वजीर नियुक्त हुआ। परन्तु मुगल दरवार की दलबन्दी ने उसे 1753 ई. में अवध लौटने को विवश कर दिया। 1754 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। तत्पश्चात् शुजाउद्दौला अवध का नवाब वना। यद्यपि सादतखाँ और सफदरजंग, दोनों ने शासकीय उपाधियाँ धारण नहीं की थीं और नाममात्र के लिए मुगल बादशाह का स्वामित्व भी स्वीकार करते रहे, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से अवध एक स्वतन्त्र राज्य बन गया था। शुजाउद्दौला ने वक्सर के युद्ध में अँग्रेजों से परास्त होने के बाद लार्ड क्लाइव के साथ इलाहाबाद की सन्धि करली, जिससे अवध, कम्पनी का आश्रित राज्य वन गया। 1801 ई. में अवध के नवाब ने लार्ड वेलेजली की सहायक सन्धि को भी स्वीकार कर लिया था।

हैदराबाद (दक्षिण)—हैदराबाद (दक्षिण) के स्वतन्त्र राज्य का संस्थापक निजाम-उल-मुल्क आसफजहाँ था। वह विदेशी मुसलमानों का नेता था और सैयद बन्धुओं के पतन में उसने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। फर्रुखसियर के पतन के समय सैयदों ने उसे मालवा की सूबेदारी प्रदान की, परन्तु निजाम ने जव मालवा पहुँचकर अपनी सैन्यशक्ति को बढ़ाना शुरू कर दिया तो सैयदों ने उसे वापिस दरबार में उपस्थित होने का आदेश दिया। लेकिन निजाम ने दरवार में उपस्थित होने की वजाय ससैन्य दक्षिण की तरफ प्रस्थान किया और मई, 1720 ई. में असीरगढ़ व बुरहानपुर पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् उसने सैयदों के समर्थक सूबेदार दिलावरखाँ को खण्डवा के युद्ध में और सैयदों के भतीजे आलमअलीखाँ को बालापुर के युद्ध में परास्त करके दक्षिण के मुगल सूबों पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। 20 फरवरी, 1722 ई. को मुगल सम्राट ने उसे अपना वजीर नियुक्त किया। ईर्ष्यालु अमीरों के कारण निजाम को प्रशासन व्यवस्था ठीक करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। ऐसी स्थिति में निजाम ने चुपचाप दक्षिण वापिस लौटने का निश्चय किया। निजाम विरोधी अमीरों के कहने पर दक्षिण के नायव सूबेदार मुवारिजखाँ ने निजाम का रास्ता रोकने का निश्चय किया।

11 अक्टूबर, 1724 ई. को शकरखेड़ा के युद्ध में मुबारिजखाँ मारा गया। दक्षिण के सूबों पर निजाम का पुनः अधिकार स्थापित हो गया और इसी समय से हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना मानी जाती है। यह ठीक है कि निजाम ने कोई शासकीय उपाधि धारण नहीं की, अपने नाम का खुतबा भी नहीं पढ़ाया और न ही अपने नाम के सिक्के ढलवाये, फिर भी उसने एक स्वतन्त्र शासक की भाँति आचरण किया।

बाजीराव के नेतृत्व में जब दक्षिण में मराठों की कार्यवाहियाँ तेज हो गयीं तो निजाम ने अपने नये स्वतन्त्र क्षेत्र को सुरक्षित बनाये रखने के लिए मराठों का दमन करने का निश्चय किया। परन्तु पालखेड़ के युद्ध में पेशवा बाजीराव ने उसे परास्त कर दिया। इसके बाद, मराठे उत्तर भारत की ओर बढ़ते गये। 1737 ई. में मुगल सम्राट ने निजाम को दिल्ली बुलाया और उसे "आसफ़जहाँ" की उपाधि दी तथा उसे मराठों की चढ़ती हुई बाढ़ को रोकने को कहा। 1738 ई. में पेशवा बाजीराव ने उसे पुनः परास्त करके मुगल सम्राट की योजना को धूल में मिला दिया। अगले वर्ष ईरान के नादिरशाह के आक्रमण के बाद वह पुनः अपनी रियासत में लौट आया और अपने राज्य को संगठित एवं सुदृढ़ बनाने में जुट गया।

बंगाल, बिहार और उड़ीसा—औरंगजेब के शासनकाल में मुर्शिदकुलीखाँ को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया गया। कुछ समय बाद उड़ीसा का सूबा भी उसके नियंत्रण में कर दिया गया। वह एक ईमानदार और कुशल प्रशासक था और उसके समय में दोनों सूबों में शान्ति एवं व्यवस्था बनी रही। औरंगजेब की मृत्यु के बाद जब मुगल साम्राज्य पतनोन्मुख हो रहा था और प्रान्तीय सूबेदार अपने-अपने सूबों में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर रहे थे, तब मुर्शिदकुलीखाँ भी अपने सूबे में स्वतन्त्र शासक की भाँति शासन करने लगा। 1727 ई. में उसकी मृत्यु के बाद उसके दामाद शुजाउद्दौला असदजंग को दोनों प्रान्तों का सूबेदार बनाया गया। उसने इन दोनों प्रान्तों में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करली और नाममात्र के लिए मुगल सम्राट की प्रभुसत्ता मानता रहा। इसलिए उसे स्वतन्त्र बंगाल राज्य का पहला नबाव कहा जाता है। 1733 ई. में मुगल सम्राट ने बिहार का सूबा भी उसको प्रदान कर दिया।

1739 ई. में शुजाउद्दौला की मृत्यु के बाद उसका लड़का सर्फराजखाँ बंगाल, बिहार और उड़ीसा का सूबेदार बना। परन्तु वह अत्यधिक विलासी और अयोग्य निकला। बिहार के नायब सूबेदार अलीवर्दीखाँ ने उसे परास्त करके बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर अपना अधिकार जमा लिया। उसने मुगल सम्राट को धन देकर अपने इस कार्य की मान्यता भी प्राप्त करली। इस प्रकार पूर्वी भारत के ये तीनों समृद्ध प्रान्त मुगल साम्राज्य से पृथक् हो गये। यद्यपि अलीवर्दीखाँ एक अच्छा प्रशासक था, लेकिन मुगल सम्राट को दिये गये धन को उसने जनता से वसूल करना चाहा। फलस्वरूप राज्य में भ्रष्टाचार एवं अव्यवस्था फैल गई, जिसका लाभ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी उठाने लगे। इसी अव्यवस्था के वातावरण में उसे मराठों का भी सामना करना पड़ा। विवश होकर उसे मराठों से सन्धि करनी पड़ी। जिसके अन्तर्गत उसे 12 लाख रुपये वार्षिक चौथ के रूप में देने को बाध्य होना पड़ा। अप्रैल, 1756 ई. में उसकी मृत्यु हो गई और उसका दोहिता सिराजुद्दौला बंगाल का सूबेदार बना। यद्यपि उसने अपनी प्रशासनिक योग्यता का परिचय

दिया, किन्तु शीघ्र ही उसका ईस्ट इण्डिया कम्पनी से संघर्ष आरम्भ हो गया। इस संघर्ष में वह पराजित हुआ और जून, 1757 ई. में उसे सत्ता से हाथ धोना पड़ा। यद्यपि इस संघर्ष के बाद अँग्रेजों ने मीर जाफ़र को बंगाल का नबाव बनाया, लेकिन वह अँग्रेजों के हाथ की कठपुतली बना रहा। इस प्रकार राज्य की वास्तविक सत्ता अँग्रेजों के हाथ में आ गई। बंगाल अपनी स्वतन्त्रता खोकर कम्पनी के प्रभाव में चला गया।

रुहेलखण्ड—अवध राज्य के उत्तर-पश्चिम में गंगा की घाटी में अफ़गान लोग रहते थे, जो अपनी वीरता के लिए प्रख्यात थे। नादिरशाह के आक्रमण के कारण जब दिल्ली के चारों ओर अव्यवस्था फैल गई, तब इस अव्यवस्था का लाभ उठाते हुए मुहम्मदखाँ ने रुहेलखण्ड में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करली। उसने बरेली को अपने राज्य की राजधानी बनाया और अपने राज्य की सीमाओं को उत्तर में कुमाऊँ से दक्षिण में गंगा नदी तक विस्तृत कर लिया। 1749 ई. में रहमतखाँ यहाँ का शासक बना, जिसने अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण (1761 ई.) के समय मराठों के विरुद्ध अब्दाली की सहायता की। उसने अपने सुप्रशासन से अपने राज्य को भी समृद्ध बना लिया। परन्तु 1761 ई. की शत्रुता के कारण मराठा प्रतिवर्ष रुहेलखण्ड में आकर लूटमार करके चले जाते थे। रहमतखाँ मराठों का सामना करने में असक्षम था। अतः 1772 ई. में उसने अवध के नवाब से सन्धि करली, जिसके अनुसार अवध के नवाव शुजाउद्दौला ने 40 लाख रुपयों के बदले में रुहेलों को मराठों के आक्रमण से बचाने का आश्वासन दिया। 1773 ई. में मराठों ने रुहेखण्ड पर आक्रमण किया, किन्तु पेशवा माधवराव प्रथम की मृत्यु हो जाने के कारण मराठा सेना बिना लूटमार किये वापिस लौट गई। अवध के नवाब ने रहमतखाँ से चालीस लाख रुपयों की माँग की। किन्तु रहमतखाँ ने कहा कि मराठा सेना तो बिना युद्ध किये पेशवा की मृत्यु हो जाने के कारण लौटी है और अवध के नवाब ने मराठों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की थी, अतः चालीस लाख रुपये देने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इस पर शुजाउद्दौला ने कम्पनी को 40 लाख रुपया देने का वादा कर उनसे सैनिक सहायता प्राप्त की और रुहेलखण्ड पर आक्रमण कर दिया। 1774 ई. में यद्यपि रहमतखाँ की सेना ने वीरता से मुकाबला किया, किन्तु अवध और कम्पनी की संयुक्त सेना से परास्त हुई। रहमतखाँ अपने दो हजार रुहेलों के साथ मीरनपुर कटरा के युद्ध में मारा गया। रुहेलों का राज्य केवल रामपुर तक ही सीमित रह गया।

विभिन्न शक्तियों का प्रबल होना

मुगल साम्राज्य के पतनोन्मुख काल में मुगल साम्राज्य का विघटन आरम्भ हो गया तथा अनेक प्रान्तीय राज्यों का उदय हुआ। इसके साथ ही साम्राज्य में फैली अव्यवस्था का लाभ उठाकर विभिन्न शक्तियाँ भी प्रबल हो उठीं। राजपूत शासकों ने मुगल सत्ता की अवहेलना आरम्भ करदी। आगरा के पास जाटों ने थूण में एक सुदृढ़ दुर्ग बनवाकर अपने नेता चूड़ामन के नेतृत्व में मुगलों का विरोध करना शुरू कर दिया। पंजाब में सिक्ख भी शक्तिशाली हो गये। मराठे भी शक्तिसम्पन्न होकर उत्तर भारत में अपना प्रभाव जमाने का प्रयास करने लगे।

राजपूत शासक—मुगल सम्राट अकबर ने राजपूतों से सहयोग करके ही अपने साम्राज्य का विस्तार किया था और साम्राज्य को सुदृढ़ किया था। किन्तु औरंगजेब की धार्मिक नीति के कारण राजपूत शासक मुगलसत्ता से नाराज हो गये। अतः औरंगजेब की मृत्यु के बाद राजपूत शासकों ने धीरे-धीरे मुगल साम्राज्य से अपने सम्बन्ध विच्छेद करने आरम्भ कर दिये। मुगल सम्राट बहादुरशाह, जहाँदारशाह और फर्रुखसियर के शासनकाल में राजपूत शासकों को बहुत-सी रियासतें तथा उच्च पद प्रदान किये गये, जिससे उनकी शक्ति का विकास हुआ। फर्रुखसियर के शासनकाल में जब सैयद बन्धु अपना वर्चस्व बढ़ा रहे थे तब आमेर के राजा सवाई जयसिंह और जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। वे दोनों मुगल दरबार में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाये हुए थे तथा मालवा व गुजरात जैसे महत्त्वपूर्ण सूबों के सूबेदार बने हुए थे। यद्यपि सैयद बन्धुओं के पतन में उन्होंने तटस्थता की नीति अपनाई, क्योंकि उन्होंने अनुभव कर लिया था कि सैयदों की शक्ति कमजोर हो रही है, फिर भी मुगल दरबार की राजनीति में वे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे थे तथा राजस्थान की राजनीति भी इन दोनों शासकों से प्रभावित थी। लेकिन उत्तर भारत में मराठों के बढ़ते हुए प्रभाव को न रोक सकने के कारण सवाई जयसिंह की प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा। 1743 ई. में सवाई जयसिंह की मृत्यु के बाद उसके दो पुत्रों ईश्वरीसिंह और माधोसिंह के बीच उत्तराधिकार का संघर्ष आरम्भ हो गया। उधर जोधपुर में महाराजा अजीतसिंह की हत्या उसी के पुत्र बख्तसिंह ने करदी। अजीतसिंह का ज्येष्ठ पुत्र अभयसिंह गद्दी पर बैठा, लेकिन उसकी मृत्यु के बाद अभयसिंह के पुत्र रामसिंह और उसके चाचा बख्तसिंह के बीच जोधपुर की गद्दी के लिए संघर्ष आरम्भ हो गया। सवाई जयसिंह ने राव बुद्धसिंह को बून्दी की गद्दी से गद्दीच्युत करवाकर बून्दी में उत्तराधिकार का संघर्ष आरम्भ करवा दिया था। इन उत्तराधिकार संघर्षों के कारण राजस्थान की राजनीति में मराठों का हस्तक्षेप हुआ और शनैः-शनैः मराठों ने राजस्थान पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। अंत में मराठों की लूटमार से तंग आकर 19वीं शताब्दी के आरम्भ में राजपूत शासकों ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी का संरक्षण स्वीकार कर लिया।

जाट शक्ति का उत्थान—औरंगजेब के शासनकाल में जाटों की शक्ति उदित हो चुकी थी तथा औरंगजेब ने जाटों की शक्ति को कुचलने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। औरंगजेब की मृत्यु के बाद जाटों ने अपने नेता चूड़ामन के नेतृत्व में थूण का किला बनवाया और मुगलों को आतंकित करते रहे। 1721 ई. में चूड़ामन की मृत्यु के बाद उसके भतीजे बदनसिंह ने जाटों का नेतृत्व ग्रहण कर लिया। जाटों की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर मुगल सम्राट ने बदनसिंह को आगरा से जयपुर के मार्ग की रक्षा का दायित्व सौंप दिया। अब बदनसिंह ने मुगलों के भय से मुक्त होकर अपनी शक्ति में वृद्धि करना आरम्भ कर दिया। उसने कुम्हेर, वैर, डीग व भरतपुर में सुदृढ़ दुर्गों का निर्माण करवाया। बदनसिंह भरतपुर का प्रथम स्वतन्त्र शासक था, जिसे सवाई जयसिंह ने भी मान्यता प्रदान की थी। 1756 ई. में बदनसिंह की मृत्यु के बाद सूरजमल जाट राज्य का शासक बना। चूँकि उसमें हिन्दुत्व की भावना अत्यधिक थी, इसलिए वह मराठों का समर्थक तथा मुगलों एवं विदेशी आक्रान्ताओं का विरोधी रहा। उसने

लड़खड़ाते हुए मुगल साम्राज्य पर अनेक प्रहार किये। उसने अपनी कुशल कूटनीति का परिचय देते हुए पानीपत के तृतीय युद्ध में तटस्थता की नीति का अवलम्बन किया। इस युद्ध के बाद, दिल्ली और उसके आस-पास फैली अव्यवस्था का लाभ उठाते हुए उसने दिल्ली पर अधिकार करने का प्रयास किया, किन्तु रुहेला सरदार नजीबुद्दौला से युद्ध करता हुआ 1763 ई. में मारा गया। राजा सूरजमल की मृत्यु के बाद जवाहरसिंह गद्दी पर बैठा, लेकिन भरतपुर में गृह-युद्ध छिड़ गया, जिसमें मराठों ने भी हस्तक्षेप किया। इस गृह-युद्ध के कारण 1768 ई. में जवाहरसिंह की हत्या कर दी गई। तत्पश्चात् रणजीतसिंह गद्दी पर बैठा। रणजीतसिंह के शासनकाल में जाटों की शक्ति का ह्रास आरम्भ हो गया। आगरा और मथुरा जाटों के हाथ से निकल गये। 1784 ई. में सिन्धिया ने डीग पर अधिकार कर लिया। किन्तु रानी किशोरी के प्रयास से डीग पुनः रणजीतसिंह को मिल गया। रणजीतसिंह ने मराठों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये, किन्तु लासवाड़ी के युद्ध में मराठों के पराजित होते ही रणजीतसिंह ने अँग्रेजों से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लिये तथा 1803-04 ई. में उसने अँग्रेजों की अधीनता स्वीकार करली।

सिक्ख शक्ति का उत्थान—औरंगजेब की धर्मान्धता के कारण सिक्खों के नवें गुरु तेग बहादुर (1664-75) को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। गुरु गोविन्दसिंह सिक्खों के दसवें और अन्तिम गुरु हुए, जिन्होंने सिक्खों को सैनिक शक्ति के रूप में संगठित किया और औरंगजेब से संघर्ष जारी रखा। औरंगजेब की मृत्यु के बाद जब उसके ज्येष्ठ पुत्र बहादुरशाह ने अपने भाइयों के विरुद्ध गुरु से सहायता का अनुरोध किया, तब वे उसके साथ दक्षिण भारत चले गये। दक्षिण में गोदावरी के तट पर एक पठान ने गुरु की हत्या कर दी। गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु के बाद उनके एक सेवक बन्दा बहादुर ने देश के विभिन्न भागों से सिक्खों को बुलाकर अपने झण्डे के नीचे एकत्र कर लिया। 1710 ई. में सिक्खों व मुगलों के बीच भयंकर युद्ध हुआ। सिक्खों ने सरहिन्द को जीत लिया। सहारनपुर और जलालाबाद में भी सिक्खों ने विद्रोह कर दिया और अमृतसर, कसूर, बटाला, कलानौर, पठानकोट आदि पर अधिकार जमा लिया। परन्तु अन्त में मुगलों ने बन्दा बहादुर को बन्दी बना लिया और 1716 ई. में उसे मौत के घाट उतार दिया। बन्दा बहादुर की मृत्यु के बाद सिक्ख 'बन्दई' एवं 'सतखालसा' नामक दो दलों में विभक्त हो गये जिससे उनकी शक्ति कमजोर पड़ गई। 1721 ई. में इन दोनों दलों में पुनः एकता स्थापित हो गई। 1726 ई. में मुगल सम्राट मुहम्मदशाह ने जकरियाखाँ को पंजाब का सूबेदार नियुक्त किया, जिसने सिक्खों पर भीषण अत्याचार किये। परन्तु इससे उनकी शक्ति का पतन नहीं हुआ और वे छोटे-छोटे दलों में संगठित होकर मुगल अधिकारियों को परेशान करते रहे। भारत से अतुल सम्पत्ति लूटकर जब नादिरशाह अपने देश वापिस लौट रहा था, तब सिक्खों ने उसकी लौटती हुई सेना पर पीछे से आक्रमण कर बहुत-सा लूट का माल छीन लिया। नादिरशाह के आक्रमण से पंजाब पर मुगल सत्ता का नियंत्रण समाप्त हो गया।

नादिरशाह के आक्रमण से पंजाब में फैली अव्यवस्था का लाभ उठाते हुए सिक्खों ने अपनी शक्ति संगठित करली। 1748 ई. में सिक्खों ने 'दल खालसा' का गठन किया। दल खालसा में सम्मिलित सिक्ख-दलों को "जत्थों में विभाजित किया गया, जो बाद में 'मिसलों' के नाम से विख्यात हुए। सिक्ख मिसलों के नेताओं ने अपनी सैनिक शक्ति को सुदृढ़ करना आरम्भ

कर दिया। जब भारत पर अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण होने लगे तब इन सिक्ख मिसलों ने अब्दाली का दृढ़ता से मुकाबला किया। अब्दाली की मृत्यु के बाद मुगल सम्राट एवं अफगानों की निर्बलता का लाभ उठाते हुए पराक्रमी और योग्य सिक्ख नेताओं ने पंजाब के भिन्न-भिन्न भागों में अपने-अपने राज्य स्थापित कर लिये। परन्तु आगे चलकर सिक्ख नेताओं में आपसी झगड़े उठ खड़े हुए, अतः वे एक शक्तिशाली सिक्ख राज्य की स्थापना न कर सके। आगे चलकर रणजीतसिंह ने एक शक्तिशाली सिक्ख राज्य की स्थापना की।

मराठा शक्ति का अभ्युदय—17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शिवाजी के नेतृत्व में मराठा शक्ति का उदय हुआ था। शिवाजी ने स्वतन्त्र मराठा राज्य की स्थापना की तथा अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए जीवन भर मुगलों से संघर्ष करते रहे। उनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र शम्भाजी ने मुगलों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा, परन्तु 1689 ई. में शम्भाजी पकड़ा गया और औरंगजेब ने उसका वध करवा दिया। शम्भाजी की पत्नी और अल्पवयस्क पुत्र भी मुगलों के हाथों में पड़ गये। फिर भी, मराठों ने अपूर्व साहस एवं उत्साह का परिचय दिया। उन्होंने शम्भाजी के छोटे सौतेले भाई राजाराम के नेतृत्व में स्वतन्त्रता संघर्ष छेड़ दिया। 1700 ई. में राजाराम की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद उसकी विधवा पत्नी ताराबाई ने अपने अल्पवयस्क पुत्र शिवाजी द्वितीय को राजा घोषित कर स्वतन्त्रता संघर्ष जारी रखा। ताराबाई के नेतृत्व में मराठों ने शानदार सफलताएँ प्राप्त की। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगलों ने शाहू (शम्भाजी का पुत्र) को मुक्त कर दिया। शाहू ने ताराबाई को परास्त करके शिवाजी के राजसिंहासन को प्राप्त किया।

1707 ई. से 1749 ई. तक मराठा राज्य का स्वामित्व शाहू के हाथ में रहा। चूँकि शाहू मुगल शिविर में बड़ा हुआ था, अतः वह आरामपसन्द व विलासी व्यक्ति था। उसके लिए महाराष्ट्र की उलझी हुई व्यवस्था को सुलझाना सम्भव नहीं था। अतः शाहू को ऐसे दृढ़-संकल्पी व्यक्ति की सेवाओं की आवश्यकता थी जो शाहू की समस्त कठिनाइयों को हल कर प्रशासन व्यवस्था को संगठित कर सके। पेशवा ने शाहू की इच्छाओं को पूरा कर दिखाया। फलस्वरूप शाहू के शासनकाल में पेशवा की शक्ति का उत्कर्ष हुआ। धीरे-धीरे पेशवा ने छत्रपति के समस्त अधिकार अपने हाथ में ले लिये। पेशवाओं का अभ्युदय मुख्यतः बालाजी विश्वनाथ की सेवाओं के कारण हुआ था, जिसे 16 नवम्बर, 1713 ई. को पेशवा-पद पर नियुक्त किया गया था। बालाजी विश्वनाथ ने ताराबाई की सत्ता को समाप्त किया तथा विद्रोही मराठा सरदारों की शक्ति का दमन कर उन पर शाहू के प्रभुत्व की पुनः स्थापना की। बालाजी विश्वनाथ की सबसे महत्त्वपूर्ण सेवा शाहू के लिए दक्षिण के छः मुगल सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का शाही फरमान प्राप्त करना था। दिल्ली में सैयद बन्धुओं के सहयोग से फर्रुखसियर मुगल तख्त पर आसीन हुआ था, लेकिन कुछ समय बाद उसकी सैयद बन्धुओं से अनबन हो गई और दोनों पक्ष एक दूसरे को समाप्त करने पर उतारू हो गये। 1719 ई. में सैयद हुसैनखाँ ने मराठों से एक सन्धि की, जिसमें शाहू को दक्षिण के छः सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार देने तथा शाहू के परिवार को मुगलों की कैद से छोड़ देने का वचन दिया। तत्पश्चात् बालाजी विश्वनाथ अपनी मराठा सेना लेकर सैयद हुसैनखाँ की सहायतार्थ दिल्ली गया, जहाँ फर्रुखसियर को गद्दी

से उतारकर उसे मार डाला और रफी-उद्-दराजात को सम्राट बनाया। नये सम्राट ने 1719 ई. की मुगल-मराठा सन्धि को स्वीकार कर तदनुसार शाही फरमान जारी कर दिये। मराठों की यह दिल्ली यात्रा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई, क्योंकि मराठों के समक्ष मुगल सत्ता का खोखलापन स्पष्ट हो गया। अतः दिल्ली से वापिस आने के बाद बालाजी विश्वनाथ ने उत्तर भारत में मराठा शक्ति के प्रसार की योजना बनायी, परन्तु योजना को कार्यान्वित करने से पूर्व ही 1720 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु के बाद उसका बीस वर्षीय पुत्र बाजीराव (1720-1740) पेशवा बना, जिसने मराठों के प्रभाव को और अधिक बढ़ाया। उसने निजाम-उल-मुल्क को दो बार पराजित किया, पुर्तगालियों से बसीन व सालसेट छीन लिये तथा मराठा प्रभाव को गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड तक पहुँचा दिया। वस्तुतः बाजीराव ने सम्पूर्ण उत्तर भारत में मराठा शक्ति के विस्तार का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। विद्वानों की मान्यता है कि मुगलों के पतन से जो राजनीतिक शून्यता उत्पन्न हो गई थी, मराठों ने उसे भरने का प्रयत्न किया। 28 अप्रैल, 1740 ई. को बाजीराव की मृत्यु हो गयी, तब शाहू ने बाजीराव के 19 वर्षीय पुत्र बालाजी बाजीराव को पेशवा नियुक्त किया।

बालाजी बाजीराव का शासनकाल (1740-1761) मराठा साम्राज्य प्रसार, आन्तरिक व्यवस्था और भौतिक समृद्धि की दृष्टि से उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया। छत्रपति की समस्त शक्तियाँ पेशवा के हाथ में आ गईं और सतारा के स्थान पर पूना मराठा राज्य का प्रमुख केन्द्र बन गया। 25 दिसम्बर, 1749 ई. को शाहू की मृत्यु हो गई और तत्पश्चात् छत्रपति का नाम इतिहास में प्रायः लुप्त हो गया तथा पेशवा मराठा साम्राज्य का सर्वोच्च व्यक्ति बन गया। लेकिन बालाजी बाजीराव योग्य सेनानायक और कुशल कूटनीतिज्ञ नहीं था। उसकी इस अयोग्यता का लाभ उठाकर सिन्धिया व भोंसले जैसे मराठा सरदार स्वतन्त्र शासकों की भाँति व्यवहार करने लगे। उसने अपनी स्वार्थी नीति के कारण उत्तर भारत की लगभग सभी प्रमुख शक्तियों को नाराज कर दिया था। उसके उत्तरी अभियानों का ध्येय अधिक से अधिक धन बटोरना था। राजपूत शासकों पर तो इतने जुल्म ढाये कि वे मराठों के शत्रु बन गये। फलस्वरूप पानीपत के युद्ध में मराठों को कहीं से सहायता प्राप्त न हो सकी। इस युद्ध में मराठा बुरी तरह परास्त हुए और अहमदशाह अब्दाली विजयी हुआ। पानीपत की करारी पराजय के गम में बालाजी बाजीराव की जून 1761 ई. में मृत्यु हो गयी।

पेशवा बालाजी बाजीराव की मृत्यु के बाद उसका 17 वर्षीय पुत्र माधवराव प्रथम नया पेशवा बना। बालाजी बाजीराव अपने छोटे भाई रघुनाथराव को अपने पुत्र माधवराव का संरक्षक नियुक्त कर गया। रघुनाथराव (राघोबा) सम्पूर्ण सत्ता अपने हाथ में रखना चाहता था। अवसर देखकर हैदराबाद के निजाम ने महाराष्ट्र पर आक्रमण कर दिया, किन्तु अन्त में विवश होकर उसे मराठों से सन्धि करनी पड़ी। परन्तु राघोबा ने भविष्य में निजाम से सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से बहुत ही उदार शर्तों पर सन्धि की। पेशवा माधवराव को उसकी यह कार्यवाही पसन्द नहीं आई। राघोबा व माधवराव में मतभेद बढ़ते गये। माधवराव ने राघोबा से माँग की कि सम्पूर्ण

सत्ता उसे सौंप दी जाय। इस पर राघोबा और उसके समर्थकों ने त्याग-पत्र दे दिये। माधवराव ने उनके स्थान पर नई नियुक्तियाँ कर दीं। राघोबा ने क्रुद्ध होकर माधवराव के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। युद्ध में पेशवा माधवराव परास्त हुआ। राघोबा ने उसे नजरबन्द कर शासन सत्ता अपने हाथ में ले ली। मराठों की आपसी लड़ाई देखकर निजाम ने पुनः आक्रमण कर दिया। राक्षस भुवन के इस युद्ध में पेशवा माधवराव ने अपूर्व पराक्रम एवं नेतृत्व का परिचय दिया। निजाम परास्त होकर लौट गया। राघोबा में अब उसे नजरबन्द करने की हिम्मत नहीं हुई। माधवराव ने पुनः सत्ता ग्रहण करली। राघोबा ने उसे सत्ताच्युत करने का प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रहा। जून, 1767 ई. में राघोबा ने माधवराव से राज्य के बँटवारे की माँग की; जो उसने ठुकरा दी। माधवराव ने राघोबा को बन्दी बना लिया। इसी समय हैदरअली ने मराठा राज्य पर आक्रमण कर दिया। माधवराव ने उसे परास्त कर खदेड़ दिया। दक्षिण में अपने प्रतिद्वन्द्वियों को पराभूत करने के बाद उसने उत्तर भारत में भी मराठों की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की।

माधवराव में सैनिक प्रतिभा तथा शासकीय योग्यता का सुन्दर समन्वय था। पानीपत की पराजय के बाद उसने मराठों की लड़खड़ाती नाव की पतवार सम्भाली और आन्तरिक एवं बाह्य संकटों का सामना करते हुए मराठों की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने में सफल रहा। उसने सेना का पुनर्गठन किया तथा महाराष्ट्र के शत्रुओं को परास्त किया। मुगल सम्राट को अपने संरक्षण में लेकर पुनः दिल्ली के तख्त पर बैठाया। राजपूतों व जाटों पर पुनः अपना वर्चस्व स्थापित किया। नवम्बर, 1772 ई. में पेशवा माधवराव की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के बाद मराठा शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई और मराठा दरबार षड्यन्त्रों का अड्डा बन गया। इसीलिए बहुत से विद्वानों की मान्यता है कि पेशवा माधवराव की आकस्मिक मृत्यु मराठा राज्य के लिए पानीपत से भी अधिक घातक सिद्ध हुई। क्योंकि मराठा दरबार के षड्यन्त्रों का लाभ अँग्रेजों ने उठाया, जिससे आंग्ल-मराठा संघर्षों का सूत्रपात हो गया। फलस्वरूप अँग्रेजों से वे निरन्तर पराजित होने लगे और अन्त में मराठा शक्ति का पतन हो गया।

यूरोपीय जातियों का आगमन—1498 ई. में पुर्तगाली नाविक वास्को-डी-गामा ने यूरोप से भारत का सामुद्रिक मार्ग खोज निकाला। वह पुर्तगाल से चलकर भारत के मलाबार तट पर पहुँचने में सफल रहा। इस घटना ने भारत और यूरोप के सम्बन्धों में एक नये अध्याय का सूत्रपात किया। कालीकट के राजा जमोरिन ने पुर्तगालियों को अपने राज्य में व्यापार करने की अनुमति दे दी। इसके बाद पुर्तगालियों का भारत में आना-जाना बढ़ता गया। पुर्तगालियों ने गोआ, दमन, दीव, हुगली आदि स्थानों पर अपनी व्यापारिक कोठियाँ स्थापित करलीं तथा एक सुदृढ़ नौ-सेना तैनात करदी। कुछ ही वर्षों में पुर्तगालियों ने भारतीय व्यापार से इतना धन कमाया कि उसे देखकर यूरोप की अन्य जातियों में भी धन-लिप्सा जागृत हो उठी। अतः उन्होंने भी भारत के साथ व्यापार करने के लिए अपनी-अपनी व्यापारिक कम्पनियाँ स्थापित कीं। 1595 ई. में हालैण्ड के डच व्यापारियों ने पूर्वी देशों से व्यापार करने हेतु एक कम्पनी स्थापित की। अब भारतीय व्यापार के लिए पुर्तगालियों और डचों में संघर्ष आरम्भ हो गया। डचों की शक्ति के सामने

पुर्तगाली नहीं टिक सके। इधर मराठों ने पुर्तगालियों को काफी परेशान किया और उनसे बसीन तथा सालसेट छीन लिये।

लन्दन के अँग्रेज व्यापारियों ने भी एक कम्पनी स्थापित की, जिसका नाम ईस्ट इण्डिया कम्पनी रखा गया। 1608 ई. में इस कम्पनी का पहला जहाज सूरत के बन्दरगाह पर पहुँचा। इस जहाज का कप्तान हॉकिन्स था, जो अपने साथ ब्रिटेन के राजा का पत्र लाया था। हॉकिन्स ने यह पत्र मुगल सम्राट जहाँगीर को दिया। 6 फरवरी, 1613 ई. को एक शाही फरमान द्वारा अँग्रेजों को व्यापार के लिए एक कोठी बनाने तथा मुगल दरबार में एक एलची रखने की अनुमति दे दी गई। कम्पनी की ओर से सर टॉमस रो को इस पद पर नियुक्त किया गया, जिसने मुगल सम्राट को प्रभावित कर भारत में अँग्रेजी कोठियाँ स्थापित करने की आज्ञा प्राप्त करली। अब भारतीय व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करने हेतु पुर्तगालियों, डचों और अँग्रेजों के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया। अँग्रेजों ने धीरे-धीरे पुर्तगालियों और डचों को परास्त करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना लिया।

अन्य यूरोपीय जातियों की भाँति, फ्रांसीसियों ने भी 1664 ई. में एक व्यापारिक कम्पनी स्थापित की। भारत में उन्होंने सूरत, मछलीपट्टम, पाण्डीचेरी और चन्दरनगर में अपनी व्यापारिक कोठियाँ स्थापित करलीं। मुगल सत्ता के पतनोन्मुख काल में फ्रासीसियों ने अपनी शक्ति को काफी सुदृढ़ बना लिया। इस समय तक पुर्तगालियों और डचों की शक्ति काफी कमजोर पड़ गई थी और अब भारतीय व्यापार के लिए फ्रांसीसी और अँग्रेज ही मुख्य प्रतिद्वन्द्वी रह गये थे। अतः दोनों में संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया। दोनों शक्तियों के पास आत्मरक्षा के लिए पर्याप्त सेना थी। दोनों शक्तियों ने भारत के देशी राजाओं के पारस्परिक झगड़ों में तथा राज्यों के उत्तराधिकार के मामले में हस्तक्षेप कर उन्हें सैनिक सहायता प्रदान करना आरम्भ किया। इस सहायता के बदले में उन्होंने भारतीय शासकों से भूमि, धन और अन्य व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त कीं। धीरे-धीरे ये व्यापारी एक राजनैतिक शक्ति बन गये और भारत में राजनीतिक, प्रभुत्व के लिए दोनों में संघर्ष आरम्भ हो गया। 1744 ई. से 1763 ई. के मध्य दोनों के बीच तीन युद्ध हुए, जिन्हें 'कर्नाटक के युद्ध' कहा जाता है। अन्त में अँग्रेजों को निर्णायक सफलता मिली और उन्हें भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने का सुअवसर मिल गया।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि औरंगजेब की मृत्यु के बाद भारत में राजनैतिक अस्थिरता उत्पन्न हो गयी थी। मुगल बादशाहों की अयोग्यता एवं विलासिता के कारण केन्द्रीय नियन्त्रण शिथिल पड़ गया और मुगल दरबार स्वार्थी तथा सत्ता-लोलुप अमीरों के षड्यन्त्र का केन्द्र बन गया। आलमगीर द्वितीय की हत्या के बाद तो सत्ता, वजीर व मुगल दरबार के अमीरों के हाथ में आ गई थी। मुगल दरबार में दलबन्दी तो इतनी प्रबल थी कि उन अमीरों का अस्तित्व भी सदैव संकट में रहता था। परिणामस्वरूप मुगल अमीरों ने अपने लिए स्वतन्त्र राज्यों की तलाश आरम्भ कर दी। फलतः स्थानीय शक्तियों का अभ्युदय हुआ। अवध, बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबे साम्राज्य से पृथक् हो गये और दक्षिण भारत में निजाम-उल-मुल्क ने हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर दी। दक्षिण में मराठा पहले ही प्रबल हो रहे थे। अतः मराठों

और निजाम के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया। मराठों से परास्त होकर निजाम ने शाहू को मराठा राज्य का एकमात्र शासक स्वीकार कर लिया तथा मराठों को मालवा और नर्मदा व चम्बल नदियों के मध्य का प्रदेश मिल गया। दक्षिण में अपनी धाक जमाने के बाद पेशवा बाजीराव के नेतृत्व में मराठों में उत्तर भारत की ओर अपने प्रभाव को बढ़ाया। गुजरात, मालवा, बुन्देलखण्ड और राजपूत शासकों पर मराठों ने अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। इस प्रकार राजपूत शासक, जो मुगल साम्राज्य के आधार-स्तम्भ थे, वे भी केन्द्रीय नियन्त्रण से मुक्त हो गये। लेकिन मराठों ने उत्तर-पश्चिमी सीमा की सुरक्षा व्यवस्था की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। फलस्वरूप अफगानों को उन सूबों पर अधिकार जमाने का अवसर मिल गया। मराठों ने उत्तर भारत पर अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए अफगानों से लोहा लिया, किन्तु पानीपत के मैदान में मराठों की निर्णायक पराजय हुई, जिससे मराठा शक्ति को भारी आघात लगा। लेकिन कुछ ही समय में पेशवा माधवराव प्रथम के नेतृत्व में मराठों ने पुनः शक्ति ग्रहण करली और उत्तर भारत में अपना वर्चस्व स्थापित करने में वे सफल रहे। यहाँ तक कि मराठों ने मुगल सम्राट पर भी अपना वर्चस्व स्थापित कर दिल्ली तक अपनी धाक जमा ली। लेकिन मराठों की पारस्परिक कलह ने मराठों के पतन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। उधर अँग्रेज, दक्षिण में फ्रांसीसियों को पराजित कर बंगाल, बिहार व उड़ीसा में शक्तिसम्पन्न हो गये। इसी समय पंजाब में सिक्खों ने अपना प्रभाव बढ़ाना आरम्भ कर दिया। भारत में जो शक्ति अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न करे, उससे अँग्रेजों का संघर्ष होना अवश्यम्भावी था। इसी पृष्ठभूमि में अँग्रेजों ने भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया और अन्ततः वे अपने उद्देश्य में सफल हुए।

अध्याय-2

बंगाल में ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना

प्रसिद्ध इतिहासकार बी.डी.ब्रसु, भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना को एक आश्चर्यजनक घटना मानते हैं, क्योंकि कोई भी ईसाई राष्ट्र इस देश पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं आया था। प्राचीन और मध्यकाल में जितने भी आक्रान्ता भारत आये, वे अपने योग्य सेनापतियों के नेतृत्व में आये और उन्होंने युद्ध में भारतीयों को पराजित कर अपने शासन स्थापित किये। लेकिन अँग्रेज तो व्यापारियों के रूप में भारत आये और उस समय उनके पास सशस्त्र सैनिक भी नहीं थे। भारत आने के बाद ये अँग्रेज व्यापारी तत्कालीन शासकों के कृपा-पात्र बनकर भारत में व्यापार करते रहे और व्यापारिक लाभ अर्जित करते रहे। ये अँग्रेज व्यापारी अपने जीवन के सन्ध्याकाल में इंगलैण्ड लौटकर भारत में अर्जित धन के सहारे अपना जीवन व्यतीत करते थे। फिर भी ऐसे व्यापारियों को भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त हुई। प्रोफेसर सर जॉन सीले, अल्फ्रेड लॉयल और ली-वार्नर जैसे विद्वानों की मान्यता है कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना एवं उसका विस्तार एक सुनिश्चित योजना का परिणाम न होकर संयोग की वात थी। कुछ इतिहासकार तो यहाँ तक कहते हैं कि भारत में अँग्रेजों को प्रभुसत्ता अनजाने में प्राप्त हो गई थी।

1600 ई. में ब्रिटेन के कुछ व्यापारियों ने मिलकर पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने के लिए एक ईस्ट इण्डिया कम्पनी स्थापित की थी। इस कम्पनी को अपने जहाजों तथा माल की सुरक्षा के लिए आरम्भ में कुछ सैन्य बल जुटाना पड़ा। कम्पनी के पहले जहाज को भारत आते ही पुर्तगालियों से टक्कर लेनी पड़ी और पुर्तगालियों को परास्त कर अपनी सैनिक श्रेष्ठता प्रमाणित करने पर उन्हें भारत के पश्चिमी क्षेत्र में अपनी बस्तियाँ स्थापित करने की अनुमति प्राप्त हुई। इन बस्तियों की रक्षा स्वयं कम्पनी को करनी पड़ती थी, जिसके लिए उसे सैनिक रखने पड़ते थे। इस प्रकार, कम्पनी की सेना का संगठन प्रारम्भ हुआ। यद्यपि कम्पनी ने सर्वप्रथम सूरत को केन्द्र वनाकर अपना व्यापार शुरू किया था, लेकिन उसे प्रादेशिक लाभ सर्वप्रथम दक्षिण भारत में प्राप्त हुआ, जवकि 1639 ई. में वाण्डिवाश के हिन्दू राजा ने कम्पनी को वर्तमान मद्रास नगर का क्षेत्र प्रदान किया था। इस क्षेत्र में कम्पनी को किला वनवाने की भी अनुमति प्रदान की गई और कम्पनी ने यहाँ सेण्ट जॉर्ज नामक प्रसिद्ध किया वनवाया। 1669 ई. में कम्पनी को वम्वई का क्षेत्र भी मिल गया। 1651 ई. में कम्पनी ने हुगली को अपना केन्द्र वनाकर व्यापार करना शुरू किया।

1693 ई. में कम्पनी को मद्रास के पास तीन गाँवों की जमींदारी भी मिल गई। 1696 ई. में कम्पनी को 12,000 रुपये वार्षिक भुगतान के बदले बंगाल में तीन गाँवों—सुतनती, गोविन्दपुर और कलकत्ता—की जमींदारी भी मिल गई। इसकी सुरक्षा के लिए कम्पनी ने कलकत्ता में फोर्ट विलियम नामक किला बनवाया। द्वितीय कर्नाटक के युद्ध के समय कम्पनी को तंजौर के राजा से देवीकोटाई और उसके निकट का 36,000 रुपये वार्षिक आय का भूभाग प्राप्त हो गया। इस प्रकार कम्पनी एक बहुत बड़े भू-भाग की जमींदार बन बई।

बंगाल की स्थिति—औरंगजेब के शासनकाल में बंगाल, बिहार और उड़ीसा मुगल साम्राज्य के तीन पृथक्-पृथक् सूबे थे। 1705 ई. में औरंगजेब ने मुर्शीद कुली जफरखाँ को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया। कुछ समय बाद उड़ीसा का सूबा भी उसके नियन्त्रण में रख दिया गया। औरंगजेब की मृत्यु के बाद राजनैतिक अस्थिरता के काल में मुर्शीद कुली जफरखाँ एक स्वतन्त्र शासक की भाँति शासन करने लगा। 1727 ई. में उसकी मृत्यु के बाद उसका दामाद शुजाउद्दौलाखाँ उसका उत्तराधिकारी बना। उसने बलपूर्वक बिहार के सूबे को भी अपने नियन्त्रण में ले लिया। इस प्रकार पूर्वी भारत के तीनों समृद्ध सूबे एक ही व्यक्ति के शासन के अन्तर्गत आ गये। 1739 ई. में शुजाउद्दौला की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सरफराजखाँ उसका उत्तराधिकारी बना। सरफराजखाँ अत्यन्त ही निर्बल, अयोग्य और विलासी व्यक्ति था। उस समय अलीवर्दीखाँ बिहार का नायब सूबेदार था। वह एक पराक्रमी सैनिक तथा महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। अप्रैल 1740 ई. में अलीवर्दीखाँ ने अपने स्वामी सरफ़राजखाँ पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में सरफराजखाँ परास्त होकर मारा गया। अलीवर्दीखाँ बंगाल, बिहार और उड़ीसा का सूबेदार बन बैठा और कमजोर मुगल सम्राट ने उसको मान्यता भी प्रदान करदी।

बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थिति—जैसाकि पूर्व में बताया गया है, ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल में अपनी पहली व्यापारिक बस्ती हुगली नगर में 1651 ई. में स्थापित की थी। मुगल सम्राट शाहजहाँ ने अपने एक फरमान द्वारा उसे बंगाल सूबे में व्यापार करने का अधिकार प्रदान किया और कम्पनी द्वारा निर्यात किये जाने वाले माल को चुँगी-कर से मुक्त रखने की सुविधा भी प्रदान की। 1717 ई. में मुगल सम्राट फर्रुखसियर ने एक फरमान द्वारा कम्पनी के सामान को लाने और ले जाने पर लगने वाले चुँगी-कर या सीमा-शुल्क से मुक्त कर दिया। ज्यों-ज्यों मुगल शासकों की सत्ता कमजोर होती गई, बंगाल के सूबेदार लगभग स्वतन्त्र शासक बन बैठे थे। अतः वे चाहते थे कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल सूबे में व्यापारिक मामलों में उनसे आदेश प्राप्त करने चाहिये। इस प्रकार व्यापार के प्रश्न को लेकर बंगाल के सूबेदार और ईस्ट इण्डिया कम्पनी में शुरू से ही मतभेद उत्पन्न हो गये और समय के साथ-साथ ये मतभेद बढ़ते ही गये। बहुत से विद्वानों की मान्यता है कि दोनों के मध्य भविष्य में जो युद्ध लड़ा गया, उसका मूल कारण व्यापार का ही प्रश्न था। कलकत्ता के आस-पास का क्षेत्र जो कम्पनी को जमींदारी के रूप में मिला था उस पर भी दोनों पक्षों में विवाद था। बंगाल के सूबेदार का मानना था कि उनके सूबे के तमाम जमींदारी क्षेत्रों पर उसका नियन्त्रण है। परन्तु कम्पनी का मानना था कि जमींदारी क्षेत्र में उसे स्वायत्तता प्राप्त है और सूबेदार को इसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। अतः दोनों में विवाद उठना स्वाभाविक ही था।

अलीवर्दीखाँ का शासनकाल—अलीवर्दीखाँ नाममात्र के लिए मुगल सम्राट का सूबेदार था। व्यावहारिक रूप में वह एक स्वतन्त्र शासक था। उसने 1740 से 1756 तक बंगाल पर शासन किया। वैसे अलीवर्दीखाँ एक योग्य शासक एवं पराक्रमी सेनानायक था, परन्तु मराठों के निरन्तर आक्रमणों ने बंगाल के आर्थिक जीवन को बुरी तरह से बर्बाद कर दिया। अतः 1751 ई. में उसने मराठों के साथ समझौता कर लिया। इस समझौते के अनुसार उसे उड़ीसा का अधिकांश भाग मराठों को देना पड़ा और प्रतिवर्ष 12 लाख रुपया चौथ के बदले में देने का वचन देना पड़ा। इसके बाद उसने शासन व्यवस्था की तरफ ध्यान दिया। उसे बंगाल का सूबेदार बनने में बंगाल के हिन्दू व्यापारियों से महत्त्वपूर्ण सहयोग मिला था। अतः उसने हिन्दुओं को महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया। राय दुर्लभ, जगत् सेठ बन्धु मेहताब राय और स्वरूप चन्द्र, राजा रामनारायण, राजा माणिकचन्द्र आदि का उसके शासनकाल में भारी सम्मान बना रहा।

उस समय बंगाल का अधिकांश व्यापार हिन्दू व्यापारियों के हाथ में था। यूरोपीय व्यापारियों के सम्पर्क में आने के बाद हिन्दू व्यापारियों का कारोबार और अधिक बढ़ गया और वे काफी समृद्ध हो गये थे। बंगाल से अब कृषि पदार्थों के अलावा सूती कपड़े तथा रेशम का भी भारी मात्रा में निर्यात होने लगा था। बढ़ते हुए व्यापार तथा पर्याप्त मुनाफे ने बंगाल के हिन्दू व्यापारियों को अँग्रेज व्यापारियों का मित्र बना दिया। यही कारण है कि जब बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मध्य संघर्ष हुआ तो बंगाल के इन हिन्दू व्यापारियों ने कम्पनी के साथ सहानुभूति रखते हुए महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

अलीवर्दीखाँ और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आपसी सम्बन्ध कभी मैत्रीपूर्ण न रहे। विवाद का एक कारण व्यापारिक सुविधाएँ थीं। कम्पनी का कहना था कि उसे 1717 के शाही फरमान के अनुसार सुविधाएँ नहीं दी जा रही हैं। इसके विपरीत नवाब का मत था कि कम्पनी को जो कुछ सुविधाएँ दी गई हैं, वह उनका दुरुपयोग कर रही है, जिससे बंगाल के सरकारी कोष को भारी घाटा उठाना पड़ रहा है। अतः कम्पनी को चाहिए कि वह अपने मुनाफे का कुछ अंश सीमा-शुल्क के रूप में सरकार को दे। परन्तु कम्पनी इसके लिए तैयार नहीं थी। विवाद का दूसरा पहलू कम्पनी के राजनीतिक इरादे थे। कर्नाटक के युद्धों में मिली सफलता से जहाँ कम्पनी का आत्मविश्वास बढ़ गया था, वहीं उसकी महत्त्वाकांक्षा भी बढ़ गई थी और वह बंगाल में भी अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने में जुट गई। दूसरी तरफ अलीवर्दीखाँ सचेत हो गया। उसे पहले से ही यह आभास हो गया था कि बंगाल में स्थित दोनों यूरोपीय कम्पनियों (अँग्रेजों और फ्रांसीसियों की) में कभी भी संघर्ष छिड़ सकता है और उनका संघर्ष व्यापक भी हो सकता है, जिससे बंगाल की शान्ति एवं व्यवस्था बिगड़ सकती है। अतः उसने शुरू से ही दोनों कम्पनियों को अपनी-अपनी बस्तियों की किलेबन्दी करने तथा अस्त्र-शस्त्रों को जमा करने की इजाजत नहीं दी। उसका कहना था कि तुम लोग व्यापार करने आये हो और व्यापारियों को सामरिक तैयारी में समय नष्ट नहीं करना चाहिए।

अलीवर्दीखाँ के सुझाव के उपरान्त भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने एक स्वयंसेवक सेना गठित कर ली। इसका मुख्य ध्येय मराठों की लूटमार से अपनी बस्ती की रक्षा करना था। अपनी

बस्ती के अलावा अँग्रेजों ने आस-पास के कुछ अन्य क्षेत्रों को भी मराठों की लूटमार से बचाया तथा मराठों द्वारा लूटे गये क्षेत्रों के लोगों को थोड़ी-बहुत आर्थिक सहायता भी दी। इसका परिणाम बहुत अच्छा निकला। अँग्रेजों ने स्थानीय लोगों की सहानुभूति प्राप्त करली, जो आगे चलकर उनके काम आई। 1756 ई. में सप्तवर्षीय युद्ध के परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में दोनों कम्पनियों में संघर्ष शुरू हो गया, परन्तु अलीवर्दीखाँ ने दोनों पर कठोर निगरानी रखी और उन्हें आपस में लड़ने नहीं दिया।

सिराजुद्दौला

10 अप्रैल, 1756 ई. को 82 वर्षीय अलीवर्दीखाँ की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र न था। केवल तीन पुत्रियाँ थीं, जिन्हें उसने अपने तीन भतीजों को विवाह दिया और उन्हें पूर्णिया, ढाका तथा पटना के गवर्नर पदों पर नियुक्त किया। दुर्भाग्यवश, अलीवर्दीखाँ के तीनों दामादों (भतीजों) का देहान्त उसके जीवन काल में ही हो गया था, अतः भावी उत्तराधिकार के प्रश्न पर षड्यन्त्रों का सिलसिला शुरू हो गया, जिससे सशस्त्र संघर्ष की सम्भावना स्पष्ट लगने लगी। अलीवर्दीखाँ भी इस स्थिति से परिचित था। अतः उसने अपने जीवन काल में ही अपनी सबसे छोटी पुत्री के लड़के सिराजुद्दौला को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। परन्तु उसके निर्णय से सिराजुद्दौला के विरोधियों को सन्तोष नहीं हुआ। अलीवर्दीखाँ की सबसे बड़ी लड़की घसीटी बेगम ने सिराजुद्दौला के स्वर्गीय बड़े भाई के अल्पवयस्क लड़के मुराउद्दौला को गोद ले लिया और वह उसे बंगाल का नवाब बनाने का स्वप्न देख रही थी। घसीटी बेगम का दीवान राजवल्लभ काफी चतुर एवं योग्य राजनीतिज्ञ था और वह उसे पूरा-पूरा सहयोग दे रहा था। दूसरी लड़की का लड़का शौकतजंग जो पूर्णिया का गवर्नर था, अपने आपको बंगाल की नवाबी का सही उत्तराधिकारी समझता था। अलीवर्दीखाँ का बहनोई और प्रधान सेनानायक मीरजाफर भी शासनतन्त्र को अपने नियन्त्रण में रखने का इच्छुक था। इस प्रकार सिराजुद्दौला को अपने ही सम्बन्धियों से सुलझना था।

अलीवर्दीखाँ की मृत्यु के बाद सिराजुद्दौला का राज्याभिषेक तो बिना किसी विघ्न-बाधा के सम्पन्न हो गया, परन्तु तत्काल बाद सिराजुद्दौला ने अपनी बड़ी मौसी घसीटी बेगम को घेर लिया और छल-कंपट से उसे बन्दी बना लिया। इसी प्रकार, उसने शौकतजंग के विरुद्ध भी सैनिक कार्यवाही करके उसे अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया।

अँग्रेजों के साथ संघर्ष के कारण—अँग्रेज इतिहासकारों के मतानुसार अँग्रेजों और सिराजुद्दौला के मध्य संघर्ष के मुख्य कारण सिराजुद्दौला की विलासिता, क्रूरता और शासन में अत्याचार थे। उन विद्वानों का यह मत भी है कि चूँकि सिराजुद्दौला को नवाबी से हटाने के लिये कुचक्र एवं षड्यन्त्र चल रहे थे, अँग्रेजों ने भी अपनी सुरक्षा के निमित्त सिराजुद्दौला के विरोधियों को सहयोग प्रदान कर दिया क्योंकि नवाब सिराजुद्दौला शुरू से ही अँग्रेजों से घृणा करता था। परन्तु अब अँग्रेजी इतिहासकारों के उपर्युक्त दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया जाता है। आज के विद्वानों की मान्यता है कि सिराजुद्दौला के शासन तथा उसके समकालीन अन्य भारतीय शासकों

के शासन में कोई विशेष अन्तर नहीं था। दोनों के मध्य संघर्ष के कारण कुछ दूसरे ही थे, जो इस प्रकार थे—

1. राजनीतिक—सिराजुद्दौला ने नवाब बनते ही अपनी सत्ता को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया, जबकि उसके विरोधी—घसीटी बेगम और दीवान राजवल्लभ, शौकतजंग तथा मीरजाफर आदि उसको नवाबी से हटाने के लिए षड्यन्त्र रच रहे थे। सिराजुद्दौला को ऐसा अनुभव हुआ के अँग्रेज व्यापारी उसकी सत्ता की अवज्ञा ही नहीं कर रहे हैं, अपितु उसके विरोधियों के साथ साँठ-गाँठ करके उन्हें सहयोग एवं प्रोत्साहन भी दे रहे हैं। अतः सिराजुद्दौला ने अँग्रेजों के प्रभाव को कम करने का प्रयास किया। दूसरी तरफ अँग्रेजों का विश्वास था कि भावी संघर्ष में नवाब हार जायेगा। इसीलिए उन्होंने उसके विरोधियों का साथ दिया, ताकि भविष्य में उन्हें अधिक व्यापारिक तथा राजनीतिक सुविधाएँ उपलब्ध हो सकें।

2. अँग्रेजों के प्रति सन्देह—अँग्रेजों का मानना है कि नवाब सिराजुद्दौला आरम्भ से ही अँग्रेजों को सन्देह की दृष्टि से देखा करता था। परन्तु तत्कालीन साक्ष्यों से पता चलता है कि आरम्भ में सिराजुद्दौला अँग्रेजों के साथ सहानुभूति रखता था। 1752 ई. में जब कम्पनी के अध्यक्ष हुगली आये थे, तब सिराजुद्दौला ने आदरपूर्वक उनका सम्मान किया था। यदि हॉलवेल का विश्वास किया जाय तो अलीवर्दीखाँ ने मरने से पूर्व सिराजुद्दौला को अँग्रेजों पर कड़ी नजर रखने की चेतावनी दी थी, क्योंकि उसे आशंका थी कि कर्नाटक का नाटक बंगाल में भी दोहराया जा सकता है। अतः नवाब बनने के बाद सिराजुद्दौला के रुख में अन्तर आ गया और वह अँग्रेजों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगा तथा उनकी कार्यवाहियों को नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया, जिससे अँग्रेज उसके शत्रु बन गये।

3. नवाब के प्रति अँग्रेजों की अशिष्टता—भारत में यह परम्परा रही है कि जब कोई व्यक्ति नया शासक बनता है, तब उसके राज्याभिषेक के अवसर पर उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की दृष्टि से प्रतिष्ठित नागरिक, अधिकारी एवं जमींदार लोग उसे मूल्यवान भेंटें प्रदान करते हैं। सिराजुद्दौला के राज्याभिषेक के अवसर पर अँग्रेज अधिकारी जान-बूझकर अनुपस्थित रहे और उन्होंने सिराजुद्दौला को भेंट भी नहीं दी। उनकी यह कार्यवाही एक प्रकार से नवाब के प्रति उनकी अशिष्टता थी। इस घटना के कुछ दिनों बाद ही जब सिराजुद्दौला ने अँग्रेजों की कासिम बाजार की फैक्टरी को देखने की इच्छा व्यक्त की तो अँग्रेजों ने उसे फैक्टरी दिखाने से ही मना कर दिया। जब नवाब ने उनसे उनके व्यापार के बारे में जानकारी चाही तो अँग्रेजों ने जानकारी देना उचित न समझा। उनके इस प्रकार के अशिष्ट व्यवहार से सिराजुद्दौला के सम्मान को भारी ठेस पहुँची।

4. व्यापारिक झगड़ा—मुगल सम्राट फर्रुखशियर ने 1717 ई. में एक शाही फरमान द्वारा उन्हें बंगाल में बिना चुँगी दिये व्यापार करने की सुविधा प्रदान की थी। इससे एक तरफ तो भारतीय व्यापारियों के हितों को हानि पहुँच रही थी और दूसरी तरफ नवाब के राजकोष को भी हानि हो रही थी। बाद में अँग्रेजों ने अपनी इस सुविधा का दुरुपयोग करना शुरू कर दिया। वे भारतीय व्यापारियों से कुछ ले-देकर उनके माल को भी अपना बताकर चुँगी बचा लेते थे। बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अध्यक्ष अपने दस्तक से कम्पनी के माल को एक स्थान से दूसरे स्थान लाने-ले जाने का पत्र जारी करता था। इसे 'दस्तक' (Free Pass) कहा जाता है। इस प्रकार

'दस्तक' वाले सामान पर चुँगी-कर वसूल नहीं किया जाता था। इस समय कम्पनी के अधिकांश कर्मचारी भी निजी व्यापार में लग चुके थे और वे लोग अपने व्यापार के सामान को भी कम्पनी का बताकर चुँगी बचा लेते थे। इससे बंगाल की सरकार को काफी हानि उठानी पड़ रही थी। नवाब सिराजुद्दौला कम्पनी के साथ कोई नया समझौता करना चाहता था, जिससे कि मौजूदा अव्यवस्था को दूर किया जा सके। अँग्रेज अपने इस विशेषाधिकार को छोड़ने को तैयार न थे। अतः दोनों पक्षों में तनाव का बढ़ना स्वाभाविक ही था। वस्तुतः दोनों के मध्य संघर्ष का मूल कारण यही था।

5. नवाब के शत्रुओं को संरक्षण देना—अँग्रेजों की कलकत्ता बस्ती नवाब के शत्रुओं तथा राजद्रोहियों के लिए आश्रयस्थल बनी हुई थी। जब नवाब ने घसीटी बेगम को बन्दी बना लिया तो दीवान राजवल्लभ ने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति अपने लड़के कृष्णवल्लभ के साथ कलकत्ता भिजवा दी। उसने घसीटी बेगम की धन सम्पत्ति को भी छिपाने का प्रयास किया। इस पर नवाब ने उसे दीवान पद से हटा दिया और कलकत्ता के अँग्रेज अधिकारियों से कृष्णवल्लभ को लौटाने की माँग की जिसे अँग्रेजों ने ठुकरा दिया। इससे सिराजुद्दौला को पक्का विश्वास हो गया कि अँग्रेज उसके शत्रुओं से मिले हुये हैं।

6. कलकत्ता की किलेबन्दी—सिराजुद्दौला के नवाब बनते ही यूरोप में इंगलैण्ड और फ्रांस में युद्ध छिड़ने की सम्भावना बढ़ गई थी। अतः भारत में स्थित दोनों कम्पनियों में भी पुनः सशस्त्र संघर्ष की आशंका उत्पन्न हो गई। परिणामस्वरूप दोनों ने बंगाल में अपने-अपने स्थानों की किलेबन्दी करना और सैनिकों की संख्या बढ़ाना शुरू कर दिया। नवाब ने दोनों को आदेश दिया कि वे अपने स्थानों की किलेबन्दी के काम को तुरन्त बन्द करदें। फ्रांसीसियों ने तो नवाब के आदेश को मान लिया। परन्तु अँग्रेजों ने आदेश की परवाह न की। वे उस समय कलकत्ता के चारों तरफ एक खाई खुदवा रहे थे। जब नवाब के अधिकारियों ने उन्हें खाई को भर देने के लिये कहा तो एक अहंकारी अँग्रेज अधिकारी नें उन्हें जवाब दिया कि "यह खाई अवश्य भर दी जायेगी, परन्तु मुसलमानों के सिरों से।" जब सिराजुद्दौला को उनकी उद्दण्डता की सूचना दी गई तो उसने अँग्रेजों को सबक सिखाने का फैसला कर लिया।

इस प्रकार, दोनों पक्षों के मध्य झगड़े के कारण एकत्र होते गये। इनमें एक कारण और जुड़ गया। वह था जमींदारी के अधिकारों की व्याख्या। जैसाकि पहले बतलाया जा चुका है कि कम्पनी को कलकत्ता बस्ती के आस-पास के क्षेत्र की जमींदारी दी गई थी। नवाब का मानना था कि जमींदार उसका प्रतिनिधि मात्र है और उसका काम नवाब की तरफ से जमींदारी क्षेत्र से राजस्व वसूल करना तथा शान्ति एवं व्यवस्था को कायम रखना है। उस क्षेत्र पर नवाब का राजनीतिक प्रभुत्व सर्वोपरि है और इस नाते कम्पनी उसके आदेशों का पालन करने के लिये बाध्य है। परन्तु कम्पनी का मानना था कि उसे अपने क्षेत्र में पूर्ण राजनीतिक स्वायत्तता प्राप्त है और नवाब को उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। नवाब उनकी दलीलों को मानने के लिए तैयार नहीं था। फिर भी उसने तत्काल उनके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करना उचित नहीं समझा और अपने अधिकारियों को उनसे बातचीत करने भेजा। परन्तु अँग्रेज अधिकारियों ने नवाब के शान्ति-प्रस्ताव को ठुकरा दिया। ऐसी स्थिति में सिराजुद्दौला के लिये अपने सम्मान की रक्षा के निमित्त सैनिक

कार्यवाही के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं बचा। इतिहासकार हिल ने भी यह स्वीकार किया है कि जिन कारणों पर नवाव ने अँग्रेजों पर आक्रमण किया उनमें तर्क अवश्य था। अकेले सिराजुद्दौला को इसके लिए उत्तरदायी ठहराना किसी भी दृष्टि से न्यायोचित नहीं होगा।

सैनिक कार्यवाही—4 जून, 1756 ई. को सिराजुद्दौला ने मुर्शिदाबाद के समीप स्थित अँग्रजों की कासिम बाजार फैक्टरी पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। फैक्टरी के अँग्रेज अधिकारी वाट्स ने आत्मसमर्पण कर दिया। इसके वाद 5 जून को नवाब ने लगभग 50,000 सैनिकों के साथ कलकत्ता पर धावा बोल दिया। उस समय कलकत्ता में अँग्रेजों के पास केवल 500 सैनिक थे, फिर भी कलकत्ता के गवर्नर ड्रेक ने लड़ने का निश्चय किया। 15 जून को नवाव की सेना ने उनके दुर्ग फोर्ट विलियम को घेर लिया। पराजय और मृत्यु को सामने देखकर गवर्नर ड्रेक और वहुत से अँग्रेज अधिकारी अपने परिवारों सहित फोर्ट विलियम से भागकर हुगली नदी में जहाज पर सवार होकर वे फुल्टा टापू चले गये। किले की रक्षा का भार हॉलवेल नामक व्यक्ति तथा थोड़े से सैनिकों को सौंपा गया। दो दिन के बाद हॉलवेल को भी आत्म-समर्पण करना पड़ा और कलकत्ता पर नवाव का अधिकार हो गया। इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य वात यह है कि बाद में वाट्स ने यह स्वीकार किया था कि नवाव के शान्ति प्रस्ताव पर्याप्त थे और इन्हें ठुकरा कर तथा कासिम बाजार की घटना से कोई सवक न लेकर गवर्नर ने स्वयं खतरा मोल ले लिया था।

कालकोठरी की घटना—20 जून को फोर्ट विलियम का पतन हो गया। दुर्ग में उपस्थित अँग्रेजों को वन्दी बना लिया गया। कहा जाता है कि नवाब के किसी अधिकारी ने उन्हें रात्रि में एक छोटी-सी कालकोठरी, जो लगभग 18 फीट लम्बी और 15 फीट चौड़ी थी, में बन्द कर दिया। प्रातः जब कोठरी का दरवाजा खोला गया तो वहुत से वन्दी मर चुके थे। इतिहास में यह दुर्घटना "ब्लेक होल" के नाम से विख्यात है। इस दुर्घटना का विवरण हॉलवेल द्वारा लिखे गये एक पत्र से मिला है। हॉलवेल के अनुसार जून मास की भयंकर गर्मी में नवाव के आदेश से 146 अँग्रेज वन्दियों को कालकोठरी में वन्द किया गया था और सुवह तक 123 व्यक्ति मर गये। केवल 23 व्यक्ति जीवित रह पाये।

ब्लेक होल की दुर्घटना पर इतिहासकारों में गम्भीर विवाद है। इस घटना का विवरण हॉलवेल की कल्पना पर आश्रित है। कुछ फ्रांसीसी एवं आर्मीनियन दस्तावेजों में भी इस घटना का उल्लेख मिलता है, परन्तु मरने वालों की संख्या एक जैसी नहीं मिलती। ऐसा लगता है कि अँग्रेजों ने इस घटना को काफी वढ़ा-चढ़ा कर बताया है। उनका एकमात्र उद्देश्य सिराजुद्दौला को क्रूर एवं रक्तपिपासु नवाव सिद्ध करना था, ताकि भारत में स्थित समस्त अँग्रेजों की सहानुभूति प्राप्त की जा सके और नवाव के विरुद्ध उनकी घृणा को उत्तेजित किया जा सके। हॉलवेल ने अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए इस कहानी को सँवारा होगा।

डॉ. भोलानाथ और वाद में डॉ. ब्रिजेन गुप्ता ने विभिन्न तथ्यों की पूरी छानवीन के वाद इस दुर्घटना की सत्यता को सही नहीं माना है। अधिकांश इतिहासकारों की मान्यता है कि यदि हम यह स्वीकार भी करलें कि इस प्रकार की घटना हुई थी तो भी इसके लिए सिराजुद्दौला को किसी प्रकार से दोषी नहीं ठहराया जा सकता। जो लोग इस घटना की सत्यता में विश्वास नहीं,

करते उनके तर्क इस प्रकार हैं—(1) तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रन्थों—"शेर-अ-मुंतेखरीन" और "रायस-उस-सलातीन" आदि में इस घटना का कोई उल्लेख नहीं मिलता। (2) तत्कालीन अँग्रेजी पुस्तकों, मद्रास कौंसिल के दस्तावेजों, कम्पनी के डायरेक्टरों को क्लाइव तथा वाट्सन द्वारा लिखे गये पत्रों आदि में भी इसका उल्लेख नहीं मिलता। (3) गणित के हिसाब से उस कालकोठरी में 146 व्यक्तियों को किसी भी प्रकार से नहीं ठूँसा जा सकता। (4) हॉलवेल ने जो सूची दी है, उतने आदमी फोर्ट विलियम में मौजूद ही नहीं थे। हॉलवेल अत्यन्त ही झूठा व्यक्ति था। इसकी पुष्टि स्वयं क्लाइव एवं वाट्सन के कथनों से होती है। हॉलवेल ने बाद में इसी प्रकार का आरोप मीरजाफर पर भी लगाया था कि उसने एक ही रात में असंख्य अँग्रेजों को मरवा डाला। हॉलवेल ने मृत व्यक्तियों की सूची भी दी। परन्तु बाद में क्लाइव और वाट्सन ने लिखा है कि हॉलवेल का आरोप असत्य था और उसकी सूची के अधिकांश व्यक्ति अभी तक जीवित हैं। (5) 1757 ई. में अँग्रेजों ने जब नवाब सिराजुद्दौला के साथ सन्धि की तो उन्होंने कई बातों की क्षतिपूर्ति के लिए नवाब से धन की माँग की थी। यदि कालकोठरी की घटना घटित हुई होती तो अँग्रेज मृत लोगों का मुआवजा अवश्य माँगते। चूँकि इस प्रकार का मुआवजा नहीं माँगा गया, इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार की कोई दुर्घटना घटित नहीं हुई।

अलीनगर की सन्धि (1757 ई.)—कासिम बाजार तथा कलकत्ता की पराजयों का समाचार जब मद्रास पहुँचा तो वहाँ के अँग्रेज अधिकारी अत्यधिक उत्तेजित हो उठे। वे इतनी आसानी से अपनी पराजय स्वीकार करने अथवा नवाब से क्षमायाचना करने के लिए तैयार नहीं थे। वे तो शस्त्र बल से नवाब को झुका कर अपना राजनीतिक वर्चस्व कायम करने के पक्ष में थे। क्योंकि यदि वे ऐसा नहीं करते तो भारतीय राजनीति में उनकी प्रतिष्ठा धूल में मिल सकती थी और इसका लाभ उठाकर उनके प्रतिद्वन्द्वी फ्रांसीसी पुनः जोर-शोर के साथ उनके विरुद्ध उठ खड़े हो सकते थे। अतः मद्रास कौंसिल की बैठक में यह निर्णय लिया गया कि क्लाइव के नेतृत्व में कासिम बाजार और कलकत्ता पर आक्रमण करने तथा उन पर पुनः अधिकार करने के लिए एक शक्तिशाली सेना बंगाल भेजी जाय। क्लाइव की सहायता के लिए जल सेनानायक वाट्सन को नियुक्त किया गया। मद्रास कौंसिल ने क्लाइव को यह भी आदेश दिया कि बंगाल के मौजूदा नवाब को हटाने का पूरा-पूरा प्रयास किया जाय और इस सम्बन्ध में उसे स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता दी गई। सिराजुद्दौला ने अँग्रेजों का सही मूल्यांकन नहीं किया था। उसे यह आशा नहीं थी कि अँग्रेज इतनी जल्दी आ धमकेंगे और उसके विरुद्ध पुनः एक शक्तिशाली गुट खड़ा करके उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचने में सफल हो जायेंगे। इसीलिए उसने न तो कलकत्ता की सुरक्षा की पूरी व्यवस्था की और न ही समुद्री तटों की निगरानी तथा सुरक्षा पर ध्यान दिया।

दिसम्बर, 1756 के अन्त में अँग्रेजों की सेना बंगाल पहुँच गई। क्लाइव और वाट्सन ने अपने विश्वस्त लोगों की सहायता से सिराजुद्दौला के प्रमुख अधिकारियों तथा सेठ-साहूकारों को अपनी ओर मिलाने तथा नवाब को सत्ताच्युत करने के लिए षड्यन्त्र रचना शुरू कर दिया। ऐसे लोगों में राजा मानकचन्द, व्यापारी अमीचन्द, जगत् सेठ बन्धु, मीरजाफर आदि मुख्य थे। राजा मानिकचन्द को भारी रिश्वत दी गई और 2 जनवरी, 1757 ई. को अँग्रेजों ने कलकत्ता पर

पुनः अधिकार कर लिया। अँग्रेजों की सेना ने हुगली और उसके आसपास के क्षेत्रों को लूटा। नवाव सिराजुद्दौला को जव इसकी सूचना मिली तो वह 40,000 सैनिकों के साथ कलकत्ता की तरफ बढ़ा। 30 जनवरी को क्लाइव ने नवाव की सेना पर अचानक आक्रमण कर उसे काफी क्षति पहुँचाई। इससे नवाव का मनोवल गिर गया। उसके सलाहकारों ने भी अँग्रेजों के साथ सन्धि करने के लिए उस पर दवाव डाला। परिणामस्वरूप नवाव सन्धि के लिए तैयार हो गया। नवाव तत्काल सन्धि के लिए क्यों तैयार हो गया—यह अत्यन्त विवाद का विषय है। एक मान्यता यह है कि नवाव को अपने दरवारियों तथा अधिकारियों पर सन्देह हो गया था कि वे अँग्रेजों से मिले हुए हैं। दूसरी मान्यता यह है कि इन दिनों अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली ने मुगल सम्राट को पराजित करके दिल्ली में डेरा डाल रखा था और यह अफवाह जोरों पर थी कि रुहेलों और अफगानों की सहायता से वह बंगाल पर आक्रमण करने वाला है। ऐसी स्थिति में नवाव ने अँग्रेजों के साथ सन्धि कर लेना ही उचित समझा। उधर क्लाइव की स्थिति भी अधिक मजवूत न थी। वाट्सन के साथ उसके सम्वन्ध तनावपूर्ण हो गये थे और कलकत्ता कौंसिल से उसे अपेक्षित सहयोग नहीं मिल पा रहा था। अतः विना कठिनाई के प्राप्त होने वाले यश से वंचित रहना क्लाइव को पसन्द न था। इसलिए जव नवाव की तरफ से सन्धि का प्रस्ताव आया तो क्लाइव ने उसे स्वीकार कर लिया। 9 फरवरी, 1757 ई. को दोनों पक्षों में सन्धि हो गई जो "अलीनगर की सन्धि" कहलायी जिसकी मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं—

1. मुगल वादशाह ने अँग्रेजों को जो व्यापारिक सुविधाएँ तथा विशेषाधिकार दिये थे—नवाव ने उनको मान्यता प्रदान कर दी।

2. वंगाल, विहार और उड़ीसा में पहले की भाँति कम्पनी का दस्तक के प्रयोग का अधिकार मान लिया गया।

3. जिन फैक्टरियों पर नवाव ने अधिकार कर लिया था, वे पुनः कम्पनी को लौटा दी जायेंगी तथा कम्पनी की सम्पत्ति तथा अँग्रेजों को जो हानि हुई—नवाव ने उसकी क्षतिपूर्ति का वचन दिया।

4. कम्पनी को कलकत्ता में अपनी इच्छानुसार किलेवन्दी करने की छूट मिल गई।

5. कम्पनी को अपने निजी सिक्के ढालने का अधिकार भी दिया गया।

6. उपर्युक्त सुविधाओं के वदले में कम्पनी ने नवाव को उसकी सुरक्षा का आश्वासन दिया।

अलीनगर की सन्धि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए काफी लाभदायक और नवाव सिराजुद्दौला के लिए अपमानजनक थी। क्लाइव ने इस सन्धि के द्वारा कम्पनी के लिए वहुत सारे अधिकार प्राप्त कर लिए। इस सन्धि के द्वारा उसने फ्रांसीसियों और नवाव के सम्भावित गठवन्धन को रोक दिया, जिससे वंगाल में कम्पनी की स्थिति अत्यधिक सुदृढ़ हो गई। वस्तुतः अलीनगर की सन्धि पर दोनों पक्षों ने परिस्थितियों से विवश होकर हस्ताक्षर किये थे। अतः दोनों में पुनः संघर्ष होना तो अवश्यम्भावी था। वाद की घटनाओं से यह काम और भी सरल हो गया।

प्लासी का युद्ध (1757 ई.)

कारण—प्लासी का युद्ध भारतीय इतिहास का मोड़ बिन्दु और निर्णायक युद्धों में से एक माना जाता है। इस युद्ध के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

1. सन्धि की शर्तों का पूरा न होना—परिस्थितियों से विवश होकर दोनों पक्षों ने सन्धि तो कर ली, परन्तु शर्तों का पालन करने में किसी ने भी रुचि नहीं ली। सिराजुद्दौला ने अँग्रेजों को मुआवजा देने का वचन दिया था, परन्तु उसने किसी प्रकार का मुआवजा नहीं दिया। रेम्जे म्योर का कथन है कि नवाब सन्धि की शर्तों को पूरा करने के लिए तैयार न था; इस कारण युद्ध आवश्यक बन गया। इसी प्रकार का आरोप कम्पनी पर भी लगाया जा सकता है। क्योंकि कम्पनी ने नवाब से भी पहले युद्ध की तैयारी शुरू कर दी थी। अँग्रेजों का मानना था कि जब तक सिराजुद्दौला नवाब बना रहेगा, कम्पनी के हितों को खतरा बना रहेगा।

2. अँग्रेजों द्वारा नवाब पर दोष लगाना—अँग्रेज लेखकों का मत है कि सिराजुद्दौला ने अपने कुछ निजी पत्रों में अँग्रेजों के शत्रुओं से मित्रता न रखने का आश्वासन दिया था। कम्पनी ने इस प्रकार के आश्वासन को भी सन्धि का एक अंश समझ लिया। जबकि सच्चाई यह थी कि सन्धि के समय ही नवाब ने इस प्रकार की शर्त को मानने से इन्कार कर दिया था। संयोगवश इन्हीं दिनों बंगाल के फ्रांसीसियों ने नवाब के साथ सम्बन्ध बढ़ाने का प्रयास किया, जिससे क्लाइव को यह भय लगा कि कहीं अपमानित नवाब फ्रांसीसियों से मिलकर अँग्रेजों से अपना प्रतिशोध लेने की कोशिश न करे। इसलिए क्लाइव ने फ्रांसीसियों की बस्ती चन्द्रनगर पर आक्रमण करने के लिए नवाब से अनुमति माँगी। नवाब फ्रांसीसियों को अपना शत्रु नहीं बनाना चाहता था, अतः उसने अँग्रेजों को गोलमाल जवाब भिजवा दिया। क्लाइव ने 14 मार्च, 1757 को चन्द्रनगर पर अचानक आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया। अँग्रेजों ने नवाब पर अलीनगर की शर्तों को तोड़ने का दोष भी लगा दिया जिसे नवाब ने स्वीकार नहीं किया। नवाब का कहना था कि बंगाल के फ्रांसीसियों ने अँग्रेजों के विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया, तब भला उन्हें शत्रु कैसे माना जाय ? परन्तु अँग्रेज अपनी ही बात पर डटे रहे।

3. नवाब के विरुद्ध षड्यन्त्र—बहुत से विद्वानों का मानना है कि नवाब सिराजुद्दौला के विरुद्ध कुछ प्रभावशाली मुस्लिम सरदार और धनवान हिन्दू कुचक्र रचने में लगे हुए थे और जब उन्होंने अँग्रेजों से इसमें सहयोग माँगा तो उन्होंने तत्काल स्वीकृति दे दी। मुस्लिम सरदारों में मीर जाफर, मिर्जा अमीर बेग और हुसैनखाँ प्रमुख थे। ये सभी किसी-न-किसी रूप में नवाब द्वारा बेइज्जत किये जा चुके थे। हिन्दू लोग सिराजुद्दौला की कट्टर धार्मित नीति के कारण विरोधी बने हुए थे। जगत् सेठ बन्धुओं—मेहताबराय और स्वरूपचन्द को भी नवाब ने अपमानित कर दिया था। नदिया का शक्तिशाली जमींदार महाराजा कृष्णचन्द्र भी नवाब की हिन्दू-विरोधी नीति से असन्तुष्ट था। इसके अलावा प्रमुख हिन्दू व्यापारी थे, जिनका अँग्रेज व्यापारियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था और दोनों के हित एक समान थे।

परन्तु उपलब्ध साक्ष्यों से मालूम होता है कि इस षड्यन्त्र के निर्माण में अँग्रेजों ने पहल की थी। अलीनगर की सन्धि के बाद से ही मद्रास के अधिकारी अपनी सेना को वापस भिजवाने

की माँग करने लगे थे। परन्तु क्लाइव का मानना था कि अभी बंगाल में काम पूरा नहीं हुआ है। अतः उसने मद्रास की सलेक्ट कमेटी (Select Committee) को सम्पूर्ण स्थिति समझाते हुए मार्ग निर्देश की प्रार्थना की। मद्रास से क्लाइव को उत्तर भेजा गया कि बंगाल प्रान्त में ऐसी किसी भी शक्ति से सम्बन्ध स्थापित किया जाय जो नवाब से असन्तुष्ट हो तथा नवाबी का दावा कर रही हो, ताकि सिराजुद्दौला को हमेशा के लिए समाप्त किया जा सके। इससे स्पष्ट है कि नवाब के विरुद्ध षड्यन्त्र में अँग्रेजों ने पहल की थी।

नवाब विरोधी षड्यन्त्रकारियों ने मीरजाफर को नवाब बनाने का निर्णय लिया जिसे अँग्रेजों ने भी स्वीकार कर लिया। अँग्रेजों ने मीरजाफर से अलग से एक गुप्त समझौता कर लिया, जिसके अन्तर्गत नवाब बन जाने के बाद मीरजाफर ने कम्पनी को व्यापारिक, प्रादेशिक तथा आर्थिक सुविधाओं का आश्वासन दिया। रायदुर्लभ को मन्त्री पद का आश्वासन दिया गया। षड्यन्त्र की शर्तें कलकत्ता के एक सिक्ख व्यापारी अमीचन्द की मध्यस्थता से तय हुई थीं। अतः उसे नवाब के कोष का पाँच प्रतिशत भाग देने का वायदा किया गया। जब सब कुछ तय हो गया तो अमीचन्द ने पाँच प्रतिशत के अलावा 30,000 पौण्ड की माँग की और माँग न मानने पर षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ करने की धमकी दी। इस पर क्लाइव ने भी धोखा देने की नीति अपनाई। उसने दो सन्धि-पत्र तैयार करवाये। एक सफेद कागज पर जो सही था और दूसरा लाल कागज पर जो झूठा था और जिसमें अमीचन्द को तीस हजार पौण्ड देने की बात कही गई थी। वाट्सन ने झूठे सन्धि-पत्र हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। तब क्लाइव ने उसके जाली हस्ताक्षर बनाये और अमीचन्द को सन्तुष्ट कर दिया। चूँकि क्लाइव ने कम्पनी के हितों की रक्षा के लिए धोखाधड़ी की थी, इसलिए अँग्रेज इतिहासकारों ने उसके इस कुकृत्य को भुला दिया। डॉडवेल जैसे विद्वान् ने तो क्लाइव के कार्य को उचित ठहराया है।

अपने विरोधियों के इस षड्यन्त्र की सूचना नवाब को युद्ध के पूर्व ही मिल गई थी, परन्तु नवाब ने षड्यन्त्रकारियों के विरुद्ध कोई सख्त कदम नहीं उठाया। उसने अपने चारों सेनानायकों—मीरजाफर, रायदुर्लभ, यारलतीफखाँ और मीर मुइनुद्दीनखाँ को बुलवाकर अपने प्रति वफादारी की शपथ लेने को कहा। उनके ऐसा करने मात्र से ही नवाब सन्तुष्ट हो गया, जबकि वस्तुतः मीर मुइनुद्दीनखाँ के अलावा तीनों सेनानायक षड्यन्त्र में सक्रिय थे।

प्लासी का युद्ध

षड्यन्त्र पूरा होते ही क्लाइव ने युद्ध का बहाना ढूँढ़ना आरम्भ किया। उसने नवाब को एक पत्र लिखा, जिसमें उस पर अलीनगर की सन्धि को भंग करने का आरोप लगाया। उसका यह आरोप कितना झूठा और निराधार था, इसकी पुष्टि इसी से हो जाती है कि नवाब का उत्तर आने के पहले ही क्लाइव सेना सहित राजधानी की तरफ कूच कर देता है। 19 जून, 1757 को अँग्रेजों ने कटवा पर अधिकार कर लिया। इसकी सूचना मिलते ही नवाब भी सेना सहित आगे बढ़ा। दोनों पक्षों की सेनाएँ प्लासी के मैदान पर आमने-सामने आ डटीं। नवाब की सेना में लगभग 50,000 सैनिक थे। क्लाइव के पास 800 यूरोपियन तथा 2200 भारतीय सैनिक थे। क्लाइव ने अपना डेरा आम के पेड़ों की कतारों की ओट में लगाया ताकि शत्रु के तोपखाने से

राहत मिल सके। नवाब की विशाल सेना को देखकर क्लाइव साहस खो बैठा और उसने आक्रमण करने का साहस नहीं किया। परन्तु जब षड्यन्त्रकारी सेनानायकों ने उसे पुनः विश्वास दिलाया तब 23 जून, 1757 को क्लाइव ने धावा बोल दिया। नवाब के चार सेनानायकों में से तीन सेनानायक अपने-अपने सैनिक दस्तों के साथ चुपचाप युद्ध का नजारा देखते रहे। केवल मीर मुइनुद्दीन ने शत्रु का सामना किया। परन्तु थोड़ी देर बाद ही वह मारा गया। अदूरदर्शी नवाब अपने ही लोगों के विश्वासघात से घबरा गया और 2000 सैनिकों के साथ युद्ध मैदान से भाग खड़ा हुआ। उसके भागते ही नवाब के षड्यन्त्रकारी सेनानायकों ने अपने-अपने सैनिक दस्तों को भी लौट जाने के आदेश दे दिये। इस प्रकार, बिना विशेष प्रयास के ही क्लाइव ने युद्ध जीत लिया। नवाब जब मुर्शिदाबाद से पटना की ओर भाग रहा था तो उसे बन्दी बना लिया गया। 28 जून, 1757 को अँग्रेजों ने मीरजाफर को बंगाल का नवाब घोषित कर दिया। 2 जुलाई को मीरजाफर के पुत्र मीरन ने नवाब सिराजुद्दौला की हत्या कर दी।

युद्ध का महत्त्व—यद्यपि सैनिक दृष्टि से प्लासी का युद्ध कोई बड़ा युद्ध नहीं था, किन्तु इसके परिणाम बड़े महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। सैनिक दृष्टि से तो इसमें नवाब के केवल 500 तथा अँग्रेजों के 65 सैनिक मारे गए। नवाब की विशाल सेना की पराजय का मूल कारण उसके सेनानायकों का विश्वासघात था। क्लाइव ने जगत् सेठ बन्धुओं और मीरजाफर जैसे देशद्रोहियों की महत्त्वाकांक्षाओं का पूरा-पूरा लाभ उठाया। इसीलिए के.एम. पाणिक्कर ने लिखा है कि, "प्लासी एक ऐसा सौदा था, जिसमें बंगाल के धनी लोगों और मीरजाफर ने नवाब को अँग्रेजों के हाथों बेच दिया।" प्लासी के युद्ध के बाद बंगाल में एक नये युग की शुरूआत हुई, जिसने न केवल बंगाल प्रान्त में ही क्रान्ति उत्पन्न की, अपितु ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्वरूप में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया।

1. राजनीतिक महत्त्व—प्लासी के युद्ध से तात्कालिक शासन व्यवस्था का खोखलापन स्पष्ट हो गया। भारतीयों के आन्तरिक मतभेद प्रकट हो गये और यह भी स्पष्ट हो गया कि धनवान हिन्दू लोग बंगाल में मुस्लिम शासन को समाप्त करने की दिशा में किस सीमा तक विदेशियों से साँठ-गाँठ कर सकते हैं। इससे अँग्रेजों का आत्मविश्वास बढ़ा और वे यह मानने लगे कि षड्यन्त्रों तथा कुचक्रों द्वारा भारतीयों को भारतीयों के द्वारा ही परास्त करके अपने साम्राज्य की स्थापना की जा सकती है। युद्ध के परिणामस्वरूप मीरजाफर बंगाल का नवाब अवश्य बन गया, परन्तु उसकी शासन सत्ता कम्पनी के सैनिक सहयोग पर टिकी हुई थी। इस प्रकार, मीरजाफर कम्पनी के हाथ का खिलौना बन गया और वास्तविक शासन सत्ता अँग्रेजों के हाथ में आ गयी। इससे पूर्व अँग्रेज केवल एक व्यापारिक कम्पनी के मालिक थे और उस समय कम्पनी पर नवाब का नियन्त्रण था। प्लासी ने नवाब के नियन्त्रण को समाप्त कर दिया और नवाब पर कम्पनी के नियन्त्रण को मजबूत बना दिया। उसकी असहायता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि चाहते हुए भी मीरजाफर अपने दीवान रायदुर्लभ और बिहार के नायब दीवान रामनारायण को किसी प्रकार की सजा नहीं दे सका क्योंकि वे कम्पनी के वफादार व्यक्ति थे। कम्पनी की कृपा प्राप्त करके कोई भी व्यक्ति प्रशासन में उच्च से उच्च पद प्राप्त कर सकता था। अँग्रेजों का राजनीतिक प्रभुत्व इस बात से भी स्पष्ट होता है कि बाद में मीरजाफर को पदच्युत करने में उन्हें किसी प्रकार का

रक्तपात नहीं करना पड़ा। प्लासी के महत्त्व की चर्चा करते हुए इतिहासकार मेलीसन ने लिखा है कि, "इतना तात्कालिक, स्थाई और प्रभावशाली परिणामों वाला कोई युद्ध नहीं हुआ।" अल्फ्रेड लायल ने लिखा है कि "प्लासी में क्लाइव की सफलता ने बंगाल में युद्ध तथा राजनीति का एक अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र अँग्रेजों के लिए खोल दिया।"

इस युद्ध ने व्यापारियों की आकांक्षाओं को जागृत कर दिया और वे भारत में साम्राज्य स्थापना का स्वप्न देखने लगे। दक्षिण भारत में निजाम तथा मराठों की उपस्थिति के कारण साम्राज्य स्थापना का काम सरल न था, परन्तु बंगाल इन शक्तियों से काफी दूर था। बंगाल को केन्द्र बनाकर वे सुगमता के साथ मुगलों की राजधानी दिल्ली का द्वार खटखटा सकते थे। यह युद्ध मुगल साम्राज्य के लिए भी घातक सिद्ध हुआ। एक व्यापारिक कम्पनी ने उसके एक सूबेदार को पदच्युत करके दूसरे व्यक्ति को सूबेदार नियुक्त कर दिया। अर्थात् यह स्पष्ट हो गया कि मुगल सम्राट केवल एक मूक दृष्टा है और कोई भी शक्ति अपने बल पर सूबेदार को हटा सकती है और नियुक्त कर सकती है।

बंगाल की राजनीति में अब अन्य यूरोपीय शक्तियों का प्रभाव क्षीण हो गया। फ्रांसीसी बंगाल की धरती पर फिर कभी पनप नहीं सके और डचों ने जब अँग्रेजों को चुनौती देने का साहस किया तो उन्हें अपने प्रयास में बुरी तरह से असफल होना पड़ा। इस प्रकार, बंगाल में अँग्रेजों की सर्वोच्चता कायम हो गई।

2. आर्थिक महत्त्व—बंगाल भारत का सर्वाधिक समृद्ध प्रान्त था। 1757 से 1760 ई. के मध्य मीरजाफर ने लगभग 3 करोड़ रुपये रिश्वत के रूप में अँग्रेजों को दिये। स्वयं क्लाइव को 30,000 पौण्ड प्राप्त हुए और बाद में 37,70,833 पौण्ड क्षतिपूर्ति के रूप में प्राप्त हुए (कुछ के अनुसार 16 लाख रुपये और कुछ के अनुसार 2 से 3 लाख पौण्ड के बीच प्राप्त हुआ था।)। प्रत्येक अँग्रेज पदाधिकारी और सैनिक को भी अच्छी-खासी रकम प्राप्त हुई। अँग्रेजों को सन्तुष्ट करने के लिए मीरजाफर को अपने महल के सोने-चाँदी के बर्तन तक बेचने पड़े। वस्तुतः बंगाल प्रान्त के समृद्ध स्रोतों ने कम्पनी को कर्नाटक का तीसरा युद्ध जीतने में सहायता दी। इस युद्ध के बाद ही वह युग शुरू हुआ, जिसमें अब व्यापार के साथ राज्य विस्तार जुड़ गया। बंगाल में कम्पनी को 24 परगनों की जागीर प्राप्त हुई। प्लासी के युद्ध के पूर्व कम्पनी को भारत में माल खरीदने के लिए इंगलैण्ड से सोना और चाँदी लानी पड़ती थी। अब उन्हें भारत में ही इतना अधिक धन मिलने लग गया कि वह तमाम जरूरी सामान खरीद सकती थी। इतना ही नहीं, अपितु बंगाल से प्राप्त धन को कम्पनी ने चीन के व्यापार में लगाना शुरू कर दिया। परन्तु इससे बंगाल का जो आर्थिक शोषण हुआ उसकी कल्पना करना आसान नहीं है।

प्लासी के युद्ध के बाद कम्पनी को तीनों सूबों—बंगाल, बिहार और उड़ीसा—में व्यापार करने की छूट मिल गई। कम्पनी ने इसका लाभ उठाते हुए तीनों प्रान्तों के भीतरी भागों में भी अपनी अनेक फैक्ट्रियाँ तथा कोठियाँ कायम कीं। कलकत्ता में कम्पनी ने अपनी स्वतन्त्र टकसाल कायम की, जहाँ से 19 अगस्त, 1757 के दिन ईस्ट इण्डिया कम्पनी का पहला सिक्का जारी हुआ।

नैतिक महत्त्व—अब हम नैतिक दृष्टि से प्लासी के युद्ध के औचित्य की बात को लें। क्या सिराजुद्दौला पर क्लाइव का आक्रमण उचित था ? क्लाइव और अन्य अँग्रेज अधिकारियों ने अपने षड्यन्त्रों एवं जालसाजियों पर पर्दा डालने के लिए सिराजुद्दौला पर झूठे आरोप लगाये और उसके चरित्र को कलंकित करने का प्रयास किया था। जबकि अँग्रेज इतिहासकार मेलीसन ने लिखा है कि वास्तव में सिराजुद्दौला योग्य, ईमानदार एवं शान्तिप्रिय व्यक्ति था। अँग्रेजों ने आरम्भ से ही उसे धोखा दिया, यद्यपि उसने अँग्रेजों को धोखा देने का प्रयास नहीं किया था। अतः क्लाइव का षड्यन्त्र एवं आक्रमण नैतिक दृष्टि से सर्वथा निन्दनीय था। इससे भी अधिक निन्दनीय व्यवहार मुस्लिम सरदारों—मीरजाफर, यारलतीफखाँ, हुसैनखाँ तथा हिन्दू साहूकारों और जमींदारों का रहा, जिन्होंने थोड़े से प्रलोभन में आकर अपने शासक तथा राष्ट्र के साथ विश्वासघात किया और अपने देश को बेच डाला।

मीरजाफर और अँग्रेज

प्लासी के युद्ध के बाद 29 जून, 1757 ई. को क्लाइव ने मीरजाफर को नवाब घोषित किया और स्वयं अपनी सेना लेकर मुर्शिदाबाद की ओर गया। इस समय बंगाल की जनता पूरी तरह से निष्क्रिय हो चुकी थी। राजसत्ता के परिवर्तन में उसकी किसी प्रकार की कोई रुचि नहीं थी। यही कारण था कि मामूली सी सेना के साथ कोई भी साहसी सेनानायक राज्यों के शासन में मनचाहा परिवर्तन कर सकता था। नया नवाब मीरजाफर एक कमजोर तथा अयोग्य व्यक्ति था। क्लाइव ने शीघ्र ही यह प्रकट कर दिया कि शासन की वास्तविक शक्ति उसके पास है और मीरजाफर नाममात्र का नवाब है। क्लाइव ने जगत् सेठ के माध्यम से बंगाल में हुए सत्ता परिवर्तन के लिए मुगल सम्राट की स्वीकृति भी मँगवा ली।

मीरजाफर के राज्याभिषेक के अवसर पर क्लाइव ने कहा था कि अब अँग्रेज वापस कलकत्ता चले जायेंगे और अपना ध्यान व्यापार की ओर केन्द्रित करेंगे। परन्तु उसके भावी कार्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह नवाब तथा शासनतन्त्र पर अपना नियन्त्रण रखना चाहता था। इसीलिये उसने सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त करवाया जो अँग्रेजों के प्रति निष्ठावान हों। उदाहरणार्थ, षड्यन्त्रकारी रायदुर्लभ को मन्त्री पद पर नियुक्त करवाया। कहा जाता है कि क्लाइव ने रायदुर्लभ के साथ अलग से एक गुप्त समझौता भी किया, जिसमें रायदुर्लभ ने क्लाइव के सभी दावों का समर्थन करने का आश्वासन दिया। रायदुर्लभ नवाब के विरुद्ध निरन्तर षड्यन्त्र करता रहा और नवाब को जब इसकी जानकारी मिली तो उसने रायदुर्लभ को हटाने का फैसला किया। परन्तु रायदुर्लभ को क्लाइव का समर्थन प्राप्त था। अतः वह उसके विरुद्ध कुछ नहीं कर पाया। दूसरा उदाहरण बिहार के नायब सूबेदार रामनारायण का है। क्लाइव ने उसके साथ भी समझौता कर रखा था और शासन चलाने के निर्देश वह क्लाइव से सीधे प्राप्त करता था। उसने नवाब के आदेशों को कभी सम्मान नहीं दिया और नवाब उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही न कर सका। शासन तन्त्र पर नियन्त्रण स्थापित हो जाने के बाद क्लाइव ने भारतीय अधिकारियों को निर्देश भिजवाये कि वे अपने-अपने क्षेत्रों से फ्रांसीसियों को पकड़कर अँग्रेजों को सौंप दे। इन्हीं दिनों नवाब के दो जमींदारों ने विद्रोह कर दिया। क्लाइव ने नवाब को भी

निर्देश दिया कि वह तुरन्त विद्रोह को दवा दे और इसके लिए अपने 500 सैनिक भी दिये। इस सहायता के वदले में क्लाइव ने बंगाल में शोरे के उत्पादन का एकाधिकार प्राप्त कर लिया। केवल 15 प्रतिशत शोरा नवाब के लिए छोड़ा गया। शोरे का उपयोग बारूद बनाने में किया जाता था। अतः स्पष्ट है कि मीरजाफर नाममात्र का शासक था।

अलीगौहर का आक्रमण—शाहजादा अलीगौहर (मुगल सम्राट शाहआलम द्वितीय) इस समय अवध में भटक रहा था। बंगाल, बिहार और उड़ीसा की अव्यवस्था का हाल सुनकर उसने इन प्रान्तों में अपना भाग्य आजमाने का प्रयास किया। इसके लिए उसे अवध के नवाब से सैनिक सहायता भी मिल गई। 3 अप्रैल, 1759 को उसने पटना पर आक्रमण कर दिया। मीरजाफर के कुछ असन्तुष्ट सरदार गुप्त रूप से शाहजादा से मिले हुए थे। पटना के नायब सूबेदार रामनारायण ने अलीगौहर को मार भगाया। परन्तु क्ल· ,त्र जो उस समय अपनी सेना के साथ युद्ध स्थल के निकट ही था, ने विजय का सारा श्रेय स्वयं ले लिया। उसका मानना था कि शाहजादा ब्रिटिश सेना के भय से भाग खड़ा हुआ था। इसके लिए मीरजाफर ने क्लाइव को व्यक्तिगत जागीर प्रदान की। 1760 ई. में अलीगौहर ने पुनः बिहार पर आक्रमण किया परन्तु इस बार भी वह असफल रहा। अब अँग्रेज मीरजाफर के रक्षक कहलाये जाने लगे।

डच आक्रमण—बंगाल में डचों का भी व्यापार था। पटना, ढाका, पीपली, चिन्सुरा तथा कासिम वाजार के निकट उनकी फैक्टरियाँ थीं। बंगाल प्रान्त के भीतरी भागों में भी उनकी कई शाखाएँ थीं। वड़ा नगर तथा चिन्सुरा के प्रदेश तो उनके अधिकार में ही थे। जब सिराजुद्दौला ने कलकत्ता पर आक्रमण किया था तव उसने डचों से सहायता माँगी थी, परन्तु डचों ने नवाब को सहायता नहीं दी। इस अवसर पर अँग्रेजों ने भी डचों से सहयोग माँगा था, परन्तु डचों ने उन्हें भी सहयोग नहीं दिया था। परन्तु फुल्टा द्वीप में शरण लेने वाले अँग्रेजों को डचों ने अवश्य मदद पहुँचाई। जब मीरजाफर की सहायता से बंगाल में फ्रांसीसियों के प्रभाव को क्षीण कर दिया गया तो डचों को अपने भविष्य की चिन्ता लग गई। अँग्रेज लेखकों ने मीरजाफर पर डचों से साँठ-गाँठ करने का आरोप लगाया है जो सत्य प्रतीत नहीं होता। परन्तु अँग्रेजों को डचों को वाहर निकालने के लिए किसी वहाने की आवश्यकता थी, क्योंकि वे उनके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध हो सकते थे। अतः अँग्रेजों ने आवश्यक तैयारी के बाद डचों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही शुरू कर दी। 25 नवम्बर, 1759 को बेदरा नामक स्थान पर दोनों पक्षों में युद्ध लड़ा गया जिसमें डच हार गये और उन्हें शान्ति-सन्धि की प्रार्थना करनी पड़ी। इसी समय मीरजाफर का पुत्र मीरन भी सेना सहित डचों को सजा देने आ पहुँचा। अन्त में क्लाइव की मध्यस्थता से सन्धि सम्पन्न हो गई, जिसके अनुसार डचों ने भविष्य में युद्ध न करने तथा नई सैनिक भर्ती और किलेबन्दी न करने का आश्वासन दिया। उन्होंने अपनी फैक्टरियों की सुरक्षार्थ केवल 125 यूरोपियन सैनिक रखना स्वीकार किया।

बेदरा का युद्ध बंगाल में अँग्रेजी सत्ता की स्थापना की दिशा में प्लासी के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम था। क्लाइव के टोप की यह अतिरिक्त पंखुड़ी थी। इस विजय से बंगाल में अँग्रेजों की प्रतिष्ठा और अधिक वढ़ गई। फ्रांसीसियों की भाँति डचों की महत्त्वाकांक्षा भी पूर्ण

रूप से कुचल दी गई। अब बंगाल में अँग्रेजों की सर्वोच्चता को गम्भीर चुनौती देने वाली कोई शक्ति नहीं थी।

प्रशासनिक व्यवस्था—मीरजाफर की अयोग्यता, अदूरदर्शिता तथा क्रोधी स्वभाव के कारण प्रशासन-व्यवस्था बिगड़ती जा रही थी। मीरजाफर की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उसे न तो अपने ऊपर भरोसा था और न वह अपने सहयोगियों पर विश्वास करता था। राजकोष पहले से ही रिक्त था। मराठा नवाब से निरन्तर चौथ वसूल कर रहे थे और क्लाइव ने भी इस समय मराठों से छेड़छाड़ करना उचित नहीं समझा था। अव्यवस्था के कारण राजस्व की पूरी वसूली भी नहीं हो पा रही थी। कम्पनी तथा उसके अधिकारी भी नवाब से निरन्तर धन की माँग कर रहे थे। नवाब कम्पनी को निर्धारित किश्तें भी नहीं चुका पा रहा था, जबकि अनिर्धारित माँगें बढ़ती जा रही थीं। ऐसी स्थिति में नवाब अपने सैनिकों को वेतन भी नहीं चुका पाया। कम्पनी के दबाव पर नवाब को बर्दवान, नदिया तथा हुगली के क्षेत्रों से राजस्व वसूली का अधिकार तब तक के लिए कम्पनी को सौंपना पड़ा जब तक कि उसकी किश्तों का धन वसूल न हो जाय। ऐसी परिस्थिति में 25 फरवरी, 1760 ई. को क्लाइव, हॉलवेल को कम्पनी के कार्यों का चार्ज देकर स्वयं स्वदेश लौट गया।

मीरजाफर को हटाया जाना—जुलाई, 1760 ई. में वेन्सीटार्ट को फोर्ट विलियम का गवर्नर बनाकर कलकत्ता भेजा गया। कलकत्ता कौंसिल के 16 सदस्यों में से अनेक उससे वरिष्ठ सदस्य थे। अतः उन्हें वेन्सीटार्ट की नियुक्ति पसन्द न आई। कलकत्ता कौंसिल के अधिकांश सदस्य धनलोलुप तथा भ्रष्ट थे। ऐसे लोगों के मध्य वेन्सीटार्ट ठीक ढँग से कार्य न कर पाया। स्थिति उस समय और भी विषम हो गई जबकि उसके तीन समर्थक सदस्यों को कौंसिल की सदस्यता से हटा दिया गया और उनके स्थान पर उसके विरोधियों को नियुक्त किया गया। वेन्सीटार्ट के प्रमुख विरोधी एलिस को कम्पनी की पटना स्थित फैक्टरी का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। कम्पनी के पदाधिकारियों में जिस तेजी के साथ परिवर्तन किया जा रहा था, उससे मीरजाफर के लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लग गईं।

शाहजादा अलीगौहर का भय अभी बना हुआ था, क्योंकि कुछ स्थानीय जमींदार और सरदार उसको गुप्त रूप से सहयोग दे रहे थे। मराठे भी चौथ वसूली के नाम पर निरन्तर बंगाल में आते रहते थे। अँग्रेजों ने नवाब को इन सभी संकटों में बराबर सहायता दी, परन्तु उन्हें हमेशा यह शिकायत बनी रही कि नवाब और उसके पुत्र मीरन की तरफ से उन्हें पूरा सहयोग नहीं मिल पा रहा है। जब मीरजाफर ने अँग्रेजों के समर्थक रायदुर्लभ को मन्त्री पद से हटा दिया तो उनका असन्तोष और भी अधिक बढ़ गया। 3 जुलाई, 1760 ई. को किसी ने मीरन की हत्या कर दी जिससे अँग्रेजों को नवाब के नये नायब की नियुक्ति का अवसर मिल गया। उन्होंने किसी ऐसे व्यक्ति को नियुक्त करने का निश्चय किया जो उनके इशारे पर चले और उन्हें काफी भेंट-उपहार भी दे सके। ऐसा व्यक्ति मिल भी गया। वह था मीरजाफर का दामाद मीर कासिम।

मीर कासिम अत्यन्त ही धनी व्यक्ति था। उसने नायब बनते ही अँग्रेजों को हर प्रकार की सहायता का आश्वासन दिया। उससे प्राप्त बहुमूल्यवान उपहारों से अँग्रेज पदाधिकारी खुश हो गये और अब उन्होंने मीरजाफर को पदच्युत करके मीर कासिम को नया नवाब बनाने का

षड्यन्त्र रचा, ताकि उन्हें और धन की प्राप्ति हो सके। इस सम्बन्ध में जो घटनाएँ घटित हुईं, उन्हें 1760 की रक्तहीन क्रान्ति कहते हैं। मीरजाफर को नवाव पद से हटाने के अनेक कारण थे—

1. कम्पनी के अधिकारियों तथा कर्मचारियों को लगातार रिश्वत एवं उपहार देते रहने से मीरजाफर का खजाना खाली हो गया था। परिस्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि मीरजाफर न तो कम्पनी को वार्षिक किश्त अदा कर पाया और न अपने सैनिकों को वेतन ही चुका पाया। दूसरी तरफ कम्पनी के सभी कर्मचारियों को नवाव से भेंट-उपहार लेने की आदत-सी हो गई थी। जब नवाव से उन्हें धन मिलना बन्द हो गया तो वे सभी नाराज हो गये और किसी दूसरे को नवाव बनाने की सोचने लगे जो उनकी भूख शान्त कर सके।

2. मीरजाफर भी अँग्रेजों से तंग आ चुका था और उसने अव अँग्रेजों के चंगुल से मुक्त होने का प्रयास किया, क्योंकि अँग्रेजों की कभी समाप्त न होने वाली धन की माँग तथा प्रशासन-व्यवस्था में उनके हस्तक्षेप से वह काफी परेशान हो गया था।

3. अपने युवा पुत्र मीरन की हत्या से मीरजाफर को भारी सदमा पहुँचा था जिससे वह शासन-प्रवन्ध की तरफ विशेष ध्यान न दे सका। उसकी इस उदासीनता के फलस्वरूप बंगाल की स्थिति दिन-प्रतिदिन विगड़ती चली गई। व्यापार-वाणिज्य भी ठप्प हो गया और शान्ति एवं व्यवस्था भी लड़खड़ा गई।

4. अँग्रेज अधिकारियों को विश्वास था कि मीरजाफर के स्थान पर जिसे भी नया नवाव वनाया जायेगा, उससे उन्हें काफी धन मिलेगा और कम्पनी को भी और अधिक सुविधाएँ उपलब्ध हो सकेंगी।

इस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भी धन की सख्त आवश्यकता थी। दक्षिण में फ्रांसीसियों के विरुद्ध लड़े जाने वाले युद्ध के कारण उसका खजाना खाली हो चुका था और मद्रास के अधिकारी बंगाल में नियुक्त अधिकारियों से वरावर धन की माँग कर रहे थे। विहार में नियुक्त अँग्रेजी सेना को वेतन नहीं चुकाया जा सका था और वहाँ के सैनिक वगावत की वात करने लगे थे। कम्पनी को इस आर्थिक संकट से उवारने वाला मीरकासिम ही दिखलाई पड़ा। क्योंकि उसके पास धन था और वह नवाब बनने की इच्छा भी रखता था। ऐसी स्थिति में 27 सितम्वर, 1760 ई. को वेन्सीटार्ट ने मीर कासिम के साथ एक गुप्त समझौता कर लिया जिसमें मीर कासिम को नवाव वनाने की वात कही गई थी और इसके वदले में मीर कासिम ने निम्न आश्वासन दिये थे—(1) वह अँग्रेजों का घनिष्ठ मित्र वना रहेगा। (2) बंगाल की शासन व्यवस्था को सुचारुरूप से चलाने के लिए ब्रिटिश सेना मीर कासिम को पूरा-पूरा सहयोग देगी। मीर कासिम ने अँग्रेजों की इस सेना के व्यय के लिए उन्हें वर्दवान, मिदनापुर और चिटगाँव के प्रदेश देना स्वीकार किया। (3) सिलहट में उत्पादित सीमेंट का आधा भाग अँग्रेजों को तीन वर्ष तक खरीदने का अधिकार होगा। (4) मीरजाफर में जो कम्पनी की वकाया धनराशि है उसे चुकाने का आश्वासन दिया। (5) दक्षिण में कम्पनी द्वारा लड़े जा रहे युद्धों में मीर कासिम ने 5 लाख रुपये की मदद देने का वचन दिया, और (6) मीर कासिम कलकत्ता कौंसिल के सदस्यों को

लगभग 4,52,000 पौण्ड उपहार में देगा। इसमें से 50,000 पौण्ड वेन्सीटार्ट को, 27,000 पौण्ड हॉलवेल को तथा 25,000 पौण्ड कौंसिल के प्रत्येक सदस्य को देना तय हुआ था।

इस समझौते को बहुत ही गोपनीय रखा गया। मीरजाफर को इसकी भनक भी न पड़ी। अक्टूबर, 1760 ई. में वेन्सीटार्ट सेना सहित मुर्शिदाबाद गया और गद्दी छोड़ने की बात कही। नवाब बहुत क्रोधित हुआ, परन्तु चूँकि ब्रिटिश सेना उसके महल को घेरे हुए थी, अतः विवश होकर उसे अँग्रेजों की बात माननी पड़ी। विवश होकर उसने पर्याप्त निर्वाह भत्ता तथा सुरक्षा के आश्वासन पर मीर कासिम के पक्ष में गद्दी त्याग दी। इसके बाद वह कलकत्ता चला आया और वहीं रहने लगा। इधर मीर कासिम को नया नवाब घोषित कर दिया गया।

मीरजाफर को गद्दी से उतारने के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए कलकत्ता कौंसिल ने कहा, "नवाब मीरजाफर क्रोधी, क्रूर, लालची और विलासी प्रवृत्ति का था तथा उसके निकट के व्यक्ति पूर्णतया दास, खुशामदी तथा उसकी बुराइयों की पूर्ति के साधन बने हुए थे। ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि उसने बिना किसी कारण के विभिन्न स्तर के व्यक्तियों का खून बहाया है।" कलकत्ता कौंसिल के ये आरोप बेबुनियाद तथा तथ्य से परे हैं। सत्यता तो यह है कि अँग्रेजों ने उसे स्वतन्त्र रूप से शासन चलाने का अवसर ही नहीं दिया। 1765 ई. में क्लाइव ने स्वयं स्वीकार किया था कि नवाब पर लगाये गये आरोप असत्य थे। हॉलवेल ने नवाब पर जो अमानवीय क्रूरता तथा हत्याओं का आरोप लगाया है—उसमें लेशमात्र भी सत्यता नहीं है। वस्तुतः मीरजाफर को हटाने के लिए किसी बहाने की आवश्यकता थी और इसके लिए उस पर झूठा दोषारोपण किया गया था। कुछ इतिहासकारों ने इस समूचे काण्ड के लिए मीर कासिम को दोषी ठहराया है। परन्तु डॉ. नन्दलाल चटर्जी का मत है कि इसके लिए मीर कासिम को दोषी ठहराना उचित नहीं होगा, क्योंकि विश्वासघातक मीरजाफर को विश्वासघात का फल मिलना अनिवार्य था। अँग्रेजों को भी बाद में अपनी भूल का पता चला और समय आने पर उन्हें पुनः मीरजाफर को नवाब बनाना पड़ा।

मीर कासिम

मीर कासिम के प्रारम्भिक जीवन के बारे में विशेष जानकारी नहीं मिलती। उसका जन्म निश्चय ही समृद्ध परिवार में हुआ होगा, तभी मीरजाफर ने उसे दामाद चुना होगा। जब मीरजाफर बंगाल का नवाब बना तो मीर कासिम ने पूर्णिया और रंगपुर के फौजदार के रूप में अपनी प्रशासनिक प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया था। वह एक योग्य सेनानायक भी था। मीरन की मृत्यु के बाद उसकी महत्त्वाकांक्षा जाग उठी और वह बंगाल का नवाब बनने का स्वप्न देखने लगा और अन्त में वेन्सीटार्ट के साथ साँठ-गाँठ करके वह बंगाल का नवाब बनने में सफल रहा।

नवाब बनते ही मीर कासिम को जिस पहली समस्या का सामना करना पड़ा, वह धन की समस्या थी। उसे न केवल अँग्रेजों को ही बहुत-सा धन देना था, अपितु प्रशासन व्यवस्था को सुधारने तथा सेना का पुनर्गठन करने के लिए भी धन की आवश्यकता थी। इसके लिए उसे सभी प्रकार के प्रयास करने पड़े। जिस व्यक्ति के पास भी अधिक धन की जानकारी मिली उसे

मीरजाफर का समर्थक ठहराकर उसके धन को जब्त करने का प्रयास किया गया। अधिकांश पुराने राजकीय अधिकारियों पर भ्रष्टाचार के आरोप लगाकर उनकी सम्पत्ति को जब्त कर लिया गया। राजस्व विभाग का पुनर्गठन किया गया तथा विश्वस्त व्यक्तियों को नियुक्त किया गया। सरकारी खर्चे में कमी करने की दृष्टि से वहुत से कर्मचारियों को नौकरी से हटा दिया गया। जनता पर भी नये-नये कर लगाये गये। परिणामस्वरूप राज्य की आय में काफी सुधार आ गया। वास्तव में मीर कासिम योग्य शासक था और शासन की आवश्यकताओं का उसे अच्छा ज्ञान था।

मीर कासिम ने सेना की स्थिति को सुधारने की आवश्यकता को भी अनुभव किया, ताकि वह वाह्य आक्रमणों और आन्तरिक उपद्रवों का सामना करने में कारगर सिद्ध हो सके। बंगाल को अब भी अलीगौहर के आक्रमण, मराठों की लूट-खसोट तथा अवध के नवाव की विस्तारवादी नीति का भय वना हुआ था। वीरभूम के जमींदार तथा विहार के उप-सूवेदार जैसे आन्तरिक शत्रुओं का दमन भी करना था। अँग्रेजों को उसकी कार्यवाहियों से सन्देह उत्पन्न न हो जाय, इसलिए सवसे पहले वह अपनी राजधानी को मुर्शिदावाद से मुंगेर ले गया जो कलकत्ता से काफी दूर था। यहाँ रहकर वह कम्पनी के अधिकारियों के नियन्त्रण से मुक्त होकर अधिक स्वतन्त्रता के साथ काम कर सकता था। मुंगेर में उसने वारूद वनाने तथा अच्छी तोपें वनाने का कारखाना भी कायम किया। अपनी सेना को यूरोपीय पद्धति से प्रशिक्षित करने की दृष्टि से उसने फ्रांसीसी तथा अमेरिकन अफसरों को नियुक्त किया। इसके वाद मीर कासिम ने उस सभी विरोधी जमींदारों तथा अधिकारियों का दमन किया, जो नवाव की अवज्ञा करते थे और ठीक प्रकार से कर नहीं चुकाते थे। विहार के नवाव रामनारायण को पदच्युत करके उसकी सम्पत्ति को जब्त कर लिया और उसे प्राणदण्ड की सजा दी। मीर कासिम ने अवध के नवाव वजीर से एक समझौता करके सीमावर्ती क्षेत्रों में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना की। इस प्रकार, थोड़े समय में ही मीर कासिम ने एक सुयोग्य एवं प्रभावशाली प्रशासक तथा संगठनकर्त्ता की हैसियत से अपनी योग्यता का परिचय दिया।

अँग्रेजों के साथ झगड़ा—1761 ई. के प्रारम्भ में अलीगौहर (शाह आलम द्वितीय) ने अँग्रेजों से वातचीत शुरू की और स्वयं को दिल्ली के सिंहासन पर वैठाने में उनकी सहायता की माँग की। अँग्रेजों ने उसे पटना में आमन्त्रित किया और शाही सम्मान के साथ उसका स्वागत किया। उन्होंने मीर कासिम को शाह आलम को सम्राट मानने के लिए विवश किया तथा उससे 12 लाख रुपये नजराने के भी दिलवाये। अँग्रेजों ने शाह आलम के नाम से सिक्के भी ढलवाये। अँग्रेजों की इस नीति के कारण मीर कासिम की स्थिति और भी कमजोर हो गई। उसे यह भय हुआ कि कहीं उसकी स्वतन्त्रता भी न छीन ली जाय। इस घटना से मीर कासिम और अँग्रेजों के आपसी सम्बन्धों में तनाव आ गया।

प्लासी के वाद से बंगाल में कम्पनी के कर्मचारियों को व्यापार करने की और अधिक स्वतन्त्रता मिल गई। वे लोग विना सीमा-शुल्क चुकाये धड़ल्ले से व्यापार करने लगे। प्रान्त के भीतरी भागों में भी अँग्रेज अधिकारियों ने अपने सैकड़ों "कारखाने" स्थापित कर लिये थे। इन कारखानों में मशीनें नहीं लगी हुई थीं और न ही किसी वस्तु का उत्पादन होता था। ये तो एक

प्रकार से उनके कार्यालय या शाखाएँ थीं—जहाँ इस प्रकार की वस्तुओं को खरीदा और बेचा जाता था; जैसे कि नमक, सुपारी, घी, चावल, मांस, मछली, चीनी, तम्बाकू, अफीम आदि। इन कारखानों की देखभाल के लिए अँग्रेजों ने अपने 'गोमाश्ता' (प्रतिनिधि) नियुक्त कर रखे थे, जो प्रायः भारतीय होते थे। अपने अँग्रेज मालिकों की देखादेखी इन गोमाश्ताओं ने भी बिना शुल्क चुकाये व्यापार करना शुरू कर दिया था। इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। एक तरफ तो नवाब की आय घट गई और दूसरी तरफ भारतीय व्यापारियों के लिए अपना कारोबार चलाना कठिन हो गया, क्योंकि उन्हें सीमा-शुल्क चुकाना पड़ता था, अतः वे अँग्रेज गोमाश्ताओं की तुलना में सस्ती दर पर समान बेचने में असमर्थ थे। परिणामस्वरूप अँग्रेजों का व्यापार बढ़ता गया और भारतीयों का घटता गया।

मीर कासिम ने कम्पनी और उसके अधिकारियों के व्यापार पर अंकुश लगाने का निश्चय किया। उसने फोर्ट विलियम के गवर्नर वेन्सीटार्ट से जबरदस्त शिकायत की। वेन्सीटार्ट स्वयं मुंगेर गया और उसने मीर कासिम से व्यक्तिगत विचार-विमर्श किया। वह इस बात पर सहमत हो गया कि अब से क़म्पनी अपने सामान पर 9 प्रतिशत शुल्क अदा करे और भारतीय व्यापारी 25 से 30 प्रतिशत शुल्क दे। परन्तु कलकत्ता कौंसिल ने वेन्सीटार्ट के प्रस्ताव को रद्द कर दिया। निराश मीर कासिम ने भारतीय व्यापारियों को भी निःशुल्क व्यापार की इजाजत दे दी। मीर कासिम के इस कदम से अँग्रेज अधिकारी अत्यधिक नाराज हुए, क्योंकि इससे उनका विशेषाधिकार समाप्त हो गया। वे अब भारतीयों के समान स्तर पर आ गये और अब उन्हें बराबरी के स्तर पर भारतीय व्यापारियों से प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ी जिससे वे बुरी तरह से पिटने लगे और मुनाफे के स्थान पर हानि उठाने लगे। उन्होंने नवाब को अपना आदेश वापिस लेने को कहा, परन्तु नवाब मीर कासिम ने उनकी बात को ठुकरा दिया। इस व्यापारिक संघर्ष से पुनः यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि बंगाल का वास्तविक शासक कौन है ? ईस्ट इण्डिया कम्पनी अथवा मीर कासिम।

इसके बाद मीर कासिम ने कम्पनी पर आरोप लगाया कि 1760 की सन्धि के अनुसार नवाब की सहायता के लिए जिस अँग्रेजी सेना को रखने तथा उसके व्यय के लिए तीन जिले प्रदान किये थे, वह सेना उसी के विरुद्ध काम में लाई जा रही है। अतः अँग्रेज उन जिलों को वापिस लौटा दें और इन जिलों से जो राजस्व वसूल किया है, वह भी लौटा दें। इससे दोनों पक्षों में और अधिक तनाव उत्पन्न हो गया।

ऐसी ही स्थिति में कलकत्ता कौंसिल ने अपने सदस्यों—हे और अमायत को नवाब से बातचीत करने भेजा। नवाब ने अँग्रेजों के प्रस्ताव को ठुकरा दिया और हे को बन्दी बना लिया। इस पर एलिस ने पटना पर आक्रमण कर बाजार को लूटा तथा बहुत से व्यक्तियों को मार दिया। नवाब के आदमियों के साथ हुई हाथापाई में अमायत मारा गया। मीर कासिम ने सेना भेजकर पुनः पटना पर अधिकार किया। एलिस और उसके साथी अँग्रेजों को बन्दी बना लिया गया।

बक्सर का युद्ध (1764 ई.) —बंगाल की घटनाएँ जिस तेजी के साथ घटित हो रही थीं, उनके समाधान का एक ही मार्ग रह गया था और वह था युद्ध। कलकत्ता कौंसिल ने मीर कासिम को नवाब पद से हटाने का फैसला कर लिया। जून, 1763 में मेजर एडम्स के नेतृत्व में

अँग्रेज सेना मुंगेर की तरफ बढ़ी। 19 जुलाई, 1763 ई. को कटवा के निकट मीर कासिम और अँग्रेजों में युद्ध लड़ा गया जिसमें नवाब पराजित हुआ। इसके बाद तीन और युद्ध लड़े गये। उन सभी में मीर कासिम परास्त हुआ। नवाब पटना की तरफ भाग गया। पटना में उसने अँग्रेज बन्दियों और भारतीय बन्दियों जिनमें राजा रामनारायण, सेठ बन्धु आदि प्रमुख थे—को मौत के घाट उतार दिया। इसके बाद वह अवध भाग गया।

इस प्रकार, जुलाई, 1763 ई. में बंगाल के नवाब की गद्दी पुनः खाली हो गई। कलकत्ता कौंसिल ने मीरजाफर के साथ नया समझौता करके उसे दूसरी बार नवाब बनाया। मीरजाफर ने अँग्रेजों की सभी माँगें स्वीकार कर लीं। कम्पनी को जो कुछ हानि हुई थी, उसे भी पूरा करने का वचन दिया।

परास्त मीर कासिम ने अवध के नवाब वजीर शुजाउद्दौला से सहायता लेने का निश्चय किया। इन दिनों शुजाउद्दौला मुगल सम्राट शाहआलम के साथ इलाहाबाद में ठहरा हुआ था। शुजाउद्दौला और मीर कासिम के मध्य अच्छे सम्बन्ध न थे और अगस्त, 1763 ई. में शुजाउद्दौला ने भगोड़े मीर कासिम के विरुद्ध अँग्रेजों को सहायता देने का प्रस्ताव भी रखा था। परन्तु जब मीर कासिम इलाहाबाद पहुँचा तो शुजाउद्दौला का विचार बदल गया। क्योंकि इस समय मीरकासिम के पास दस करोड़ रुपये के जवाहरात थे। शुजाउद्दौला इस सम्पत्ति को हड़पना चाहता था। इसके अलावा मीर कासिम की ओट में वह बंगाल तथा विहार में अपना प्रभाव बढ़ाने को भी उत्सुक था। परन्तु शुजाउद्दौला ने दुरंगी चाल चलते हुए अँग्रेजों से भी बातचीत जारी रखी। लगभग 6 माह का समय ऐसे ही गुजर गया। जब अँग्रेजों ने शुजाउद्दौला के प्रस्तावों को स्वीकार नहीं किया, तब उसने अँग्रेजों से युद्ध करने का निर्णय लिया। मुगल सम्राट शाहआलम भी उसके साथ हो गया। शाहआलम भी दुरंगी चाल चल रहा था। उसने गुप्त रूप से अँग्रेजों को लिख भेजा था कि वह विवश होकर ही नवाब वजीर का साथ दे रहा है।

उधर अँग्रेजों ने पहले से ही युद्ध की तैयारी कर रखी थी। अँग्रेज सेनानायक मुनरो लगभग 8000 सैनिकों के साथ बनारस से पूर्व में स्थित बक्सर नामक स्थान पर पहुँच गया। नवाब वजीर की सेना भी वहाँ जा पहुँची। युद्ध के पूर्व अँग्रेजों ने कूटनीति और घूसखोरी का सहारा लिया और शुजाउद्दौला के कुछ अधिकारियों को अपनी तरफ मिला लिया जिनमें असदखाँ, जैनउल अबीदीन, इतिहासकार गुलाम हुसैनखाँ, रोहतास का गवर्नर साहूमल आदि प्रमुख थे। 23 अक्टूबर, 1764 ई. के दिन बक्सर में दोनों पक्षों के मध्य संघर्ष हुआ। तीन घण्टे के युद्ध में अवध की सेना बुरी तरह से परास्त होकर मैदान से भाग खड़ी हुई। युद्ध में अँग्रेजी सेना के 825 सैनिक मारे गये जबकि शुजाउद्दौला के लगभग दो हजार सैनिक मारे गये। शुजाउद्दौला भी भाग निकला। अँग्रेजों ने उसका पीछा किया। जनवरी, 1765 में बनारस के निकट शुजाउद्दौला पुनः परास्त हुआ। अँग्रेजों ने चुनार तथा इलाहाबाद के दुर्गों पर अधिकार कर लिया। शुजाउद्दौला ने मराठा सेनानायक मल्हारराव होल्कर से सहायता प्राप्त की, परन्तु अप्रैल, 1765 में कड़ा के युद्ध में अँग्रेजों ने उन दोनों को परास्त किया। अन्त में, शुजाउद्दौला ने अपने आपको अँग्रेजों के हवाले कर दिया। मीरकासिम भागकर दिल्ली पहुँच गया, जहाँ 1777 ई. में उसकी मृत्यु हो गई।

बक्सर के युद्ध का महत्त्व—बक्सर का युद्ध भी भारतीय इतिहास का एक मोड़ बिन्दु था। इस युद्ध में अँग्रेजों की निर्णायक विजय हुई। एक दृष्टि से इसका महत्त्व प्लासी से भी अधिक है। इससे अँग्रेजों की प्रतिष्ठा और प्रभाव में आशातीत वृद्धि हुई। मुगल सम्राट शाहआलम और उसका वजीर नवाब शुजाउद्दौला दोनों परास्त होकर अँग्रेजों की दया पर निर्भर हो गये। प्लासी में तो क्लाइव के षड्यन्त्र के कारण बिना लड़े ही अँग्रेजों को विजय प्राप्त हो गई थी। परन्तु बक्सर के मैदान पर अनुभवी सेनानायक शुजाउद्दौला जिसके पास अँग्रेजों की तुलना में पाँच गुना सेना थी और एक श्रेष्ठ तोपखाना भी था, को परास्त होना पड़ा। इससे अँग्रेजों की सैनिक श्रेष्ठता प्रमाणित हो गई और भारतीय शासकों की सैनिक शक्ति का खोखलापन स्पष्ट हो गया। प्लासी के युद्ध में केवल एक नवाब के भाग्य का फैसला हुआ था और विजय के परिणामस्वरूप केवल बंगाल के लाभकारी स्रोतों पर कम्पनी का अधिकार हुआ था। परन्तु बक्सर के युद्ध में तीन प्रमुख व्यक्तियों—मुगल सम्राट शाहआलम, अवध के नवाब शुजाउद्दौला और मीर कासिम के भाग्य का फैसला हो गया और विजय के फलस्वरूप सम्पूर्ण अवध सूबे पर भी अँग्रेजों का नियन्त्रण हो गया। अवध पर नियन्त्रण से अँग्रेजों के लिए उत्तरी भारत में साम्राज्य स्थापना का कार्य सरल हो गया, क्योंकि इसके बाद अवध के किसी नवाब ने अँग्रेजों का सामना करने का साहस नहीं किया। इस युद्ध का सम्पूर्ण भारत पर प्रभाव पड़ा। अब ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक अखिल भारतीय शक्ति बन गई। प्लासी में उसने बंगाल की सेना को परास्त किया था, परन्तु बक्सर में उसने उत्तरी भारत की श्रेष्ठ सेना को परास्त किया और बाद में अवध तथा मराठों की संयुक्त सेना को परास्त किया। उसकी शानदार सैनिक सफलताओं से भारत की राजनीति में उसका सम्मान तथा भय बढ़ गया। अब उसका प्रभाव-क्षेत्र बंगाल से दिल्ली तक विस्तृत हो गया। इसीलिए यह कहा जाता है कि बक्सर के युद्ध ने प्लासी के अधूरे कार्य को पूरा किया। ब्रूम ने ठीक ही लिखा है कि, "इस प्रकार बक्सर का प्रसिद्ध युद्ध समाप्त हुआ, जिस पर भारत का भाग्य निर्भर था और जो जितनी बहादुरी से लड़ा गया, परिणामों की दृष्टि से भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था।" अब बंगाल का नवाब कम्पनी के हाथों की कठपुतली था। अवध का नवाब उस पर निर्भर रहने वाला समर्थक मित्र और मुगल सम्राट उसका पेन्शनर था।

क्लाइव की दूसरी गवर्नरी (जून 1765 से जनवरी 1767 तक)

बक्सर का युद्ध तो समाप्त हो गया, परन्तु मुगल सम्राट और अवध के नवाब के सम्बन्ध में नीति निर्धारित करने का काम बाकी रह गया। इसके अलावा कम्पनी के आन्तरिक मामलों में भी सुधार की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी, क्योंकि अधिकारियों के बढ़ते हुए निजी व्यापार के कारण कम्पनी को पर्याप्त मुनाफा नहीं मिल पा रहा था। इन सभी विषयों को ठीक ढँग से सुलझाने के लिए किसी योग्य एवं अनुभवी व्यक्ति की आवश्यकता थी। अतः कम्पनी ने रावर्ट क्लाइव को दूसरी बार बंगाल का गवर्नर बनाकर भारत भेजा। क्लाइव के कलकत्ता पहुँचने के पूर्व ही मीरजाफर की मृत्यु हो चुकी थी और उसका पुत्र अल्पवयस्क था। अतः क्लाइव को इस समस्या का समाधान भी करना था। संक्षेप में, क्लाइव जब दुबारा भारत आया तो उसे

अपना सम्पूर्ण समय राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने तथा कम्पनी के आन्तरिक प्रशासन को सुधारने में लगाना पड़ा।

इलाहाबाद की सन्धि (1765 ई.) —1765 ई. में जब क्लाइव कलकत्ता पहुँचा, उस समय पूरा मुगल साम्राज्य कम्पनी के चरणों में पड़ा हुआ था। क्लाइव के लिए किसी निर्णय पर पहुँचना आसान काम न था। बक्सर के तुरन्त बाद वेन्सीटार्ट ने शाहआलम को अवध का सूबा देने का आश्वासन दिया था। उसने सोचा था कि यदि कम्पनी की सीमाओं के पास ही मुगल साम्राज्य की सेनाएँ रहेंगी तो कम्पनी के हित अधिक सुरक्षित रहेंगे। परन्तु क्लाइव का यह मानना था कि यदि अवध कमजोर मुगल सम्राट को दिया गया तो मराठे अवध पर निरन्तर धावा मारते रहेंगे और कम्पनी को मराठों से उलझना पड़ेगा। कौंसिल के कुछ सदस्यों की राय थी कि आगे बढ़कर दिल्ली पर अधिकार कर लेना चाहिए। लेकिन अनुभवी राजनीतिज्ञ क्लाइव ने समझ लिया कि अभी ऐसा करना लाभप्रद नहीं होगा, क्योंकि कम्पनी के पास इतने साधन नहीं थे कि वह इतने बड़े भू-भाग की व्यवस्था कर सके। इससे कम्पनी का मराठों से झगड़ा उठ खड़ा होता और इस बात की आशंका थी कि कहीं बंगाल, बिहार और उड़ीसा भी उसके हाथ से न निकल जायँ। एक सुझाव यह भी आया कि कम्पनी मुगल बादशाह को दिल्ली जाने के लिये तथा अपना भाग्य आजमाने को स्वतन्त्र छोड़ दे। परन्तु इस स्थिति में मराठे मुगल सम्राट को अपने नियन्त्रण में ले सकते थे। यह ठीक है कि मुगल बादशाह नाममात्र का बादशाह था। उसके पास न अपनी सेना थी और न खजाना। परन्तु वह वैधानिक शासक था और कोई भी शक्ति उसको अपने वश में करके फायदा उठा सकती थी। ऐसी स्थिति में क्लाइव ने काफी सूझ-बूझ और राजनीतिज्ञता का परिचय देते हुए मध्यम मार्ग का अनुसरण किया और मुगल बादशाह के साथ निम्न शर्तों पर इलाहाबाद की सन्धि (12 अगस्त, 1765 ई.) की—

(1) अवध के नवाब से कड़ा और इलाहाबाद के जिलों को लेकर मुगल बादशाह को सौंप दिये गये।

(2) मुगल बादशाह ने एक विशेष फरमान के द्वारा बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अँग्रेजों को दे दी। एक अन्य फरमान द्वारा मुगल बादशाह ने मीरजाफर के पुत्र नज्मुद्दौला को इन प्रान्तों का नवाब स्वीकार कर लिया।

(3) ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने मुगल बादशाह को 26 लाख रुपया प्रति वर्ष देना स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार, इलाहाबाद की सन्धि से कम्पनी को वैधानिक रूप से बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर अधिकार प्राप्त हो गया। अब वह मुगल बादशाह के अधिकारी की हैसियत से शासन करने लगी और इन सूबों में अपनी सत्ता को सुदृढ़ बनाने का प्रयास करने लगी।

क्लाइव ने अवध के नवाब वजीर शुजाउद्दौला के साथ पृथक् सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार कड़ा और इलाहाबाद के जिलों को छोड़कर अवध का सम्पूर्ण राज्य शुजाउद्दौला को वापस सौंप दिया गया। परन्तु चुनार का दुर्ग अँग्रेजों के पास रहने दिया गया। नवाब वजीर ने कम्पनी को युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में 50 लाख रुपये देने का वचन दिया। नवाब वजीर ने

भविष्य में मीरकासिम तथा उसके समर्थकों को संरक्षण अथवा नौकरी न देने का आश्वासन दिया। अँग्रेजों की संरक्षकता में बनारस और गाजीपुर की जागीर राजा बलवन्तसिंह को पैतृक जागीर के रूप में दी गई। नवाब ने अवध की सीमा में कम्पनी को निःशुल्क व्यापार करने की सुविधा प्रदान की। इस अवसर पर क्लाइव ने अवध में कुछ फैक्टरियाँ स्थापित करने की इच्छा भी प्रकट की थी, परन्तु शुजाउद्दौला ने इसे स्वीकार नहीं किया और क्लाइव ने ज्यादा जोर नहीं दिया। एक पृथक् सन्धि के द्वारा कम्पनी ने अवध की सुरक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया और अवध के नवाब ने कम्पनी की सैनिक सहायता का व्यय देना स्वीकार कर लिया।

बंगाल के नवाब के साथ भी नया समझौता करना जरूरी हो गया। इलाहाबाद की सन्धि से कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा से लगान वसूल करने और असैनिक न्याय प्रदान करने का अधिकार मिल गया था। निजामत अर्थात् शान्ति-व्यवस्था और फौजदारी न्याय, नवाब के अधिकार में रहा। नये समझौते के अनुसार निजामत के कार्य के व्यय के लिए कम्पनी ने नवाब को 53 लाख रुपया वार्षिक देना स्वीकार किया। इस प्रकार, बंगाल में दोहरे शासन की शुरूआत हुई, जिसकी विस्तृत चर्चा आगे की जायेगी।

इलाहाबाद की सन्धि का मूल्यांकन—इलाहाबाद की सन्धि के सम्बन्ध में विद्वानों ने परस्पर-विरोधी मत अभिव्यक्त किये हैं। सर आयरकूट का मत है कि क्लाइव ने एक शानदार अवसर खो दिया। मृत अथवा निष्क्रिय शासकों को पुनःजीवनदान देना निरर्थक था। शुजाउद्दौला को पुनः सिंहासनारूढ़ कराने के स्थान पर उसे स्वयं अवध पर अधिकार कर लेना चाहिए था और मुगल बादशाह के नाम पर दिल्ली की तरफ बढ़ जाना था, जहाँ वह अपनी सत्ता कायम कर सकता था। एक अन्य मत यह है कि क्लाइव ने शाहआलम के साथ बहुत ही कठोर व्यवहार किया। वेन्सीटार्ट ने उसे अवध का प्रान्त देने का वायदा किया था, परन्तु क्लाइव ने वचन का पालन नहीं किया। इन आरोपों के विरुद्ध क्लाइव की दलील यह थी कि वेन्सीटार्ट ने मुगल बादशाह के साथ कोई लिखित समझौता नहीं किया था। इसके अलावा मुगल बादशाह पर ऐसा बोझ डालना अनुचित था, जिसका भार वहन करने की उसमें क्षमता नहीं थी। वस्तुतः इलाहाबाद की सन्धि क्लाइव की गहरी सूझ-बूझ का प्रमाण है। बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर कम्पनी ने अभी हाल ही में वैधानिक अधिकार प्राप्त किया था। कम्पनी किसी साहसिक योजना को हाथ में ले, उससे पहले उसे अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाना आवश्यक था। कम्पनी के वित्तीय एवं सैनिक साधनों पर पहले से भी भारी दबाव बना हुआ था। चूँकि कम्पनी मुख्यतः एक व्यापारिक संस्था थी, अतः उसके लिए अभी महत्त्वाकांक्षी योजना को हाथ में लेना उचित नहीं था। बंगाल की सुरक्षा की समस्या अभी भी सिरदर्द बनी हुई थी और ऐसी स्थिति में नये सैनिक अभियानों से कम्पनी के व्यापार को भारी हानि पहुँच सकती थी। यदि अवध को कम्पनी के अधिकार में ले लिया जाता तो भारत के देशी शासकों में असन्तोष उत्पन्न होने की सम्भावना भी थी। कम्पनी के पास इतने बड़े राज्य का शासन चलाने के लिए योग्य अधिकारियों और कर्मचारियों का भी अभाव था। इन सभी तथ्यों के आधार पर इलाहाबाद की सन्धि को काफी महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

बंगाल में दोहरा शासन

दोहरा शासन क्या था—मुगल शासन पद्धति के अन्तर्गत बंगाल सूबे का शासन दो भागों में बँटा हुआ था—(1) **दीवानी शासन**—जिसके अन्तर्गत कर-वसूली और दीवानी न्याय का कार्य सम्मिलित था; और (2) **निजामत**—जिसके अन्तर्गत शान्ति-व्यवस्था, बाह्य आक्रमण से रक्षा और फौजदारी न्याय के कार्य सम्मिलित थे। जिन दिनों मुगलों की केन्द्रीय सत्ता सबल रही, बंगाल के सूबेदारों के पास निजामत के अधिकार ही थे, जबकि दीवानी शासन के लिये मुगल बादशाह अपनी तरफ से पृथक् दीवान की नियुक्ति करता था। जब बंगाल का सूबेदार केन्द्रीय सत्ता से स्वतन्त्र हो गया तो उसने—निजामत और दीवानी—दोनों अधिकार ग्रहण कर लिए, फिर भी सैद्धान्तिक तौर पर दीवानी के अधिकार वह अब भी मुगल बादशाह के नाम पर उपभोग करता था।

मीरजाफर की मृत्यु के बाद उसके पुत्र नज्मुद्दौला को बंगाल का नवाब बनाया गया। कम्पनी ने शिशु नवाब पर एक नई सन्धि थोप दी, जिसके अनुसार कम्पनी ने 53 लाख रुपया वार्षिक के बदले में निजामत के अधिकार प्राप्त कर लिये। अब नवाब को केवल शान्ति-व्यवस्था के लिये आवश्यक सेना रखने की ही अनुमति दी गई। नवाब के अधिकारियों की नियुक्ति एवं नियन्त्रण का अधिकार भी कम्पनी ने अपने अधिकार में ले लिया। नवाब द्वारा निजामत के अधिकार त्यागना वस्तुतः बंगाल में ब्रिटिश राज्य की स्थापना की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम था।

अगस्त, 1765 ई. में कम्पनी को मुगल बादशाह की तरफ से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी भी प्राप्त हो गई। यद्यपि मुगल बादशाह स्वयं इस समय दूसरों पर निर्भर था, परन्तु सैद्धान्तिक और वैधानिक दृष्टि से वह अब भी सम्पूर्ण मुगल साम्राज्य का अधिकारी था। अतः उसके आदेश ने कम्पनी के कार्यों को वैधानिकता का जामा पहना दिया। वैसे भी बंगाल का नवाब कम्पनी के हाथ में कठपुतली बना हुआ था। इस प्रकार, कम्पनी को बंगाल में—निजामत तथा दीवानी—दोनों अधिकार प्राप्त हो गये। शासन के इन दो भागों को जब दो अलग-अलग शक्तियों को सौंप दिया जाता है तो उसे दोहरा शासन कहा जाता है।

क्लाइव की व्यवस्था—कम्पनी को शासन सम्बन्धी अधिकार मिल गये, परन्तु सरकारी कार्यों को सम्पादित करने योग्य न तो उसके पास साधन थे और न ही रुचि थी। वस्तुतः क्लाइव कम्पनी को प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व से दूर रखना चाहता था। उसका मानना था कि कम्पनी के अधिकारी बंगाल की शासन-व्यवस्था की पेचीदगियों को नहीं समझ पायेंगे। अतःउसने भारतीय अधिकारियों के माध्यम से दीवानी का काम चलाने का निश्चय किया। इसके लिए दो नायब दीवान नियुक्त किए गए। एक बंगाल के लिए और दूसरा बिहार के लिए। बंगाल में मुहम्मद रजाखाँ और बिहार में राजा शिताबराय को नियुक्त किया गया। इस प्रकार कम्पनी ने अपना उत्तरदायित्व भारतीय अधिकारियों पर डाल दिया। उसे केवल अधिक-से-अधिक आय प्राप्त करने से मतलब था। अधिक आय को जुटाना भारतीय अधिकारियों का कार्य था।

निजामत का कार्य नवाब के हाथों में रहने दिया गया और इसके लिए कम्पनी ने नवाब को एक निश्चित धनराशि देना शुरू कर दिया। परन्तु चूँकि सैनिक शक्ति कम्पनी के हाथ में

थी, अतः नवाब अपने कार्यों को निभाने के लिए कम्पनी पर निर्भर था। अर्थात् निजामत की सर्वोच्च शक्ति अब कम्पनी के पास थी, परन्तु उत्तरदायित्व नवाब का था। चूँकि नवाब अल्पायु था इसलिये उसके कामों की देखभाल के लिए नायब-निजाम की नियुक्ति की गई और इस पद के लिए भी मुहम्मद रजाखाँ को चुना गया, जो कि बंगाल का नायब-दीवान भी था।

क्लाइव की इस शासन-व्यवस्था को दोहरा शासन इसलिये कहते हैं कि सिद्धान्त में शासन का भार कम्पनी और नवाब में विभाजित था। व्यावहारिक रूप में कम्पनी ने सूबों की शासन-व्यवस्था को स्पष्टतया अपने हाथ में नहीं लिया। वास्तविक सत्ता के होते हुए भी कम्पनी ने दूर रह कर अपने उद्देयों को प्राप्त करने का प्रयास किया। इस प्रकार, सूबों में दो सत्ताओं की स्थापना हुई। एक भारतीय और दूसरी विदेशी। विदेशी सत्ता वास्तविक थी, जबकि भारतीय सत्ता उसकी परछाईं मात्र थी।

दोहरे शासन की समीक्षा—दोहरे शासन की अधिकांश लोगों ने कटु आलोचना की है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इसमें कुछ भी अच्छाइयाँ न थीं। जहाँ तक कम्पनी के हितों का सवाल है, दोहरे शासन से उसे कई फायदे थे। उदाहरणार्थ—(1) मौजूदा स्थिति में कम्पनी के कर्मचारियों को भारतीय शासन की समस्याओं का पर्याप्त अनुभव नहीं था और उससे यह आशा करना कि वे रातों-रात में योग्य प्रशासक बन जायेंगे—निरर्थक था। ऐसी स्थिति में कम्पनी ने शासन का पूर्ण उत्तरदायित्व न लेकर बुद्धिमानी का परिचय दिया। (2) इंगलैण्ड में कम्पनी को अभी भी मूलतः एक व्यापारिक कम्पनी समझा जाता था। यदि वह इस समय बंगाल में प्रादेशिक सम्प्रभुता स्वीकार कर लेती तो इससे कई प्रकार की कानूनी अड़चनें पैदा हो सकती थीं। (3) भारत में कम्पनी की अन्य यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियों की शक्ति का पूर्ण रूप से अंत नहीं हो पाया था। यदि बंगाल में कम्पनी सीधे अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करती तो उनकी ईर्ष्या भड़क सकती थी। (4) इससे मराठे भी भड़क सकते थे। मराठों की संयुक्त शक्ति का सामना करने की शक्ति अभी कम्पनी के पास नहीं थी। (5) बंगाल की जनता को अन्धेरे में रखने के लिए अभी दोहरी व्यवस्था आवश्यक थी। यह व्यवस्था भारतीय जनता, कम्पनी के अन्य यूरोपीय शत्रुओं और इंगलैण्ड की सरकार की आँखों में धूल डालने का प्रयास था।

परन्तु लाभ की अपेक्षा दोषों की संख्या अधिक थी, जो इस प्रकार थे—

1. जिस प्रकार की शासन-व्यवस्था कायम की गई थी, उसमें कम्पनी के अधिकारियों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया था। चूँकि कम्पनी के कर्मचारियों को बहुत कम वेतन मिलता था, अतः वे हरसम्भव तरीके से अधिक से अधिक धन कमाने की ताक में रहते थे। उनका निजी व्यापार अब चरम सीमा पर पहुँच गया और उन्होंने अपने 'दस्तकों' का इतना अधिक दुरुपयोग किया कि भारतीय व्यापारियों को अपना पैतृक धन्धा ही छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। क्लाइव ने भी इस सत्य को स्वीकार करते हुए कहा था कि "कम्पनी के व्यापारी एक व्यापारी की भाँति व्यापार न करके सम्प्रभु के समान व्यवहार करते थे और उन्होंने हजारों व्यापारियों के मुँह से रोटी छीन ली थी और जो भारतीय पहले व्यापार करते थे वे अब भीख माँगने लगे हैं।" कम्पनी के कर्मचारियों का जिस प्रकार से भाग्योदय होने लगा, उससे प्रभावित

होकर बड़े-बड़े लोग कम्पनी की सेवा में आने के लिए लालायित होने लग गये थे। भारत से धन कमाकर इंगलैण्ड जाने वाले कर्मचारी इस शानशौकत का जीवन बिताते थे कि इंगलैण्ड के मौजूदा सामन्ती समाज का अस्तित्व डगमगाने लग गया।

2. कम्पनी के कर्मचारियों को धनवान बनते देखकर कम्पनी के मालिकों में भी अधिक धन प्राप्त करने की इच्छा जागृत हुई और 1766 ई. में उन्होंने माँग की कि उनके डिविडेण्ड (लाभांश) को 6 प्रतिशत से बढ़ाकर 10 प्रतिशत कर दिया जाय। 1767 में उनकी माँग हुई कि लाभांश को बढ़ाकर $12\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दिया जाय। इस प्रकार की मनोवृत्ति से बंगाल में आर्थिक शोषण का काम और भी व्यापक स्तर पर हो गया।

3. आर्थिक शोषण में इंगलैण्ड की सरकार भी पीछे नहीं रही। 1767 ई. में उसने कम्पनी से 4 लाख पौण्ड की माँग की, यदि कम्पनी अपने मौजूदा राजस्व-साधनों और प्रदेशों को कायम रखना चाहती हो। इससे कम्पनी की आर्थिक स्थिति बिगड़ गयी और घाटे की पूर्ति के लिए भारतीय सूबों को ही चुना गया।

4. दोहरे शासन का सबसे बड़ा दोष यह था कि वास्तविक सत्ता ने अपना उत्तरदायित्व सम्भालने से इन्कार कर दिया और अपने कठपुतलों को अपना उत्तरदायित्व सम्भलवा दिया। ऐसी शासन-व्यवस्था कभी सफल नहीं हो सकती थी, जिसमें शासन का उत्तरदायित्व उठाने वालों के हाथ में वास्तविक सत्ता न हो। इससे चारों ओर अव्यवस्था तथा भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया। कम्पनी को केवल अपनी आय से मतलब था और जनता की देखभाल नवाब को सौंप दी गई। इससे जनता की हालत दिन-प्रतिदिन बिगड़ती गई।

5. दोहरे शासन के अन्तर्गत बंगाल का व्यापार, उद्योग और कृषि का सर्वनाश हो गया। कम्पनी ने अपनी शोषण नीति के द्वारा बंगाल के रेशमी और सूती वस्त्र उद्योग को चौपट कर दिया। कम्पनी के अधिकारी तथा उनके प्रतिनिधि भारतीय जुलाहों को एक निश्चित समय में निश्चित प्रकार का कपड़ा तैयार करने के लिए विवश करते थे और फिर अपनी इच्छानुसार काफी कम मूल्य चुकाते थे। आनाकानी करने वाले जुलाहों के अँगूठे काट दिये जाते थे। परिणामस्वरूप सैंकड़ों परिवार जो वस्त्र उद्योग में लगे हुए थे, बंगाल को छोड़कर भाग गये। यही स्थिति अन्य उद्योगों के कारीगरों तथा मजदूरों की हुई। कृषि का भी यही हाल हुआ। भूमिकर वसूली का काम अधिक-से-अधिक लगान की बोली लगाने वाले ठेकेदारों को दिया जाने लगा। ये ठेकेदार किसानों से अधिक-से-अधिक लगान वसूल करने का जी-तोड़ प्रयास करते थे, क्योंकि इन्हें अपने लिए भी मुनाफा कमाना होता था और फिर इस बात की कोई गारण्टी नहीं थी कि अगले वर्ष उन्हें मौजूदा क्षेत्रों से राजस्व वसूली का काम मिल ही जायेगा। अतः ठेकेदारों और किसानों में किसी प्रकार का स्थायी सम्बन्ध विकसित नहीं हो पाया। डॉ. एम.एस. जैन ने आँकड़े देकर यह प्रमाणित किया है कि जहाँ दीवानी प्रदान किये जाने के पूर्व बंगाल-बिहार से भू-राजस्व के नाम पर 80 लाख रुपयों की वसूली होती थी, वहीं 1766-67 में 2,24,67,500 रुपये की वसूली की गई थी। स्पष्ट है कि इससे किसानों की कमर टूट गई। चूँकि कम्पनी और ठेकेदारों को भूमि की उन्नति अथवा कृषि सुधारों में किसी प्रकार की रुचि नहीं थी, अतः कृषि और किसानों की स्थिति

दयनीय हो गई। हजारों किसानों ने कृषि करना छोड़ दिया। फलस्वरूप खेती के योग्य भूमि भी बेकार हो गई और जंगल विकसित होने लग गये। 1770 ई. के आसपास सम्पूर्ण बंगाल भयंकर अकाल की चपेट में फँस गया और एक-तिहाई आबादी तथा इतना ही पशुधन नष्ट हो गया।

उपर्युक्त व्यवस्था के परिणामस्वरूप कम्पनी के कर्मचारी धनवान होते गये, परन्तु स्वयं कम्पनी की स्थिति शोचनीय हो गई। उसकी आय काफी घट गई और वह दिवालिये की स्थिति में पहुँच गई। इंगलैण्ड की संसद में बोलते हुए लॉर्ड कार्नवालिस ने कहा था—"मैं पूर्ण विश्वास के साथ इस मत का हूँ कि विश्व में कोई भी ऐसी सभ्य सरकार नहीं रही जो इतनी भ्रष्ट, विश्वासघाती और लोभी हो जितनी कि भारत में कम्पनी की सरकार थी।" मुर्शिदाबाद के अँग्रेज रेजीडेण्ट ने 1769 ई. में लिखा था कि "यह देश जो कि अत्यधिक निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासक के अन्तर्गत भी फलता-फूलता रहता था—आज विनाश की ओर अग्रसर है।" यही कारण है कि 1772 ई. में जब वारेन हेस्टिंग्ज को बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया तो उसे दोहरे शासन को समाप्त करने के स्पष्ट आदेश दिये गये थे।

क्लाइव के प्रशासनिक सुधार

क्लाइव जब दुबारा गवर्नर बनकर आया तो उसे राजनीतिक समझौतों के अलावा कम्पनी के आन्तरिक शासन प्रबन्ध की तरफ भी पर्याप्त ध्यान देना पड़ा और इसी सम्बन्ध में उसने कई सुधार कार्यान्वित किये, जिनका कम्पनी के कर्मचारियों ने जबरदस्त विरोध भी किया। परन्तु क्लाइव की दृढ़ता के कारण विरोधियों को झुकना पड़ा। उसके द्वारा किये गये प्रशासनिक सुधार इस प्रकार थे—

1. असैनिक सेवाएँ—क्लाइव के समय में कम्पनी का शासन कलकत्ता कौंसिल के हाथों में था। गवर्नर सहित इसके 17 सदस्य थे। परन्तु बहुत से सदस्यों ने एजेन्सियों का काम स्वीकार कर रखा था और अपने काम के सिलसिले में वे पूरे बंगाल में बिखरे पड़े थे। उन्हें एक समय में एक स्थान पर एकत्रित करना आसान काम न था। लिहाजा कौंसिल का काम कलकत्ता में उपस्थित 7-8 सदस्य ही चलाते थे। कौंसिल के सदस्यों के नीचे कम्पनी के सामान्य अधिकारी तथा कर्मचारी थे, जिन्हें कम्पनी के काम की अपेक्षा अपने निजी व्यापार की अधिक चिन्ता थी। वे अपने 'दस्तकों' को भारतीय व्यापारियों को बेचकर काफी धन कमा लेते थे। छोटे-मोटे कामों के लिए वे भारतीयों से भेंट और रिश्वत लेने के आदी बन चुके थे। उनकी धन-लोलुपता ने उन्हें बेईमान, भ्रष्टाचारी तथा उत्तरदायित्वहीन बना दिया था। कम्पनी के पास योग्य पदाधिकारियों का भी अभाव था। 1766 ई. में स्वयं क्लाइव ने लिखा था कि सचिवालय का कार्य केवल तीन वर्ष का अनुभव प्राप्त एक युवक के जिम्मे था। एकाउन्टेण्ट का कार्य उससे भी निम्न श्रेणी के लिपिक के जिम्मे था। सेना का वेतन बाँटने वाले अधिकारी के पद पर भी एक साधारण क्लर्क काम कर रहा था, जबकि उसके पास बीस लाख रुपया रहता था। इस प्रकार, प्रशासन-व्यवस्था का ढाँचा ही बिगड़ गया था।

इस स्थिति को सुधारने के लिए क्लाइव ने बहुत से सुधार लागू किये। उसने कम्पनी के सैनिक तथा असैनिक कर्मचारियों से प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करवाये कि वे भविष्य में किसी

प्रकार की रिश्वत तथा भेंट-उपहार नहीं लेंगे और पूर्ण निष्ठा तथा ईमानदारी के साथ काम करेंगे। दूसरा कदम बंगाल के अनुभवहीन नये कर्मचारियों को मद्रास भेजना तथा मद्रास से पुराने अनुभवी कर्मचारियों को बंगाल में बुलाना था। बंगाल के कर्मचारियों ने इसका विरोध किया, परन्तु क्लाइव ने दृढ़ता के साथ उनके विरोध की उपेक्षा की। शासन में भ्रष्टाचार की वृद्धि का एक मूल कारण कम्पनी के कर्मचारियों के वेतनों का कम होना था। कर्मचारियों को वेतन के अलावा नियमित आय होती रहे, इस दृष्टि से क्लाइव ने "व्यापारिक एकाधिपत्य" की एक योजना बनाई। इसके अन्तर्गत एक "व्यापार सभा" कायम की गई और उसे तम्बाकू, सुपारी और नमक के व्यापार का एकाधिकार दे दिया गया। इससे प्राप्त मुनाफे को सभी सैनिक तथा असैनिक शेयर होल्डर्स कर्मचारियों में बाँटने की व्यवस्था की गई। परन्तु कम्पनी के मालिकों को क्लाइव की यह योजना पसन्द नहीं आई और 1768 ई. में इस योजना को स्थगित कर दिया गया।

2. सैनिक सेवाएँ—सैनिक विभाग में क्लाइव को सबसे अधिक जिस गम्भीर समस्या का सामना करना पड़ा, वह थी भत्ते की समस्या। भत्ता देने की प्रथा का सिलसिला कर्नाटक युद्धों से शुरू हुआ, जबकि चाँदा साहब और मुहम्मद अली ने क्रमशः अपनी सहायता को आये फ्रांसीसी और अँग्रेज सैनिकों को भत्ते दिये थे। परन्तु अब भत्ते देने का भार कम्पनी पर आ पड़ा था और भत्ता वेतन का अंग बन गया था। कम्पनी ने क्लाइव को भत्ते समाप्त करने अथवा उनमें कमी करने के आदेश दिये। तदनुसार क्लाइव ने इस सम्बन्ध में निम्न नियम बनाये—(1) मुंगेर और पटना की सैनिक छावनियों में रहने वाले अधिकारियों को भविष्य में आधा भत्ता देना तय किया। (2) छावनी के बाहर परन्तु बंगाल, बिहार और उड़ीसा की सीमा में काम पर भेजे जाने की स्थिति में पूरा भत्ता देना तय किया गया। पहली श्रेणी का भत्ता सिद्धान्ततः कम्पनी को देना पड़ता था, परन्तु यह भत्ता नवाब को देना पड़ता था। (3) उपर्युक्त तीनों सूबों की सीमाओं के बाहर काम पर भेजे जाने की स्थिति में दुगुना भत्ता दिया जाना तय हुआ। यह भत्ता उस भारतीय शासक को देना होगा, जिसकी सहायता के लिए अँग्रेज सेना को भेजा जायेगा।

अँग्रेज सैनिक अधिकारियों ने क्लाइव के इन नियमों का जबरदस्त विरोध किया और कम्पनी पर दबाव डालने के उद्देश्य से सबने मिलकर अपने त्याग-पत्र दे दिये। क्लाइव ने भी दृढ़ता तथा साहस का परिचय दिया और सभी के त्याग-पत्र स्वीकार कर लिए और मद्रास से सैनिक अधिकारियों को बुलवाने की व्यवस्था कर ली। इस पर सैनिक अधिकारियों के हौंसले पस्त हो गये और उन्होंने अपने त्याग-पत्र वापिस ले लिये।

3. अवकाश-प्राप्त कर्मचारियों की भलाई—वृद्धावस्था में सेवा-निवृत्त होने के बाद कम्पनी के कर्मचारियों को किसी प्रकार की पेन्शन अथवा आर्थिक सुविधा नहीं दी जाती थी, जिससे अवकाश-प्राप्त लोगों की आर्थिक कठिनाइयाँ काफी बढ़ जाती थीं। इस कमी को दूर करने के लिए क्लाइव ने निजी तौर पर प्रयास किया। मीरजाफर मरते समय 5 लाख रुपया व्यक्तिगत रूप से क्लाइव के लिए छोड़ गया था। क्लाइव ने अपने नाम से "लॉर्ड क्लाइव फण्ड" स्थापित किया और पाँच लाख रुपया इस फण्ड को दे दिया। फण्ड का यह रुपया व्यापार में लगा दिया गया और व्यापार से प्राप्त लाभ की धनराशि से अवकाश-प्राप्त कर्मचारियों को पेन्शन देने की व्यवस्था की गई।

इस प्रकार, थोड़े से समय में क्लाइव ने सैनिक तथा असैनिक सेवाओं के सम्बन्ध में बहुत से सुधार किये, परन्तु इन सुधारों का अपेक्षित परिणाम नहीं निकला। कम्पनी का शासन पहले की भाँति ही रिश्वत और भ्रष्टाचार के आधार पर चलता रहा और कर्मचारी निजी व्यापार तथा दस्तकों के दुरुपयोग से धन कमाते रहे और सूबों की जनता भारी करारोपण तथा आर्थिक शोषण की पीड़ा से कराहती रही।

क्लाइव का मूल्यांकन

1725 ई. में मार्केट ड्रायटन के समीप एक सामान्य परिवार में राबर्ट क्लाइव का जन्म हुआ। बचपन में उसे एक के बाद एक चार स्कूलों में पढ़ने को भेजा गया, परन्तु पढ़ने-लिखने के मामले में वह विशेष प्रगति न कर सका। 17 वर्ष की आयु में उसे कम्पनी की सेवा में एक क्लर्क की हैसियत से भर्ती कर लिया गया और 1744 ई. के अन्तिम दिनों में वह इंगलैण्ड से मद्रास पहुँचा। आरम्भ में उसे क्लर्की का काम बिल्कुल पसन्द न आया और एक बार तो उसने आत्महत्या करने का विचार भी किया। परन्तु अर्काट के घेरे ने उसके भाग्य की दिशा को मोड़ दिया। क्लर्क से वह सैनिक और फिर सेनानायक और गवर्नर बन गया। एक सामान्य नागरिक से वह एक सम्पन्न व्यक्ति बन गया। इंगलैण्ड की सरकार ने उसकी सेवाओं के कारण उसे लॉर्ड के पद से विभूषित किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि क्लाइव एक साहसी सैनिक, कुशल कूटनीतिज्ञ एवं परिश्रमी व्यक्ति था। परन्तु यह भी सत्य है कि वह झूठा, धोखेबाज, रिश्वतखोर तथा षड्यन्त्रकारी था। उसे अपने देश के सम्मान से अत्यधिक प्रेम था और भारत में अँग्रेजी राज्य की स्थापना में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

अँग्रेज इतिहासकारों ने क्लाइव की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और कुछ ने तो अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दों में उसकी स्तुति की है। पिट्ट ने उसे "स्वर्ग में जन्मा सेनानायक" कहा, तो चेथम ने "ईश्वर द्वारा भेजा गया सेनापति" बताया। मैकाले ने लिखा है कि "हमारे टापू ने शायद ही ऐसे व्यक्ति को जन्म दिया हो जो युद्ध और विचार-विमर्श में उससे बढ़कर हो।"

वस्तुतः क्लाइव एक ऐसा प्रशिक्षित सैनिक था, जिसने बुद्धिमत्तापूर्ण सैनिक योजनाओं के स्थान पर अपनी दृढ़ संकल्प-शक्ति एवं दिलेरी से ऐसे कार्य सम्पादित किये, जिनके आधार पर भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो सका। 1751 ई. में उसके द्वारा अर्काट की विजय और उसकी सुरक्षा, दक्षिण भारत में डूप्ले की सभी योजनाओं को प्रभावहीन बना देना और कलकत्ता पर पुनः अधिकार तथा प्लासी में सिराजुद्दौला को परास्त करना ये सभी ऐसे कार्य थे, जिनसे पता चलता है कि वह एक ऐसा सुयोग्य सेनानायक था, जिसमें मौजूदा स्थिति को समझने की कुशाग्र बुद्धि थी और युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए षड्यन्त्र तथा शत्रु पक्ष के लोगों को अपनी तरफ मिलाने की कला में दक्ष था।

यदि अपने प्रथम गवर्नरी काल में उसने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव रखी, तो दूसरे गवर्नरी काल में एक चतुर एवं दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की भाँति उस नींव को मजबूत बनाया। उसने तत्काल दिखाई देने वाले प्रलोभनों में न फँसकर उचित अवसर की प्रतीक्षा करना अधिक

ठीक समझा। मुगल बादशाह और अवध के नवाब वजीर के साथ किये गये समझौते इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। बंगाल, बिहार और उड़ीसा में पूर्ण शासन सत्ता प्राप्त कर लेने के बाद भी प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व न सम्भालना भी उसकी कूटनीतिक प्रतिभा का परिणाम है। बंगाल में उसने जो प्रशासनिक सुधार किये, वे भी कम महत्त्व के न थे। कम्पनी के कर्मचारियों का विरोध और सैनिक अधिकारियों के सामूहिक त्याग-पत्र भी उसे अपने इरादे से न हटा सके। फिर भी, उसने कभी किसी से प्रतिशोध लेने का विचार नहीं किया।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि क्लाइव में दोषों का अभाव था। उसमें भी कई दोष विद्यमान थे। वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति को प्राथमिकता देता था, साधनों के औचित्य को नहीं। उसमें नैतिकता का अभाव था। सिराजुद्दौला के विरुद्ध रचा गया षड्यन्त्र और जाली सन्धि-पत्र तैयार करवाना तथा अमीचन्द को धोखा देना उसके निम्न-नैतिक-स्तर को स्पष्ट कर देते हैं। व्यक्तिगत रूप में वह अत्यधिक लोभी तथा धुन का भूखा था। जब उसे दूसरी बार गवर्नर बनाकर भेजा गया तो उसे भ्रष्टाचार को समाप्त करने के आदेश दिये गये थे और यद्यपि उसने इस दिशा में कुछ कदम उठाये भी, परन्तु वह स्वयं अपने पर संयम न रख सका और अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए हमेशा सक्रिय रहा। कुछ विद्वानों के अनुसार बंगाल के विनाश के लिए क्लाइव उत्तरदायी था। उसी ने भारतीयों से कीमती भेंटें तथा घूस लेने की प्रथा शुरू की थी। कुछ विद्वान् उसे एक योग्य सेनानायक भी स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार, उसे एक योग्य शासक-प्रबन्धक भी नहीं माना जाता। के.एम. पणिक्कर का तो मत है कि 1765-1772 तक कम्पनी द्वारा स्थापित बंगाल का राज्य एक "डाकू-राज्य" था। इसका दोष क्लाइव पर आता है। उसने जो हल निकाले, वे स्थाई न होकर अस्थाई थे।

1767 ई. में क्लाइव वापस इंगलैण्ड लौट गया। कुछ समय बाद वह लोकसभा का सदस्य चुन लिया गया। संसद में जहाँ उसकी प्रशंसा की गई, वहीं कुछ सदस्यों ने उसकी कटु निन्दा भी की और उस पर भ्रष्टाचार, जालसाजी आदि के आरोप लगाये गये। क्लाइव ने इन आरोपों को स्वीकार कर लिया, परन्तु यह भी स्पष्ट कर दिया कि उसने यह सब कुछ अपने देश की भलाई के लिए किया था। अन्त में संसद ने क्लाइव को सभी आरोपों से मुक्त कर दिया और उसकी सेवाओं की प्रशंसा की गई। परन्तु इससे क्लाइव को गहरा सदमा पहुँचा। वह अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठा और नवम्बर, 1774 ई. में उसने उस्तरे से अपना गला काटकर आत्महत्या कर ली। इस प्रकार, उसके जीवन का अन्त हुआ। उसकी उपलब्धियों की चर्चा करते हुए बर्क ने कहा था कि "उसने महान कार्यों की नींव डाली.....उसने उस गहरे पानी में प्रवेश किया जिसके तल का भी पता न था। उसने अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक पुल का निर्माण किया जिस पर लंगड़े चल सकते थे और अन्धे भी अपना मार्ग खोज सकते थे।" वस्तुतः भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के संस्थापक के रूप में क्लाइव की सेवाएँ महत्त्वपूर्ण थीं।

अध्याय-3

आंग्ल-मराठा सम्बन्ध

मराठा शक्ति को संगठित करने का श्रेय छत्रपति शिवाजी को जाता है। इस संगठित मराठा शक्ति का दमन औरंगजेब जैसा शक्तिशाली मुगल सम्राट भी नहीं कर सका था। छत्रपति शाहू के शासन काल में पेशवाओं के नेतृत्व में तो मराठा इतने शक्तिशाली हो गये थे कि उन्होंने उत्तर भारत में भी अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया था। उत्तर भारत पर अपना वर्चस्व कायम रखने के लिए मराठों को अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली से टक्कर लेनी पड़ी। क्योंकि मुगल साम्राज्य के पतनोन्मुख काल में देश में जो राजनीतिक शून्यता उत्पन्न हो गयी थी, उसे भरने के लिए मराठा और अब्दाली दोनों सक्रिय हो उठे थे। पानीपत के मैदान में दोनों शक्तियों में भीषण युद्ध हुआ, जिसमें मराठों की निर्णायक पराजय हुई। लेकिन इस युद्ध में विजयी होने के बावजूद अब्दाली इसका राजनीतिक लाभ नहीं उठा सका। मेजर इवान्स बेल ने लिखा है, "यद्यपि इस युद्ध में मराठों की पराजय हुई तथापि विजयी अफगान वापस चले गये और फिर कभी उन्होंने भारत के मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया।" सर जदुनाथ सरकार की मान्यता है कि "भारतीय इतिहास का एक निरपेक्ष सर्वेक्षण यह दिखा देगा कि बिना किसी प्रमाण पर आधारित वीरता तथा गौरव का यह दावा कितना कमजोर है।" लेकिन सुप्रसिद्ध मराठा इतिहासकार जी.एस. सरदेसाई का मत है कि, "इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ तक जनशक्ति का सम्बन्ध है, उन्हें इस युद्ध से भारी क्षति पहुँची; पर इसके अलावा मराठों के भाग्य पर इस विपत्ति का वस्तुतः कोई प्रभाव नहीं पड़ा। नई पीढ़ी के लोग शीघ्र ही पानीपत में होने वाली क्षति की पूर्ति करने के लिए उठ खड़े हुए।" निःसन्देह मराठों ने अपेक्षाकृत कम समय में अपनी क्षति को पूरा कर लिया, परन्तु फिर भी, वे उत्तर भारत की राजनीति में अपना स्थायी प्रभाव जमाने में असफल रहे।

अतः पानीपत के युद्ध में मराठा शक्ति पर भीषण प्रहार हुआ। किन्तु मराठों की शक्ति निर्मूल नष्ट नहीं हुई। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि, "पानीपत का युद्ध एक निर्णायक युद्ध था। मराठा सेना की मुकुट मणि वहीं गिर गई।" किन्तु पेशवा माधवराव प्रथम ने मराठों में पुनः उत्साह एवं अनुशासन स्थापित किया और उसने पानीपत की पराजय की कालिमा को मिटा दिया। पेशवा माधवराव प्रथम के नेतृत्व में मराठा पुनः उतने ही शक्तिशाली बन गये जितने पानीपत के युद्ध से पूर्व थे। किन्तु ऐसे योग्य पेशवा माधवराव प्रथम की 18 नवम्बर, 1772 ई.

की मृत्यु हो गयी। मराठों के लिए उसकी मृत्यु पानीपत से भी अधिक घातक सिद्ध हुई। उसकी मृत्यु के बाद मराठा शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई और मराठा दरबार षड्यन्त्रों का अड्डा बन गया। मराठा सरदार अपनी-अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने में लग गये। निःसन्देह पेशवा माधवराव प्रथम की मृत्यु के बाद मराठों का देदीप्यमान सूर्य अस्ताचल की ओर चल पड़ा। अब मराठा सरदारों को एकता के सूत्र में बाँध रखने की क्षमता किसी में नहीं थी। मराठा दरबार में सत्ता के लिए संघर्ष आरम्भ हो गया। मराठा सरदार स्वतन्त्र आचरण करने लगे और निजी स्वार्थों के वशीभूत होकर अपना कर्त्तव्य ही भूल बैठे। मराठों की इस फूट का अँग्रेजों ने लाभ उठाया। 1772 ई. में भारत के राजनीतिक रंगमंच पर केवल दो शक्तियाँ—मराठा और अँग्रेज, सर्वोच्चता प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील थीं। अतः भारत में सर्वोच्चता प्राप्ति के लिए इन दोनों शक्तियों में संघर्ष अवश्यम्भावी था। मराठों की पारस्परिक फूट का लाभ उठाते हुए अँग्रेजों ने मराठों पर प्रहार किया। फलस्वरूप दोनों शक्तियों में संघर्ष आरम्भ हो गया, जिसमें मराठा निरन्तर पराजित होने लगे और अन्त में मराठा शक्ति का पतन हो गया।

अँग्रेजों की मराठों के प्रति नीति—रेगुलेटिंग एक्ट द्वारा बम्बई और मद्रास प्रेसीडेन्सियों पर जो गवर्नर जनरल का नियन्त्रण स्थापित किया गया था, वह पर्याप्त एवं स्पष्ट नहीं था। अतः दोनों प्रेसीडेन्सियों के अधिकारी स्वच्छन्द होकर कार्य करने लगे। दक्षिण व मध्य भारत की ऐसी कोई शक्ति नहीं थी, जिनसे उन्होंने झगड़ा मोल न ले रखा हो। बम्बई प्रेसीडेन्सी के गवर्नर की इस स्वच्छन्द प्रवृत्ति के कारण ही अँग्रेजों को मराठों से संघर्ष करना पड़ा था। दक्षिण भारत के सम्बन्ध में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति के प्रमुख तीन भाग थे—

(1) अँग्रेज जानते थे कि दक्षिण में मुख्य रूप से तीन शक्तियाँ हैं—निजाम, मराठा और हैदरअली। यदि ये तीनों शक्तियाँ अँग्रेजों के विरुद्ध एक हो जाती हैं तो दक्षिण में अँग्रेजों का अस्तित्व समाप्त हो सकता है। अतः अँग्रेज चाहते थे कि ये तीनों शक्तियाँ आपस में लड़ती रहनी चाहिये।

(2) दक्षिण की इन तीनों शक्तियों में मराठा सर्वाधिक महत्त्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी हैं। अतः मराठों को अपने घरेलू झगड़ों में फँसाये रखना चाहिये ताकि बंगाल व उत्तरी भारत में अँग्रेजों के बढ़ते हुए प्रभाव में उन्हें हस्तक्षेप करने का अवसर न मिल सके।

(3) दक्षिण भारत के पश्चिमी तट पर अपने पैर फैलाने के लिये सालसेट, बसीन व गुजरात का कुछ भाग कम्पनी को अपने अधिकार में कर लेना चाहिये।

उपर्युक्त नीतियों का अनुपालन करके ही अँग्रेजों ने दक्षिण भारत में अपनी सर्वोच्चता स्थापित की थी।

आंग्ल-मराठा सम्बन्ध—मुगलों की शक्ति के पतन के बाद भारत में मराठा शक्ति उदित हो रही थी। अतः जो शक्ति भारत में प्रमुख स्थान प्राप्त कर रही थी, उसका अँग्रेज़ों से संघर्ष होना स्वाभाविक था। किन्तु 18वीं शताब्दी के मध्य तक अँग्रेजों के पास इतनी शक्ति नहीं थी कि वे मराठों का सामना कर सकें। अतः कम्पनी सदैव इस बात का ध्यान रखने लगी कि वह ऐसा कोई कार्य न करे, जिससे मराठों के साथ उन्हें संघर्ष करना पड़े। फिर भी कम्पनी अपनी

उपर्युक्त नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रयास करती रही। 1758 ई. में अँग्रेजों व मराठों के बीच एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार अँग्रेजों ने मराठों से दस गाँव प्राप्त किये तथा मराठा क्षेत्र में कुछ व्यापारिक सुविधाएँ भी प्राप्त कीं। 1759 ई. में ब्रिटिश अधिकारी प्राइस (Price) व थामस मॉट्सन (Thomas Motson) पुनः पूना गये। इन दोनों का उद्देश्य मराठों से सालसेट व बसीन प्राप्त करना था। किन्तु इन्हें अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त नहीं हुई। पानीपत में मराठों की पराजय ने इन्हें प्रोत्साहित किया तथा 1767 ई. में थामस मॉट्सन को पुनः पुना भेजा गया। इस बार भी सालसेट व बसीन के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हो सका। क्योंकि पेशवा माधवराव, मैसूर के शासक हैदरअली के विरुद्ध अँग्रेजों की सहायता चाहता था, किन्तु कम्पनी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। फिर भी मॉट्सन ने पेशवा को आश्वासन दिया कि कम्पनी मराठों से कभी युद्ध नहीं करेगी और यदि कोई तीसरी शक्ति मराठों से युद्ध करती है तो कम्पनी मराठों के विरुद्ध उस तीसरी शक्ति को सहायता नहीं देगी।

18 नवम्बर, 1772 को पेशवा माधवराव की मृत्यु हो गई। उसके कोई सन्तान नहीं थी, अतः उसका भाई नारायणराव पेशवा की मनसब पर बैठा। परन्तु उसका चाचा राधोबा (रघुनाथराव) स्वयं पेशवा बनना चाहता था। अतः राधोबा ने अपनी पत्नी आनन्दीबाई के सहयोग से 13 अगस्त, 1773 को नारायणराव की हत्या करवा दी और अपने आपको पेशवा घोषित कर दिया। किन्तु मराठों में एक ऐसा व्यक्ति भी था जिसके नेतृत्व में मराठा सरदारों ने राधोबा का विरोध किया। वह व्यक्ति था बालाजी जनार्दन, जो नाना फड़नवीस के नाम से प्रसिद्ध था। नाना फड़नवीस के नेतृत्व में मराठों ने बाराभाई संसद् का निर्माण किया और शासन प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया। किन्तु उनके सामने समस्या यह थी कि पेशवा किसे बनाया जाय। जिस समय नारायणराव की मृत्यु हुई थी, उस समय उसकी पत्नी गंगाबाई गर्भवती थी। 18 अप्रैल, 1774 ई. को उसने एक बालक को जन्म दिया, जिसका नाम मावधवराव द्वितीय रखा गया। बाराभाई संसद् ने माधवराव द्वितीय को पेशवा घोषित कर दिया तथा नाना फड़नवीस को उसका संरक्षक नियुक्त किया। बाराभाई संसद् ने राधोबा को गिरफ्तार करने का आदेश दे दिया। इस पर राधोबा ने दिसम्बर, 1774 ई. में थाना पर आक्रमण कर दिया, किन्तु वह पराजित होकर भाग खड़ा हुआ।

सूरत की सन्धि—राधोबा भागकर बम्बई गया और बम्बई कौंसिल के अध्यक्ष हॉर्नबाई से बातचीत की। तत्पश्चात् कम्पनी की बम्बई शाखा और राधोबा के बीच 6 मार्च, 1775 को सन्धि हो गई, जिसे 'सूरत की सन्धि' कहते हैं। इस सन्धि में मुख्य रूप से निम्नलिखित बातें तय की गयीं—

(1) अँग्रेज राधोबा को पेशवा बनाने में मदद करेंगे।

(2) राधोबा कम्पनी की बम्बई शाखा को थाना, बसीन, सालसेट व जम्बूसर (गुजरात) के प्रदेश देगा।

(3) राधोबा की सुरक्षा के लिए 2,500 अँग्रेज सैनिक पूना में रखे जायेंगे जिसका खर्च $1\frac{1}{4}$ लाख रुपये वार्षिक के हिसाब से राधोबा कम्पनी को अदा करेगा।

(4) अपनी सुरक्षा के बदले राधोबा कम्पनी की बम्बई शाखा को छः लाख रुपये देगा।

(5) यदि राघोवा पूना से कोई शान्ति-समझौता करेगा तो उसमें अँग्रेजों को भी सम्मिलित करेगा।

कम्पनी की वम्वई शाखा ने यह सन्धि विना गवर्नर-जनरल को पूछे की थी तथा रेगुलेटिंग एक्ट के द्वारा कम्पनी की वम्वई शाखा इसके लिए अधिकृत नहीं थी। सन्धि के पश्चात् हॉर्नबाई ने केवल पत्र लिखकर इसकी सूचना गवर्नर-जनरल को भेज दी। इस सन्धि के कारण ही अँग्रेज व मराठों के संघर्षों का सूत्रपात हुआ। तथा मॉट्सन ने मराठों को जो आश्वासन दिया था,उसे इस सन्धि द्वारा तोड़ दिया गया। राघोवा ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण सम्पूर्ण मराठा जाति की प्रतिष्ठा का वलिदान कर दिया।

आंग्ल-मराठा संघर्ष—सूरत की सन्धि के वाद वम्वई सरकार ने राघोवा की सहायता-हेतु एक सेना भेजी। अँग्रेजी सेनाएँ पूना की ओर वढ़ीं। 18 मई,1775 को अँग्रेजों व मराठों के वीच अरास नामक स्थान पर युद्ध हुआ,जिसमें मराठे पराजित हुए। अँग्रेजों ने सालसेट पर अधिकार कर लिया। किन्तु इसी समय वंगाल कौंसिल ने हस्तक्षेप किया, क्योंकि वम्वई सरकार ने यह समझौता विना वंगाल कौंसिल की स्वीकृति से किया था। वंगाल कौंसिल ने सूरत की सन्धि को अस्वीकार कर युद्ध वन्द करने का आदेश दिया,क्योंकि (1) यह सन्धि राघोवा द्वारा हस्ताक्षरित है और वह अव पेशवा नहीं है,(2) सूरत की सन्धि से कम्पनी को अनावश्यक युद्ध में भाग लेना पड़ा है,(3) मराठा शक्ति से अँग्रेजों को कोई क्षति नहीं हुई है, अतः उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का कोई औचित्य नहीं है, और (4) यह रेगुलेटिंग एक्ट के विरुद्ध है।

यद्यपि वंगाल कौंसिल ने युद्ध वन्द करने का आदेश दिया था, फिर भी युद्ध वन्द नहीं हुआ। तव वंगाल कौंसिल ने कर्नल अप्टन (Upton) को मराठों से वातचीत करने पूना भेजा। अप्टन के पूना पहुँचने पर युद्ध वन्द हो गया। पूना में अप्टन और मराठों के वीच मतभेद उत्पन्न हो गये, क्योंकि अप्टन ने राघोवा को सौंपने से इन्कार कर दिया तथा वह सालसेट व वसीन पर अधिकार वनाये रखना चाहता था। अतः यह वार्ता असफल हुई और युद्ध पुनः चालू हो गया। मराठों ने वड़ी वीरता प्रदर्शित की किन्तु दुर्भाग्य से पेशवा का विद्रोही मराठा सरदार सदाशिव भाऊ एक दूसरे मोर्चे पर मराठों के विरुद्ध आ धमका। मराठे दो मोर्चों पर युद्ध नहीं कर सके और उन्होंने अँग्रेजों से सन्धि करने हेतु प्रार्थना की। फलस्वरूप 1 मार्च,1776 को दोनों पक्षों में **पुरन्दर की सन्धि** हो गई। इस सन्धि के अनुसार—

(1) अँग्रेजों ने राघोवा के लिए जो रकम खर्च की है, उसके लिए मराठा अँग्रेजों को 12 लाख रुपये देंगे।

(2) सूरत की सन्धि को रद्द कर दिया गया। मराठों ने राघोवा को 3 लाख 15 हजार रुपये वार्षिक पेंशन देना स्वीकार कर लिया।

(3) राघोवा अव कोई सेना नहीं रखेगा तथा गुजरात में कोपरगाँव में जाकर वस जायेगा।

(4) युद्ध में अँग्रेजों ने जो क्षेत्र प्राप्त किये हैं वे अँग्रेजों के पास ही रहेंगे।

इस सन्धि पर मराठों की ओर से सुखराम वापू ने तथा अँग्रेजों की ओर से कर्नल अप्टन ने हस्ताक्षर किये। किन्तु वम्वई सरकार तथा वारेन हेस्टिंग्ज इस सन्धि को स्वीकार करने को

तैयार नहीं थे। इसी बीच मराठों ने विद्रोही सदाशिव भाऊ को पकड़ लिया तथा उसकी हत्या कर दी। अब मराठे अँग्रेजों से निपटने के लिए तैयार थे। स्थिति उस समय और अधिक जटिल बन गई, जब 1778 में एक फ्रांसीसी राजदूत सैण्ट लुबिन फ्रांस के सम्राट का पत्र लेकर मराठा दरबार में पहुँचा। मराठों ने उसका शानदार स्वागत किया, किन्तु जब अँग्रेज राजदूत मॉट्सन पूना पहुँचा तो उसका कोई विशेष स्वागत नहीं किया गया। अतः यह अफवाह फैलने लगी कि मराठों व फ्रांसीसियों में सन्धि हो गई है। उधर मॉट्सन ने मराठा दरबार के एक मन्त्री मोरोबा को अपनी ओर मिलाकर नाना फड़नवीस और सुखराम बापू में फूट डलवा दी। सुखराम बापू, जो पुरन्दर की सन्धि का हस्ताक्षरकर्त्ता था, विद्रोही हो गया और उसने गुप्त रूप से बम्बई सरकार को लिखा कि राघोबा को पेशवा बनाने में वह भी मदद देने को तैयार है। अतः बम्बई सरकार ने कहा कि चूँकि पुरन्दर की सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाला स्वयं हमारे निकट आ रहा है, इसलिए पुनः युद्ध चालू करने पर सन्धि का उल्लंघन नहीं माना जा सकता। बंगाल कौंसिल ने इसका विरोध किया, किन्तु वारेन हेस्टिंग्ज ने बम्बई सरकार का समर्थन किया। यद्यपि मराठों ने स्पष्ट कर दिया कि फ्रांसीसियों के साथ उनकी कोई सन्धि नहीं हुई है तथा सैण्ट लुबिन को भी वापस भेज दिया गया है। किन्तु हेस्टिंग्ज ने मार्च, 1778 में बम्बई सरकार को युद्ध घोषित करने का अधिकार दे दिया।

बम्बई सरकार ने कर्नल एगटस के नेतृत्व में एक सेना भेजी, किन्तु जब वह मराठों के हाथों पराजित हुआ, तब उसके स्थान पर कर्नल काकबर्क की नियुक्ति की गई। मराठा सेना का नेतृत्व महादजी सिन्धिया व मल्हारराव होल्कर कर रहे थे। मराठा सेना धीरे-धीरे पीछे हटती गई और ब्रिटिश सेना आगे बढ़ती हुई पूना से 18 मील दूर तेलगाँव के मैदान तक आ पहुँची। 19 जनवरी, 1779 को तेलगाँव पहुँचते ही अँग्रेजों को मालूम हुआ कि मराठों ने उन्हें तीन ओर से घेर लिया है। अँग्रेजों ने अपने गोला-बारूद में आग लगाकर पीछे हटना शुरू किया। इस पर मराठों ने आगे बढ़कर आक्रमण कर दिया। दोनों पक्षों में भीषण युद्ध हुआ, जिसमें अँग्रेज पराजित हुए। इस पराजय के साथ ही बम्बई सरकार को एक अपमानजनक समझौता करना पड़ा। 29 जनवरी, 1779 को दोनों में बड़गाँव का समझौता हो गया। इस समझौते की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(1) अँग्रेज राघोबा को मराठों के हवाले कर देंगे।

(2) अब तक अँग्रेजों ने जिन मराठा प्रदेशों पर अधिकार किया है, वे सभी मराठों को सौंप देंगे।

(3) जब तक अँग्रेज इन शर्तों को पूरा न करें, तब तक दो अँग्रेज अधिकारी बतौर बन्धक मराठों के पास कैद में रहेंगे।

बड़गाँव का समझौता अँग्रेजों के लिये घोर अपमान था। स्वयं हेस्टिंग्ज ने कहा कि, "जब मैं बड़गाँव समझौते की धाराओं को पढ़ता हूँ तो मेरा सिर लज्जा से झुक जाता है।" अतः हेस्टिंग्ज ने इस समझौते को स्वीकार नहीं किया और उसने युद्ध की तैयारी करके मराठों के विरुद्ध दो सेनाएँ भेजीं। एक सेना का नेतृत्व कर्नल पोफम कर रहा था और दूसरी का नेतृत्व कर्नल

गॉडर्ड कर रहा था। जब नाना फड़नवीस को अँग्रेजों के आक्रमण की सूचना मिली तो उसने नागपुर के शासक भोंसले, हैदराबाद के निजाम तथा मैसूर के शासक हैदरअली को अपनी ओर मिलाया तथा अँग्रेजों पर आक्रमण की योजना तैयार की। किन्तु हेस्टिंग्ज ने कूटनीति से निजाम व भोंसले को मराठों से अलग कर दिया। कर्नल गॉडर्ड अहमदाबाद व बसीन पर अधिकार करके 1780 में बड़ौदा पहुँच गया। उसने बड़ौदा के शासक फतेहसिंह गायकवाड़ से सन्धि की और पूना की ओर आगे बढ़ा, किन्तु पूना के निकट मराठों ने उसे काफी क्षति पहुँचाई। इधर उत्तर में कर्नल पोफम ग्वालियर की ओर बढ़ा तथा 3 अगस्त, 1780 को ग्वालियर के किले पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् सिप्री (Sipri) नामक स्थान पर महादजी सिन्धिया व पोफम के बीच भीषण युद्ध हुआ, जिसमें महादजी पराजित हुआ। 13 अक्टूबर, 1781 को उसने अँग्रेजों से सन्धि कर ली। उस सन्धि में एक महत्त्वपूर्ण धारा यह थी कि महादजी मराठों व अँग्रेजों के बीच सन्धि करवा देगा तथा उस सन्धि का पालन करवाने हेतु स्वयं अपनी गारण्टी देगा।

इधर गुजरात में कर्नल गॉडर्ड व मराठों के बीच युद्ध चल रहा था। ब्रिटिश सेना के दबाव को कम करने के लिए नाना फड़नवीस ने हैदरअली को कर्नाटक पर आक्रमण करने को कहा। इस पर हैदरअली ने कर्नाटक पर धावा बोल दिया। इसके बाद तो अँग्रेजों की निरन्तर पराजय होने लगी। ब्रिटिश सेना का मनोबल गिरने लगा। अतः अब हेस्टिंग्ज ने एण्डरसन (Anderson) को मराठों से बातचीत करने भेजा। बातचीत के दौरान हेस्टिंग्ज ने एण्डरसन को तथा नाना फड़नवीस को जो पत्र लिखे, उससे स्पष्ट होता है कि वह सन्धि के लिए अत्यधिक व्यग्र हो रहा था। 17 मई, 1782 को अँग्रेजों और मराठों के बीच साल्बाई की सन्धि हो गई, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(1) अँग्रेजों ने राघोबा का साथ छोड़ने का आश्वासन दिया तथा मराठों ने उसे 25,000 रुपये मासिक पेंशन देना स्वीकार कर लिया।

(2) सालसेट तथा भड़ौच को छोड़कर मराठा राज्य के अन्य सभी भू-भागों में अँग्रेज अपना अधिकार त्याग देंगे।

(3) अँग्रेजों ने माधवराव द्वितीय को पेशवा तथा फतेहसिंह गायकवाड़ को बड़ौदा का शासक स्वीकार कर लिया। बड़ौदा के जिन भू-भागों पर अँग्रेजों ने अधिकार कर लिया था, उन्हें पुनः बड़ौदा के शासक को लौटा दिया।

(4) इस सन्धि की स्वीकृति के छः माह के अन्दर हैदरअली अँग्रेजों से जीते हुए प्रदेश लौटा देगा और यदि हैदरअली ने ये प्रदेश लौटा दिए तथा वह पेशवा, कर्नाटक के नवाब और अँग्रेजों के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित नहीं होगा तो अँग्रेज भी उसके विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित नहीं होंगे। यदि हैदरअली इस समझौते के अनुसार कार्य नहीं करेगा तो महादजी, हैदरअली के विरुद्ध अँग्रेजों का साथ देगा।

साल्बाई की सन्धि पर हेस्टिंग्ज ने जून, 1782 में हस्ताक्षर करके इसकी पुष्टि करदी। किन्तु महादजी व नाना फड़नवीस में मतभेद उत्पन्न हो गये। क्योंकि नाना का सच्चा मित्र व

अँग्रेजों का कट्टर शत्रु हैदरअली अभी अँग्रेजों से लड़ रहा था। अतः जब तक हैदरअली युद्ध मैदान में था, अँग्रेजों से सन्धि करना हैदरअली के साथ विश्वासघात था। जब 7 दिसम्बर, 1782 को हैदरअली की मृत्यु हो गई, तब नाना ने 20 दिसम्बर, 1782 को सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये।

सन्धि का महत्त्व—साल्बाई की सन्धि कुछ विशेष दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। अँग्रेजों ने मराठों से सन्धि करके मैसूर को मराठों से अलग कर दिया। मैसूर का शासक हैदरअली मराठों की सहायता से वंचित हो गया। हैदरअली की मृत्यु के बाद उसके पुत्र टीपू ने यद्यपि युद्ध जारी रखा, लेकिन उसे मराठों की सहायता प्राप्त न हो सकी। परिणामस्वरूप अँग्रेज मैसूर की शक्ति को सरलता से कुचल सके। मैसूर की शक्ति को कुचलने के बाद अँग्रेज पुनः मराठों की शक्ति को नष्ट करने की ओर आकर्षित हुए। इस युद्ध से अँग्रेजों को इस बात का पता लग गया कि मराठा संघ के सदस्य पारस्परिक द्वेष से पीड़ित हैं, जिससे वे कभी एक होकर अँग्रेजों का सामना नहीं कर सकेंगे।

इतिहासकार स्मिथ के अनुसार साल्बाई की सन्धि भारत में अँग्रेजों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई क्योंकि इसने भारत में अँग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित कर दिया तथा इसके बाद 20 वर्षों तक अँग्रेजों व मराठों के बीच शान्ति बनी रही। स्मिथ ने इस सन्धि का महत्त्व आवश्यकता से अधिक बताया है। वास्तव में यह सन्धि अँग्रेजों की असफलता को सूचित करती है। अँग्रेजों ने इस सन्धि के पूर्व जो कुछ प्राप्त किया था, वह सालसेट को छोड़कर सब कुछ खो दिया। इस सन्धि ने पेशवा की स्थिति को सुदृढ़ बनाया तथा महादजी का महत्त्व इतना अधिक बढ़ गया कि वह मैसूर पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने लगा। अँग्रेजों ने शाहआलम के मामले में हस्तक्षेप न करने का वादा किया। फलस्वरूप शाहआलम पर महादजी का प्रभाव अधिक बढ़ गया और शाहआलम ने महादजी को मुगल साम्राज्य का वकील-ए-मुतलक नियुक्त किया। इस प्रकार इस सन्धि द्वारा अँग्रेजों का प्रभुत्व नहीं बल्कि मराठों के प्रभुत्व में वृद्धि हुई। अँग्रेजों व मराठों के बीच 20 वर्षों तक शान्ति अवश्य रही। किन्तु इसका कारण साल्बाई की सन्धि नहीं थी, बल्कि अँग्रेज उत्तर भारत में दूसरी समस्याओं में उलझ गये थे, जिससे वे मराठों की ओर ध्यान नहीं दे सके। इधर मराठा संघ में भी फूट पड़ गई थी। मराठा संघ की दुर्बलताएँ योग्य नेतृत्व के अभाव में प्रकट हो गईं। इस युद्ध में मराठों के सैन्य संचालन के दोष भी प्रकट हो गये। मराठे किसी एक स्थान पर डटे रहकर अँग्रेजी फौजों को पराजित नहीं कर सके।

वेलेजली और द्वितीय मराठा युद्ध

वारेन हेस्टिंग्ज अपने कार्यकाल की समाप्ति के बाद 1785 में इंगलैण्ड चला गया। हेस्टिंग्ज के बाद मेकफर्सन ने 1785-86 तक 21 महीने तक कार्यवाहक गनर्वर-जनरल के रूप में कार्य किया। सितम्बर, 1786 में कार्नवालिस गवर्नर जनरल बनकर भारत आया। 1784 में ब्रिटिश संसद् ने पिट्ट इण्डिया एक्ट पारित कर दिया था, जिसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि भारत में कम्पनी देशी रियासतों के प्रति अहस्तक्षेप की नीति का पालन करेगी। कार्नवालिस ने भारत में जहाँ तक सम्भव हो सका, इस नीति का पालन किया। 1793 में वह इंगलैण्ड चला

गया। 1793 में ही सर जॉन शोर को गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्त किया गया। उसने भी कार्नवालिस की नीति का अनुसरण किया। 1795 में हैदराबाद के निजाम व मराठों के बीच खरदा का युद्ध हुआ। इस अवसर पर निजाम ने अँग्रेजों से सहायता देने की प्रार्थना की, किन्तु सर जॉन शोर ने अहस्तक्षेप की नीति के कारण निजाम को सहायता देने से इन्कार कर दिया। फलस्वरूप निजाम, मराठों से पराजित हुआ और उसे अपमानजनक सन्धि के लिए विवश होना पड़ा। 1798 में सर जॉन शोर को वापिस इंगलैण्ड बुला लिया गया और उसके स्थान पर लार्ड वेलेजली को गवर्नर जनरल बनाकर भारत भेजा गया।

साल्बाई की सन्धि के बाद 20 वर्ष तक शान्ति रही। इस अवधि में मराठा अपने अन्य शत्रुओं से निपटते रहे। नाना फड़नवीस के नेतृत्व में उत्तरी व दक्षिण भारत में मराठों का प्रभाव फैलने लगा। इस अवधि में महादजी सिन्धिया की शक्ति में वृद्धि हुई तथा पेशवा की शक्ति का ह्रास हुआ। पेशवा माधवराव द्वितीय के काल में नाना फड़नवीस मराठा संघ का सर्वेसर्वा बन गया था। 1796 में पेशवा माधवराव द्वितीय की मृत्यु हो गई तथा बाजीराव द्वितीय पेशवा की मनसब पर बैठा।

मराठों में आपसी संघर्ष—पेशवा बाजीराव द्वितीय सर्वथा अयोग्य था। 13 मार्च, 1800 को नाना फड़नवीस की मृत्यु हो गई। जब तक नाना जीवित रहा, उसने मराठों में एकता बनाये रखी। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद मराठा सरदारों में आपसी संघर्ष प्रारम्भ हो गये। दो मराठा सरदारों—ग्वालियर का शासक दौलतराव सिन्धिया तथा इन्दौर का शासक जसवन्तराव होल्कर के बीच इस बात पर प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हो गयी कि पेशवा पर किसका प्रभाव रहे। पेशवा बाजीराव द्वितीय निर्बल व्यक्ति था, अतः वह भी किसी शक्तिशाली मराठा सरदार का संरक्षण चाहता था। अतः वह दौलतराव सिन्धिया के संरक्षण में चला गया। अब बाजीराव व सिन्धिया ने होल्कर के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बना लिया। होल्कर के लिये यह स्थिति असहनीय थी। फलस्वरूप 1802 के प्रारम्भ में सिन्धिया व होल्कर के बीच युद्ध छिड़ गया। जब होल्कर मालवा में सिन्धिया की सेना के साथ युद्ध में व्यस्त था; पूना में पेशवा ने होल्कर के भाई विट्ठूजी की हत्या करवा दी। अतः होल्कर अपने भाई का बदला लेने पूना की ओर चल पड़ा। पूना के पास होल्कर ने पेशवा और सिन्धिया की संयुक्त सेना को पराजित किया और एक विजेता की भाँति पूना में प्रवेश किया। होल्कर ने राघोबा के दत्तक पुत्र अमृतराव के बेटे विनायकराव को पेशवा घोषित किया। पेशवा भयभीत हो गया तथा भागकर बसीन (बम्बई के पास अँग्रेजों की बस्ती) चला गया। बसीन से उसने वेलेजली से प्रार्थना की कि वह उसे पुनः पेशवा बनाने में सहायता दे। वेलेजली भारत में कम्पनी की सर्वोपरि सत्ता स्थापित करना चाहता था। मैसूर की शक्ति नष्ट करने के बाद अब मराठे ही उसके एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी रह गये थे। अतः वह मराठा राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर ढूँढ रहा था। पेशवा द्वारा प्रार्थना करने पर वेलेजली को अवसर मिल गया। वेलेजली ने पेशवा के समक्ष शर्त रखी कि यदि वह सहायक सन्धि स्वीकार करले तो वह उसे पुनः पेशवा बनाने में सहायता दे सकता है। पेशवा ने वेलेजली की शर्त को स्वीकार कर लिया और

31 दिसम्बर, 1802 को पेशवा और कम्पनी के बीच **बसीन की सन्धि** हो गयी, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थी—

(1) पेशवा अपने राज्य में 6,000 अँग्रेज सैनिकों की एक सेना रखेगा तथा इस सेना के खर्चे के लिये 26 लाख रुपये वार्षिक आय का भू-भाग अँग्रेजों को देगा।

(2) पेशवा बिना अँग्रेजों की अनुमति के मराठा राज्य में किसी अन्य यूरोपियन को नियुक्ति नहीं देगा और न अपने राज्य में रहने की अनुमति देगा।

(3) पेशवा सूरत से अपना अधिकार त्याग देगा।

(4) पेशवा के जो निजाम और गायकवाड़ के साथ झगड़े हैं, उन झगड़ों के पंच निपटारे का कार्य कम्पनी को सौंप दिया जायेगा।

(5) भविष्य में किसी राज्य के साथ युद्ध, सन्धि अथवा पत्र-व्यवहार बिना अँग्रेजों की अनुमति के नहीं करेगा।

बसीन की सन्धि का महत्त्व—बसीन की सन्धि भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण घटना है। इस सन्धि के द्वारा पेशवा ने मराठों के सम्मान एवं स्वतन्त्रता को अँग्रेजों के हाथों बेच दिया था, जिससे मराठा शक्ति की प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा। किन्तु अँग्रेजों के लिए यह सन्धि अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। सिडनी ओवन ने लिखा है कि इस सन्धि के पश्चात् सम्पूर्ण भारत में कम्पनी का राज्य स्थापित हो गया। वास्तव में इस सन्धि का महत्त्व आवश्यकता से अधिक बताया गया। इस सन्धि का सबसे बड़ा दोष यह था कि अब अँग्रेजों का मराठों से युद्ध प्रायः निश्चित हो गया, क्योंकि वेलेजली ने मराठों के आन्तरिक झगड़ों को तय करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया था। वेलेजली ने कहा था कि इससे शान्ति तथा व्यवस्था बनी रहेगी, किन्तु उसके परिणामस्वरूप सबसे व्यापक युद्ध हुआ। वेलेजली ने सन्धि का औचित्य बताते हुए कहा था कि अँग्रेजों को मराठों के आक्रमण का भय था, किन्तु जब मराठे स्वयं अपने पारस्परिक झगड़ों में उलझे हुए थे, तब फिर अँग्रेजों पर आक्रमण करने का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है ? वस्तुतः वेलेजली भारत में ब्रिटिश सामाज्य का विस्तार करने पर तुला हुआ था और वह मराठों को ऐसी सन्धि में उलझा देना चाहता था, जिससे कि ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार निर्बाध रूप से होता रहे। अतः बसीन की सन्धि ने ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा करदी थीं।

द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध—बसीन की सन्धि के बाद मई-जून, 1803 में बाजीराव द्वितीय को अँग्रेजों के संरक्षण में पुनः पेशवा बना दिया गया। किन्तु बसीन की सन्धि से मराठा सरदारों के आत्म-गौरव पर भारी आघात पहुँचा, क्योंकि पेशवा ने मराठों की इज्जत व स्वतन्त्रता बेच दी थी। मराठा सरदार इसे सहन करने को तैयार नहीं थे। अतः उन्होंने पारस्परिक वैमनस्य को भुलाकर अँग्रेजों के विरुद्ध एक होने का प्रयत्न किया। सिन्धिया और भोंसले तो एक हो गये, किन्तु सिन्धिया व होल्कर की शत्रुता अभी ताजा थी। अतः वह पूना छोड़कर मालवा चला गया। गायकवाड़ अँग्रेजों का मित्र था। अतः उसने भी इस अँग्रेज-विरोधी संघ में सम्मिलित होने से

इन्कार कर दिया। इस प्रकार केवल सिन्धिया व भोंसले ने अँग्रेजों के विरुद्ध सैनिक अभियान की तैयारी आरम्भ कर दी। जब वेलेजली को इसकी सूचना मिली तो उसने 7 अगस्त,1803 को मराठों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और एक सेना अपने भाई आर्थर वेलेजली तथा दूसरी जनरल लेक के नेतृत्व में मराठों के विरुद्ध भेज दी।

आर्थर वेलेजली ने सर्वप्रथम अहमदनगर पर विजय प्राप्त की। तत्पश्चात् अजन्ता व एलोरा के पास असाई नामक स्थान पर सिन्धिया व भोंसले की संयुक्त सेना को पराजित किया। असीरगढ़ व अरगाँव के युद्धों में मराठा पूर्णरूप से पराजित हुए। अरगाँव में पराजित होने के बाद 17 दिसम्बर,1803 को भोंसले ने अँग्रेजों से देवगढ़ की सन्धि करली। इस सन्धि के अन्तर्गत भोंसले ने वेलेजली की सहायक-सन्धि की सभी शर्तों को स्वीकार कर लिया। केवल एक शर्त, राज्य में कम्पनी की सेना रखने सम्बन्धी शर्त स्वीकार नहीं की और वेलेजली ने भी इस शर्त को स्वीकार करने के लिये जोर नहीं दिया। इस सन्धि के अनुसार कटक व वर्धा नदी के आसपास के क्षेत्र अँग्रेजों को दे दिये गये।

इधर जनरल लेक ने उत्तरी भारत की विजय यात्रा आरम्भ की। उसने सर्वप्रथम अलीगढ़ पर अधिकार किया। तत्पश्चात् दिल्ली पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। फिर जनरल लेक ने भरतपुर पर आक्रमण किया और भरतपुर के शासक से सहायक-सन्धि की। भरतपुर से वह आगरा की ओर बढ़ा तथा आगरा पर अधिकार किया। अन्त में लासवाड़ी नामक स्थान पर सिन्धिया की सेना पूर्णतः पराजित हुई। अब सिन्धिया ने भी अँग्रेजों से सन्धि करना उचित समझा। फलस्वरूप 30 दिसम्बर, 1803 को सुर्जीअंजन गाँव की सन्धि हो गयी। इस सन्धि के अनुसार सिन्धिया ने दिल्ली, आगरा, गंगा-यमुना का दोआब, बुन्देलखण्ड, भड़ौच, अहमदनगर का दुर्ग, गुजरात के कुछ जिले, जयपुर व जोधपुर अँग्रेजों के प्रभाव में दे दियें। उसने कम्पनी की सेना को भी अपने राज्य में रखना स्वीकार कर लिया। अँग्रेजों ने सिन्धिया को पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन दिया।

सिंधिया व भोंसले ने बसीन की सन्धि को भी स्वीकार कर लिया था। इन विजयों से वेलेजली खुशी से उछल पड़ा और घोषणा की कि, "युद्ध के प्रत्येक लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है और इससे सदैव शान्ति बनी रहेगी।" किन्तु वेलेजली का उक्त कथन ठीक न निकला, क्योंकि शान्ति शीघ्र ही संकटग्रस्त हो गई।

होल्कर से युद्ध—मराठा राज्य का प्रमुख स्तम्भ होल्कर, जो अब तक इन घटनाओं के प्रति उदासीन था, ने सिन्धिया व भोंसले के आत्मसमर्पण के बाद अँग्रेजों से युद्ध करने का निर्णय लिया और अप्रैल, 1804 में संघर्ष छेड़ दिया। उसने सर्वप्रथम राजपूताना में कम्पनी के मित्र राज्यों पर आक्रमण किया। यह अँग्रेजों के लिए चुनौती थी। अतः वेलेजली ने कर्नल मॉन्सन के नेतृत्व में एक सेना भेज दी। कर्नल मॉन्सन राजपूताने के भीतर तक घुस गया। होल्कर ने कोटा के निकट मुकन्दरा दर्रे के युद्ध में मॉन्सन को पराजित किया तथा उसे आगरा की ओर लौटने के लिए विवश कर दिया। तत्पश्चात् होल्कर ने भरतपुर पर आक्रमण करके वहाँ के शासक से सन्धि करली। यद्यपि भरतपुर के शासक ने अँग्रेजों से सन्धि करली थी, किन्तु इस समय उसने अँग्रेजों

की सन्धि को ठुकरा दिया तथा होल्कर का समर्थन किया। यहाँ से होल्कर दिल्ली की ओर गया तथा दिल्ली को चारों ओर से घेर लिया, लेकिन दिल्ली पर विजय प्राप्त न कर सका। दिल्ली पर होल्कर के दबाव को कम करने के लिये अँग्रेजों ने जनरल मूरे को होल्कर की राजधानी इन्दौर पर आक्रमण करने भेजा। मूरे ने इन्दौर पर अधिकार कर लिया। जब होल्कर को इन्दौर पतन की सूचना मिली तो वह दिल्ली का घेरा उठाकर इन्दौर की ओर रवाना हुआ। रास्ते में डीग नामक स्थान पर ब्रिटिश सेना के साथ उसका भीषण संग्राम हुआ किन्तु यह युद्ध अनिर्णायक रहा। होल्कर को भारी क्षति उठानी पड़ी। तत्पश्चात् फर्रूखाबाद में होल्कर पराजित हुआ और पंजाब की तरफ भाग गया। इस युद्ध में भी होल्कर की शक्ति को पूरी तरह से नहीं कुचला जा सका।

भरतपुर के शासक ने होल्कर का समर्थन किया था, अतः जनरल लेक ने भरतपुर के दुर्ग को घेर लिया। जनरल लेक ने दुर्ग पर अधिकार करने के लिए 9 जनवरी से 21 फरवरी, 1805 के बीच चार बार आक्रमण किये, किन्तु उसे कोई सफलता नहीं मिली। अन्त में अप्रैल, 1805 में उसे भरतपुर के राजा से शान्ति-सन्धि करनी पड़ी। जनरल लेक की यह भयंकर भूल थी कि वह व्यर्थ ही भरतपुर में उलझा पड़ा रहा। यदि लगे हाथ होल्कर से निपट लिया जाता तो भरतपुर तो स्वतः ही बाद में अँग्रेजों की अधीनता में आ जाता। किन्तु उसकी मूर्खता से न तो होल्कर की शक्ति को ही नष्ट किया जा सका और न भरतपुर पर ही अधिकार हो सका। इस असफलता के कारण ब्रिटिश सरकार व बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स बड़े चिंतित हुए। इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री पिट्ट ने भी वेलेजली की कटु आलोचना की। फलस्वरूप वेलेजली को त्याग-पत्र देकर जाना पड़ा।

लार्ड हेस्टिंग्ज व तृतीय मराठा युद्ध

अगस्त, 1805 में वेलेजली भारत से चला गया। उसके स्थान पर लार्ड कार्नवालिस को पुनः भारत भेजा गया। किन्तु यहाँ आने के कुछ ही महीनों बाद गाजीपुर में उसकी मृत्यु हो गयी। अतः जार्ज बार्लो को गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया। कार्नवालिस व जार्ज बार्लो दोनों ने देशी राज्यों के प्रति अहस्तक्षेप की नीति का पालन किया और मराठों के प्रति उदारता की नीति अपनाई। फलस्वरूप 22 नवम्बर, 1805 को सिन्धिया से एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार उसे ग्वालियर व गोहद के दुर्ग तथा उसका उत्तरी चम्बल का भू-भाग लौटा दिया। कम्पनी ने राजपूत राज्यों को अपने संरक्षण में लेने का विचार त्याग दिया। फलस्वरूप राजपूत राज्यों पर पुनः मराठों का प्रभाव स्थापित हो गया। इसी प्रकार 7 जनवरी, 1806 को होल्कर के साथ भी सन्धि करके उसे उसके अधिकांश क्षेत्र लौटा दिये। तत्पश्चात् 1807 में लार्ड मिण्टो गवर्नर जनरल बनकर आया। उसने भी अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया। इन तीनों की नीतियों के फलस्वरूप मराठों ने अपनी शक्ति पुनः संगठित करली। इधर पिंडारी भी, जो आरम्भ में मराठों के सहयोगी थे, अपनी स्वयं की शक्ति बढ़ा रहे थे। ऐसी परिस्थितियों में 1813 में लार्ड हेस्टिंग्ज गवर्नर-जनरल बनकर भारत आया। लार्ड हेस्टिंग्ज मराठा शक्ति को पूरी तरह समाप्त कर राजपूत राज्यों पर ब्रिटिश संरक्षण स्थापित करना चाहता था। लार्ड हेस्टिंग्ज ने सर्वप्रथम पिंडारियों की शक्ति को नष्ट करने की योजना बनायी, क्योंकि उसे भय था कि कहीं पिंडारी, मराठों का पक्ष लेकर युद्ध आरम्भ न करदें। अतः पिंडारियों से युद्ध करने से पूर्व 27 मई, 1816

को भोंसले के साथ तथा 5 नवम्बर, 1817 को सिन्धिया के साथ समझौता किया गया। इस समझौते में उन्होंने पिंडारियों को कुचलने के लिये अँग्रेजों को समर्थन देने का वादा किया तथा सिन्धिया ने चम्बल नदी से दक्षिण पश्चिम के राज्यों पर से अपना प्रभाव हटा लिया।

तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध—बसीन की सन्धि द्वारा यद्यपि पेशवा अँग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर चुका था, किन्तु वह अब इस अधीनता से मुक्त होना चाहता था। इसके लिये पेशवा ने सिन्धिया, होल्कर व भोंसले से गुप्त रूप से बातचीत भी आरम्भ कर दी थी। पेशवा ने अपनी सैनिक शक्ति को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। इस समय पेशवा तथा गायकवाड़ के बीच खण्डनी (खिराज) के सम्बन्ध में झगड़ा चल रहा था। अतः इस सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए गायकवाड़ का एक मन्त्री गंगाधर शास्त्री अँग्रेजों के संरक्षण में पूना आया। पेशवा अँग्रेजों के विरुद्ध गायकवाड़ का सहयोग चाहता था, किन्तु गंगाधर शास्त्री अँग्रेजों का घनिष्ठ मित्र था, अतः उसने पेशवा से सहयोग करने से इन्कार कर दिया। ऐसी स्थिति में पेशवा के एक विश्वसनीय मंत्री त्रियम्बकजी ने धोखे से गंगाधर शास्त्री की हत्या करवा दी। पूना दरबार में ब्रिटिश रेजीडेण्ट एलफिन्सटन की त्रियम्बकजी से व्यक्तिगत शत्रुता थी, अतः रेजीडेण्ट ने पेशवा से माँग की कि त्रियम्बकजी को बन्दी बनाकर उसे अँग्रेजों के सुपुर्द कर दिया जाय। पेशवा ने बड़ी हिचकिचाहट के साथ 11 सितम्बर, 1815 को त्रियम्बकजी को अँग्रेजों के हवाले पर दिया। त्रियम्बकजी को बन्दी बनाकर थाना भेज दिया गया। किन्तु एक वर्ष बाद त्रियम्बकजी थाना से भागने में सफल हो गया। इस पर एलफिन्सटन ने पेशवा पर आरोप लगाया कि उसने त्रियम्बकजी को भगाने में सहायता दी है।

एलफिन्सटन ने पेशवा की शक्ति को सीमित करने के उद्देश्य से पेशवा पर एक नई सन्धि करने हेतु दबाव डाला और उसे धमकी दी कि यदि वह नई सन्धि करने पर सहमत नहीं होगा तो उसे पेशवा की मनसब से हटा दिया जायेगा। अतः भयभीत होकर 13 जून, 1817 को पेशवा ने अँग्रेजों से नई सन्धि (पूना की सन्धि) करली। इस सन्धि के अन्तर्गत पेशवा ने मराठा संघ के अध्यक्ष पद को त्याग दिया, सहायक सेना के खर्च के लिए 33 लाख रुपये वार्षिक आय के भू-भाग अँग्रेजों को सौंपने पड़े और नर्बदा नदी के उत्तर में स्थित अपने राज्य के सभी भू-भाग व अहमदनगर का दुर्ग अँग्रेजों को सौंपने पड़े। पेशवा ने त्रियम्बकजी को बन्दी बनाकर अँग्रेजों को सौंपने का वादा किया तथा जब तक त्रियम्बकजी अँग्रेजों के सुपुर्द न कर दिया जाय, उस समय तक त्रियम्बकजी के परिवार को अँग्रेजों के पास बन्धक के रूप में रखना स्वीकार किया। पेशवा ने बिना अँग्रेजों की अनुमति के किसी अन्य राज्य से पत्र-व्यवहार न करने का भी वादा किया।

यद्यपि सभी मराठा सरदार अँग्रेजों से अपमानजनक सन्धियाँ कर चुके थे, किन्तु उन्होंने ये सन्धियाँ विवशता के कारण की थीं और वे उनसे मुक्त होना चाहते थे। पेशवा भी पूना की सन्धि के अपमान की आग में जल रहा था। अतः जिस दिन सिन्धिया ने अँग्रेजों के साथ सन्धि की (5 नवम्बर, 1817), उसी दिन पेशवा ने पूना में स्थित ब्रिटिश रेजीडेन्सी पर आक्रमण कर दिया। एलफिन्सटन किसी प्रकार जान बचाकर भागा तथा पूना से चार मील दूर किर्की नामक

स्थान पर ब्रिटिश सैनिक छावनी में शरण ली। पेशवा की सेना ने किर्की पर धावा बोल दिया, किन्तु पेशवा पराजित हुआ तथा वह सतारा की ओर भाग गया। नवम्बर,1817 में पूना पर अँग्रेजों का अधिकार हो गया।

पेशवा द्वारा युद्ध आरम्भ कर दिये जाने पर कुछ मराठा सरदारों ने भी युद्ध करने का निश्चय किया। नवम्बर,1817 में ही अप्पा साहब भोंसले ने नागपुर के पास सीताबल्दी नामक स्थान पर अँग्रेजों से युद्ध किया, किन्तु पराजित हुआ। तत्पश्चात् दिसम्बर,1817 में नागपुर के युद्ध में वह पुनः पराजित हुआ और भागकर पंजाब चला गया। पंजाब से भागकर वह शरण के लिए जोधपुर आया। जोधपुर के महाराजा मानसिंह ने, जो स्वयं अँग्रेजों का विरोधी था, अप्पा साहब को शरण दी तथा 1840 में अप्पा साहब की जोधपुर में ही मृत्यु हो गयी।

इसी प्रकार होल्कर की सेना व अँग्रेजों के बीच 21 दिसम्बर, 1817 को महीदपुर के मैदान में भीषण युद्ध हुआ। युद्ध में होल्कर की सेना पराजित हुई तथा जनवरी, 1818 में दोनों के बीच मन्दसौर की सन्धि हो गयी। इस सन्धि के अनुसार होल्कर ने सहायक-सन्धि स्वीकार करली, राजपूत राज्यों से अपने अधिकार त्याग दिये तथा बूँदी की पहाड़ियों व उसके उत्तर के सभी प्रदेश कम्पनी को हस्तान्तरित कर दिये। इस प्रकार होल्कर भी कम्पनी की अधीनता में आ गया।

अब अँग्रेजों ने पेशवा की ओर ध्यान दिया। अँग्रेजों ने पेशवा के विरुद्ध एक सेना भेजी। जनवरी,1818 में कोरगाँव के युद्ध में तथा अन्त में फरवरी,1818 में अष्टी के युद्ध में पेशवा बुरी तरह पराजित हुआ। अतः मई,1818 में उसने अँग्रेजों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। अँग्रेजों ने पेशवा के पद को समाप्त कर पेशवा को 8 लाख रुपये वार्षिक पेंशन देकर कानपुर के पास बिठुर भेज दिया। पेशवा का राज्य ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। सतारा का छोटा-सा राज्य शिवाजी के वंशज प्रतापसिंह को दे दिया गया। पेशवा के मन्त्री त्रियम्बकजी को आजीवन कारावास की सजा देकर चुनार के किले में भेज दिया गया। इस प्रकार लार्ड हेस्टिंग्ज ने मराठा शक्ति को नष्ट करने में सफलता प्राप्त की।

तृतीय मराठा युद्ध का महत्त्व—यह मराठों का अन्तिम राष्ट्रीय युद्ध था और इस युद्ध ने मराठा शक्ति का सूर्य सदा के लिये अस्त कर दिया। एक-एक करके सभी मराठा सरदारों ने अँग्रेजों के सामने घुटने टेक दिये और इस प्रकार मराठा संघ ध्वस्त हो गया। भारत में अँग्रेजों की एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी शक्ति समाप्त हो गयी, जिससे अब अँग्रेजों की सर्वोच्चता को चुनौती देने वाला कोई नहीं रहा। मराठों की इस पराजय के फलस्वरूप पेशवा, होल्कर, सिन्धिया और भोंसले अपने राज्यों के अधिकांश भू-भाग खो बैठे। राजपूत राज्यों से मराठों का प्रभुत्व समाप्त हो गया और राजपूत राज्य मराठों के प्रभुत्व से निकलकर अँग्रेजों के प्रभुत्व में चले गये। रेम्जे म्यूर ने इस युद्ध के औचित्य को सिद्ध करते हुए लिखा है कि कम्पनी की ओर से यह कोई आक्रामक युद्ध नहीं था तथा जिन क्षेत्रों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाये जाने के साथ यह युद्ध समाप्त हुआ था, वह भविष्य में शान्ति बनाये रखने के लिए आवश्यक था। वेलेजली ने मराठा शक्ति पर प्रहार कर उसे क्षीण कर दिया था तथा लार्ड हेस्टिंग्ज ने मराठा शक्ति को धराशायी कर दिया।

इसलिये कहा जाता है कि लार्ड हेस्टिंग्ज ने वेलेजली के कार्य को पूरा कर दिया। इस युद्ध के बाद कम्पनी भारत की सार्वभौम सत्ता बन गई। प्रिंसप ने ठीक ही लिखा है, "ब्रिटिश प्रभाव और सत्ता भारत में जादू की तरह फैल गई।"

मराठों के पतन के कारण

कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि अँग्रेजों ने भारत का शासन मुगल सम्राट से नहीं, बल्कि मराठों से प्राप्त किया था। क्योंकि औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य का तीव्र गति से पतन आरम्भ हो गया था। देश में राजनीतिक शून्यता उत्पन्न हो रही थी। मराठों ने इस शून्यता को भरने का प्रयास किया। जिस समय अँग्रेज अपने अस्तित्व के लिए फ्रांसीसियों से संघर्ष कर रहे थे, उस समय मराठा एक निर्णायक शक्ति के रूप में उभर चुके थे। मराठे भारत के प्रायः सभी भागों से चौथ व सरदेशमुखी वसूल कर रहे थे। किन्तु अँग्रेजों के प्रथम प्रहार से मराठा शक्ति लड़खड़ाने लगी और उसकी दुर्वलताएँ स्पष्ट हो गयीं। अतः वेलेजली व लार्ड हेस्टिंग्ज के आक्रमणों से मराठों का संघ चूर-चूर हो गया। मराठों ने अँग्रेजों की अधीनता स्वीकार करली और इसके बाद अँग्रेजों का विरोध करने का उनमें साहस नहीं रहा। मराठा राज्य और पेशवा का पद समाप्त हो गया। मराठों के इस दुर्भाग्यपूर्ण पतन के निम्नलिखित कारण थे—

1. आन्तरिक दुर्वलताएँ—मराठों में एकता का अभाव था। मराठा राज्य एक राज्य नहीं था बल्कि एक संघ राज्य था, जिसमें प्रत्येक शक्तिशाली सरदार अपने राज्य में स्वतन्त्र था। पानीपत के युद्ध के बाद मराठा संघ में विघटन की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी थी। पेशवा माधवराव प्रथम के समय तक नाममात्र की एकता वनी रही। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद वह एकता समाप्त हो गयी। मराठा सरदारों पर पेशवा का नियन्त्रण शिथिल हो गया। सिन्धिया, होल्कर, भोंसले और गायकवाड़ न केवल स्वतन्त्र शासकों की भाँति व्यवहार कर रहे थे, बल्कि उनमें पारस्परिक संघर्ष भी आरम्भ हो गया। सिन्धिया और होल्कर की प्रतिद्वन्द्विता तो अन्त तक चलती रही। वड़ौदा का शासक गायकवाड़ वहुत पहले ही अँग्रेजों से मैत्री कर चुका था और इसलिए आंग्ल-मराठा युद्धों में वह तटस्थ रहा। भोंसले ने भी हृदय से कभी किसी से मिलकर कार्य नहीं किया। फलस्वरूप मराठा संघ छिन्न-भिन्न हो गया और अँग्रेजों को उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने तथा एक-एक करके उन्हें पराजित करने का अवसर मिल गया। इन आन्तरिक दुर्वलताओं के कारण मराठों का पतन अवश्यम्भावी वन गया।

2. प्रशासकीय दोप—मराठों ने कभी अपने राज्य की प्रशासकीय व्यवस्था को सुसंगठित करने का प्रयास नहीं किया। उन्होंने अपने नागरिकों की शिक्षा, रक्षा, विकास और नैतिक उन्नति के लिए कोई कार्य नहीं किया। मराठों का एकमात्र लक्ष्य मुगल सम्राट पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके विभिन्न प्रान्तों से केवल चौथ व सरदेशमुखी प्राप्त करना था। मराठा अपने इस लक्ष्य से कभी ऊपर नहीं उठ सके तथा उन्होंने शक्तिहीन मुगल साम्राज्य को वनाये रखने में ही अपनी सारी शक्ति लगादी। राज्य के नागरिकों का नैतिक विकास न होने के कारण राज्य को ईमानदार कर्मचारी और पदाधिकारी नहीं मिल सके। प्रशासन में सर्वत्र भ्रष्टाचार फैल गया। मराठा प्रशासन

का गम्भीर दोष यह था कि शासन संचालन में केवल सरदारों व मन्त्रियों का ही सहयोग लिया गया और जनसाधारण को कोई महत्त्व नहीं दिया गया। मराठा सरदार व मन्त्री अपने स्वार्थों से ऊपर न उठ सके। अतः जिस समय उनका अँग्रेजों से संघर्ष हुआ, उस समय तक मराठा अपने जातीय गुण खो चुके थे। सामन्त प्रथा तथा ऊँच-नीच की भावना से मराठा समाज में दरार उत्पन्न हो गयी और वे अपने आदर्शों से भटक गये। उत्तरी भारत में लूटमार में प्राप्त हुई सम्पत्ति ने उन्हें विलासप्रिय बना दिया। भोग एवं विलासी जीवन से मराठा सरदारों का नैतिक पतन हो गया। इन परिस्थितियों में वे अपने साम्राज्य की रक्षा नहीं कर सके।

3. अयोग्य नेतृत्व—मराठा सरदारों में कूटनीतिक योग्यता का अभाव था। मुगल साम्राज्य के अस्तित्व को बनाये रखने के प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि उन्हें व्यर्थ ही अहमदशाह अब्दाली से टक्कर लेनी पड़ी तथा राजपूत, जाट और सिक्ख जो मुगल सत्ता के क्षीण होने पर केन्द्रीय सत्ता से मुक्त होना चाहते थे, उनसे भी शत्रुता मोल लेनी पड़ी। मराठा सरदार इस बात की तो कल्पना ही नहीं कर सके कि उन्हें राजपूतों, सिक्खों और जाटों के सहयोग की आवश्यकत पड़ सकती है। अतः जब अफगानों से संघर्ष हुआ, तब वे अकेले पड़ गये। इसके अतिरिक्त 18वीं शताब्दी के अन्त तक सभी योग्य मराठा सरदारों की मृत्यु हो चुकी थी। महादजी सिन्धिय की 1794 में; अहिल्याबाई होल्कर की 1795 में; तुकोजी होल्कर की 1797 में और नाना फड़नवीर की 1800 में मृत्यु हो गयी थी। उनके पश्चात् मराठों को दुर्बल पेशवा बाजीराव द्वितीय ए स्वार्थी व महत्त्वाकांक्षी दौलतराव सिन्धिया व जसवन्तराव होल्कर का नेतृत्व प्राप्त हुआ। इन योग्यता और चरित्र दोनों की कमी थी। दूसरी ओर अँग्रेजों को एलफिन्सटन, मॉल्कम, वेलेजल तथा लार्ड हेस्टिंग्ज जैसे योग्य राजनीतिज्ञों का नेतृत्व प्राप्त हुआ। फलस्वरूप मराठे कूटनीतिः अँग्रेजों का मुकाबला नहीं कर सके।

4. आर्थिक व्यवस्था के प्रति उदासीनता—मराठों ने अपने राज्य की आर्थिक व्यवस्थ की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। उन्होंने राज्य में कृषि, उद्योग और व्यापार को उन्नत करने का प्रयास ही नहीं किया। राज्य में उचित कर-व्यवस्था के अभाव में राज्य को उचित आय प्राप्त नहीं हो रही थी। इसके अतिरिक्त उत्तरी भारत के जिन प्रदेशों पर उन्होंने अधिकार किया था, वहाँ भी उन्होंने आर्थिक ढाँचे में सुधार करने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने तो अपनी आय का मुख्य साधन लूटमार बना लिया था। अतः वे न तो अपनी प्रजा को सम्पन्न बना सके और न अपने राज्य की आर्थिक नींव दृढ़ कर सके। ऐसा राज्य जो केवल लूट के धन पर ही निर्भर हो, स्थायी नहीं हो सकता। आर्थिक दृष्टि से हीन मराठे, साधन सम्पन्न अँग्रेजों का मुकाबला नहीं कर सके।

5. दुर्बल सैन्य व्यवस्था—कुछ विद्वानों का मत है कि यदि मराठे गुरिल्ला युद्ध पद्धति तथा घुड़सवार सेना तक अपने को सीमित रखते तो शायद अधिक सफल हो सकते थे। महादजी सिन्धिया को छोड़कर अन्य सभी मराठा सरदारों ने पुरानी पद्धति को ही अपनाये रखा। लेकिन गुरिल्ला पद्धति से वे अधिक सफल होते, इसमें संदेह है। यदि इस पद्धति से समस्त भारत में मराठा राज्य फैल भी जाता तो भी वह सुरक्षित नहीं रह सकता था, विशेषकर जब किसी विदेशी सत्ता से संघर्ष करना हो। सरदेसाई ने लिखा है कि मराठों में वैज्ञानिक युद्ध पद्धति का अभाव

था, जिसके फलस्वरूप मराठा सेना में कुशलता की कमी आ गयी थी। इतिहासकार केलकर के अनुसार मराठों की असफलता का मुख्य कारण प्रशिक्षित सेना, आधुनिक तोपखाना व बारूद का अभाव था। वस्तुतः मराठों ने अपने सैनिक कौशल के विकास की ओर ध्यान ही नहीं दिया, क्योंकि मराठा सेना की ऐसी धाक जम गई थी कि मराठा सेनाओं को देखते ही भारतीय राज्यों की सेनाएँ हतोत्साहित हो जाती थीं।

युद्ध में सफलता योग्य नेतृत्व एवं सैनिकों के मनोबल पर निर्भर करती है। 1707 तक मराठों के पास आधुनिकतम हथियारों का अभाव था, फिर भी वे अपने मनोबल से मुगलों से संघर्ष करते रहे। किन्तु धीरे-धीरे मराठों ने युद्ध को लूटमार का साधन बना लिया। इसलिए मराठा सेना में अधिकांश सैनिक केवल लूटमार के लिये ही भर्ती होने लगे, जिनमें मनोबल का अभाव होता था। डॉ. एस.एन. सेन ने लिखा है कि, "यूरोपीय सैनिक प्रणाली अपनाने के कारण मराठों को विभिन्न जाति के सैनिक भरती करने पड़े, जिससे उनकी सेना की राष्ट्रीय भावना लुप्त हो गयी और उसमें वह शक्ति नहीं रही, जो एक राष्ट्रीय सेना में होती है।" डॉ. सेन का यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं है, क्योंकि फ्रांसीसियों के अलावा किसी भी जाति के सैनिकों ने मराठों को धोखा नहीं दिया।

6. सामाजिक दुर्बलताएँ—मराठों में सामन्त प्रणाली तथा जाति-प्रथा के कारण सामाजिक दुर्बलताएँ उत्पन्न हो गयी थीं। सामन्त प्रणाली मराठा राज्य के विस्तार में सहायक हुई थी। पहले केवल छत्रपति (राजा) ही सामन्तों की नियुक्ति करता था, किन्तु आगे चलकर पेशवा भी अपने सामन्त नियुक्त करने लगा। इस प्रकार छत्रपति के सामन्तों के साथ पेशवा के भी सामन्त उत्पन्न हो गये। इन दोनों वर्गों के सामन्त कभी मिलकर कार्य नहीं कर सके। सर जदुनाथ सरकार ने मराठों के पतन के लिये जाति-प्रथा को उत्तरदायी बताया है, जिनमें जाति-भेद के कारण वैमनस्य था। किन्तु मराठा इतिहासकार खरे व केलकर इस कथन को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि जाति-व्यवस्था प्राचीन काल से चली आ रही थी और यदि इस जाति-व्यवस्था से मराठों का उत्थान हो सकता है तो उनके पतन के लिये यह उत्तरदायी नहीं हो सकती। किन्तु उनका तर्क उचित नहीं है। मराठों में पारस्परिक वैमनस्य जागीरों व चौथ के कारण उत्पन्न हुआ था और इस वैमनस्य को बढ़ाने में जाति-व्यवस्था ने योगदान दिया था।

7. देशी शक्तियों से शत्रुता—मराठों ने अँग्रेजों के प्रभाव को रोकने के लिए भारत की देशी शक्तियों के सहयोग की उपेक्षा की। राजपूतों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करके उन्हें अपना शत्रु बना लिया था। मुगल बादशाह की ओर से मराठों ने जाट राजा सूरजमल पर आक्रमण करके जाटों को भी नाराज कर दिया। सिक्ख राज्यों में लूटमार करके मराठों ने सिक्खों को भी अपना विरोधी बना लिया। मराठों की लूटमार से त्रस्त होकर राजपूत अँग्रेजों का संरक्षण स्वीकार करने को तैयार हो गये। यदि मराठे, राजपूत, सिक्ख और जाट मिलकर विदेशी शत्रु का सामना करते तो आज भारत का इतिहास ही कुछ दूसरा होता।

8. मैसूर तथा हैदराबाद का पतन—दक्षिण भारत में प्रमुख तीन शक्तियाँ थीं—मराठा, निजाम और मैसूर के शासक। ये तीनों शक्तियाँ ऐसी थीं कि अँग्रेजों से लोहा ले सकती थीं।

यदि ये तीनों शक्तियाँ अँग्रेजों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बना लेतीं तो अँग्रेजों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता। किन्तु दुर्भाग्य से वे अँग्रेजों की कूटनीति व आपसी फूट के शिकार हो गये। निजाम व मराठों की शत्रुता सर्वविदित थी। अतः निजाम ने मराठों के विरुद्ध सुरक्षा प्राप्त करने के लिए अँग्रेजों से सहायक सन्धि करली। अँग्रेजों ने अपनी कूटनीति से मैसूर को मराठों से अलग कर दिया। नाना फड़नवीस ने तो मैसूर के शासक टीपू की शक्ति को कुचलने के लिए अँग्रेजों को सहयोग देने में भी संकोच नहीं किया। अतः अँग्रेजों ने मराठों के सहयोग से पहले मैसूर की शक्ति को नष्ट किया और फिर मराठों को भी कुचलने में सफल हो गये।

नाना फड़नवीस की नीतियाँ—मराठों के पतन के लिये सभी आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण हो चुका था और नाना फड़नवीस की नीतियों ने उन परिस्थितियों को और बल प्रदान कर दिया। चूँकि नाना का कार्यक्षेत्र केवल दक्षिण भारत था, अतः उसके लिये निजाम व टीपू ही मुख्य शत्रु थे। साल्बाई की सन्धि के बाद, महादजी की इच्छा के विरुद्ध उसने टीपू की शक्ति को कुचलने के लिये अँग्रेजों को सहयोग दिया। फलस्वरूप टीपू के पतन के बाद दक्षिण भारत में शक्ति सन्तुलन बिगड़ गया और अब केवल अँग्रेज ही मराठों के एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी रह गये। नाना अपनी सत्ता सुरक्षित रखने के लिए किसी अन्य मराठा सरदार के महत्त्व को बढ़ने नहीं देना चाहता था। उसने तो सर्वाधिक योग्य सरदार महादजी सिन्धिया पर भी कभी विश्वास नहीं किया। नाना ने अपने प्रभुत्व को बनाये रखने के लिये पेशवा माधवराव द्वितीय को न तो उचित प्रशिक्षण दिया और न उसे जीवन का कोई अनुभव होने दिया। अतः नाना फड़नवीस की नीतियों ने मराठा संघ को अत्यन्त ही दुर्बल अवस्था में लाकर खड़ा कर दिया। मराठा इतिहासकार सरदेसाई ने लिखा है कि यदि नाना फड़नवीस सत्ता व धन के पीछे नहीं पड़ता तो इतिहास में उसका स्थान और भी ऊँचा होता। पहले से ही निर्मित परिस्थितियों व नाना की नीतियों के कारण 18वीं शताब्दी के अन्त में कोई भी कुशल राजनीतिज्ञ मराठों के पतन की भविष्यवाणी कर सकता था।

अध्याय-4

आंग्ल-लाहौर सम्बन्ध

पंजाब में राजनीतिक अस्थिरता : 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगलों की केन्द्रीय सत्ता कमजोर हो गयी। विभिन्न सूबों के सूबेदार अपने-अपने सूबों में स्वतन्त्र होने का प्रयास करने लगे। पंजाब के मुगल सूबेदार जकरियाखाँ ने तानाशाह की तरह व्यवहार करते हुए पंजाब के लोगों पर भीषण अत्याचार किये। 1745 ई. में जकरियाखाँ की मृत्यु हो गयी और उसके पुत्रों में उत्तराधिकार संघर्ष छिड़ गया। पंजाब में सर्वत्र अव्यवस्था एवं अस्थिरता उत्पन्न हो गयी। नादिरशाह के आक्रमण से उत्पन्न अव्यवस्था का अन्त भी नहीं हो पाया था कि अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण शुरू हो गये। मुगलों की कमजोर केन्द्रीय सत्ता पंजाब के लोगों की जान-माल की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ थी। धीरे-धीरे पंजाब, सरहिन्द, पेशावर, मुल्तान, कश्मीर और सिन्ध के प्रान्त मुगलों के हाथ से निकल गये तथा इन पर अफगानों का अधिकार हो गया। परन्तु अब्दाली की मृत्यु के बाद उसके अयोग्य एवं निर्बल उत्तराधिकारी इन क्षेत्रों पर अपना स्थायी अधिकार बनाये नहीं रख सके तथा पंजाब और उसके आस-पास के क्षेत्रों में पुनः राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न हो गई।

सिक्खों का अभ्युदय—मुगल शासकों एवं सूबेदारों के अत्याचारों का सामना करने के लिए, सिक्खों को एकता के सूत्र में बाँधने तथा उन्हें सैनिक शक्ति के रूप में संगठित करने का कार्य सिक्खों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने किया। 1699 ई. में उन्होंने व्यक्तिगत गुरुत्व के सिद्धान्त को, अर्थात् गुरु का पद समाप्त कर दिया और 'गुरु ग्रन्थ साहिब' सिक्खों के मार्ग दर्शक माने जाने लगे। उन्होंने 'खालसा' (सामान्य सिक्खों की सभा) की स्थापना की, जिसका गठंन प्रजातान्त्रिक पद्धति पर किया गया। 'खालसा' की स्थापना के बाद शस्त्रधारी सिक्ख गुरु गोविन्दसिंह के पास आनन्दपुर साहिब में अधिकाधिक संख्या में आने लगे। आनन्दपुर साहिब एक प्रकार से 'खालसा' का केन्द्र बन गया। इस प्रकार गुरु गोविन्दसिंह ने समस्त सिक्खों को खालसा का रूप देकर उन्हें संघर्ष के लिए तैयार कर दिया। परन्तु इसका वास्तविक उपयोग बन्दा बहादुर ने किया, जिसे गुरु गोविन्दसिंह ने पंजाब में अपने अधूरे काम को पूरा करने के लिए नियुक्त किया था। बन्दा बहादुर ने सिक्खों के अस्तित्व के लिए मुगल बादशाह, जहाँदारशाह व फर्रुखसियर से संघर्ष किया। परन्तु 1716 ई. में वह अपने कुछ सहयोगियों के विश्वासघात से बन्दी बना लिया गया और फर्रुखसियर द्वारा मौत के घाट उतरवा दिया गया। बन्दा बहादुर

की मृत्यु के पश्चात् सिक्खों का कोई नेता नहीं रहा, जो सिक्खों के जान-माल की रक्षा कर सके। ऐसी ही स्थिति में 1739 ई. में फारस के शासक नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण कर दिया। करनाल में भीषण युद्ध के बाद वह दिल्ली पहुँच गया। दिल्ली में भयंकर कत्लेआम करके अतुल धन-सम्पत्ति लूट ली। लूटी हुई धन-सम्पत्ति, मुगल बादशाहों का मयूर सिंहासन व मुगल बादशाह मुहम्मदशाह की पुत्री से विवाह कर, उसे लेकर वापिस लौट गया। नादिरशाह के इस भीषण आक्रमण के समय सिक्खों के जान-माल की रक्षा करने वाला कोई नहीं था।

नादिरशाह के आक्रमण के बाद सिक्खों में अपने जान-माल की सुरक्षा स्वयं करने का विचार उत्पन्न हुआ। 1745 ई. में उन्होंने अपने आपको सौ-सौ व्यक्तियों के छोटे-छोटे दल में संगठित कर लिया। प्रत्येक दल का एक नेता होता था और प्रत्येक दल के सभी सदस्य अपने नेता का आदेश मानते थे। सभी दल बन्धुत्व की भावना से मिल-जुलकर कार्य करते थे। 1748 ई. में सभी दलों ने मिलकर 'दल खालसा' का संगठन किया। 'दल खालसा' में सम्मिलित सभी दलों को पुनः 11 जत्थों में विभाजित किया, जो बाद में 'मिसलों' के नाम से विख्यात हुए। 'दल खालसा' में एकता कायम रखने की दृष्टि से एक समिति का गठन किया गया, जिसमें सभी मिसलों के नेताओं को सम्मिलित किया गया। यह समिति 'दल खालसा' की केन्द्रीय सत्ता के रूप में 'दल खालसा' के कार्यों का संचालन करती थी। सिक्खों की राजनीतिक सत्ता के उत्कर्ष में 'दल खालसा' की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। 'दल खालसा' ने अपने लोगों को विदेशी आक्रान्ताओं की लूट-खसोट से तथा मुगल अधिकारियों के अत्याचारों से सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास किया। फलस्वरूप पंजाब का किसान वर्ग तेजी से सिक्ख सम्प्रदाय में सम्मिलित होता गया, जिससे सिक्ख सम्प्रदाय की संख्या में तेजी से वृद्धि होती गई।

'दल खालसा' ने अपने लोगों की जान-माल की सुरक्षा का दायित्व अपने ऊपर ले लिया था, अतः इसके लिए नियमित आय की आवश्यकता हुई, जिससे 1753 ई. में 'राखी प्रथा' आरम्भ हुई। इस प्रथा के अन्तर्गत जिस गाँव की सुरक्षा का दायित्व 'दल खालसा' अपने ऊपर लेता था, उस गाँव के लोगों को अपनी आय का 1/5 भाग 'दल खालसा' को देना पड़ता था। इस प्रथा को 'जमींदारी प्रथा' भी कहा जाता था। इस प्रथा के आरम्भ होने से सिक्ख मिसलों के नेताओं के राजनैतिक अधिकार भी आरम्भ हो गये और धीरे-धीरे सिक्खों की सैनिक शक्ति सबल होती गई। फलस्वरूप 1763 ई. से 1769 ई. के मध्य अहमदशाह अब्दाली ने पंजाब पर बार-बार आक्रमण किये, किन्तु सिक्खों के प्रबल प्रतिरोध के कारण प्रत्येक आक्रमण के साथ उसकी सफलता में कमी आती गई। 1773 ई. में अब्दाली की मृत्यु हो गयी। उसके उत्तराधिकारी कमजोर निकले, जिससे भारतीय प्रदेशों पर अफगान अपना प्रभाव अधिक समय तक नहीं रख सके। अफगानों की निर्बलता का लाभ सिक्खों ने उठाया और पंजाब के भिन्न-भिन्न भागों में अपने-अपने राज्य स्थापित कर लिये। धीरे-धीरे सम्पूर्ण पंजाब में 12 छोटे-छोटे सिक्ख राज्य स्थापित हो गये। इस समय सिक्खों के समक्ष दो महत्त्वपूर्ण समस्याएँ थीं। प्रथम तो अफगान आक्रमण, जिससे वे पंजाब को सुरक्षित रखना चाहते थे और दूसरी पंजाब में मुगल सत्ता, जिसकी पुनर्स्थापना अब उन्हें पसन्द नहीं थी। इधर पंजाब में तैनात मुगल अधिकारी भी तात्कालिक स्थिति का लाभ उठाकर अपने लिए स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। ऐसी स्थिति में सिक्खों

को जो सफलता मिली उसके कई कारण थे—(1) सिक्खों में दृढ़ संकल्प तथा संकट के समय एक-दूसरे को सहयोग प्रदान करने की प्रवृत्ति; (2) सिक्खों की शक्तिशाली घुड़सवार सेना, जो सदैव गतिशील रहती थी; (3) सिक्खों द्वारा छापामार पद्धति का युद्ध में प्रयोग; (4) सिक्खों की 'दल खालसा' के प्रति निष्ठा की भावना और मुगलों से प्रतिशोध लेने की तीव्र इच्छा; (5) समान धर्म और समान राजनैतिक आवश्यकता से प्रोत्साहित सिक्खों की मिसल व्यवस्था, जो एक लचीली संघीय व्यवस्था थी, में एकता के सूत्र में बँधे रखने की लालसा। किन्तु आगे चल कर सिक्ख नेताओं में परस्पर झगड़े शुरू हो गये, जिससे वे एक शक्तिशाली संघ की स्थापना नहीं कर सके। आगे चलकर रणजीतसिंह को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिल गया। उसने एक शक्तिशाली सिक्ख राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की।

महाराजा रणजीतसिंह एवं लाहौर राज्य की स्थापना

13 नवम्बर, 1780 ई. के दिन रणजीतसिंह का जन्म सुकरचकिया मिसल के नेता महासिंह के यहाँ हुआ था। उस समय पंजाव में जो बारह मिसलें थीं, उनमें सुकरचकिया मिसल का प्रभाव-क्षेत्र काफी कम था। रणजीतसिंह अपने पिता महासिंह की इकलौती सन्तान था, अतः लाड़-प्यार के कारण उसकी बौद्धिक शिक्षा की तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया गया और वह अनपढ़ ही रह गया। परन्तु घुड़सवारी, अस्त्र-शस्त्र संचालन और युद्धकला में वह पारंगत हो गया। 1792 ई. में महासिंह का आकस्मिक देहान्त हो गया और बारह वर्ष की अल्पायु में ही रणजीतसिंह सुकरचकिया मिसल का सरदार बन गया। थोड़े वर्षों तक उसकी माता राजकौर ने उसकी संरक्षिका के रूप में शासन किया। रणजीतसिंह की सास सदाकौर कन्हैया मिसल की मुखिया थी। वह एक महत्त्वाकांक्षी महिला थी। उसने भी प्रारम्भिक दिनों में रणजीतसिंह की सरदारी को बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया था। उसके सुझाव पर सुकरचकिया तथा कन्हैया मिसलों की सेनाओं को संयुक्त कर रामगढ़िया मिसल पर आक्रमण किया गया। यह अभियान असफल रहा, परन्तु इससे रणजीतसिंह के हृदय में विजय की लालसा जाग उठी और 17 वर्ष की आयु में वह अपनी माता तथा सास की संरक्षकता से मुक्त हो गया। उसने अहलूवालिया मिसल के सरदार फतहसिंह से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये और फिर अपनी सत्ता के विस्तार में जुट गया। एन.के. सिन्हा का मत है कि रणजीतसिंह का उत्कर्ष राजनीतिक मैत्री तथा विवाह सम्बन्धों की सहायता से हुआ। उनका कथन काफी सही है।

1793 ई. में जमानशाह अफगानिस्तान का शासक बना। उसने 1795, 1796 और 1798 ई. में पंजाव तथा आसपास के क्षेत्रों पर आक्रमण किये। उसका विचार भारत में अफगान राज्य का विस्तार करना था। 1798 ई. के अभियान में उसने लाहौर पर अधिकार कर लिया। इसी समय अफगानिस्तान में विद्रोह उठ खड़ा हुआ और उसे तत्काल वापस लौटना पड़ा। वापसी में उसकी 12 तोपें झेलम नदी के दलदल में फँस गईं। परन्तु जमानशाह के पास इतना समय नहीं था कि वह तोपों को निकालने के लिए ठहरता। इस अवसर पर रणजीतसिंह ने तोपों को निकलवाकर उसके पास पहुँचाने का वायदा किया और अपने वायदे को पूरा भी किया। जमानशाह ने प्रसन्न होकर रणजीतसिंह को 'राजा' की उपाधि तथा लाहौर की सूबेदारी प्रदान की।

राज्य विस्तार—उन दिनों लाहौर पर भांगी मिसल का अधिकार था। रणजीतसिंह ने उन्हें परास्त करके लाहौर पर अपना अधिकार जमा लिया। लाहौर विजय से रणजीतसिंह का प्रभाव बढ़ गया। 1801 ई. में अफगानिस्तान में राजक्रान्ति हो गई। जमानशाह को उसके सौतेले भाई ने अपदस्थ कर दिया। मौके का फायदा उठाते हुए रणजीतसिंह ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और 'पंजाब के महाराजा' की पदवी ग्रहण की। यह इस बात का संकेत था कि रणजीतसिंह सिक्खों की कमजोर संघीय व्यवस्था को समाप्त करके एकतंत्रीय शासन की स्थापना का स्वप्न देख रहा है। सर्वप्रथम, जम्मू पर चढ़ाई की गई और वहाँ के राजा को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। तत्पश्चात् अकलगढ़, कासूर, गुजरात, चिन्नत, भंग, कांगड़ा आदि पर भी अधिकार कर लिया गया। 1805 ई. में उसने सिक्खों के पवित्र स्थान अमृतसर पर भी अधिकार कर लिया। अब वह सभी सिक्ख सरदारों में प्रमुख सरदार हो गया और उसके नेतृत्व में पंजाब में एक नया शक्तिशाली सिक्ख राज्य संगठित हुआ।

रणजीतसिंह और मराठे—सर्वप्रथम महादजी सिन्धिया ने अपने प्रतिनिधि को रणजीतसिंह के पास अँग्रेजों के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने भेजा था। परन्तु रणजीतसिंह ने अपने सीमित साधनों को ध्यान में रखते हुए सहायता देने से इन्कार कर दिया। 1805 ई. में अँग्रेजों से परास्त होने के बाद प्रसिद्ध मराठा सेनानायक जसवन्तराव होल्कर अपनी सेना सहित पंजाब में जा पहुँचा और अँग्रेजों के विरुद्ध रणजीतसिंह का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उधर अँग्रेजों ने रणजीतसिंह से कहा कि वह मराठों को सहायता न दे अन्यथा उसे गम्भीर परिणाम भुगतने पड़ेंगे। काफ़ी सोच-विचार के बाद रणजीतसिंह ने मराठों को सहायता देने से इन्कार कर दिया और उन्हें पंजाब से चले जाने को कहा। इस प्रकार, रणजीतसिंह ने समयानुकूल क़दम उठाकर अपने आपको संकट से बचा लिया।

सतलज पार के राज्य—दल खालसा के अन्तर्गत जो 11 जत्थे (मिसलें) गठित किये गये थे, उनका कार्यक्षेत्र सतलज नदी के उत्तर-पश्चिम की ओर था। 12वीं मिसल फुलकलियाँ ने सतलज के पार अपना प्रभाव बढ़ाया। इस समय पटियाला, जिन्द, नाभा आदि राज्यों पर इसी मिसल के वंशजों का शासन था। रणजीत सिंह सभी सिक्ख राज्यों को मिलाकर एक प्रबल सिक्ख राष्ट्र का निर्माण करना चाहता था और इसके लिए सतलज पार के राज्यों को जीतना जरूरी था। 1806 ई. में उसे अवसर भी प्राप्त हो गया। नाभा और पटियाला में संघर्ष छिड़ गया। नाभा के राजा ने रणजीतसिंह से सहायता की याचना की और रणजीतसिंह सेना सहित जा पहुँचा। उसने पटियाला के राजा को परास्त किया। पटियाला ने रणजीत सिंह की अधीनता स्वीकार कर ली। नाभा और जिन्द राज्यों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। 1807 ई. में रणजीतसिंह ने पुनः सतलज पार आक्रमण किया और अम्बाला, थानेश्वर, नारायणगढ़ और फिरोजपुर तक का धावा मारा। इस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी तटस्थता की नीति का पालन कर रही थी और अभी भी यमुना नदी तक ही अपनी सीमा निर्धारित किये हुए थी। परन्तु रणजीतसिंह के बढ़ते हुए प्रभाव से अँग्रेज चिन्तित हो उठे।

रणजीतसिंह और अँग्रेज—रणजीतसिंह के उत्कर्ष के बाद सिक्खों और अँग्रेजों का पहला प्रत्यक्ष सम्पर्क 1800 ई. में हुआ था। इस समय अँग्रेजों की नीति अँग्रेजों और रूस के मध्य रणजीतसिंह के राज्य को एक अंतःस्थ राज्य (बफर स्टेट) के रूप में स्थापित करना था, क्योंकि इस समय रूस मध्यपूर्व की तरफ अपने कदम बढ़ा रहा था और इस बात की आशंका थी कि कहीं वह ईरान और अफगानिस्तान से सम्बन्ध स्थापित करके भारत पर आक्रमण न कर दे। ऐसी स्थिति में अँग्रेज रूसियों से पंजाब अथवा पंजाब से भी आगे बढ़कर लड़ना चाहते थे। परन्तु चूँकि अभी अँग्रेज भारत में अपनी शक्ति को मजबूत एवं संगठित नहीं कर पाये थे, अतः वे अधिक सक्रिय नीति नहीं अपना पाये। परन्तु 1800 ई. में लार्ड वेलेजली के समय में कम्पनी की स्थिति सुधर चुकी थी। इससे कुछ समय पूर्व ही अफगान शासक जमानशाह ने पंजाब पर आक्रमण किया था, अतः कम्पनी के लिए उत्तर-पश्चिमी सीमान्त की तरफ ध्यान देना आवश्यक हो गया। तदनुसार वेलेजली ने मुंशी युसुफ अली को बहुमूल्य भेंटों के साथ रणजीतसिंह के दरबार में भेजा और उससे यह अनुरोध किया गया कि वह जमानशाह को सहायता न दे। इस समय तक रणजीतसिंह लाहौर पर अधिकार जमा चुका था और जमानशाह ने उसे राजा की उपाधि तथा लाहौर की सूबेदारी प्रदान कर दी थी। परन्तु जमानशाह के आक्रमण के भय का अन्त होते ही मुंशी युसुफअली को रणजीतसिंह के दरबार से वापस बुला लिया गया।

रणजीतसिंह के साथ अँग्रेजों के इस प्रथम सम्पर्क के अच्छे परिणाम निकले। जैसा कि बतलाया जा चुका है, रणजीतसिंह ने मराठा सरदारों—सिन्धिया तथा होल्कर—को अँग्रेजों के विरुद्ध सहायता देने से मना कर दिया था। इसका परिणाम भी अच्छा निकला और 1806 ई. में अँग्रेजों ने रणजीतसिंह के साथ मित्रता और सहयोग की सन्धि करली। इस सन्धि के अनुसार अँग्रेजों ने यह आश्वासन दिया कि वे पंजाब से अपनी सेनाएँ हटा लेंगे और मराठों को पंजाब में उपद्रव नहीं करने देंगे। यह वचन भी दिया गया कि जब तक रणजीतसिंह अँग्रेजों के प्रति मैत्री भाव रखेगा, तब तक वे रणजीतसिंह के राज्य पर आक्रमण नहीं करेंगे। इस सन्धि ने दोनों के मध्य नियमित सम्बन्ध स्थापित कर दिया और भावी सम्बन्धों को विकसित करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। परन्तु जब रणजीतसिंह ने सतलज पार के राज्यों पर आक्रमण करके उन्हें अपनी अधीनता में लाने का प्रयास किया तो अँग्रेज चिन्तित हो उठे। उन्हें रणजीतसिंह की बढ़ती हुई शक्ति रुचिकर नहीं लगी और वे उसको नियन्त्रित करने को उत्सुक हो उठे। संयोगवश, सतलज पार के सिक्ख राज्यों ने कम्पनी से रणजीतसिंह के विरुद्ध संरक्षण की माँग भी की। परन्तु इस समय यूरोप में घटित होने वाली घटनाओं ने कम्पनी को जल्दबाजी से रोक दिया। अँग्रेजों को यह भी आशंका थी कि नेपोलियन मध्य एशिया के मार्ग से उनके भारतीय राज्य पर आक्रमण कर सकता था। कम्पनी एक तरफ तो रणजीतसिंह को सतलज पार बढ़ने से रोकना चाहती थी और दूसरी तरफ उसे नाराज भी नहीं करना चाहती थी, क्योंकि फ्रांसीसियों के सम्भावित आक्रमण के विरुद्ध उसे रणजीतसिंह के सहयोग की आवश्यकता थी। अतः चार्ल्स मेटकॉफ नामक सुयोग्य अधिकारी को सितम्बर, 1808 ई. में रणजीतसिंह से बातचीत करने के लिए लाहौर भेजा गया। इसी समय अँग्रेजों ने एक प्रतिनिधिमण्डल अफगानिस्तान के शासक के पास भी भेजा। इससे रणजीतसिंह दुविधा में पड़ गया। वह अँग्रेजों की नीति को ठीक से न समझ पाया, क्योंकि

अफगान सिक्खों के शत्रु थे। ऐसी स्थिति में बातचीत लम्बी होती गई। अँग्रेजों ने अनुभव किया कि बिना शक्ति-प्रदर्शन के रणजीतसिंह झुकने वाला नहीं है। अतः फरवरी, 1809 ई. में आक्टरलोनी के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना सतलज पार की तरफ बढ़ी और सतलज पार के सिक्ख सरदारों को सुरक्षा का आश्वासन दिया गया। रणजीतसिंह को स्पष्ट कर दिया गया कि अँग्रेज अपने प्रस्तावों को मनवाने के लिए सैनिक कार्यवाही भी कर सकते हैं। रणजीतसिंह भयभीत हो गया और अप्रैल, 1809 ई. में दोनों के मध्य सन्धि हो गई, जिसे **अमृतसर की सन्धि** कहा जाता है।

अमृतसर की सन्धि (1809 ई.)—इस सन्धि की मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं—

1. दोनों पक्षों में स्थाई रूप से मित्रता बनाये रखने का निश्चय किया गया।

2. पूर्व की ओर सतलज नदी को रणजीतसिंह के राज्य की सीमा निर्धारित किया गया। सतलज के उत्तर-पश्चिम के क्षेत्रों में रणजीतसिंह को खुली छूट दे दी गई और इन क्षेत्रों में अँग्रेजों ने हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। रणजीतसिंह ने सतलज पार के राज्यों पर ब्रिटिश संरक्षण को स्वीकार कर लिया और उन पर आक्रमण न करने का वचन दिया।

3. अँग्रेजों ने महाराजा रणजीतसिंह को स्वतन्त्र शासक स्वीकार कर लिया।

4. कोई भी पक्ष सतलज के किनारे पर अधिक सेना नहीं रखेगा। परन्तु सतलज पार के 45 परगनों (जो कि रणजीतसिंह के अधिकार में थे) में आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था के लिए आवश्यक सेना रणजीतसिंह रख सकेगा।

5. किसी भी पक्ष द्वारा सन्धि की एक भी धारा का उल्लंघन करने पर सम्पूर्ण सन्धि समाप्त मानी जायेगी।

अमृतसर की सन्धि के सम्बन्ध में विद्वानों ने अपने अलग-अलग मत व्यक्त किये हैं। प्रोफेसर एन.के. सिन्हा का मत है कि रणजीतसिंह को कूटनीतिक पराजय सहन करनी पड़ी और अपने गर्व को अपनी जेब में रखकर अपमान का घूँट निगलना पड़ा। मेटकॉफ का भी मानना है कि रणजीतसिंह साहसी कार्यों के लिए प्रसिद्ध नहीं था। जिन परिस्थितियों में उसे सन्धि करनी पड़ी, उससे साफ पता चलता है कि उसने सैनिक दबाव में आकर सन्धि की थी। रणजीतसिंह का इरादा सतलज पार के सिक्ख राज्यों को नियन्त्रण में लाकर एक शक्तिशाली संगठित सिक्ख राज्य की स्थापना करना था। अमृतसर की सन्धि ने उसके इरादे पर पानी फेर दिया। अब वह सतलज पार नहीं बढ़ सकता था। इसके विपरीत कम्पनी के राज्यों की सीमा सतलज नदी तक जा पहुँची और अब उसके लिए सिक्ख राज्यों की गतिविधियों पर निगरानी रखना सरल हो गया। कुछ इतिहासकार अमृतसर की सन्धि को रणजीतसिंह की कूटनीतिक पराजय नहीं मानते, बल्कि रणजीतसिंह की कूटनीतिक कुशलता बतलाते हैं जिसके द्वारा उसने पंजाब को अँग्रेजों के हाथों में जाने से बचा लिया। कनिंघम ने लिखा है कि अब रणजीतसिंह को उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में राज्य-विस्तार का अवसर मिल गया, क्योंकि उसे अब अपने राज्य की दक्षिणी सीमा की सुरक्षा की चिन्ता न रही। उनका यह भी मानना है कि महान् ब्रिटिश शक्ति के साथ मैत्री कर लेने से रणजीतसिंह की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। सत्य जो भी हो, इतना निश्चित है कि रणजीतसिंह के सामने सन्धि करने के अलावा कोई दूसरा विकल्प न था। रणजीतसिंह अपने नवोदित राज्य की सीमित

शक्ति से भली-भाँति परिचित था और इसलिए उसने शक्तिशाली अँग्रेजों को चुनौती देकर अपना सर्वनाश आमन्त्रित करने की गलती नहीं की। वह अपने राज्य को सम्भावित खतरे से दूर रखना चाहता था और इसलिए उसने टकराव के स्थान पर घुटने टेकने की नीति अपनाई। क्योंकि सतलज पार के सिक्ख सरदार पहले ही अँग्रेजों का दामन पकड़ चुके थे। अँग्रेजों के साथ लड़े जाने वाले युद्ध में अन्य सिक्ख सरदारों के सहयोग पर भी पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता था।

उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में राज्य विस्तार—अमृतसर की सन्धि के कारण जब रणजीतसिंह के राज्य का सतलज पार प्रसार अवरुद्ध हो गया तो उसने उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम की ओर राज्य की सीमाओं को बढ़ाने का फैसला किया। 1809 ई. में काँगड़ा क्षेत्र पर अधिकार कर लिया गया। 1815 ई. में अफगानों के साथ उसका संघर्ष हुआ, जिसमें उसे सफलता मिली और बाद में सिक्खों ने अटक पर अधिकार कर लिया। मुल्तान पर 1802 से ही रणजीतसिंह की नजरें गड़ी हुई थीं, परन्तु सफलता 1818 ई. में मिली। 1819 ई. में रणजीतसिंह की सेना ने काश्मीर पर आक्रमण कर दिया। काश्मीर का अफगान सूबेदार परास्त हुआ और काश्मीर पर रणजीतसिंह का अधिकार हो गया। काश्मीर-विजय रणजीतसिंह की महान् सफलता मानी जाती है। इससे उसके राज्य की सीमाएँ तिब्बत तथा चीन से जा टकराईं। 1821 ई. में दो-आब में स्थित मंकेरा राज्य पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया गया। 1823 ई. में सिक्ख सेना ने पेशावर पर आक्रमण किया। इस बार अफगानों ने जमकर लोहा लिया, परन्तु रणजीतसिंह विजयी हुआ। 1834 ई. में पेशावर का क्षेत्र सिख राज्य में मिला लिया गया। परिणामस्वरूप रणजीतसिंह के राज्य की सीमा सुदूर उत्तर-पश्चिम तक पहुँच गई। इस बीच सतलज के पश्चिम और उत्तर में स्थित विभिन्न छोटी-छोटी मिसलों को जीतकर उनके राज्यों को सिक्ख राज्य में मिला लिया गया। इस प्रकार, रणजीतसिंह ने अपनी सैन्य शक्ति तथा कूटनीति के माध्यम से एक विशाल एवं शक्तिशाली राज्य का संगठन करने में शानदार सफलता प्राप्त की। 27 जून, 1839 ई. को 59 वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गई।

1809 ई. के बाद अँग्रेजों के साथ सम्बन्ध—अमृतसर की सन्धि से लेकर रणजीतसिंह की मृत्यु तक रणजीतसिंह और अँग्रेजों के आपसी सम्बन्धों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—पहला, 1809 से 1831 ई. तक और दूसरा, 1831 से 1839 ई. तक। प्रथम काल में दोनों पक्षों के बीच सद्भावना बनी रही और विशेष कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा। जब सतलज के पश्चिम में स्थित सिक्ख राज्यों ने रणजीतसिंह के विरुद्ध अँग्रेजों से संरक्षण की याचना की तो अँग्रेजों ने उन्हें संरक्षण देने से मना कर दिया। वे सन्धि का पालन करते रहे और रणजीतसिंह के राज्य-विस्तार के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं किया। इसका सम्भावित कारण शायद यह रहा हो कि इस समय अँग्रेज भारत के अन्य भागों में अपनी सत्ता को सुदृढ़ बनाने में लगे हुए थे। अतः उन्होंने पंजाब के मामलों में टाँग अड़ाना उचित नहीं समझा। रणजीतसिंह ने भी अपनी तरफ से सन्धि की शर्तों का उल्लंघन करने का कभी प्रयास नहीं किया। जब 1816 ई. में कम्पनी को नेपाल-युद्ध और 1824 में बर्मा-युद्ध में फँस जाना पड़ा, तब रणजीतसिंह ने परिस्थितियों

का लाभ उठाना उचित नहीं समझा। यद्यपि नेपाल ने उससे सहायता की याचना की थी। इसी प्रकार तृतीय मराठा युद्ध के अवसर पर भी उसने नागपुर के भोंसले और 1825 ई. में भरतपुर के जाटों को अँग्रेजों के विरुद्ध सहायता देने से इन्कार कर दिया। लेकिन अँग्रेजों ने सच्ची मैत्री का परिचय नहीं दिया। उत्तर-पश्चिम प्रान्त की बहाबी जाति के अफगानों ने रणजीतसिंह के विरुद्ध "जिहाद" (धर्मयुद्ध) छेड़ दिया था और अँग्रेजों को इसकी पूर्ण जानकारी भी मिल चुकी थी, फिर भी उन्होंने इसकी गतिविधियों को रोकने का प्रयत्न नहीं किया। वे चाहते थे कि पठान लोग रणजीतसिंह का विरोध करते रहें, जिससे उसकी शक्ति कमजोर होती जाय।

1831 के बाद दोनों पक्षों के मध्य कुछ ऐसी समस्याएँ आयीं, जिसमें अँग्रेजों के दबाव तथा धमकी के सामने रणजीतसिंह को घुटने टेकने पड़े, अर्थात् अपने हितों को त्यागकर उसे मित्रता निभाने के लिए विवश होना पड़ा। पहली समस्या सिन्ध की थी। रणजीतसिंह अपने राज्य के दक्षिण में स्थित सिन्ध क्षेत्र को अपने अधिकार में लेने की आशा रखता था। सिन्ध के अमीर अफगानिस्तान के शासक को अपना नाममात्र का शासक मानते थे, अन्यथा वे स्वतन्त्र शासकों की भाँति शासन कर रहे थे। उनके राज्य बहुत छोटे-छोटे थे और उनमें आपसी एकता का भी अभाव था। अतः वे रणजीतसिंह का सामना करने की स्थिति में नहीं थे। रणजीतसिंह का मानना था कि अमृतसर की सन्धि के द्वारा उसे केवल सतलज पार बढ़ने की मनाही थी। दक्षिण दिशा की ओर अपने राज्य का विस्तार करने के लिए वह स्वतन्त्र था। उधर अँग्रेज स्वयं सिन्ध पर अपना नियन्त्रण कायम करना चाहते थे। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होंने बर्न्स नामक अधिकारी को रणजीतसिंह के लिए कुछ भेंट-उपहार देकर सिन्ध नदी के द्वारा भेजा था। उसके इस मिशन का वास्तविक ध्येय सिन्ध की भौगोलिक तथा राजनीतिक स्थिति की पर्याप्त जानकारी प्राप्त करना था। इसके बाद 1831 ई. में कम्पनी के गवर्नर-जनरल लॉर्ड विलियम बेंटिक ने रोपर नामक स्थान पर महाराजा रणजीतसिंह से व्यक्तिगत मुलाकात की। इस मुलाकात के समय पुरानी मित्रता की दुहाई दी जाती रही। इसी समय अँग्रेज अधिकारी पोटिंगर सिन्ध के अमीरों से सन्धि करने के प्रयत्न में जुटा हुआ था। बेंटिक ने रणजीतसिंह को अपना वास्तविक इरादा नहीं बताया। उसे केवल इतना कहा गया कि सिन्ध के अमीरों के साथ कम्पनी के व्यापारिक सम्बन्ध तय हो गये हैं। अँग्रेजों ने इस सम्बन्ध में दोहरी चाल चली। रणजीतसिंह को बार-बार चेतावनी दी जाती रही कि पंजाब की सीमा को लाँघकर सिन्ध की तरफ बढ़ने का प्रयत्न न करे और सिन्ध के अमीरों से कहा गया कि रणजीतसिंह उनके राज्यों पर आक्रमण करने ही वाला है और उसके आक्रमण से बचने का एकमात्र रास्ता है—कम्पनी के संरक्षण में आना। फलस्वरूप सिन्ध के अमीर कम्पनी के चंगुल में फँस गये और रणजीतसिंह के हाथ से अवसर निकल गया।

इसी समय के आस-पास रणजीतसिंह ने शिकारपुर पर अधिकार जमाने का प्रयत्न किया, परन्तु अँग्रेजों ने उसे ऐसा करने से मना कर दिया। 1832 ई. में अँग्रेजों ने फिरोजपुर पर अधिकार कर लिया। यद्यपि वे फिरोजपुर पर रणजीतसिंह के दावे को पहले स्वीकार कर चुके थे। अँग्रेजों के लिए फिरोजपुर सैनिक दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि यह रणजीतसिंह की राजधानी लाहौर से केवल 40 मील दूर था और यहाँ से लाहौर पर धावा मारना बहुत आसान था। अँग्रेजों

के इस शत्रुतापूर्ण कार्य को भी रणजीतसिंह ने चुपचाप सहन कर लिया, जिससे उसकी विवशता स्पष्ट हो जाती है।

अन्तिम महत्त्वपूर्ण समस्या अफगानिस्तान की थी। 1809 ई. में अफगानिस्तान के तत्कालीन शासक शाहशुजा को उसके भाई मुहम्मदशाह ने पदच्युत करके सिंहासन पर कब्जा कर लिया था। शाहशुजा भागकर भारत चला आया और अँग्रेजों की शरण में रहने लगा। 1819 ई. में उसने काश्मीर के गवर्नर की सहायता से अफगानिस्तान का सिंहासन पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे सफलता न मिली। पेशावर पर अपना अधिकार जमा लेने के बाद रणजीतसिंह ने शाहशुजा को अफगानिस्तान का सिंहासन पुनः दिलवाने में उसकी सहायता करने का प्रस्ताव रखा। परन्तु अँग्रेजों की रुचि न देखकर शाहशुजा ने उसके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। 1832 ई. तक अफगानिस्तान की परिस्थितियाँ पुनः शाहशुजा के अनुकूल होने लगीं। रणजीतसिंह ने पुनः शाहशुजा को सैनिक सहायता देना स्वीकार कर लिया। परन्तु अफगानिस्तान के तत्कालीन शासक दोस्त मुहम्मद ने शुजा को परास्त करके खदेड़ दिया। 1836-37 ई. में दोस्त मुहम्मद ने रूस से मैत्री बढ़ाना शुरू किया, जिससे अँग्रेज घबरा गये और उन्होंने शाहशुजा को अफगानिस्तान के सिंहासन पर बैठाने का फैसला किया परन्तु इसके लिए रणजीतसिंह के सहयोग की आवश्यकता थी। फलस्वरूप 26 जून, 1838 को अँग्रेजों, शाहशुजा और रणजीतसिंह के बीच सन्धि हो गई। सन्धि के अनुसार शाहशुजा को अफगानिस्तान का शासक बनाना तय हुआ। शाहशुजा ने सिन्ध तथा अफगानिस्तान में रणजीतसिंह द्वारा अधिकृत क्षेत्रों पर से अपना दावा छोड़ दिया। परन्तु बाद में अँग्रेजों ने रणजीतसिंह को कहा कि शिकारपुर पर उसका दावा स्वीकार नहीं किया जायेगा और न ही जलालाबाद पर अधिकार जमाने की अनुमति दी जायेगी। इस पर रणजीतसिंह ने सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। तब अँग्रेजों ने उसे धमकी दी कि यदि वह हस्ताक्षर नहीं करेगा तो अँग्रेज अपनी तरफ से इस योजना को कार्यान्वित कर देंगे। विवश होकर रणजीतसिंह को विष का घूँट पीना पड़ा और बड़ी अनिच्छा से उसने सन्धि पर हस्ताक्षर किये। सत्य तो यह है कि अफगानिस्तान के प्रति किसी भी ब्रिटिश नीति से रणजीतसिंह को खुशी नहीं हो सकती थी, क्योंकि वह स्वयं अफगानिस्तान को नियन्त्रित करना चाहता था। परन्तु दूसरी तरफ अँग्रेज भी ऐसा ही चाहते थे। उन्हें एक तरफ तो रूस का भय लग रहा था और दूसरी तरफ वे सिक्खों के शत्रु अफगानों से मैत्री करके सिक्खों को भी अपने इशारों पर नचाना चाहते थे।

रणजीतसिंह का मूल्यांकन—एक महान् सेनानायक, संगठनकर्त्ता और प्रशासक के रूप में रणजीतसिंह का भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी शक्ति के उत्कर्ष के पूर्व सम्पूर्ण पंजाब तथा उत्तर-पश्चिमी प्रदेश राजनीतिक अस्थिरता से रोगग्रस्त था। सिक्खों की बारह मिसलें अपना-अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने के लिए आपस में संघर्षरत थीं और उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त अफगानों के आपसी कलह से पीड़ित था। सिक्खों और अफगानों के आपसी युद्धों ने सामान्य जन-जीवन को ही अस्त-व्यस्त कर दिया था। ऐसी परिस्थितियों में एक छोटी-सी मिसल का सरदार रणजीतसिंह सभी मिसलों को एकता के सूत्र में आबद्ध करके पंजाब में एक शक्तिशाली

सिक्ख राज्य की स्थापना के महान् कार्य में जुट गया और अन्त में वह अपने ध्येय में सफल रहा। इसी से उसकी सैनिक प्रतिभा और संगठनकर्त्ता की योग्यता स्पष्ट हो जाती है।

जिस अफगान शक्ति ने मुगल साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करके पंजाब तक के भू-भाग पर अपना शासन स्थापित कर लिया था,उनसे संघर्ष करना और उन्हें परास्त करके भारतीय क्षेत्रों से उनके प्रभाव का अन्त करना—यह सामान्य उपलब्धि न थी। यदि रणजीतसिंह अफगानों पर निर्णायक विजय प्राप्त करने में असफल रहा होता तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि काश्मीर, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त और पंजाब पर अफगानों का शासन हमेशा के लिए सुदृढ़ हो जाता। इससे अँग्रेजों की कठिनाई भी बढ़ जाती। रणजीतसिंह की उपलब्धियों का अँग्रेजों ने पूरा लाभ उठाया। उन्हें अनायास ही एक विशाल संगठित क्षेत्र प्राप्त हो गया। इससे भी बढ़कर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रणजीतसिंह की विजयों ने भारत की कमजोर समझी जाने वाली उत्तर-पश्चिमी सीमा को सुदृढ़ बना दिया।

रणजीतसिंह ने गुरु गोविन्दसिंह के अधूरे कार्य को पूरा किया। उसने सिक्खों में आत्मविश्वास पैदा किया। उन्हें संगठित करके उनका एक राष्ट्रीय शक्ति के रूप में रूपान्तरण कर दिया। बिखरे हुए सिक्खों को संगठित करके सैनिक विजयों के द्वारा एक शक्तिशाली विशाल सिक्ख राज्य की स्थापना करना,रणजीतसिंह का ही काम था। इसके लिए रणजीतसिंह को सैनिक प्रशासन में महत्त्वपूर्ण सुधार लागू करने पड़े। उसने एलार्ड तथा वेन्चुरा जैसे योग्य एवं निष्ठावान यूरोपीय सेनानायकों को नियुक्त किया और सिक्ख सेना को पश्चिमी पद्धति से प्रशिक्षण दिलवाया। रणजीतसिंह की विशेषता इस बात में है कि उसने यूरोपीय सैनिक अधिकारियों को निष्ठावान बने रहने के लिए विवश कर दिया। अन्यथा अनेक भारतीय शासकों ने भी यूरोपियनों की सेवाएँ प्राप्त कीं, परन्तु समय आने पर वे विश्वासपात्र सिद्ध न हुए। सेना को गोला-बारूद तथा अस्त्र-शस्त्र के लिए अन्य शक्तियों पर निर्भर न रहना पड़े, इसके लिए उसने कई कारखाने स्थापित करवाये।

रणजीतसिंह ने बिना किसी भेदभाव के सभी लोगों को राज्य के उच्च पद प्रदान किये। परन्तु सिक्खों पर नियन्त्रण बनाये रखने के लिए उसने डोगरे-राजपूतों और यूरोपियनों को अधिक सुविधाएँ प्रदान कीं। इसका एक बुरा परिणाम यह निकला कि उसके दरबार में दलबन्दी शुरू हो गई, जो सिक्ख राज्य के पतन का कारण बन गई। एक अन्य दोष, सेना को अधिक महत्त्व देना था। सैनिक अधिकारियों को अधिक महत्त्व देकर उसने असैनिक अधिकारियों का प्रभाव गौण बना दिया। इससे राज्य की राजनीति में उनका प्रभाव बढ़ गया। उनका बढ़ता हुआ प्रभाव अन्त में राज्य के पतन का कारण बना।

अँग्रेजों के प्रति रणजीतसिंह ने जो नीति अपनाई, उसके औचित्य पर विद्वानों को काफी सन्देह रहा है। कुछ का मानना है कि जब तक रणजीतसिंह अपनी सत्ता का दृढ़ीकरण नहीं कर पाया था, तब तक तो उसकी नीति ठीक मानी जा सकती है, परन्तु उसके बाद उसे टकराव की नीति अपनानी चाहिए थी। उन लोगों का यह भी मानना है कि रणजीतसिंह अँग्रेजों की शक्ति से भयभीत था। डॉ. एन.के. सिन्हा ने तो यहाँ तक लिखा है कि रणजीतसिंह घोड़ा था और अँग्रेज घुड़सवार। जैसे घुड़सवार अपनी इच्छानुसार घोड़े को हाँक ले जाता है, वैसे ही अँग्रेज रणजीतसिंह

से कार्य करवाते रहे। वस्तुतः रणजीतसिंह अँग्रेजों की नीति का सही मूल्यांकन नहीं कर पाया या सही कदम उठाने से चूक गया।

फिर भी, इस बात में कोई सन्देह नहीं कि रणजीतसिंह अपने समय का एक महान् नेता, सेनानायक और प्रशासक था। अनपढ़ होते हुए उसने अपने राज्य के सभी लोगों के कल्याण की तरफ ध्यान दिया और बिना किसी भेद-भाव के सभी के लिए राजकीय सेवाओं का द्वार उन्मुक्त रखा। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह कट्टर सिक्ख था, परन्तु एक शासक के रूप में उसने धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। वैसे रणजीतसिंह को विलासमय जीवन पसन्द था, फिर भी उसने कभी प्रशासनिक कार्यों की अवहेलना नहीं की। पढ़ा-लिखा न होते हुए भी वह विद्वानों का भारी आदर-सत्कार करता था। अपने इन्हीं गुणों के कारण वह अस्त-व्यस्त सिक्ख जाति को एक शक्तिशाली एवं सुसंगठित शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने में सफल रहा।

पंजाब का अँग्रेजी राज्य में विलय

प्रथम सिक्ख युद्ध (1845-46)

27 जून, 1839 को रणजीतसिंह की मृत्यु हो गई। रणजीतसिंह की मृत्यु के साथ ही केन्द्रीय शासन का प्रभाव क्षीण हो गया, क्योंकि रणजीतसिंह ने जिस ढँग की शासन-व्यवस्था स्थापित की थी, उसे प्रभावकारी ढँग से चलाने के लिए शासक में व्यक्तिगत योग्यता का होना आवश्यक था। दुर्भाग्यवश रणजीतसिंह का कोई भी उत्तराधिकारी उस आवश्यक योग्यता को प्रमाणित न कर पाया। राजा की बात छोड़िये, राजा के किसी भी मन्त्री, सेनानायक अथवा अधिकारी ने भी वैसी योग्यता का परिचय नहीं दिया। राज्य के प्रमुख सरदारों तथा अधिकारियों ने अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए कुचक्र, षड्यन्त्र तथा हत्याओं का सहारा लिया, जिससे राज्य में भय और आतंक का वातावरण व्याप्त हो गया। जब राजनीतिज्ञों ने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए सिक्ख सेना को आर्थिक सुविधाएँ एवं प्रलोभन देकर उसका समर्थन प्राप्त करने का प्रयास किया तो सेना को राजनीति पर हावी होने का अवसर प्राप्त हो गया। सेना ने भी अपनी सहायता का मूल्य बढ़ा दिया और अब उसका समर्थन उस किसी भी नेता को प्राप्त हो सकता था, जो उसे अधिक से अधिक लाभ पहुँचाने का वायदा करे। ऐसी स्थिति में राजनीति और शासन पर सेना का प्रभाव बढ़ना स्वाभाविक ही था। जब सिक्ख राजनेता सेना के अनियन्त्रित प्रभाव से दुःखी हो गये तो उन्होंने सेना की शक्ति कमजोर बनाने का षड्यन्त्र रचा। इस षड्यन्त्र का ध्येय था—सिक्ख सेना को अँग्रेजों से भिड़ाकर परास्त करवाना। इसी षड्यन्त्र के फलस्वरूप प्रथम सिक्ख युद्ध आरम्भ हुआ था। प्रथम सिक्ख युद्ध के मूल कारण निम्नलिखित थे—

(1) रणजीतसिंह के कमजोर उत्तराधिकारी—रणजीतसिंह के सात पुत्र थे और उनमें से प्रत्येक महाराजा बनने का स्वप्न देखा करता था। रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र खड़कसिंह गद्दी पर बैठा, यद्यपि उसके भाई शेरसिंह ने अँग्रेजों से साँठ-गाँठ करके गद्दी प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। खड़कसिंह एक अयोग्य एवं विलासी व्यक्ति था, अतः उसने शासन सम्बन्धी कार्यों में कभी रुचि नहीं ली। परन्तु खड़कसिंह का युवा पुत्र नौनिहालसिंह योग्य एवं

महत्त्वाकांक्षी था। उसने शीघ्र ही शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। वह सिक्ख राज्य में डोगरा सरदारों के प्रभाव को समाप्त करना चाहता था, क्योंकि उसके अनुसार वे शेरसिंह के समर्थक थे। नवम्बर, 1840 में खड़कसिंह की मृत्यु हो गयी और उसके दाह-संस्कार से लौटते समय एक दर्दनाक दुर्घटना में उसका लड़का नौनिहालसिंह घायल होकर उसी रात मर गया। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वह दुर्घटना डोगरा सरदार गुलाबसिंह के षड्यन्त्र का परिणाम थी। खड़कसिंह और नौनिहालसिंह की मृत्यु के बाद सिक्ख राज्य की राजनीतिक गतिविधियों में तेजी आ गयी। डोगरा सरदारों ने रणजीतसिंह के पुत्र शेरसिंह का पक्ष लिया तो सिंघनवालिया सिक्ख सरदारों ने खड़कसिंह की विधवा चांदकौर को गर्भवती बताया तथा पुत्र होने तक उसे संरक्षिका के रूप में कार्य करने का प्रस्ताव किया। दोनों ही पक्षों ने अँग्रेजों से सहायता प्राप्त करने का प्रयास किया, जिससे अँग्रेजों को पंजाब की राजनीति में सक्रिय भाग लेने का अवसर मिल गया। उन्होंने शेरसिंह को अपना गुप्त समर्थन दिया। शेरसिंह ने सेना के एक भाग को अधिक वेतन का लालच देकर अपनी ओर मिलाया और उसकी सहायता से लाहौर पर अधिकार कर गद्दी पर बैठ गया। शेरसिंह ने सेना को प्रलोभनकारी राजनीति में घसीटकर सिक्ख राज्य के पतन का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

शेरसिंह एक अयोग्य शासक था। वह राज्य की बिगड़ती हुई स्थिति को न सम्भाल सका। उधर अँग्रेजों ने भी सिक्ख राज्य को कमजोर बनाने की तरफ विशेष ध्यान दिया। अँग्रेजों के कहने पर सिंघनवालिया सरदारों को पुनः दरबार में स्थान दिया गया, जो डोगरा सरदारों के शत्रु थे। फलस्वरूप अब सिंघनवालिया व डोगरा सरदारों में संघर्ष आरम्भ हो गया। 1842 में डोगरा सरदारों ने चाँदकौर को कत्ल कर दिया तब सिंघनवालिया सरदारों ने सितम्बर, 1843 में शेरसिंह और उसके पुत्र प्रतापसिंह की हत्या करवा दी। अब सिक्ख राज्य में हत्याओं का सिलसिला चल पड़ा। ध्यानसिंह के लड़के हीरासिंह ने सेना की सहायता से लाहौर पर अधिकार कर अनेक सिंघनवालिया सरदारों को मौत के घाट उतार दिया। हीरासिंह के समर्थन से रणजीतसिंह के नौ वर्षीय पुत्र दिलीपसिंह को गद्दी पर बैठाया गया तथा रणजीतसिंह की विधवा रानी जिंदन (झिण्डन) को दिलीपसिंह की संरक्षिका नियुक्त किया गया। कुछ दिनों तक तो रानी और हीरासिंह के सम्बन्ध अच्छे रहे। परन्तु रानी का चरित्र सन्देहपूर्ण था। सरदार लालसिंह के साथ उसका प्रेम चर्चा का विषय बन चुका था। अब रानी जिन्दन शासन में हीरासिंह का प्रभाव समाप्त करना चाहती थी। अतः उसने 21 दिसम्बर, 1844 को हीरासिंह की हत्या करवा दी। अब शासन की बागडोर रानी के भाई और वजीर जवाहरसिंह तथा रानी के प्रेमी लालसिंह के हाथों में चली गई। परन्तु उन दोनों में इतनी योग्यता नहीं थी कि वे राज्य की बिगड़ती हुई स्थिति को सुधार सकें। रणजीतसिंह के कमजोर एवं अयोग्य उत्तराधिकारियों के कारण राज्य की शक्ति और समृद्धि शनैः-शनैः समाप्त होती जा रही थी और उधर शक्तिशाली अँग्रेज पंजाब को हथियाने को तैयार बैठे थे।

(2) सरदारों का आपसी संघर्ष—सिक्ख राज्य की बिगड़ती हुई स्थिति के लिए राज्य के प्रमुख सरदारों का आपसी आत्मघातक संघर्ष और सेना का बढ़ता हुआ प्रभाव, काफी अंश

तक जिम्मेदार थे। रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद राज्य में जम्मू के डोगरा राजपूत सरदारों और सिंघनवालिया सिक्ख सरदारों का महत्त्व बढ़ गया था। परन्तु ये दोनों एक दूसरे के विरोधी थे और एक-दूसरे के बढ़ते हुए प्रभाव को समाप्त करना चाहते थे। डोगरा राजपूतों का नेतृत्व तीन भाइयों—ध्यानसिंह, सुचेतसिंह और गुलावसिंह—के हाथों में था। सतलज से लेकर काश्मीर तक राज्य डोगरों के अधिकार में था, जिससे वे काफी समृद्ध बन चुके थे और अपनी शक्तिशाली सेना संगठित कर ली थी। इसमें भी ध्यानसिंह काफी चतुर एवं पराक्रमी था और रणजीतसिंह ने उसे अपना वजीर नियुक्त किया था। अपनी मृत्यु के पूर्व रणजीतसिंह उसे अपने पुत्र खड़कसिंह का वजीर तथा प्रमुख सलाहकार नियुक्त कर गया था। सिंघनवालिया सरदारों का नेतृत्व अजीतसिंह और अत्तरसिंह के हाथों में था। वे लोग अँग्रेजों से मिले हुए थे। उनके पास भी विस्तृत जागीरें थीं, परन्तु सेना में उनका विशेष प्रभाव न था। 1843 ई. में उन्होंने महाराजा शेरसिंह और उसके पुत्र प्रतापसिंह तथा वजीर ध्यानसिंह को मौत के घाट उतारकर शासन की वागडोर अपने हाथ में लेने का प्रयास किया, परन्तु ध्यानसिंह के लड़के हीरासिंह ने उनकी योजना को विफल बना दिया और वह स्वयं वजीर बन गया। वजीर बनने के बाद हीरासिंह ने सिंघनवालिया सरदारों से अपने पिता की हत्या का बदला लिया। फलस्वरूप अजीतसिंह, लहनासिंह और लगभग 600 सिंघनवालिया समर्थकों को मौत के घाट उतार दिया गया। इस प्रकार सरदारों के आपसी संघर्ष के परिणामस्वरूप अनेक योग्य नेताओं को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। 1844 ई. में हीरासिंह की हत्या कर दी गई।

(3) सिक्ख सेना का राजनीति में प्रवेश—महाराजा रणजीतसिंह के शासनकाल में सिक्ख सेना अपने शासक के प्रति निष्ठावान रही, परन्तु उसके कमजोर उत्तराधिकारियों के शासनकाल में सिक्ख सेना प्रशासन पर हावी होती चली गई। शेरसिंह से लेकर दिलीपसिंह तक सभी महाराजाओं, मन्त्रियों और सरदारों ने अपनी स्थिति एवं सत्ता बनाए रखने के लिए सेना का सहयोग प्राप्त करने का जी-तोड़ प्रयत्न किया और इस सहयोग की ऊँची कीमत चुकाने का आश्वासन दिया। परिणाम यह निकला कि अब सेना का समर्थन उसी को मिलने लगा, जो अधिक कीमत चुका सकता था या चुकाने का आश्वासन दे। 1841 ई. में जब सिक्खों को यह जानकारी मिली कि अँग्रेज सतलज पार करने की योजना बना रहे हैं तो महाराजा शेरसिंह घबरा गया और उसने सेना के प्रत्येक यूनिट से दो-दो प्रतिनिधियों को बुलाकर उनसे सलाह-मशवरा शुरू किया। यहीं से शासन पर सेना का प्रभाव बढ़ने लगा। अब स्वयं सेना ने अपनी एक पंचायत "खालसा-पंचायत" बना ली और उसी के द्वारा अपने निर्णय स्वयं करने लगी। इससे सेना पर महाराजा और उसके मन्त्रियों का प्रभाव समाप्त हो गया। सेना ही शासन का प्रमुख स्तम्भ बन गई। दुर्भाग्यवश अधिकांश योग्य सेनानायकों—मुखमसिंह, दीवानचन्द, रामदयाल, हरिसिंह नलवा आदि का देहान्त महाराजा रणजीतसिंह के जीवनकाल में ही हो गया था। अब जो सेनानायक बचे थे, उनमें राज्य के प्रति निष्ठा और ईमानदारी का अभाव तो था ही, परन्तु युद्ध-कौशल एवं योग्यता का भी अभाव था। रानी जिंदन तथा उसके समर्थक सरदारों को सेना का प्रभाव पसन्द न आया और उन्होंने सेना की शक्ति को नष्ट करने का फैसला किया। परिणामस्वरूप उन्हें सतलज पार करने को उकसाया गया और प्रथम सिक्ख युद्ध की शुरूआत हुई।

(4) अँग्रेजों की नीति—महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु के साथ ही अँग्रेजों की नीति में परिवर्तन आ गया और वह पंजाब को अपने साम्राज्य में मिलाने का स्वप्न देखने लगे। जनवरी, 1840 ई. में ही आकलैण्ड ने सिक्खों से लड़ने की इच्छा व्यक्त की थी। परन्तु चूँकि अभी तक सिक्ख सरदारों ने अँग्रेजों के प्रत्येक आदेश का पालन किया था, अतः अँग्रेजों के पास लड़ाई छेड़ने का कोई बहाना न था। अँग्रेज चाहते थे कि पंजाब में ऐसा वातावरण तैयार किया जाय, जिससे उनके आक्रमण का औचित्य सिद्ध हो सके और इंगलैण्ड का लोकमत भी उससे अप्रसन्न न हो। तदनुसार उन्होंने गुलाबसिंह, लालसिंह, तेजसिंह जैसे स्वार्थी सरदारों से साँठ-गाँठ करके कुचक्र रचने शुरू कर दिये।

1842 ई. में लॉर्ड एलनबरो के गवर्नर-जनरल बनकर आते ही ब्रिटिश सरकार ने पंजाब की तरफ विशेष ध्यान देना शुरू कर दिया, क्योंकि प्रथम अफगान युद्ध में अँग्रेजों को भारी अपमान तथा हानि उठानी पड़ी थी और पंजाब में भी अराजकता फैली हुई थी। ऐसी स्थिति में भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा काफी कमजोर प्रतीत हो रही थी। यही कारण है कि मार्च, 1842 ई. में ड्यूक ऑफ वेलिंगटन ने एलनबरो को यह सुझाव दिया कि वह सतलज नदी पर सबसे कमजोर स्थल पर सेना एकत्र करे तथा फिरोजपुर और लुधियाना की सुरक्षा का पुख्ता इन्तजाम करे। तदनुसार एलनबरो ने सरहिन्द पर 15,000 सैनिकों को तैनात करने के आदेश जारी कर दिये। इसके बाद एलनबरो सिक्ख सेना में असन्तोष पैदा करने में लगा रहा और अपने अधिकारियों से विचार करता रहा कि पंजाब में व्याप्त अव्यवस्था का लाभ उठाने के लिए ब्रिटिश सरकार को किस प्रकार की नीति अपनानी चाहिए। इससे साफ जाहिर है कि सतलज के पार घटने वाली घटनाओं तथा उनसे उत्पन्न कठिनाइयों के प्रति ब्रिटिश सरकार पूर्ण रूप से सतर्क थी। सिक्खों से युद्ध निश्चित था, परन्तु ब्रिटिश सरकार पूरी तैयारी के बाद युद्ध करने के पक्ष में थी। अतः सतलज क्षेत्र में सेना की संख्या में वृद्धि की जाती रही। 1845 ई. में सतलज सीमा पर 40,000 से अधिक अँग्रेज सेना और 94 तोपें तैनात की जा चुकी थीं। अब उन्हें किसी बहाने की आवश्यकता थी, जिसके आधार पर युद्ध शुरू किया जा सके, क्योंकि उन्हें अब भी इंगलैण्ड के लोकमत का भय बना हुआ था।

रणजीतसिंह की मृत्यु के तुरन्त बाद से ही अँग्रेजों ने पंजाब को जीतने का मानस बना लिया था। इसके लिए उन्होंने तैयारी भी शुरू कर दी और धीरे-धीरे सतलज की सीमा पर सैनिकों और तोपों का भारी जमाव करना शुरू कर दिया। सिक्ख सेना से अँग्रेजों की यह कार्यवाही छिपी न रह सकी और उसे अँग्रेजों की नीयत में सन्देह होने लग गया। जब ब्रिटिश सरकार ने सतलज के पूर्वी तट पर लाहौर सरकार के अधिकृत क्षेत्रों को अपने अधिकार में ले लिया तो सिक्ख सेना में उत्तेजना फैल गई। सिक्ख सेना को भड़काने में लालसिंह एवं तेजसिंह जैसे नेताओं, सिक्ख तोपखाने का संचालक कैप्टन गार्डनर जो कि गुप्त रूप से अँग्रेजों से मिला हुआ था और ब्रिटिश एजेण्ट ब्रोडफुट ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। फरवरी, 1845 ई. में जब सिन्धु नदी के द्वारा सैनिक नावों का एक शक्तिशाली बेड़ा फिरोजपुर पहुँच गया तो सिक्ख सेना का संयम जाता रहा।

युद्ध का आरम्भ—नवम्बर, 1845 में अँग्रेजों ने लुधियाना के निकटवर्ती दो गाँवों पर अचानक अधिकार कर लिया। ये दोनों गाँव सिक्ख राज्य के अधिकार में थे। अँग्रेजों ने इन गाँवों पर अधिकार करते समय यह तर्क दिया कि इन गाँवों में ब्रिटिश अपराधी छिपे हुए हैं और उनको पकड़ने के लिए यह सैनिक कार्यवाही की गई है। इसके तुरन्त वाद गवर्नर-जनरल हार्डिग भी सतलज की तरफ बढ़ने लगा। 7-8 दिसम्बर को हार्डिग ने मेरठ, अम्बाला आदि स्थानों में तैनात अँग्रेजी सेना को फिरोजपुर पहुँचने के आदेश प्रसारित कर दिए। अँग्रेजी सेना की इन गतिविधियों ने सिक्ख सेना को उत्तेजित कर दिया। इस सन्दर्भ में कनिंघम ने लिखा है कि "यदि सिक्ख सेनाओं ने अँग्रेजों की सैनिक तैयारी न देखी होती तो वे लालसिंह और तेजसिंह जैसे नेताओं के बहकावे में न आतीं।" लालसिंह इस समय सिक्ख राज्य का वजीर और तेजसिंह सेनापति था। ये दोनों नेता अँग्रेजों की राय से काम कर रहे थे और दोनों ही सिक्ख सेना को परास्त करवाना चाहते थे, ताकि वाद में अँग्रेजों की सहायता से वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को पूरा कर सकें। 11-12 दिसम्बर को सिक्ख सेना ने सतलज नदी को पार किया और हार्डिग ने तुरन्त युद्ध की घोषणा कर दी। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि सतलज को पार करके सिक्ख सेना अपने ही क्षेत्र में रही। उसने अँग्रेजों के संरक्षित क्षेत्र में प्रवेश नहीं किया था। इससे अँग्रेज लेखकों की यह बात गलत सिद्ध हो जाती है कि सिक्खों ने अँग्रेजों पर आक्रमण किया था, इसलिए अँग्रेजों को युद्ध लड़ना पड़ा। **कैम्पवैल** ने लिखा है कि, "इतिहास में यह लिखा हुआ है कि सिक्ख सेना ने हम पर आक्रमण करने के संकल्प के साथ ब्रिटिश क्षेत्र पर आक्रमण किया, परन्तु अधिकांश व्यक्तियों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि उन्होंने ऐसा कोई काम नहीं किया। उन्होंने न तो हमारी सीमावर्ती छावनियों पर आक्रमण किया और न ही हमारे क्षेत्र में प्रवेश किया। उन्होंने केवल नदी पार करके अपनी ही सीमा में अपना अड्डा जमा लिया था।" गवर्नर-जनरल हार्डिग के एक मित्र रावर्ट एन. कास्ट ने अँग्रेजों की कार्यवाही को "पंजाब के स्वतन्त्र राज्य पर पहला आक्रमण" वतलाया था।

सिक्खों और अँग्रेजों के मध्य पहली टक्कर 18 दिसम्वर, 1845 के दिन फिरोजपुर के निकट मुदकी नामक स्थान पर हुई। इसमें सिक्ख सेना के अग्रिम दस्ते के 2,000 सैनिकों ने ही भाग लिया था। सिक्ख सेना को पीछे हटना पड़ा, परन्तु उन्होंने अँग्रेजों को काफी नुकसान पहुँचाया और अँग्रेजों को भी मालूम हो गया कि रणजीतसिंह जिस प्रशिक्षित सेना को छोड़ गया है, उसे पराजित करना आसान काम नहीं है। 21 दिसम्वर को फिरोजशाह नामक स्थान पर दूसरा युद्ध लड़ा गया। सिक्खों ने अँग्रेजों के आक्रमण को विफल बना दिया। उनके तोपखाने ने अँग्रेजों के हौंसले पस्त कर दिये थे और अँग्रेजों को अपनी पराजय का पूरा विश्वास हो गया था, परन्तु लालसिंह ने सिक्ख सेना को लाभ नहीं उठाने दिया। पीछे हटती हुए अँग्रेज सेना का पीछा करने के स्थान पर लालसिंह सेना सहित युद्ध मैदान में वापस लौट गया। इस प्रकार जीता हुआ युद्ध पराजय में वदल गया। इस सन्दर्भ में **मैलीसन** ने लिखा है कि फिरोजशाह का युद्ध अँग्रेजों ने हारने के वाद जीता था। इस समय अँग्रेजों की स्थिति ठीक नहीं थी। उसका गोला-वारूद भी समाप्त हो गया था और यदि सिक्ख सेना को इसी समय युद्ध का आदेश दे दिया गया होता तो अँग्रेजों की पराजय निश्चित थी। परन्तु विश्वासघाती नेताओं ने उन्हें इतना समय दे दिया कि

वे लोग गोला-बारूद एकत्र करके अपनी स्थिति को मजबूत बना सकें। फिर भी, 21 जनवरी, 1846 ई. को दोनों पक्षों के मध्य अलीवाल बुदवाल नामक स्थान पर जो युद्ध हुआ; उसमें अँग्रेजों की पराजय हुई। तेजसिंह ने अवसर का लाभ नहीं उठाया और सिक्ख सेना को पीछे हटा लिया। 10 फरवरी, 1846 ई. को सोबराव नामक स्थान पर अन्तिम युद्ध लड़ा गया, जिसमें सिक्ख सेना की पराजय हुई। इसमें अँग्रेजी सेना का सम्मान भी बच गया। 13 फरवरी को अँग्रेजी सेना ने सतलज को पार किया और 20 फरवरी को लाहौर पर उसने कब्जा कर लिया। सिक्खों को विवश होकर सन्धि करनी पड़ी।

लाहौर की सन्धि (1846)—9 मार्च, 1846 ई. को दोनों शक्तियों के मध्य लाहौर की सन्धि सम्पन्न हुई। सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए महाराजा दिलीपसिंह को गवर्नर-जनरल के खेमे में लाया गया। इस सन्धि के अन्तर्गत मुख्य रूप से निम्न बातें तय की गईं—

1. पंजाब के सिक्ख राज्य ने सतलज नदी के दक्षिणी प्रदेशों पर से अपना अधिकार त्याग दिया और वे प्रदेश कम्पनी के सुपुर्द कर दिए गए।

2. सतलज एवं व्यास नदी के बीच का जलन्धर, दोआब तथा इसमें स्थित सभी किलों पर से महाराजा दिलीपसिंह ने अपना अधिकार हटा लिया और इस पर कम्पनी का अधिकार स्वीकार कर लिया गया।

3. पंजाब राज्य पर $1\frac{1}{2}$ करोड़ रुपया युद्ध का हर्जाना थोप दिया गया। पंजाब राज्य ने 50 लाख रुपया चुकाने का आश्वासन दिया और 1 करोड़ के बदले में हजारा एवं काश्मीर के प्रदेश कम्पनी को सौंप दिये।

4. सिक्ख सेना की संख्या निश्चित कर दी गई। अब पंजाब राज्य के लिए 12,000 घुड़सवार और 20,000 पदाति सैनिक से अधिक सेना रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। युद्ध के दौरान सिक्खों ने कम्पनी की जो तोपें छीन ली थीं, उन्हें वापिस लौटा दिया। पंजाब के तोपखानों को भी सीमित कर दिया गया।

5. दिलीपसिंह को पंजाब का महाराजा, रानी जिंदन को उसकी संरक्षिका और लालसिंह को उसका वजीर स्वीकार किया गया।

6. पंजाब राज्य ने कम्पनी की पूर्व स्वीकृति के बिना किसी भी यूरोपियन अथवा अमेरिकन को अपनी सेना में न रखने का वचन दिया।

7. कम्पनी की सेना को स्वतन्त्रतापूर्वक पंजाब के एक भाग से दूसरे भाग में आने-जाने की स्वीकृति दी गयी। पंजाब दरबार में एक अँग्रेज रेजीडेण्ट नियुक्त करने की बात मान ली गई। सर हेनरी लॉरेन्स को इस पद पर नियुक्त किया गया। कम्पनी ने पंजाब के आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया।

अक्टूबर, 1846 ई. में कम्पनी ने काश्मीर तथा उसके आस-पास के क्षेत्र को डोगरा सरदार गुलाबसिंह को एक करोड़ रुपये में बेच दिया। इस प्रकार विश्वासघाती गुलाबसिंह को उसकी सेवाओं के लिए पुरस्कृत किया गया और उसे एक विशाल प्रदेश का शासक बना दिया गया।

इससे वजीर लालसिंह को ईर्ष्या उत्पन्न हो गई और उसने काश्मीर के गवर्नर इमामुद्दीन को गुलाबसिंह के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उकसाया। कम्पनी ने अपनी सेना भेजकर इमामुद्दीन के विद्रोह को कुचल दिया और जाँच-पड़ताल के वाद पता चला कि इस विद्रोह को भड़काने में लालसिंह का हाथ था तो कम्पनी ने उसे वजीर पद से हटा दिया। इस घटना से सिक्ख सरदारों ने सोचा कि यदि अँग्रेज पंजाब से हट गये तो पंजाब में पुनः अराजकता पैदा हो जायेगी। अतः 15 दिसम्बर, 1846 को एक आम दरबार में सिक्खों ने यह तय किया कि महाराजा दिलीपसिंह के वयस्क होने तक शासन सत्ता के समस्त अधिकार अँग्रेज एजेण्ट को सौंप दिए जायँ। तदनुसार कम्पनी से प्रार्थना की गई कि वह लाहौर की सन्धि में पर्याप्त संशोधन करे।

भेरोवाल की सन्धि—सिक्ख सरदारों के अनुरोध पर 30 दिसम्बर, 1846 को पंजाब राज्य तथा कम्पनी के मध्य नयी सन्धि सम्पन्न हुई, जिसे 'भेरोवाल की सन्धि' कहा जाता है। कुछ विद्वान इसे लाहौर की द्वितीय सन्धि के नाम से भी पुकारते हैं। इसकी मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं—

1. महाराजा दिलीपसिंह के वयस्क होने तक पंजाब राज्य का शासन एक परिषद् को सौंपना तय किया गया। अँग्रेज रेजीडेण्ट को परिषद् का अध्यक्ष नियुक्त किया गया और उसे परिषद् के आठों सदस्य मनोनीत करने का अधिकार दे दिया गया। रानी जिंदन को राज्य प्रशासन से विल्कुल वंचित कर दिया गया।

2. कम्पनी की सेना को पंजाब में रखने का फैसला किया गया और इसके लिये पंजाब राज्य ने 22 लाख रुपया वार्षिक कम्पनी को देना तय किया।

परिणाम—सिक्खों के लिए प्रथम सिक्ख युद्ध के परिणाम बड़े घातक सिद्ध हुये। लाहौर की सन्धि के अनुसार सिक्ख राज्य की लगभग दो-तिहाई भूमि उसके अधिकार से निकल गई, जिसके परिणामस्वरूप उसे अपनी आय का बहुत बड़ा साधन और आबादी का हिस्सा खो देना पड़ा। अँग्रेजों ने जम्मू एवं काश्मीर में एक पृथक् डोगरा राज्य स्थापित करके रणजीतसिंह के विशाल राज्य को छिन्न-भिन्न करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। रणजीतसिंह द्वारा निर्मित विशाल सिक्ख सेना को अत्यधिक सीमित करके उसे कमजोर बना दिया गया। लाहौर दरबार में अँग्रेज रेजीडेण्ट की नियुक्ति से पंजाब राज्य की राजनीतिक स्वतन्त्रता को भी सीमित कर दिया। भेरोवाल की सन्धि ने इस राजनीतिक स्वतन्त्रता को विल्कुल ही समाप्त कर दिया। पंजाव की वास्तविक सत्ता अव अँग्रेजों के हाथ में आ गई। पंजाव अँग्रेजी सेना के नियन्त्रण में आ गया। पंजाव में कानून और व्यवस्था को बनाये रखने का दायित्व भी अब अँग्रेजी सेना ने ले लिया। वस्तुतः भेरोवाल की सन्धि से पंजाब का सैनिक और असैनिक शासन कम्पनी के हाथ में आ गया।

यदि कम्पनी चाहती तो सम्पूर्ण पंजाब को अपने साम्राज्य में मिला सकती थी, परन्तु गवर्नर-जनरल हार्डिग इस समय पंजाव को अँग्रेजी साम्राज्य में मिलाये जाने के विरुद्ध था। वह पंजाव को धीरे-धीरे अँग्रेजी साम्राज्य में मिलाना चाहता था और तव तक के लिए पंजाव का शासन स्थानीय सरदारों एवं ब्रिटिश रेजीडेण्ट के माध्यम से चलाने के पक्ष में था।

द्वितीय सिक्ख युद्ध (1848-49 ई.)

जनवरी, 1848 ई. में हार्डिंग के स्थान पर लॉर्ड डलहौजी नया गवर्नर-जनरल बनकर भारत आया। वह हार्डिंग की भाँति "प्रयोगात्मक सहनशीलता" की नीति में विश्वास रखने वाला व्यक्ति नहीं था। वह एक कट्टर साम्राज्यवादी था और भारत में ब्रिटिश सत्ता का विस्तार तथा सुदृढ़ीकरण चाहता था। उसके आने के कुछ महीनों बाद ही द्वितीय सिक्ख युद्ध छिड़ गया और पंजाब को अँग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया गया। द्वितीय सिक्ख युद्ध के कारण निम्नलिखित थे—

कारण—(1) अधिकांश सिक्खों का विश्वास था कि प्रथम सिक्ख युद्ध में उनकी पराजय का मूल कारण उनकी कम संख्या अथवा कमजोरी न होकर उनके नेताओं—लालसिंह, तेजसिंह और गुलावसिंह— की गद्दारी थी। सिक्खों का मानना था कि यदि अब भी संयुक्त होकर अँग्रेजों से युद्ध करें तो उन्हें परास्त करना कठिन न था। सभी चाहते थे कि रणजीतसिंह के सिक्ख राज्य को पुनः स्वतन्त्रता तथा स्थिरता प्रदान की जाय। इसके लिये अँग्रेजों को युद्ध में परास्त करना आवश्यक था।

(2) पंजाब में नियुक्त ब्रिटिश रेजीडेण्ड सर हेंनरी लॉरेन्स ने पंजाब के आन्तरिक मामलों में काफी हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया था। मुसलमानों को कुछ विशेष सुविधाएँ प्रदान की गईं, जो सिक्खों की धार्मिक भावना को पसन्द न आईं। सामाजिक क्षेत्र में किये जाने वाले सुधार भी परम्परावादी सिक्ख समाज को पसन्द न आये। भू-राजस्व व्यवस्था तथा जमींदारी व्यवस्था में जब मामूली परिवर्तन किए गये तो सिक्खों का असन्तोष और भी अधिक बढ़ गया और उन्होंने ब्रिटिश सत्ता को समाप्त करने का निश्चय किया।

(3) काश्मीर विद्रोह के बाद वजीर लालसिंह को पदच्युत करके बनारस भेज दिया गया था, परन्तु रानी जिंदन के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की गई थी। अब रानी पर अँग्रेज-विरोधी षड्यन्त्र रचने का आरोप लगाकर शासन से पृथक् कर दिया गया। उसे वार्षिक पेंशन देकर पंजाब के बाहर रहने पर विवश किया गया। इसे सिक्खों ने सम्पूर्ण जाति का अपमान समझा और अँग्रेजों के विरुद्ध कोई ठोस कदम उठाने की बात सोचने लगे।

(4) भैरोवाल की सन्धि के बाद जो नई संरक्षण-परिषद् बनाई गई थी, शासन के समस्त अधिकार ब्रिटिश रेजीडेण्ट के हाथ में आ गए थे और वह अपनी इच्छानुसार शासन चलाने लगा। ब्रिटिश रेजीडेण्ट ने शासन के उच्च्व पदों पर अँग्रेज अधिकारियों को नियुक्त करना शुरू कर दिया। इससे राज्य प्रशासन में अँग्रेजों का प्रभाव बढ़ने लगा और सिक्खों का प्रभाव कमजोर हो गया।

(5) लाहौर की सन्धि के अनुसार सिक्ख सेना में भारी कमी करने की शर्त रखी गई थी। ब्रिटिश रेजीडेण्ट हेनरी लॉरेन्स और उसके भाई जॉन लॉरेन्स ने सन्धि की शर्त को कार्यान्वित करते हुये हजारों सिक्ख सैनिकों की सेवाओं को समाप्त कर दिया। बचे हुए सैनिकों के वेतन में भी कमी कर दी गई, जिससे सैनिकों में असन्तोष व्याप्त हो गया और वे अँग्रेजों के विरुद्ध पुनः युद्ध करने की बात करने लगे।

(6) दीवान मूलराज का अँग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह, द्वितीय सिक्ख युद्ध का तात्कालिक क़ारण था। 1844 ई. में अपने पिता सावन्तमल की मृत्यु के बाद मूलराज मुल्तान का गवर्नर बना। लाहौर दरबार ने उससे उत्तराधिकार शुल्क के रूप में 30 लाख रुपये की माँग की, जिसके लिए मूलराज तैयार न हुआ। इस पर लाहौर दरबार ने दूसरा प्रस्ताव रखा, जिसके अनुसार जंग का जिला मुल्तान से पृथक् करने तथा मूलराज से पहले वर्ष में 19 लाख के स्थान पर 25 लाख रुपया और बाद में 30 लाख रुपया प्रतिवर्ष लेने का निर्णय किया गया। परन्तु मूलराज को यह प्रस्ताव भी पसन्द न आया और उसने सूबेदारी से त्याग-पत्र दे दिया। डॉ. एम.एस. जैन ने लिखा है कि "अगस्त, 1846 ई. में मुल्तान के गवर्नर मूलराज ने अपने जिले का वार्षिक लगान 19 लाख 6 हजार रुपये देना तय किया। लेकिन 1847 ई. में जॉन लॉरेन्स के सुधारों के फलस्वरूप वह इतना लगान नहीं दे सकता था। इसलिए दिसम्बर, 1847 ई. में उसने लॉरेन्स से लगान घटाने तथा उसके निर्णयों को बदलने का आग्रह किया। लॉरेन्स के न मानने पर उसने गवर्नरी से त्याग-पत्र दे दिया।" कारण जो भी रहा हो, मूलराज ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। परन्तु जॉन लॉरेन्स ने उसे कुछ महीने और कार्य करने को कहा। मूलराज ने लॉरेन्स के प्रस्ताव को इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि लॉरेन्स उसके त्याग-पत्र को गोपनीय रखेगा। अन्यथा लगान वसूली के काम में काफी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती थीं। कुछ दिनों के बाद लॉरेन्स के स्थान पर क्यूरी नया रेजीडेण्ट बनकर आया। उसने सार्वजनिक रूप से मूलराज के त्याग-पत्र को स्वीकार कर लिया और उसके स्थान पर सरदार खानसिंह मान को नया गवर्नर नियुक्त किया। उसकी सहायता के लिए दो अँग्रेज अधिकारियों—एग्नियू और एण्डरसन—को मुल्तान भेजा गया। 19 अप्रैल, 1848 को मूलराज ने शान्तिपूर्वक मुल्तान का किला खानसिंह को सौंप दिया, परन्तु उत्तेजित सैनिकों ने उसी दिन दोनों अँग्रेज अधिकारियों की हत्या कर दी। उसी दिन मूलराज ने भी विद्रोह कर दिया। इसलिए कुछ अँग्रेज इतिहासकारों ने इन हत्याओं में मूलराज का ही हाथ होने का आरोप लगाया है। परन्तु स्वयं डलहौजी ने यह स्वीकार किया था कि इसमें मूलराज का हाथ नहीं था और न ही विद्रोह की योजना थी।

लाहौर दरबार ने मुल्तान के विद्रोह को तुरन्त दबाने में अँग्रेजों को पूरा-पूरा सहयोग देने का आश्वासन दिया, परन्तु गवर्नर-जनरल डलहौजी ने जान-बूझकर इस विद्रोह को पंजाब के अन्य भागों में फैल जाने दिया, ताकि बाद में उसे पंजाब हथियाने का बहाना मिल सके। डलहौजी ने अगस्त, 1848 ई. में ही पंजाब को अँग्रेजी राज्य में मिलाने का निर्णय ले लिया था। अतः मुल्तान के विद्रोह को समय पर नहीं दबाया गया और इसका प्रभाव पंजाब के दूसरे क्षेत्रों पर भी पड़ा। बन्नू, पेशावर और पंजाब के उत्तर-पश्चिम भागों में भी विद्रोह फैल गया और सिक्ख लोग अँग्रेजों को पंजाब से बाहर निकालने के लिए उठ खड़े हुए।

विद्रोह के फैलने का एक कारण अँग्रेजों द्वारा मूलराज के विद्रोह में रानी जिंदन का हाथ होने का आरोप लगाकर उसे पंजाब से बाहर भिजवाना था। वस्तुतः इस समय दीवान मूलराज तथा विद्रोही सिक्ख सैनिकों की आशाएँ रानी को विद्रोह का केन्द्र बिन्दु बनाने में लगी हुई थीं। अँग्रेजों ने विद्रोह को भड़काने के लिए ही रानी पर झूठा आरोप लगाकर उसे पंजाब से निर्वासित

किया था। दूसरा कारण हजारा के सूबेदार छतरसिंह (राजा शेरसिंह के पिता तथा महाराजा दिलीपसिंह के होने वाले ससुर) का अँग्रेज अधिकारियों द्वारा अपमानित किया जाना था। मजे की बात यह है कि इस समय राजा शेरसिंह को लाहौर दरबार की तरफ से मूलराज के विद्रोह को दबाने के लिए मुल्तान भेजा गया था। अँग्रेज चाहते थे कि शेरसिंह भी विद्रोही बन जाये, ताकि उन्हें पंजाब पर आक्रमण करने का ठोस आधार मिल जाय। इसीलिए शेरसिंह के पिता छतरसिंह का अपमान किया गया। अपने पिता के असम्मान के कारण शेरसिंह को भी विद्रोह में सम्मिलित हो जाना पड़ा। इस प्रकार डलहौजी की योजना सफल रही। पंजाब में चारों ओर अव्यवस्था तथा अशान्ति फैल चुकी थी और अब मौसम भी सैनिक कार्यवाही के अनुकूल हो गया था। ऐसी स्थिति में लॉर्ड डलहौजी ने घोषणा की कि "बिना किसी सूचना अथवा बिना किसी कारण के सिक्ख-राष्ट्र ने युद्ध को आमन्त्रित किया है और उन्हें तीक्ष्ण रूप से युद्ध मिलेगा।" डलहौजी के कथन में लेशमात्र भी सच्चाई नहीं है। लाहौर दरबार तो अभी तक अँग्रेजों का वफादार बना हुआ था और वहाँ का शासन भी अँग्रेज अधिकारियों के हाथों में था। अतः लाहौर दरबार द्वारा अँग्रेजों को चुनौती देने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। अँग्रेज सेनापति लॉर्ड गफ को पंजाब पहुँचने तक यह जानकारी नहीं थी कि उसे लाहौर दरबार के समर्थन में अथवा विरुद्ध भेजा गया है। वस्तुतः डलहौजी ने पंजाब पर युद्ध थोपकर उसे हथियाने की योजना अपने कुछ विश्वस्त साथियों तक ही सीमित रख छोड़ी थी। इसलिए पंजाब के विरुद्ध बाकायदा युद्ध घोषित नहीं किया गया और चुपके से उसे अँग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया गया।

घटनाएँ—शेरसिंह और मूलराज ने मिलकर अँग्रेजों के विरुद्ध सिक्ख सैनिकों को संगठित करना शुरू किया। अत्तारवाला सिख सरदारों ने उन्हें पूरा-पूरा सहयोग दिया। नवम्बर, 1848 ई. में लाहौर दरबार की तरफ से हजारा के विद्रोह का दमन करने के लिए अँग्रेज़ी सेना ने रावी नदी को पार किया। 22 नवम्बर, 1848 को चिनाव नदी के तट पर रामनगर के स्थान पर दोनों पक्षों में पहला युद्ध लड़ा गया, जिसमें अँग्रेजों को हानि उठानी पड़ी। डलहौजी ने इसे एक दुःखद घटना कहा। 3 दिसम्बर को सादुलपुर के निकट दोनों पक्षों में अनिर्णायक युद्ध हुआ। 13 जनवरी, 1849 ई. को चिलियानवाला का भयंकर युद्ध लड़ा गया, जिसमें दोनों पक्षों को भारी हानि उठानी पड़ी। स्वयं डलहौजी ने लिखा था कि एक और ऐसी ही विजय हमें नष्ट कर देगी। इस बीच अँग्रेजों ने मुलतान पर भी आक्रमण कर दिया था और 22 जनवरी, 1848 को मूलराज ने आत्म-समर्पण कर दिया। दोनों पक्षों के मध्य अन्तिम युद्ध चिनाव नदी के तट पर गुजरात नामक स्थान पर 21 फरवरी, 1849 ई. को लड़ा गया। इस निर्णायक युद्ध में सिक्खों की पराजय हुई और अँग्रेजी सेना ने 15 मील तक सिक्ख सैनिकों का पीछा किया। 12 मार्च, 1849 ई. को शेरसिंह, छतरसिंह तथा अन्य सरदारों ने आत्म-समर्पण कर दिया और इसके साथ ही द्वितीय सिक्ख युद्ध बन्द हो गया।

पंजाब का विलय—29 मार्च, 1849 को डलहौजी की एक घोषणा के द्वारा महाराजा दिलीपसिंह के राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। सिक्ख सेना के आत्म-समर्पण के तुरन्त बाद ही डलहौजी ने अपनी जिम्मेदारी पर यह काम किया था। क्योंकि इस समय

इंगलैण्ड की सरकार पंजाब विलय के पक्ष में न थी। यही कारण है कि डलहौजी ने कम्पनी के डायरेक्टरों की आज्ञा की भी प्रतीक्षा नहीं की। डलहौजी की घोषणा के पूर्व महाराजा दिलीपसिंह ने एक आम दरबार में कोहिनूर हीरा और अपना राज्य अँग्रेजों को समर्पित कर दिया। दिलीपसिंह को पेंशन देकर बनारस भेज दिया गया। कुछ वर्षों बाद वह इंगलैण्ड चला गया। उसकी माँ रानी जिंदन भी इंगलैण्ड चली गई। दिलीपसिंह ने ईसाई धर्म भी स्वीकार किया। इस प्रकार रणजीतसिंह के शक्तिशाली सिक्ख राज्य का अन्त हो गया। अब भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की सीमाएँ भारत की प्राकृतिक भौगोलिक सीमाओं तक जा पहुँचीं। अँग्रेजों के लिए अफगानिस्तान पर नियन्त्रण रखना सरल हो गया। सिक्खों की पराजय के साथ ही भारत में उन्हें चुनौती देने वाली शक्ति का भी अन्त हो गया। अब अँग्रेजों को किसी भारतीय शक्ति से किसी प्रकार का कोई खतरा नहीं रहा।

पंजाब-विलय के सम्बन्ध में डलहौजी की नीति के बारे में इतिहासकार एकमत नहीं हैं। उसकी नीति का समर्थन करते हुए कुछ लेखकों ने लिखा है कि लॉर्ड हार्डिंग ने यद्यपि पंजाब का शासन अल्पवयस्क दिलीपसिंह के हितों को ध्यान में रखते हुए किया था, परन्तु इससे सिक्ख सरदारों के स्वार्थों की पूर्ति न हो पाई और उन्होंने ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध कुचक्र रचने शुरू कर दिए। इतिहासकार हण्टर का मानना है कि ऐसी परिस्थितियों में पंजाब को अँग्रेजी साम्राज्य में मिलाने के अलावा अन्य कोई विकल्प न था। डलहौजी के समर्थक लेखकों का कहना है कि सिक्खों ने लाहौर और भैरोवाल की सन्धि का उल्लंघन किया था। डलहौजी ने भी कहा था कि सिक्खों ने सन्धि को तोड़कर अँग्रेजों पर युद्ध थोप दिया था। उसका यह भी कहना था कि सिक्खों ने ब्रिटिश रेजीडेण्ट के आदेश की अवज्ञा कर मुल्तान में अँग्रेज अधिकारियों की हत्याएँ कीं तथा समस्त सिक्ख जाति ने अँग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। सरदार छतरसिंह और उसके पुत्र राजा शेरसिंह ने इस विद्रोह का नेतृत्व किया और अँग्रेजों को पंजाब से बाहर निकालने का संकल्प लिया। ऐसी स्थिति में डलहौजी के पास अन्य कोई विकल्प न था।

किन्तु इतिहास का कोई भी विद्यार्थी सम्पूर्ण घटनाचक्र के अध्ययन के बाद डलहौजी की इस कार्यवाही को न्यायोचित नहीं ठहरा सकता। यह तर्क कि सिक्ख सरदारों ने लाहौर तथा भैरोवाल की सन्धि का उल्लंघन किया, आधारहीन प्रतीत होता है; क्योंकि लाहौर दरबार की समस्त सत्ता अँग्रेज रेजीडेण्ट के हाथों में केन्द्रित थी। पंजाब राज्य का सैनिक एवं असैनिक प्रशासन भी अँग्रेजों के हाथ में था। संरक्षक परिषद् के आठ सदस्यों में से केवल एक ने विद्रोह में सक्रिय भाग लिया और एक अन्य सदस्य के बारे में सन्देह मात्र था। शेष 6 सदस्यों ने अँग्रेजों के प्रति पूर्ण वफादारी दिखलाई थी। 1847 ई. में स्वयं अँग्रेज रेजीडेण्ट ने लिखा था कि कुल मिलाकर दरबार से मुझे उतना सहयोग मिल रहा है, जितना कि मैं उचित रूप से अपेक्षा करता हूँ। इतना ही नहीं, अँग्रेज रेजीडेण्ट की इच्छानुसार संरक्षक परिषद् ने भी सरदार छतरसिंह को विद्रोही घोषित किया, अँग्रेजों से शान्ति स्थापना के लिए सहायता माँगी, सेनापति गफ का स्वागत किया गया और विद्रोह दबाने के लिए अपने सैनिकों की सेवायें भी प्रदान कीं। अँग्रेज सेना लाहौर दरबार की सहायता के लिए गई थी और विद्रोह दबाने के तुरन्त बाद लाहौर दरबार को

ही समाप्त करना किसी भी दृष्टि से न्यायसंगत नहीं माना जा सकता। जब सिक्ख सेना ने विद्रोह को दबाने में भाग लिया था तो पंजाब में उठने वाले विद्रोह को सम्पूर्ण सिक्खों का विद्रोह कैसे माना जा सकता है ? इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि पंजाब को अँग्रेजी साम्राज्य में मिलाने का आधार न तो नैतिक था और न ही सिक्ख सेना का विद्रोह। यह डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति का परिणाम था।

इतिहासकार ट्राटर के मतानुसार लॉर्ड डलहौजी की यह नीति किसी सिद्धान्त अथवा न्याय पर आधारित न थी। प्रशासनिक अध्यक्ष होने के नाते ब्रिटिश रेजीडेण्ट क्यूरी का कर्त्तव्य था कि मुल्तान के विद्रोह को दबाए। क्यूरी ऐसा चाहता भी था, परन्तु लॉर्ड डलहौजी ने उसे बुरी तरह से डाँटकर किसी प्रकार का सक्रिय कदम न उठाने का आदेश दिया। वस्तुतः डलहौजी इस विद्रोह को पूरे पंजाब में फैल जाने देना चाहता था। थार्नबर्न ने लिखा है कि भारत सरकार पंजाब रूपी फोड़े के पकने की प्रतीक्षा में थी, ताकि उसकी आसानी के साथ चीराफाड़ी की जा सके। ट्राटर का मानना है कि अँग्रेजों ने सिक्ख अधिकारियों को भड़काकर फिर पंजाब विलय के लिए बहाना ढूँढ लिया। पंजाब का विलय भारत सरकार की एक सुनियोजित पूर्व योजना थी। मेजर इवेन्स ने लिखा है कि पंजाब का ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया जाना पवित्र विश्वास का निर्लज्ज हनन था। महाराजा दिलीपसिंह का इस विद्रोह में कोई हाथ नहीं था। डलहौजी ने उसके समस्त अधिकार और उसका राज्य छीनकर कोई न्यायसंगत काम नहीं किया था।

सिक्खों की असफलता के कारण—रणजीतसिंह ने जिस सिक्ख सेना का निर्माण किया था, उसने कई शानदार युद्ध जीते थे। परन्तु अँग्रेजों के साथ लड़े गये युद्धों में वह बुरी तरह से असफल रही। उसकी असफलता के लिए विद्वानों ने कई कारणों को उत्तरदायी माना है। कुछ इतिहासकारों के मतानुसार सिक्ख सेना की पराजय का प्रमुख कारण पश्चिमी पद्धति के आधार पर किया गया सैनिक संगठन था। सिक्ख सेना इस पद्धति के अन्तर्गत पूर्ण दक्षता प्राप्त न कर पाई। उसकी घुड़सवार सेना तो काफी कमजोर रही। तोपखाने में भी भारी तोपों की प्रधानता रही और पदाति सिक्ख सैनिक बन्दूकों का दक्षता के साथ प्रयोग करना नहीं सीख पाये। परन्तु डॉ. फौजासिंह इस मत को नहीं मानते और वे इसे भ्रान्तिपूर्ण तर्क बतलाते हैं। उनके हिसाब से पद्धति में कोई दोष नहीं था। दोष नेतृत्व का था। जहाँ तक सिक्ख सैनिकों के रणकौशल और पराक्रम का सवाल है, वे किसी से पीछे नहीं रहे और अँग्रेजों को आसानी से जीतने का अवसर नहीं दिया। स्वयं अँग्रेज लेखकों का मानना है कि भारत को जीतने में अँग्रेजों को जितना संघर्ष सिक्खों से करना पड़ा, उतना अन्य किसी भारतीय शक्ति से नहीं करना पड़ा। कई बार तो अँग्रेज विजय की आशा छोड़ युद्ध-मैदान छोड़ने की योजना बनाने में लग जाते थे।

इससे स्पष्ट है कि सिक्खों की पराजय का कारण उनके रणकौशल अथवा साहस की कमजोरी न था। उनकी पराजय का मुख्य कारण उनके सेनानायकों तथा राजनेताओं की गद्दारी थी। प्रथम सिक्ख युद्ध में लालसिंह, तेजसिंह और गुलाबसिंह जैसे सेनानायक अपने स्वार्थों में इतने अन्धे हो चुके थे कि उन्हें अँग्रेजों से साँठ-गाँठ करके अपनी ही सेना को बलि का बकरा बनाने में लेशमात्र भी संकोच नहीं हुआ। उनकी गद्दारी के कारण सिक्ख सेना युद्ध के प्रारम्भिक

लाभ का कभी उपयोग न कर पाई। स्वयं रानी जिंदन भी सिक्ख सेना को हराना चाहती थी। सिक्ख तोपखाने में नियुक्त कैप्टन गार्डनर भी अँग्रेजों से मिला हुआ था। ऐसी परिस्थितियों में सिक्ख सेना के सफल होने का सवाल ही नहीं उठता।

डॉ. एम.एस. जैन के मतानुसार सिक्ख सेना की पराजय का एक कारण सिक्ख राज्य की आर्थिक दुर्बलता थी। 1839-45 की अवधि में सिक्ख सेना का तेजी से विस्तार किया गया। इससे राज्य दिवालिया हो गया। बाद में, जब राजनेताओं ने सेना की सहायता से सत्ता हथियाना शुरू किया तो सेना के नेताओं को अपने विषय में भ्रान्ति पैदा हो गई और उन्होंने अपना समर्थन अधिक से अधिक मूल्य देने वालों को बेचना शुरू कर दिया। इससे सिक्ख सेनाध्यक्षों का नैतिक पतन हो गया, जो सिक्ख सेना की पराजय का कारण बना।

द्वितीय सिक्ख युद्ध में अँग्रेजों की स्थिति आरम्भ से ही अच्छी थी। प्रथम युद्ध के बाद सिक्ख सेना को काफी सीमित कर दिया गया था। लाहौर दरबार तथा उसके अधीन सिक्ख सेना भी अँग्रेजों के साथ थी। अँग्रेज़ सेना पंजाब के अन्दर ही तैनात थी। सैनिक संख्या तथा अस्त्र-शस्त्रों की दृष्टि से भी सिक्खों की स्थिति काफी कमजोर थी। अँग्रेजों ने पूरी तैयारी के बाद अचानक सिक्खों के विरुद्ध युद्ध आरम्भ किया था।

कुछ इतिहासकारों ने सिक्ख-डोगरा वैमनस्य को भी पराजय का एक कारण बतलाया है, परन्तु इस मत में अधिक वजन नहीं है। क्योंकि सिक्ख सेना ने सिंधनवालिया सरदारों के विरुद्ध डोगरों का साथ दिया था। परन्तु बाद में अँग्रेज अधिकारियों ने जातीय तथा धार्मिक मतभेदों को उभारकर पूरा-पूरा लाभ उठाया। लॉर्ड डलहौजी की सुनियोजित भेदनीति ने सिक्खों का सर्वनाश कर दिया। उसने बहुत ही गोपनीयता के साथ अपनी योजना तैयार की थी और इंगलैण्ड की सरकार अथवा कम्पनी के संचालकों से निश्चित आदेश प्राप्त किये बिना ही अपने व्यक्तिगत दायित्व पर पंजाब को अँग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया।

अध्याय-5

नेपाल और बर्मा के साथ अँग्रेजों के सम्बन्ध

आंग्ल-नेपाल सम्बन्ध

हिमालय की तराई क्षेत्र के निवासी मंगोलियन थे, जिनके बीच राजपूतों के नेतृत्व में हिन्दू बस गये थे। इन राजपूत सरदारों ने स्थान-स्थान पर अपने लिये शासन क्षेत्र बना लिये थे। वे अनवरत युद्ध करते रहे तथा क्षेत्र-विस्तार के लिए उन्होंने इस क्षेत्र में अशान्ति उत्पन्न कर दी। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गोरखा नामक एक पहाड़ी जाति, जो अपने को राजपूत वंशीय बता रही थी, का उत्थान हो रहा था। गोरखा जाति बड़ी वीर, साहसी तथा रणकुशल थी। वे धीरे-धीरे अपनी शक्ति संगठित करने लगे। 1762 ई. में बंगाल के नवाब मीर कासिम ने गम्भीरतापूर्वक गोरखों की शक्ति को रोकने का प्रयास किया था, किन्तु नवाब की सेना मकवानपुर नामक स्थान पर गोरखों से परास्त हुई। इस विजय से गोरखे और अधिक प्रोत्साहित हुए। प्लासी के युद्ध के लगभग 11 वर्ष बाद, नेपाल के पुराने राजकीय परिवार के आन्तरिक मतभेदों का लाभ उठाकर पृथ्वीनारायण नामक गोरखे के नेतृत्व में गोरखों ने 1768 ई. में काठमाण्डू की घाटी पर आक्रमण कर रौंद डाला। सैनिक प्रशिक्षण एवं अनुशासन में गोरखे, घाटीवासियों से श्रेष्ठ होने के कारण विजयी हुए। गोरखा सेना ब्रिटिश पद्धति पर प्रशिक्षित थी और लगभग 50 वर्षों में उन्होंने पूरे देश को अपनी शक्ति के अधीन करके उसे अपना नाम दे दिया। इस प्रकार नेपाल में गोरखों की सत्ता स्थापित हो गयी। इनकी बढ़ती हुई शक्ति के सम्बन्ध में इतिहासकार डॉडवेल ने लिखा है कि "एक के बाद एक करके पहाड़ी सरदारों की शक्ति कुचल दी गई तथा गोरखों की सत्ता का विस्तार पूर्व में सिक्किम तक तथा पश्चिम में सतलज नदी तक हो गया।" धीरे-धीरे गोरखों ने एक शक्तिशाली राज्य का निर्माण कर लिया। किन्तु वे इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। शक्तिशाली एवं युद्धप्रिय होने के कारण उन्हें यह अनुभव हुआ कि पर्वतीय क्षेत्र का उनका देश काफी छोटा है। अतः अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाकर उत्तर की ओर अपने साम्राज्य-विस्तार के दृष्टिकोण से चीन की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। परन्तु चीन ने उनकी महत्त्वाकांक्षा पर रोक लगा दी। उत्तर में अपनी असफलता के कारण अब गोरखों ने अपने साम्राज्य-विस्तार हेतु दक्षिण की ओर बढ़ना आरम्भ किया। 19वीं शताब्दी के आरम्भ में गोरखा राज्य पूर्व में तिस्ता नदी तक तथा पश्चिम में सतलज नदी तक फैल चुका था।

आंग्ल-नेपाल सम्पर्क—भारत स्थित ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने आरम्भ में नेपाल के प्रति मैत्री भाव बनाये रखे। वारेन हेस्टिंग्ज (1772-1785) को आन्तरिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, अतः उसने भी नेपाल के शासकों—पृथ्वीनारायण सिंह और राणा बहादुरशाह से मैत्रीपूर्ण सद्‌भावना बनाये रखी। 1787 ई. में नेपाल और तिब्बत के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया। चीन ने तिब्बत का साथ देते हुए नेपाल से युद्ध आरम्भ कर दिया, अतः नेपाल के शासक राणा बहादुरशाह ने अँग्रेजों से सहायता की प्रार्थना की। चूँकि इस समय तक इंगलैण्ड की संसद् ने पिट्ट इण्डिया एक्ट (1784 ई.) पारित कर दिया था, अतः लॉर्ड कार्नवालिस अहस्तक्षेप की नीति का अवलम्बन कर रहा था। इसके अतिरिक्त कार्नवालिस ने नेपाल के लिए चीन से उलझना भी ठीक नहीं समझा। इसलिए कार्नवालिस ने दोनों पक्षों (नेपाल और चीन) में समझौता करवाने के लिए कर्नल किलपेट्रिक के नेतृत्व में एक शिष्टमण्डल नेपाल भेजा। किन्तु इस शिष्टमण्डल के पहुँचने से पूर्व ही नेपाल परास्त हो चुका था तथा उसे चीन के राजा को भेंट आदि देने का वचन देना पड़ा था। चूँकि अँग्रेज एक लम्बे समय से गोरखों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे। अतः कर्नल किलपेट्रिक ने नेपाल पहुँचकर 1792 ई. में नेपाल के साथ एक व्यापारिक सन्धि करली। इस प्रकार भारत स्थित ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा गोरखा राज्य नेपाल के बीच प्रथम सम्पर्क स्थापित हुआ। कर्नल किलपेट्रिक की यह व्यापारिक सन्धि अँग्रेजों के लिए कोई विशेष लाभदायक नहीं रही। अतः 1802 ई. में एक दूसरी व्यापारिक सन्धि की गई, लेकिन इससे भी अँग्रेजों को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। लॉर्ड वेलेजली ने 1804 ई. में इस व्यापारिक सन्धि को समाप्त कर दिया।

1801 ई. में कम्पनी और अवध राज्य के बीच हुई सन्धि के फलस्वरूप कम्पनी को गोरखपुर का जिला प्राप्त हो गया। कम्पनी को गोरखपुर का जिला प्राप्त हो जाने से अब कम्पनी के राज्य की सीमाएँ नेपाल राज्य को स्पर्श करने लगी। इस कारण दोनों के बीच अब सीमा सम्बन्धी झगड़े आरम्भ हो गये। लॉर्ड वेलेजली के समय गोरखों से बातचीत करने कर्नल किलपेट्रिक को भेजा गया, लेकिन किलपेट्रिक का यह मिशन असफल रहा। तत्पश्चात् 1802 ई. में केप्टिन नोक्स को भेजा गया, लेकिन नोक्स मिशन भी असफल रहा। इसी से क्रुद्ध होकर वेलेजली ने 1804 ई. में नेपाल से की गई व्यापारिक सन्धि को समाप्त कर दिया। वेलेजली के बाद आने वाले गवर्नर-जनरल—लॉर्ड कार्नवालिस, जॉर्ज बार्लो और लॉर्ड मिण्टो की अहस्तक्षेप की नीति के कारण गोरखों का साहस बढ़ता गया और उन्होंने हिमालय की तराई के विभिन्न भागों पर आक्रमण कर उन पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया। लॉर्ड मिण्टो के शासनकाल में गोरखों ने बस्ती जिले के पूर्व में स्थित बुटवल व शिवराजपुर पर अधिकार कर लिया, जिन्हें कम्पनी अपने क्षेत्र बता रही थी। इस पर अँग्रेजों ने अपनी एक सेना भेजी, जिसने बुटवल और शिवराजपुर पर आक्रमण कर पुनः उन पर अधिकार कर लिया।

आंग्ल-नेपाल युद्ध के कारण—अँग्रेजों और गोरखों के बीच संघर्ष का प्रमुख कारण दोनों शक्तियों की विस्तारवादी नीति थी। इन दोनों शक्तियों के बीच झगड़ा सीमान्त भूमि के सम्बन्ध में था। यह भूमि सारन व गोरखपुर में थी। नेपाल सरकार का कहना था कि यह भूमि

नेपाल की है, जबकि दूसरी ओर कम्पनी सरकार का कहना था कि यह भूमि उनके जमींदारों की है, जो उनके संरक्षण में हैं और ये जमींदार कम्पनी को वार्षिक खिराज भी देते रहे हैं। इस सीमा सम्बन्धी झगड़े में वास्तविकता क्या थी, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। किन्तु यह तथ्य निर्विवाद है कि दोनों के राज्यों की सीमा निश्चित नहीं थी। समय के साथ-साथ इन दोनों शक्तियों ने यह प्रयत्न भी किया कि दोनों राज्यों की सीमा निश्चित हो जाय, किन्तु इस कार्य में कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई। कम्पनी के दस्तावेजों में ऐसे अनेक दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं कि ब्रिटिश सरकार ने नेपाल सरकार को सीमान्त जमींदारों पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया था, जो अँग्रेजों के संरक्षण में नहीं थे। इस तथ्य से यह बात स्पष्ट होती है कि अँग्रेजों ने नेपाल सरकार के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए सीमान्त प्रदेश के जमींदारों की सुरक्षा का बहाना बनाया था। फिर भी अभी तक दोनों शक्तियों ने अपने मतभेदों को युद्ध के द्वारा नहीं सुलझाया था। 1812 ई. में दोनों शक्तियों ने इस झगड़े की छानबीन के लिए दोनों के संयुक्त प्रतिनिधियों का एक संयुक्त आयोग नियुक्त किया। इस आयोग में कम्पनी सरकार का प्रतिनिधित्व मेजर बर्डशा कर रहा था। मेजर बर्डशा के सम्बन्ध में यह सर्वविदित था कि वह नेपाल सरकार के प्रतिनिधियों के साथ बड़ा अपमानजनक व्यवहार कर रहा था। यहाँ तक कि वह नेपाली प्रतिनिधियों के साथ गाली-गलौच पर उतर आता था। इस तथ्य की पुष्टि स्वयं कम्पनी के रेकार्ड से भी होती है। इस आयोग द्वारा जाँच किये जाने पर पता चला कि गोरखों ने जिन जगहों पर अधिकार किया वहाँ के वे स्वामी नहीं हैं। अतः 1813 ई. में लॉर्ड मिण्टो ने नेपाल सरकार को एक औपचारिक पत्र भेजा जिसमें उसने अत्यन्त शिष्ट भाषा का प्रयोग करते हुए लिखा कि वह कम्पनी के क्षेत्र को तुरन्त खाली करदे।

आंग्ल-नेपाल युद्ध—लॉर्ड मिण्टो के इस पत्र का उत्तर लॉर्ड हेस्टिंग्ज के भारत में अपना कार्यभार ग्रहण करने के बाद प्राप्त हुआ। गोरखों के उत्तर का स्पष्ट आशय यह था कि यदि इस समस्या का समाधान करना है तो सैनिक शक्ति का प्रयोग करना ही पड़ेगा। फिर भी लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने पुनः नेपाल सरकार को पत्र लिखा कि जो भूमि विवादग्रस्त है, उस भूमि को गोरखे खाली करदें। यह पत्र गोरखपुर के मजिस्ट्रेट के माध्यम से नेपाल सरकार को भेजा गया था। लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने गोरखपुर के मजिस्ट्रेट को यह अधिकार दे दिया कि इस पत्र के भेजने के 25 दिन के अन्दर यदि नेपाल सरकार विवादग्रस्त भूमि को खाली न करे तो वहाँ ब्रिटिश सेना भेजकर उस भूमि पर अधिकार कर लिया जाय। हेस्टिंग्ज द्वारा गोरखपुर के मजिस्ट्रेट को भेजे गये इस आदेश की प्रति भी नेपाल सरकार को सूचनार्थ भेज दी गई। इस सम्बन्ध में श्री बी.डी. बसु ने लिखा है कि "अब पूरी तैयारी करली गई, भारत सरकार युद्ध के लिये पूर्णतः दृढ़-संकल्प थी। गवर्नर-जनरल द्वारा नेपाल सरकार को भेजे गये पत्र की भाषा और ध्वनि दोनों सरकारों के बीच शान्ति बनाये रखने के लिये नहीं थी।"

गोरखे इतनी आसानी से अँग्रेजों की धमकियों से घबराकर विवादग्रस्त भूमि खाली करने वाले नहीं थे। उनके लिये हेस्टिंग्ज का पत्र चेतावनी न होकर मात्र कागज का टुकड़ा था। अतः हेस्टिंग्ज के इस पत्र के पश्चात् भी गोरखों ने विवादग्रस्त भूमि को खाली नहीं किया। इतना ही

नहीं, मई, 1814 ई. में गोरखों ने बुटवल की तीन पुलिस चौकियों पर आक्रमण कर दिया। इस पर लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने नवम्बर, 1814 ई. में गोरखों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करदी। हेस्टिंग्ज ने नेपाल के विरुद्ध एक ही समय में चार भिन्न-भिन्न स्थानों पर आक्रमण करने की योजना बनाई। अँग्रेजों के पास लगभग 34,000 सेना थी, जबकि गोरखों के पास केवल 12,000 सेना थी तथा कुछ नई सेना भी उन्होंने एकत्रित करली थी। इस नेपाल युद्ध को अँग्रेज जितना आसान समझ रहे थे, उतना आसान यह सिद्ध नहीं हुआ। नेपाल की भौगोलिक स्थिति, गोरखों की वीरता, अदम्य साहस और रणकौशल तथा अँग्रेजों को नेपाल की स्थिति का पूर्ण ज्ञान न होना, ऐसे कारण थे जिनकी वजह से इस युद्ध में अँग्रेजों को आसानी से विजय प्राप्त न हो सकी। जनरल जिलेस्पी, कम्पनी का एक प्रसिद्ध सेनानायक था तथा उसे जावा विजय का श्रेय प्राप्त था। उसने एक पहाड़ी किले पर आक्रमण किया, लेकिन वह अपने 500 साथियों सहित पीछे धकेल दिया गया और मारा गया। जनरल मर्टिण्डेल भी ज्यातक (Jytok) से आगे नहीं बढ़ सका। जनरल मार्ले का भी पल्पा और काठमाण्डू पर आक्रमण विफल कर उसे पीछे धकेल दिया गया। केवल नेपाल के पश्चिम में ऑक्टरलोनी को कुछ सफलता प्राप्त हुई, लेकिन उसकी सफलता कोई विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं थी। इस प्रकार नेपाल युद्ध के प्रारम्भ में ब्रिटिश सेनाओं को भारी पराजय का सामना करना पड़ा, जिससे अँग्रेजों की प्रतिष्ठा को भारी आघात लगा। जनवरी, 1815 के अन्त तक अँग्रेज बुरी तरह असफल हो गये और उन्हें पर्याप्त हानि उठानी पड़ी। दूसरी ओर गोरखे सफलता के नशे में प्रत्येक शक्ति का विरोध करने पर तत्पर थे तथा दर्रों पर अब भी वे अपना अधिकार किये हुए थे। 15 जनवरी को मेटकाफ ने लिखा, "हमारा ऐसे शत्रु से सामना हुआ है, जिसमें निश्चित रूप से हमारे से अधिक बहादुरी और शक्ति है; और यह कहना असम्भव है कि हमारी इस विफलता का क्या परिणाम होगा। कुछ अवसरों पर तो हमारी यूरोपीय एवं स्थानीय सेना, विरोधियों की अल्प सेना द्वारा डण्डे और पत्थरों से खदेड़ दी गई है। कहीं-कहीं पर हमारी सेना को हमारे विरोधियों ने तलवार लेकर ऐसे खदेड़ा है जैसे भेड़ों के समूह को.........हमारी शक्ति का स्रोत हमारी सैनिक श्रेष्ठता थी, किन्तु इस वर्तमान शत्रु के समक्ष वह समाप्त हो गयी है। कितने आश्चर्य की बात है कि इस युद्ध में सैनिक संख्या हमारे पास है जबकि शौर्य एवं युद्ध चातुर्य शत्रु सेना के पास।"

अधिकांश विद्वानों ने नेपाल सरकार को आक्रमणकारी घोषित किया है। उनका मत है कि गोरखों ने बुटवल की पुलिस चौकियों पर आक्रमण करके अँग्रेजों को चुनौती दी थी, इसलिये अँग्रेजों को विवश होकर गोरखों से युद्ध करना पड़ा। इस युद्ध के सम्बन्ध में हमें अभी तक नेपाली विद्वानों के मत प्राप्त नहीं हुए हैं, केवल कम्पनी के रेकार्ड और अँग्रेजी विद्वानों के मत प्राप्त हुए हैं, जिनमें गोरखों को आक्रमणकारी बताया गया है। लेकिन घटनाओं के अध्ययन से एक बात निश्चित रूप से प्रकट होती है कि दोनों के मध्य सीमा निश्चित नहीं थी और अँग्रेजों का, गोरखों के प्रति व्यवहार अनुचित था।

नेपाल युद्ध में अँग्रेजों की प्रारम्भिक असफलता के कारण हेस्टिंग्ज की कटु आलोचना की गई। उनका कहना था कि नेपाल के विरुद्ध सैनिक अभियान से पूर्व उसने इस क्षेत्र की विशेष

कठिनाइयों की सैनिकों को जानकारी उपलब्ध नहीं कराई। किन्तु इन आलोचकों को इस बात की जानकारी नहीं थी कि नेपाल एक ऐसा देश है जिसकी दुर्गम भौगोलिक स्थिति की किसी को जानकारी नहीं थी। गोरखा विश्व की श्रेष्ठ योद्धा जाति थी और वे पहाड़ी क्षेत्र में आक्रमणकारी के विरुद्ध बुद्धिमत्तापूर्ण लाभप्रद स्थिति सम्भाल सकते थे। साथ ही नेपाल के प्रवेश-मार्ग के दर्रों पर गोरखों का नियन्त्रण था, जिससे अँग्रेजों की कठिनाइयों में अधिक वृद्धि हो गयी। जबकि ब्रिटिश सेना को पहाड़ी अभियान का बिलकुल अनुभव नहीं था तथा गोरखों की किलेबन्दी भी अत्यन्त सुदृढ़ थी। ब्रिटिश अधिकारी पहाड़ी युद्ध की कठिनाइयों एवं समस्याओं से न तो पूर्णतः परिचित थे और न पहाड़ी युद्ध में प्रशिक्षित थे।

नेपाल में अँग्रेजों की इस असफलता का भारत में भी बुरा प्रभाव पड़ा। गोरखों ने अपने राजदूत पिण्डारियों, रणजीतसिंह, सिन्धिया और यहाँ तक कि बर्मा और चीन भी भेजे, ताकि अँग्रेजों के विरुद्ध सहायता प्राप्त की जा सके। पिण्डारी नेता अमीरखाँ तो अवसर का लाभ उठाने को तैयार हो गया और उसने अँग्रेजों के विरुद्ध कार्यवाही करने की सोची, रणजीतसिंह ने भी लाहौर में 20 हजार सेना एकत्रित कर ली और कहा जाता है कि वह ससैन्य सतलज तक आ पहुँचा था। मराठा भी यह अनुभव करने लगे कि अब अँग्रेजों के विरुद्ध कदम उठाने का अवसर आ गया है ताकि वे अपना पुराना बदला चुका सकें। लेकिन लॉर्ड हेस्टिंग्ज इन परिस्थितियों में हतोत्साहित नहीं हुआ।

संगोली की सन्धि—लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने नेपाल की ओर भेजने के लिए एक नई सेना तैयार कर ली। भाग्य ने भी उसका साथ दिया। रणजीतसिंह पर अफगानिस्तान की ओर से आक्रमण होने की आशंका उत्पन्न हो गयी, पिण्डारियों में आपस में फूट पड़ गई तथा सिन्धिया के सेनानायक आपस में ही संघर्षरत हो गये। अतः अब अँग्रेजों के शत्रुओं के एकजुट होने की सम्भावना समाप्त हो गयी। ऐसी परिस्थितियों में हेस्टिंग्ज ने नेपाल की ओर एक नई सेना भेज दी। इधर नेपाल के पश्चिमी मोर्चे पर ऑक्टरलोनी डटा हुआ था। नई सेना के आ जाने पर गोरखों पर दुबारा भीषण आक्रमण किया गया, जिसमें अँग्रेजों को काफी सफलता प्राप्त हुई। 1815 ई. की गर्मियों में गोरखों ने शान्ति-सन्धि के लिए याचना करना आरम्भ कर दिया। फलस्वरूप 28 नवम्बर, 1815 को गोरखा प्रतिनिधियों ने अँग्रेजों से संगोली में एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। इसे संगोली की सन्धि कहते हैं। इसके अनुसार—(1) गोरखों को तराई का अधिकांश भाग अर्थात् नेपाल के दक्षिण का अत्यन्त उपजाऊ क्षेत्र जो गंगा नदी से तीस्ता नदी तक फैला हुआ था, अँग्रेजों को देना पड़ा। अँग्रेजों ने कुमायूँ और गढ़वाल के जिले भी प्राप्त कर लिये। इससे कम्पनी राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा पहाड़ों तक पहुँच गई। (2) नेपाल को हुई क्षति के लिए अँग्रेजों ने नेपाल सरकार को दो लाख रुपये वार्षिक अनुदान देना स्वीकार कर लिया। (3) नेपाल सरकार ने सिक्किम के राजा की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया। (4) नेपाल सरकार ने काठमाण्डू में एक अँग्रेज रेजीडेण्ट रखना स्वीकार कर लिया।

9 दिसम्बर, 1815 ई. को गवर्नर-जनरल ने इस सन्धि की पुष्टि कर दी। किन्तु नेपाल के राजा ने अपने सहयोगी युद्ध-प्रेमियों की सलाह पर, अपने प्रतिनिधि द्वारा की गई सन्धि को मानने

से इन्कार कर दिया। अतः दोनों के बीच पुनः युद्ध आरम्भ हो गया। फरवरी, 1816 ई. में अँग्रेज सेनाओं ने पुनः नेपाली सीमा पर आक्रमण कर दिया। ऑक्टरलोनी ने मेलान नामक स्थान पर नेपाल के प्रसिद्ध सेनापति अमरसिंह थापा को पराजित किया तथा वह ससैन्य नेपाल की राजधानी काठमाण्डू की ओर बढ़ा। भयभीत नेपाल के राजा ने अब अँग्रेजों से सन्धि करना ही उचित समझा। नेपाल के राजा ने तुरन्त संगोली की सन्धि पर राजकीय मोहर लगाकर ब्रिटिश केम्प में भेज दिया।

जब हेस्टिंग्ज को स्पष्ट हो गया कि नेपाली सन्धि करने को तत्पर हैं, तब उसने नेपालियों के प्रति उदार नीति अपनाई ताकि गोरखों से स्थायी मित्रता स्थापित की जा सके। अन्तिम व्यवस्था करते समय हेस्टिंग्ज ने दोनों राज्यों की सीमा निश्चित कर, सीमा पर खम्भे लगवा दिये, तराई का कुछ भाग पुनः नेपालियों को दो लाख रुपये वार्षिक अनुदान के बदले में लौटा दिया गया, तराई का कुछ हिस्सा अवध की सीमा से लगा हुआ था, अवध के नवाब को अपने दो करोड़ रुपये के आधे कर्ज के बदले में दे दिया। यह कर्ज कम्पनी ने युद्ध काल में अवध के नवाब से लिया था। आधा कर्ज कम्पनी ने कभी चुकाया ही नहीं। इस सन्दर्भ में हेस्टिंग्ज ने कम्पनी के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स को लिखा कि "मुझे यह कहते हुए गर्व हो रहा है कि गोरखा युद्ध में कम्पनी का एक शिलिंग भी खर्च नहीं हुआ है।" तराई का कुछ हिस्सा सिक्किम के राजा को प्रदान कर दिया गया तथा 1817 ई. में सिक्किम के साथ एक सुरक्षात्मक सन्धि कर ली गई। भूटान और पूर्वी नेपाल के बीच सीमा-रेखा खींच दी गई। उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार संगोली की सन्धि में संशोधन कर दिया गया।

नेपाल युद्ध का महत्त्व एवं परिणाम—आधुनिक भारतीय इतिहास में नेपाल युद्ध का बड़ा महत्त्व है। अब कम्पनी राज्य की सीमा हिमालय पर्वत तक पहुँच गई और प्राकृतिक सीमा हो जाने के कारण फिर सीमा सम्बन्धी झगड़े की सम्भावना नहीं रही। नेपाल युद्ध के बाद हुई संगोली की सन्धि के फलस्वरूप नेपाल से स्थायी मित्रता स्थापित हो गई। गोरखा जैसी शक्तिशाली एवं वीर जाति का अँग्रेजों को सहयोग प्राप्त हो गया तथा अँग्रेजों ने गोरखों की एक पृथक् सेना—गोरखा रेजीमेण्ट का निर्माण किया, जिसने 1857 ई. के विप्लव में अँग्रेजों की महत्त्वपूर्ण सेवा की। इस युद्ध के पश्चात् हुई सन्धि के फलस्वरूप जो पहाड़ी प्रदेश अँग्रेजों को प्राप्त हुए वहाँ अल्मोड़ा, शिमला, नैनीताल, रानीखेत आदि प्रमुख पहाड़ी नगरों का निर्माण कराया गया, जहाँ गर्मी से बचने के लिए अँग्रेजों ने निवास स्थान बनाये।

कम्पनी व गोरखों के इस युद्ध को भारत के समस्त देशी शासक बड़े सजग होकर देख रहे थे। यदि इस युद्ध में अँग्रेज परास्त हो जाते तो सम्भवतः भारत में कम्पनी का इतिहास ही दूसरा हो जाता। अँग्रेजों के प्रथम असफल अभियान के बाद तो ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे भारत के समस्त देशी शासक संयुक्त रूप से अँग्रेजों पर टूट पड़ने वाले हों। किन्तु संगोली की सन्धि ने उनकी आशाओं पर पानी फेर दिया। गोरखा युद्ध में विजयी अँग्रेज सेना अब मराठा युद्ध के लिये तैयार थी। 1818 ई. में उन्होंने मराठों को पूर्ण रूप से पराजित कर पिण्डारियों का भी दमन कर दिया। इस प्रकार कम्पनी लगभग सम्पूर्ण भारत की स्वामी बन गई। नेपाल की स्थिति भारत

के देशी शासकों से अधिक स्वतन्त्रतापूर्ण थी। भारत के देशी शासकों को आपस में सन्धि या समझौते का अधिकार नहीं था, किन्तु नेपाल पर इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। उसने चीन और तिब्बत से अपने पूर्व की भाँति सम्बन्ध बनाये रखे। नेपाल की स्थिति इसलिये भी अलग व अच्छी थी, क्योंकि केवल उसे ही कलकत्ता में अपना प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्राप्त हुआ था। इस प्रकार अँग्रेजों ने नेपाल की बाह्यरूप से पूर्ण स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया था जो कि कम्पनी और नेपाल के सम्बन्धों में महत्त्वपूर्ण कड़ी थी।

गोरखा युद्ध के बाद आंग्ल-नेपाल सम्बन्ध—नेपाल में 1806 से 1836 ई. तक भीमसेन थापा प्रधानमन्त्री रहा। भीमसेन थापा कम्पनी से निकट एवं घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखने के विरुद्ध था। इसके अतिरिक्त नेपाल दरबार में अँग्रेज-विरोधी दल भी सक्रिय था। चूँकि भीमसेन थापा शक्तिशाली एवं एक अच्छा शासक था, अतः कम्पनी भी उसे छेड़ना नहीं चाहती थी। उसके काल की महत्त्वपूर्ण घटना थी भीमसेन थापा द्वारा नेपाल व अवध की सीमा, जो अनिश्चित थी, को एक आयोग नियुक्त कर निश्चित करना थी, जिससे दोनों पक्षों में संघर्ष का मुख्य कारण समाप्त हो गया। लेकिन भीमसेन थापा नेपाल दरबार में षड्यन्त्रों पर नियन्त्रण न रख सका। उसके पतन के बाद नेपाल में थापा और पाण्डों में शक्ति के लिए संघर्ष आरम्भ हो गया। राजा अत्यन्त शक्तिहीन था, अतः 1829-1843 ई. के बीच ब्रिटिश रेजीडेण्ट हौजसन, नेपाल की आन्तरिक राजनीति में सक्रिय हस्तक्षेप करता रहा। किन्तु लॉर्ड एलनबरो को उसकी हस्तक्षेप की कार्यवाही पसन्द नहीं आई और उसने हौजसन को वापिस बुला लिया तथा उसके स्थान पर दूसरा रेजीडेण्ट भेज दिया। नेपाल में आन्तरिक राजनीतिक अस्थिरता 1846 ई. में समाप्त हुई, जबकि खूनी दंगों का अन्त करते हुए जंग बहादुर प्रधानमन्त्री बना। वह न केवल 30 वर्षों तक शक्तिशाली रहा, बल्कि उसने अपने परिवार के लिए प्रधानमन्त्री का पद सुरक्षित करवा लिया। उसके वंशज 70 वर्षों तक राज्य करते रहे। जंग बहादुर ने कम्पनी से मित्रता बनाये रखने में ही नेपाल की भलाई समझी, किन्तु वह यह भी चाहता था कि नेपाल का स्वतन्त्र अस्तित्व या पृथकता बनी रहे, ताकि नेपाल औपनिवेशिक विस्तार की आँधी से बच सके। जब तक वह जीवित रहा उसने ब्रिटिश रेजीडेण्ट को नेपाल में स्वतन्त्रतापूर्वक भ्रमण करने की आजादी नहीं दी और न ही उसे आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने दिया। कहा जाता है कि 1857 के विप्लव के बाद नाना साहब व अनेक विद्रोही नेपाल में शरण प्राप्त किए हुए थे। जंग बहादुर के बाद शक्ति केवल राणा परिवार के सदस्यों तक सीमित रही। उसके उत्तराधिकारियों ने उसी की नीति का अनुसरण किया। समय के साथ-साथ भारत सरकार व नेपाल सरकार के बीच झगड़े के कारण, या तो अनदेखे कर दिये गये या फिर सीमा को निश्चित करके और नेपाल में भागकर शरण लेने वाले विद्रोही अथवा जुर्म करने वालों की समस्या का निराकरण करके आपसी मतभेद समाप्त किये गये। प्रथम विश्व युद्ध में नेपाल सरकार ने ब्रिटेन को सहायता प्रदान करके, दोनों पक्षों के बीच रहे-सहे संशय व मतभेद भी समाप्त कर दिये।

राणा परिवार पर इस बात का आरोप लगाया जाता है कि उसने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये नेपाल को अँग्रेजों के हाथ का खिलौना बना दिया। किन्तु यदि उस समय की परिस्थितियों

का अध्ययन किया जाय तो इस आरोप में कोई सत्यता दिखाई नहीं देगी। यदि उस समय नेपाल अँग्रेजों का विरोध करता तो अँग्रेजों को नेपाल से दूर रखना असम्भव हो जाता। अफगानिस्तान जैसे बड़े राष्ट्र की विदेश-नीति पर भी अँग्रेज़ों ने नियन्त्रण कर लिया था, किन्तु नेपाल तिब्बत और चीन से राजनैतिक सम्बन्ध रखने में स्वतन्त्र था, चाहे वह ब्रिटिश अधिकारियों को ना-पसन्द था। इस प्रकार नेपाल कुछ अंशों तक वैदेशिक सम्बन्धों में भारतीय राज्यों की तुलना में अधिक स्वतन्त्र था। नेपाल के प्रधानमन्त्रियों ने भी भारत सरकार के साथ पत्र-व्यवहार में नेपाल की स्वतन्त्र स्थिति पर सदा बल दिया और ब्रिटिश सरकार ने भी कभी नेपाल की पूर्ण स्वतन्त्रता का खण्डन नहीं किया। नेपाल के प्रधानमन्त्री अपने देश की स्वतन्त्र स्थिति को बनाये रखने के लिये सदैव सचेत रहे—यह बात अलग है कि यदि ब्रिटिश सरकार को नेपाल पर किसी अन्य यूरोपीय शक्ति के प्रभाव स्थापित होने की आशंका होती अथवा नेपाल की वजह से भारतीय साम्राज्य पर खतरे का भय होता तो उसकी स्थिति दूसरी होती। वास्तविक स्थिति यह थी कि नेपाल सैद्धान्तिक रूप से स्वतन्त्र था किन्तु व्यावहारिक रूप में भारत सरकार के प्रभाव के अधीन था तथा वह अँग्रेजों को नाराज करने की स्थिति में नहीं था।

राणा परिवार ने नेपाल के लिये पृथकता की नीति अपनाई, क्योंकि उनकी मान्यता थी कि यदि नेपाल को पाश्चात्य हवा के सामने खुला छोड़ दिया गया तो इस परिवार के राज्य का अन्त हो जायेगा। अपने स्वार्थ के कारण नेपाल को बाहरी प्रभाव से दूर रखा। अतः वह साम्राज्यवादी सत्ता के सहयोग से प्राप्त आर्थिक विकास व शासन प्रबन्ध में आधुनिक विचारों से देश को वंचित रखने के लिए दोषी अवश्य है, किन्तु पृथकता की नीति के कारण ही नेपाल ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बनने से बच गया। अन्यथा नेपाल की स्थिति भी वही होती जो सिन्ध और बर्मा की हुई थी।

आंग्ल-बर्मा सम्बन्ध

19वीं शताब्दी के आरम्भ में कम्पनी राज्य की पूर्वी सीमा चटगाँव से लेकर उत्तर में पहाड़ियों तक तथा बंगाल की खाड़ी के पूर्व में सौ मील तक चली गई। इस सीमा-रेखा के पूर्व में स्थित असम प्रदेश में कुछ रियासतें स्वाधीन थीं तो कुछ अर्द्ध-स्वाधीन। बंगाल और असम के बीच कोई प्राकृतिक सीमा-रेखा नहीं थी। अतः कम्पनी की पूर्वी सीमा अत्यन्त अनिर्धारित एवं अस्थिर थी। असम के पूर्व में बर्मा का राष्ट्र था, जिसके बारे में अँग्रेजों को अधिक ज्ञान नहीं था तथा कुछ अँग्रेज अधिकारी तो इस 'रहस्यमय प्रदेश' को असीम शक्तिशाली माने हुए थे।

बर्मा का अभ्युदय—18वीं शताब्दी के मध्य में एक तिब्बत-चीनी नस्ल की जाति के अलोनगप्पा (अलोम्प्रा) नामक साहसी व्यक्ति ने बर्मा की राजधानी आवा पर अधिकार करके एक नये राजवंश की नींव डाली। अलोनगप्पा ने अपनी सेना को संगठित करके 1750 ई. में इरावती नदी के किनारे होता हुआ तैलंगों से पीगू तक के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। अलोनगप्पा के उत्तराधिकारियों ने भी पड़ौस के निर्बल राज्यों पर आक्रमण करके बर्मा की सीमाओं का विस्तार किया। 1766 ई. में स्याम पर आक्रमण करके बर्मा ने तनासरीन के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। बर्मी राजवंश के एक दूसरे शासक बोदव्यपा (1782-1819) के लम्बे शासनकाल में, 1784 ई.

में अराकान पर तथा 1813 ई. में मणिपुर पर भी अधिकार कर लिया। उसके शासनकाल में चीनियों ने बर्मा पर आक्रमण किया किन्तु चीनियों को मार भगाया गया। मार्च, 1817 ई. में बर्मी सेनाएँ असम की ओर बढ़ीं। यद्यपि असम के अहोम राजा ने बर्मियों का मुकाबला करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे पराजय स्वीकार करनी पड़ी। बर्मी सेनाएँ असम की राजधानी जोरहट तक आ पहुँचीं। बर्मी सेनाएँ बदनचन्द्र को असम का शासक नियुक्त कर वापिस लौट गईं। 1821 ई. में एक बार पुनः बर्मी सेनाएँ असम की ओर बढ़ीं तथा सम्पूर्ण असम क्षेत्र में बर्मी सत्ता स्थापित कर दी। अब बर्मी-सीमाएँ ब्रिटिश-सीमा से मिल गईं, क्योंकि नाफ नदी के एक ओर अराकान था तो दूसरी ओर चटगाँव था, जो कम्पनी के अधीन था। इधर असम में सिलहट क्षेत्र से भी कम्पनी की सीमा मिलती थी। अतः अब कम्पनी और बर्मा के बीच झगड़े उत्पन्न हो गये।

जब अराकान पर बर्मा का अधिकार हो गया तो अराकान के निवासी नाफ नदी को पार कर चटगाँव आ गये। बर्मी सरकार ने कम्पनी से उन व्यक्तियों की माँग की, किन्तु कम्पनी ने उन व्यक्तियों को लौटाने से इन्कार कर दिया। इतना ही नहीं, जब अराकान के व्यक्ति उपद्रव करके भागकर चटगाँव में प्रवेश करते थे अथवा प्रवेश करने का प्रयास करते थे, तो बर्मा के सैनिक उनका पीछा करते हुए कम्पनी की सीमा में प्रवेश कर जाते थे। ऐसी स्थिति में कम्पनी सरकार चुप नहीं बैठ सकती थी। किन्तु 1824 ई. के पूर्व कम्पनी और बर्मा के बीच कोई खुला संघर्ष नहीं हुआ, क्योंकि कम्पनी का ध्यान भारत के अन्य प्रदेशों पर सत्ता जमाने में लगा हुआ था।

कम्पनी और बर्मा के प्रारम्भिक सम्बन्ध—1795 ई. से 1823 ई. के बीच कम्पनी ने बर्मा के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का कई बार प्रयास किया। 1795 ई. में सर जॉन शोर ने केप्टिन साइम्स को बर्मा भेजा जिसने बर्मा के राजा के समक्ष कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने तथा बर्मा से मैत्री-सन्धि करने का प्रस्ताव रखा। किन्तु बर्मा के राजा ने इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। अतः एक वर्ष बाद ही सर जॉन शोर ने एक दूसरे प्रतिनिधि हीरमन कॉक्स को बर्मा भेजा। लेकिन उसे भी अपने उद्देश्यों में सफलता नहीं मिली। तत्पश्चात् कम्पनी ने तीन बार 1803 ई., 1809 ई. और 1811 ई. में केप्टिन केनिंग को बर्मा भेजा, किन्तु कम्पनी के ये मिशन भी असफल रहे, क्योंकि बर्मी सरकार कम्पनी से किसी प्रकार के कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने को तैयार नहीं थी। ऐसा भी कहा जाता है कि बर्मी सरकार ने इन राजदूतों के साथ बड़ा दुर्व्यवहार किया। इसी बीच अराकान की सीमा के प्रश्न को लेकर विवाद उत्पन्न हो गये। बर्मा के राजा ने माँग की कि जो भी अराकान के उपद्रवकारी भारतीय क्षेत्र में जाकर शरण लें, उन्हें बन्दी बनाकर बर्मी अधिकारियों को सौंप दिया जाय, किन्तु कम्पनी ने इसे स्वीकार नहीं किया। 1811 ई. के बाद कम्पनी ने अपना कोई प्रतिनिधि भी बर्मा नहीं भेजा। दूसरी ओर बर्मा की सरकार का रवैया भी दिन-प्रतिदिन कठोर होता जा रहा था। 1814 ई. में बर्मा की सरकार ने गवर्नर-जनरल लॉर्ड हेस्टिंग्ज को एक पत्र लिखा जिसमें ढाका, चटगाँव, मुर्शिदाबाद और कासिम बाजार के क्षेत्रों की माँग की गई और कहा कि ये चारों प्रदेश कम्पनी के अधीन होने के पूर्व अराकान को वार्षिक कर देते थे और चूँकि अराकान पर अब बर्मी सत्ता स्थापित हो गई है इसलिये ये चारों प्रदेश बर्मा के अधीन कर दिये जायँ। लेकिन लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने बर्मा की सरकार के इस पत्र को कोई महत्त्व नहीं दिया।

कम्पनी द्वारा अपने प्रतिनिधि को वर्मा भेजने का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि कम्पनी को इस बात की पूरी जानकारी मिल गई कि वर्मी सरकार सैनिक दृष्टि से कमजोर है। लॉर्ड मिण्टो बर्मा के विरुद्ध युद्ध छेड़ने की स्थिति में नहीं था, क्योंकि वह पंजाब में उलझा हुआ था। तत्पश्चात् लॉर्ड हेस्टिंग्ज मराठा, पिण्डारियों व नेपाल युद्धों में उलझ गया। किन्तु जब लॉर्ड एमहर्स्ट आया तब वह बर्मा के विरुद्ध युद्ध छेड़ने में जरा भी नहीं हिचकिचाया।

प्रथम बर्मा युद्ध के कारण—प्रथम बर्मा युद्ध के कारणों को उस समय से ढूँढा जा सकता है जबकि बर्मियों ने अराकान पर अधिकार किया था। अतः प्रथम वर्मा युद्ध के निम्नलिखित कारण बताये जा सकते हैं—

(1) बर्मी शासकों की विस्तारवादी नीति के कारण बर्मा की सीमा, ब्रिटिश-सीमा को छूने लग गई थी। जब तक ब्रिटिश भारत के उत्तर-पूर्व में छोटे-छोटे राज्य थे, कम्पनी के लिए कोई खतरा नहीं था। किन्तु जब बर्मा ने एक शक्तिशाली एवं विस्तारवादी राज्य की स्थापना कर ली तथा बर्मा की सीमा, ब्रिटिश-सीमा में मिल गई तब दोनों में युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी।

(2) बर्मा और ब्रिटिश सरकार के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित न होने से सीमा सम्बन्धी विवाद नहीं सुलझाये जा सके थे। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने इसके लिये कई बार प्रयत्न किये, लेकिन वर्मा सरकार ने ब्रिटिश प्रतिनिधियों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। फलस्वरूप 1811 ई. के बाद किसी ब्रिटिश अधिकारी को बर्मा नहीं भेजा गया। बर्मियों का कहना था कि नौकरी करने वाले अधिकारियों के साथ वर्मा का शासक किसी प्रकार की बातचीत नहीं कर सकता।

(3) युद्ध का एक कारण बर्मा दरबार की अज्ञानता और उद्दण्डता तथा दूसरी तरफ अँग्रेजी साम्राज्यवाद का विस्तारवादी स्वरूप था। बर्मा के राजा को कम्पनी की शक्ति का ज्ञान नहीं था। अराकान, मणिपुर व असम जैसे कमजोर राज्यों को जीतने के बाद बर्मा के सैनिक अधिकारी यह समझने लगे कि वे अँग्रेजों को भी आसानी से परास्त कर सकते हैं। बर्मी सेनापति महाबोन्दुला ने अपने राजा को एक पत्र लिखा था जिसमें वर्मियों को शेर और अँग्रेजों को गीदड़ बताया था। बर्मी जनता में यह अन्धविश्वास व्याप्त था कि उनका राजा अजेय है। इस प्रकार बर्मा में राजा से लेकर रंक तक युद्ध के लिए तैयार दिखाई दे रहे थे। इधर अँग्रेजों को बर्मियों की इन गतिविधियों का पता था, अतः वे भी युद्ध की तैयारी करने लगे।

(4) ब्रिटिश सरकार और बर्मा के बीच सीमा सम्बन्धी मतभेदों के कारण भी संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। अराकान पर बर्मी सत्ता स्थापित हो जाने से अराकान में वर्मी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह उठ खड़े हुए तथा वर्मी सरकार के दमन के समक्ष वे आत्मरक्षा के लिये पड़ौस के चटगाँव ज़िले में जाकर शरण ले लेते थे। बर्मी सरकार, ब्रिटिश अधिकारियों से इन विद्रोहियों को सौंपने की माँग करती थी, लेकिन ब्रिटिश सरकार उन्हें लौटाने के लिये तैयार नहीं थी। इस सीमा क्षेत्र में एक कठिनाई यह भी थी कि विद्रोहियों का पीछा करती हुई वर्मी सेना नाफ नदी को पार कर ब्रिटिश क्षेत्र में प्रवेश कर जाती थी, जिसे ब्रिटिश सरकार सीमा का उल्लंघन मानती थी।

(5) 1821 ई. तक असम पर बर्मा का अधिकार हो गया था। असम में तीन छोटे राज्य थे, जो असम के अहोम राजा के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे। ये राज्य थे—मणिपुर, कछार और जंतिया। बर्मी सरकार असम में अपने प्रभाव को सुदृढ़ करने के लिए कछार व जंतिया पर भी अपना प्रभाव जमाना चाहती थी। 1823 ई. में ज़ब लॉर्ड एमहर्स्ट आया तो उसने असम में बर्मा के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए कछार व जंतिया के शासकों से सन्धि कर ली, जिसके अनुसार कछार व जंतिया के शासकों ने अँग्रेजों की अधीनता स्वीकार करली और उन्होंने ब्रिटिश सरकार को वार्षिक कर देना भी स्वीकर कर लिया। अब इन दोनों राज्यों को लेकर भी बर्मी सरकार और अँग्रेजों के बीच मतभेद बढ़ते गये। बर्मा का शासक ऐसी किसी सन्धि को स्वीकार करने को तैयार नहीं था जिसमें कछार व जंतिया पर अँग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो। किन्तु एमहर्स्ट अब पीछे हटने वाला नहीं था। उसने इन राज्यों में ब्रिटिश सेना भेज दी तथा इस सेना को किसी भी परिस्थिति का सामना करने का आदेश दे दिया गया। इधर बर्मा ने भी अपनी सेनाओं को अपनी सीमाओं तक आगे बढ़ा दिया। इस प्रकार दोनों पक्षों की सेनाएँ आमने-सामने आ गईं। युद्ध की घोषणा होने के पहले कई स्थानों पर उनकी झड़पें हो चुकी थीं।

(6) बर्मा के साथ अँग्रेजों का झगड़ा शाहपुरी के छोटे और निर्जन द्वीप को लेकर हुआ। शाहपुरी, अराकान और ब्रिटिश सीमा को विभाजित करने वाली नाफ नदी के किनारे पर स्थित था। चटगाँव के पास कुछ अँग्रेज हाथियों का शिकार कर रहे थे, लेकिन बर्मियों ने उन्हें पकड़ लिया। इसी समय उधर से अँग्रेजों की एक नाव गुजरी। बर्मियों ने अँग्रेजों से चुँगी माँगी। अँग्रेजों ने इसका विरोध किया तथा शाहपुरी में अपनी सैनिक चौकी स्थापित कर ली और जनवरी, 1823 में अँग्रेजों ने माँग की कि शाहपुरी का टापू खाली कर दिया जाय। यद्यपि बर्मियों ने इस जगह को खाली कर दिया, किन्तु वे यह धमकी भी देते गये कि यदि अँग्रेजों ने शाहपुरी पर अधिकार किया तो वे ढाका व मुर्शिदाबाद पर आक्रमण कर देंगे। इस प्रकार शाहपुरी को लेकर दोनों पक्षों में विवाद बढ़ता गया। जब अँग्रेजों ने चटगाँव की सीमा-रक्षा के लिए कुछ सेना भेजी तब बर्मा ने माँग की कि शाहपुरी का क्षेत्र तटस्थ क्षेत्र घोषित कर दिया जाय। किन्तु अँग्रेजों ने इस माँग को स्वीकार नहीं किया तथा सितम्बर, 1823 ई. में लगभग एक हजार सैनिक इस ओर भेज दिये। फलस्वरूप फरवरी, 1824 में बर्मियों ने इस द्वीप पर आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया। इस पर 24 फरवरी, 1824 को एमहर्स्ट ने बर्मा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

युद्ध की घटनाएँ—बर्मा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा के औचित्य को सिद्ध करते हुए लॉर्ड एमहर्स्ट ने कहा कि, "बर्मी सेना के निकट आने से हमें आक्रमण की धमकी का मुकाबला करना है, अतः हमारी प्रजा की रक्षा के लिये तथा हमारे क्षेत्रों की सुरक्षा के लिये युद्ध अनिवार्य हो गया है।" उसने यह भी घोषणा की कि राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये यह युद्ध किया जा रहा है।

प्रथम बर्मी युद्ध की दो विशेषताएँ थीं—प्रथम तो यह कि बर्मी सेना पहली बार ऐसी सेना से युद्ध कर रही थी जो पश्चिमी ढँग से प्रशिक्षित थी तथा नवीनतम शस्त्रों से सुसज्जित थी। बर्मी सेना अब तक केवल अपने पड़ौस के राज्यों से ही लड़ी थी, अतः उसे पश्चिमी युद्ध प्रणाली का ज्ञान नहीं था। दूसरी विशेषता थी—ब्रिटिश सेना का समुद्र के मार्ग से आकर रंगून

पर आक्रमण करना। वर्मा के सैनिक अधिकारी अब तक अपनी समुद्र की ओर से सीमा सुरक्षित मान रहे थे। बर्मियों ने यह कल्पना ही नहीं की थी कि समुद्र की ओर से उनके देश पर आक्रमण हो सकता है।

लॉर्ड एमहर्स्ट ने जनरल आर्चिवाल्ड केम्पबेल की कमान में 11 हजार सैनिकों का विशाल दल कप्तान मेरियट के जहाजी वेड़े के साथ रंगून की तरफ भेजा। ब्रिटिश सेना ने विना किसी विशेष कठिनाई के 11 मई, 1824 को रंगून पर अधिकार कर लिया। बर्मा के शासक को आशा थी कि जिन प्रदेशों के सम्बन्ध में विवाद है उन्हीं प्रदेशों तक युद्ध सीमित रहेगा। चूँकि रंगून के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं था, अतः रंगून पर आक्रमण की बात वह सोच भी नहीं सकता था। ब्रिटिश सेना का आक्रमण होते ही वर्मी सेना, जो थोड़ी बहुत वहाँ तैनात थी तथा नगर निवासी अपने साथ सभी प्रकार की खाद्य सामग्री लेकर जंगलों में जा छुपे। दो अन्य ब्रिटिश सेनाएँ स्थल मार्ग से बर्मा पर आक्रमण करने आगे बढ़ीं। इस ब्रिटिश सेना ने गोलपाड़ा व गोहाटी पर अधिकार कर लिया तथा असम के प्रमुख शहर नौगाँव तक पहुँच गई। असम में दोनों पक्षों में कुछ संघर्ष हुआ, किन्तु कुछ ही महीनों में ब्रिटिश सेना ने असम के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया।

इसी समय बर्मा के राजा ने अपने सर्वोत्तम योग्य सेनापति महाबान्दुला को एक विशाल सेना देकर चटगाँव-अराकान सीमा पर भेजा। महाबान्दुला ने चटगाँव की सीमा पर स्थित रामु नामक स्थान पर ब्रिटिश सेना को शिकस्त दी, जिससे महावान्दुला को बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इससे कम्पनी की उत्तरी-पूर्वी सीमा के लिये भीषण संकट उत्पन्न हो गया। किन्तु रंगून के हाथ से निकल जाने से तथा ब्रिटिश सेना के नदी मार्ग से राजधानी की ओर अग्रसर होने की सम्भावना से बर्मा के राजा ने महाबान्दुला को बंगाल की ओर से हटाकर रंगून जाने का आदेश दिया। दिसम्बर, 1824 में महावान्दुला लगभग 60 हजार सेना लेकर केम्पबेल के विरुद्ध युद्ध करने रंगून पहुँचा। 15 दिसम्बर, 1824 को दोनों पक्षों में भीषण युद्ध हुआ, जिसमें महावान्दुला परास्त हुआ और डोनाव्यू की ओर हटने के लिये विवश हो गया और वहाँ अपनी मोर्चाबन्दी सुदृढ़ करली। फरवरी, 1825 में केम्पबेल ने अपनी सेना को दो भागों में बाँटकर एक जहाजी वेड़े के साथ व दूसरी इरावती नदी के किनारे-किनारे स्थल मार्ग से आगे बढ़ा। अप्रैल, 1825 में डोनाव्यू में दोनों पक्षों में युद्ध हुआ। यद्यपि महाबान्दुला ने ब्रिटिश सेना का बड़ी वीरता से सामना किया, किन्तु युद्ध के बीच अचानक गोली लग जाने से उसकी मृत्यु हो गयी। डोनाव्यू के युद्ध में केम्पवेल को भारी सफलता प्राप्त हुई।

डोनाव्यू में विजयी होकर केम्पवेल ने 25 अप्रैल, 1825 को लोअर बर्मा की राजधानी प्रोम पर अधिकार कर लिया। इसके बाद केम्पबेल ने वर्षा ऋतु प्रोम में ही व्यतीत की। तत्पश्चात् केम्पवेल को आगे बढ़ता देखकर बर्मा सरकार ने सन्धि-वार्ता आरम्भ करदी। किन्तु वार्ता असफल रहने के कारण 1825 ई. के अन्त में पुनः युद्ध आरम्भ हो गया। ब्रिटिश सेना आगे बढ़ती गई तथा वर्मा की राजधानी आवा से केवल 8 मील दूर पगान (पंगा) नामक स्थान पर बर्मा की सेनाओं को बुरी तरह से पराजित कर यांडबू पर अधिकार कर लिया।

यांडबू की सन्धि—यांडबू पर ब्रिटिश सेना का अधिकार हो जाने के बाद बर्मी सरकार अत्यन्त ही हतोत्साहित हो गई तथा 24 फरवरी, 1826 को कम्पनी व बर्मा सरकार के बीच सन्धि हो गयी जिसे यांडबू की सन्धि कहते हैं। इस सन्धि की मुख्य शर्तें निम्न थीं—

(1) बर्मा ने सम्पूर्ण असम क्षेत्र कम्पनी के सुपुर्द कर दिया। इससे असम के तीन छोटे राज्य—मणिपुर, कछार व जंतिया भी ब्रिटिश प्रभाव में आ गये। मणिपुर का स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहा और यहाँ का राजा अँग्रेजों की अधीनता स्वीकार करते हुए शासन करता रहा। कुछ वर्षों बाद कछार और जंतिया पूरी तरह से ब्रिटिश प्रभाव में आ गये।

(2) बर्मा राज्य के दो प्रान्त—अराकान व तुनासरीन, जो समुद्र के किनारे के क्षेत्र थे, कम्पनी के अधिकार में आ गये। इससे अँग्रेजों ने पहली बार बर्मा की भूमि पर पैर जमाये।

(3) बर्मा सरकार ने ब्रिटिश सरकार को एक करोड़ रुपया क्षतिपूर्ति के रूप में दिया।

(4) दोनों राज्यों के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय किया गया। तदनुसार एक ब्रिटिश राजदूत को बर्मा भेजा गया तथा एक बर्मी राजदूत को कलकत्ता भेजा गया।

(5) दोनों राज्यों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय किया गया। अतः दोनों देशों के बीच अलग से एक व्यापारिक सन्धि हुई।

इस सन्धि के साथ ही दोनों शक्तियों के बीच संघर्ष समाप्त हो गया।

प्रथम बर्मा युद्ध का महत्त्व—किसी भी घटना का महत्त्व उसके परिणामों में निहित है। यांडबू की सन्धि से अँग्रेजों को बहुत लाभ प्राप्त हुए। वास्तव में अँग्रेजों ने केवल सीमा सुरक्षा के लिये युद्ध नहीं किया था, यह तो युद्ध छेड़ने का बहाना मात्र था। उनका लक्ष्य तो ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार करना था। कछार और जंतिया राज्यों के सम्बन्ध में एमहर्स्ट ने सक्रिय हस्तक्षेत्र की नीति अपनाई थी। वह जानता था कि बर्मा इसका विरोध करेगा। किन्तु एमहर्स्ट ने इसकी कोई परवाह नहीं की। इसका कारण यह था कि एमहर्स्ट बर्मा के शासक के रवैये से खिन्न था और वह बर्मा के शासक को सबक सिखाना चाहता था, जिसके लिये वह बहाना ढूँढ रहा था। अतः उसने सीमा-विवाद को हल करने के बहाने बर्मा की शक्ति को कुचलने की नीति अपनाई। यांडबू की सन्धि से कम्पनी का राजनैतिक प्रभाव विस्तृत हुआ तथा कम्पनी के व्यापारिक क्षेत्र में वृद्धि हुई। मुख्य बर्मा में अँग्रेजों के पैर जम गये जिससे भविष्य में बर्मा पर अधिकार करने का मार्ग प्रशस्त हो गया। किन्तु इससे न केवल बर्मा का राज्य-विस्तार रुक गया बल्कि उसे अपने दो प्रान्त भी ब्रिटिश सरकार को सौंपने पड़े। इस युद्ध से कम्पनी को अत्यधिक धन और सैन्य-क्षति पहुँची, जिससे कम्पनी को भीषण आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। यद्यपि अँग्रेजों को बर्मा सरकार से एक करोड़ रुपया प्राप्त हुआ, लेकिन यह उनके वास्तविक व्यय का दशांश भी नहीं था। इस युद्ध में ब्रिटिश सेनानायकों ने बड़ी शिथिलता एवं निष्क्रियता प्रदर्शित की थी। यदि मद्रास के गवर्नर ने समय पर रसद व सैनिक सहायता न भेजी होती तो अँग्रेजों को बर्मा में पराजय के दर्शन करने पड़ते। इस युद्ध के बाद एमहर्स्ट को 'अर्ल ऑफ अराकान' की उपाधि से विभूषित किया गया, जबकि वह इसका अधिकारी नहीं था। वह एक सामान्य व्यक्ति था और भारतीय राजनीति से सर्वथा अनभिज्ञ था। बर्मा-युद्ध के मामले को लेकर ब्रिटिश संसद

में एमहर्स्ट की बड़ी आलोचना हुई तथा युद्ध में कम्पनी को हुई भीषण क्षति के लिये उसे दोषी ठहराया गया। किन्तु चूँकि युद्ध के परिणाम अँग्रेजों के हित में थे, अतः ब्रिटिश संसद ने युद्ध में हुई क्षति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

दुर्भाग्य की बात है कि इस युद्ध से वर्मा के शासकों ने कोई सवक नहीं सीखा। 1826 ई. के बाद बर्मा की सैन्य शक्ति घटती गई, फिर भी बर्मा के शासकों ने इस स्थिति को सुधारने का कोई प्रयास नहीं किया, वल्कि वे आपसी संघर्षों में ही उलझे रहे। प्रशासन की ओर तो उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। वर्मा की कमजोरियों का अँग्रेजों को ज्ञान हो गया, जिसका उन्होंने आगे चलकर लाभ उठाया।

द्वितीय बर्मा युद्ध—वर्मा के शासक वाग्योदा के शासनकाल में प्रथम वर्मा युद्ध हुआ था। वाग्योदा ने यद्यपि परिस्थितियों से विवश होकर यांडवू की सन्धि स्वीकार कर ली थी, किन्तु वह अपनी पराजय की कालिमा को धो डालना चाहता था। युद्ध के बाद उसका स्वास्थ्य गिरने लगा। 1837 ई. में उसके भाई थारावड़ी ने षड्यन्त्र करके बर्मा की गद्दी हथिया ली। उसने 1837 से 1846 तक शासन किया, लेकिन उसने शासन-व्यवस्था की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। 1846 ई. में वाग्योदा के पुत्र पैगन ने षड्यन्त्र करके सत्ता हथिया ली। पैगन ने 1846 ई. से लेकर 1853 ई. तक शासन किया और उसी के शासनकाल में दूसरा बर्मा युद्ध हुआ था।

यांडबू की सन्धि द्वारा वर्मा सरकार ने एक करोड़ रुपया क्षतिपूर्ति देना व दोनों के वीच कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय किया था। क्षतिपूर्ति की रकम तो 1833 ई. में अदा करदी गई किन्तु गवर्नर-जनरल के पास अपना राजदूत भेजना बर्मा सरकार ने अपना अपमान समझा, अतः अपना कोई राजदूत कलकत्ता नहीं भेजा। बर्मा के दरवार में ब्रिटिश रेजीडेण्ट के साथ बड़ा अपमानजनक व्यवहार हुआ, अतः 1840 ई. के बाद वहाँ ब्रिटिश रेजीडेण्ट नहीं रह सका। इस प्रकार 1840 ई. के बाद दोनों के बीच कोई सम्पर्क नहीं रहा।

द्वितीय बर्मा युद्ध के कारण—वर्मा का शासक ब्रिटिश सैन्य-शक्ति से आतंकित था, अतः वह युद्ध से दूर रहने का प्रयत्न करता रहा। इसलिये दूसरे वर्मा युद्ध के लिये अँग्रेज जितने तैयार थे, बर्मा सरकार उतना ही उससे बचना चाहती थी। फिर भी 1852 ई. में उस पर युद्ध थोप दिया गया। इस युद्ध के निम्नलिखित कारण थे—

(1) जब बर्मा की गद्दी पर थारावडी नामक नया राजा बैठा तो उसने यांडवू की सन्धि को मानने से इन्कार कर दिया। उसका कहना था कि, अँग्रेजों ने मेरे भाई को पराजित किया है मुझे नहीं। यांडवू की सन्धि मानने की पाबन्दी मुझ पर नहीं हो सकती, क्योंकि यह सन्धि मैंने नहीं की है। मैं रेजीडेण्ट से एक साधारण व्यक्ति जैसी ही भेंट करूँगा, रेजीडेण्ट की हैसियत से नहीं। वे कब समझेंगे कि मैं केवल इंगलैण्ड के शाही दूत से ही भेंट कर सकता हूँ।" फलस्वरूप 1840 ई. में अँग्रेज रेजीडेण्ट को वापिस बुला लिया गया और दोनों के सम्बन्ध कटु होने लगे।

(2) एशियायी लोग यूरोपीय जातियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। बर्मा में भी अँग्रेजों के प्रति यही भावना थी। इसलिये वे अँग्रेज रेजीडेण्ट की कोई परवाह नहीं करते थे और कभी-कभी तो उसका अपमान भी कर दिया करते थे। इसके अतिरिक्त यह अफवाह भी फैलने लगी कि

बर्मा का राजा अँग्रेजों को निकालने के लिये चीन, फ्रांस और स्याम के राजाओं से सहायता लेने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रकार दोनों पक्षों में सन्देह और घृणा फैलने लगी।

(3) लॉर्ड डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति ही दूसरे बर्मा युद्ध का मुख्य कारण थी। डलहौजी भारत में एक सुसंगठित साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। बंगाल की खाड़ी पर प्रभुत्व जमाने के लिये इरावती नदी के तटवर्ती क्षेत्र तथा वहाँ के उपयोगी बन्दरगाह—रंगून पर अधिकार करके इस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त उस समय अमेरिका व फ्रांस पूर्वी देशों पर अधिकार जमाने का प्रयत्न कर रहे थे। डलहौजी को इस बात की आशंका थी कि अमेरिका या फ्रांस एक दिन अचानक बर्मा पर अधिकार कर लेंगे जिससे अँग्रेजों के व्यापारिक हितों पर कुठाराघात होगा। अतः डलहौजी चाहता था कि किसी अन्य शक्ति द्वारा वर्मा पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने से पूर्व ही बर्मा को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया जाय।

(4) यांडबू की सन्धि के बाद बर्मा और ब्रिटिश सरकार के बीच एक व्यापारिक सन्धि हुई थी, जिसके अनुसार ब्रिटिश व्यापारियों को रंगून तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में बसने व व्यापार करने की सुविधा प्राप्त हो गई थी। किन्तु अँग्रेज व्यापारियों का व्यवहार बड़ा अनुचित था। वे चुँगी तथा अन्य करों की अदायगी को लेकर झगड़ा-फसाद करने लगे। पैगन के सम्राट बनने के बाद अँग्रेज व्यापारियों पर कड़ी निगरानी रखी जाने लगी तथा रंगून के नये गर्वनर ने कर-वसूली की कड़ी व्यवस्था की। अँग्रेज व्यापारियों को नियमानुसार कर देने के लिये बाध्य किया गया। अँग्रेज व्यापारी कभी पूरा कर देना नहीं चाहते थे। अत: जब उन पर सख्ती की गई तो उन्हें असुविधा होने लगी। इसी समय व्यापारियों ने एक बर्मी की हत्या कर दी। अतः उन पर मुकदमा चलाया गया। यद्यपि वर्मा के न्यायालय ने अपराधियों के साथ वड़ा उदार व्यवहार किया तथा साधारण जुर्माना करके मुक्त कर दिया, फिर भी अँग्रेज बड़े नाराज हुए और बर्मा सरकार के दुर्व्यवहार सम्बन्धी अनेक शिकायतें बढ़ा-चढ़ा कर भारत के गवर्नर-जनरल के पास भेजने लगे। उन्होंने यह भी शिकायत की कि बर्मा सरकार निश्चित कर से अधिक कर वसूल कर रही है। साधारणतया ऐसी शिकायतों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाना चाहिये था। क्योंकि यदि अँग्रेजों के लिये बर्मा में व्यापार करना असुविधाजनक था, तो वे बर्मा से हट सकते थे। उन्हें बर्मा में व्यापार करने को कोई बाध्य नहीं कर रहा था। लेकिन अँग्रेज तो केवल अपनी ही शर्तों पर बर्मा में व्यापार करना चाहते थे।

डलहौजी के पूर्वाधिकारियों ने, दूसरे देशों में व्यापार करने वालों की कठिनाइयों के कारण वहाँ हस्तक्षेप की नीति नहीं अपनाई थी, लेकिन डलहौजी ने कहा कि सन्धि के अनुसार अँग्रेजों को बर्मा में व्यापार करने का अधिकार प्राप्त है और यह बर्मा सरकार का दायित्व है कि वह अँग्रेज व्यापारियों को सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करे। इधर रंगून के गवर्नर ने अँग्रेज व्यापारियों द्वारा नियमानुसार कर अदा न करने पर उन पर जुर्माना लगाया। इस पर अँग्रेज व्यापारियों ने डलहौजी को अपील की। डलहौजी तो हस्तक्षेप करने को तैयार बैठा था। अँग्रेज व्यापारियों की शिकायतों ने उसे अवसर प्रदान कर दिया। डलहौजी की इस नीति ने दूसरे बर्मा-युद्ध का सूत्रपात कर दिया।

(5) डलहौजी के पास इस प्रकार के शिकायती-पत्र पहुँचने पर उसने मामले की जाँच किये बिना ही घोषणा की कि रंगून के गवर्नर ने यांडबू की सन्धि का उल्लंघन किया है, अतः बर्मा

सरकार इसकी क्षतिपूर्ति अदा करे। इस घोषणा के साथ ही डलहौजी ने अपनी नौ-सेना के प्रधान लेम्बर्ट को तीन युद्धपोत लेकर रंगून पहुँचने का आदेश दिया। उसे यह भी आदेश दिया कि रंगून पहुँचकर वर्मा सरकार से लगभग नौ हजार रुपये की क्षतिपूर्ति की माँग करे। डलहौजी को आशा थी कि ब्रिटिश नौ-सैनिक जहाजों को देखकर बर्मा सरकार उन सभी माँगों को स्वीकार कर लेगी, जिनकी माँग उनसे की जायेगी। लेम्बर्ट ने 25 नवम्बर, 1851 को रंगून के बन्दरगाह पर पहुँचकर लंगर डाल दिया तथा बर्मा के राजा को एक पत्र लिखा जिसमें माँग की गई कि—(1) रंगून स्थित बर्मी गवर्नर को उसके पद से हटा दिया जाय। (2) बर्मा सरकार नौ हजार रुपये की क्षतिपूर्ति अदा करे। (3) बर्मा सरकार भविष्य में अँग्रेज व्यापारियों को पूरी सुविधाएँ प्रदान करे। लेम्बर्ट ने बर्मी सरकार से तीन सप्ताह के अन्दर इसका उत्तर माँगा। ब्रिटिश जहाजों के रंगून पहुँचने पर वर्मा का राजा आश्चर्यचकित रह गया, क्योंकि इन जहाजों के आने का न तो उसे कारण ज्ञात था और न उसे इसकी पूर्व सूचना थी। फिर भी वर्मा के राजा ने लेम्बर्ट के पत्र का तुरन्त उत्तर भिजवा दिया, जिसमें उसने रंगून के बर्मी गवर्नर को हटाने का वादा किया तथा मामले की जाँच के बाद जहाँ आवश्यक होगा वहाँ क्षतिपूर्ति देने का भी वादा किया। बर्मा के राजा ने रंगून के गवर्नर को हटाकर नये व्यक्ति को रंगून का गवर्नर नियुक्त कर दिया। लेम्बर्ट ने नये गवर्नर से मिलने की इच्छा व्यक्त की तथा दूसरे दिन उसने अपने तीन अधिकारियों को नये गवर्नर से मिलने भेज दिया। कहा जाता है कि उस समय गवर्नर आराम कर रहा था, अतः गवर्नर के कर्मचारियों ने उन्हें प्रविष्ट होने से रोका, किन्तु अँग्रेज अधिकारी अपने घोड़े दौड़ाते हुए गवर्नर की कोठी में घुस गये। अँग्रेज अधिकारियों की इस असभ्यता को देखकर गवर्नर ने उनसे मिलने से इन्कार कर दिया। इन अँग्रेज अधिकारियों ने लौटकर लेम्बर्ट के कान भरे। लेम्बर्ट ने तुरन्त घेराबन्दी की घोषणा कर दी तथा क्षतिपूर्ति की तुरन्त अदायगी व रंगून के गवर्नर की ओर से क्षमा-याचना की माँग की। इतना ही नहीं, उसने बर्मा के राजा के एक जहाज को भी पकड़ लिया। फिर भी रंगून का गवर्नर उत्तेजित नहीं हुआ। दूसरे दिन लेम्बर्ट ने ब्रिटिश जहाजों को आगे बढ़ने का आदेश दे दिया। रंगून के गवर्नर ने ब्रिटिश जहजों को आगे न बढ़ने की चेतावनी दी, लेकिन लेम्बर्ट ने जब इसकी कोई परवाह नहीं की तब गवर्नर ने तोपें चलाने की आज्ञा दे दी। लेम्बर्ट ने भी तोपों का जवाब तोपों से दिया। इस प्रकार दोनों ओर से गोलावारी शुरू हो गयी।

युद्ध की घटनाएँ—जब लॉर्ड डलहौजी को उक्त घटना की सूचना मिली तो डलहौजी ने बर्मा के राजा को अन्तिम चेतावनी देते हुए लिखा कि वह 1 अप्रैल, 1852 तक एक लाख पौण्ड क्षतिपूर्ति अदा करे तथा रंगून के गवर्नर द्वारा किये गये दुर्व्यवहार के कारण उससे क्षमा-याचना भिजवाये, अन्यथा अवधि समाप्त होते ही बर्मा पर आक्रमण कर दिया जायेगा। इसके साथ ही डलहौजी ने युद्ध की तैयारियाँ आरम्भ कर दीं। उसने एक विशाल अँग्रेजी सेना जनरल गाडविन के नेतृत्व में चेतावनी के साथ-साथ रंगून भेज दी। 2 अप्रैल, 1852 को गाडविन ने मर्तबान पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् ब्रिटिश सेना ने रंगून पर आक्रमण कर दिया। भीषण संघर्ष के बाद ब्रिटिश सेना ने रंगून पर भी अधिकार कर लिया। इसके बाद ब्रिटिश सेना ने इरावती नदी की घाटी में स्थित महत्त्वपूर्ण नगर बसीन पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार पीगू के सम्पूर्ण

समुद्री तट पर अँग्रेजों का अधिकार हो गया। सितम्बर,1852 में डलहौजी स्वयं रंगून जा पहुँचा। ब्रिटिश सेना ने 9 अक्टूबर,1852 को प्रोम पर भी अधिकार कर लिया। प्रोम पर अधिकार होते ही अँग्रेजों को सम्पूर्ण निचले बर्मा का स्वामी बना दिया। दिसम्बर,1852 में सम्पूर्ण निचला बर्मा ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। जीते हुए क्षेत्रों को मिलाकर एक प्रान्त बना दिया गया, जिसकी राजधानी रंगून रखी गई। डलहौजी ने बर्मा के साथ शान्ति-सन्धि करने के प्रति कोई रुचि नहीं दिखाई। यद्यपि कुछ समय तक तो सन्धि वार्ता चली किन्तु वार्ता शीघ्र ही भंग हो गयी और स्वतः ही शान्ति स्थापित हो गई। बर्मी सरकार ने भी यथास्थिति को स्वीकार कर लिया।

कुछ समय बाद बर्मी राजा पैगन को गद्दीच्युत कर मिन्डन बर्मा का नया शासक बना, जिसने अँग्रेजों के साथ सम्बन्ध सुधारने की नीति का अवलम्बन किया। उसने 1852 ई. की सीमाओं को स्वीकार कर लिया। उसके शासनकाल में आंग्लबर्मा सम्बन्धों में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई।

दूसरे बर्मा युद्ध का महत्त्व एवं औचित्य—प्रथम बर्मा युद्ध के फलस्वरूप बर्मा के समुद्री तट के केवल दो प्रान्त—अराकान व तनासरीन पर ब्रिटिश आधिपत्य स्थापित हुआ था, किन्तु दूसरे युद्ध के फलस्वरूप सम्पूर्ण दक्षिणी बर्मा पर ब्रिटिश आधिपत्य स्थापित हो गया। अब ब्रिटिश साम्राज्य की सीमाएँ सालवीन नदी तक फैल गईं। उत्तरी बर्मा का समुद्र के साथ कोई सीधा सम्पर्क नहीं रहा। बंगाल की खाड़ी का पूर्वी किनारा चटगाँव से सिंगापुर तक अँग्रेजों के अधिकार में आ गया। अब अँग्रेजों के भारतीय बन्दरगाहों से होकर व्यापारिक जहाज बिना रोकटोक के रंगून होते हुए सिंगापुर जा सकते थे। अब बर्मा में किसी अन्य यूरोपीय अथवा अमेरिकन शक्ति का प्रभाव स्थापित होने की सम्भावना समाप्त हो गयी। चावल तथा सागवान की लकड़ी का पूर्वी व्यापार अँग्रेजों के हाथ में चला गया। पीगू का प्रान्त अँग्रेजों को मिल जाने से ब्रिटिश साम्राज्य साधन सम्पन्न हो गया। वस्तुतः दक्षिणी बर्मा पर अधिकार करना अँग्रेजों का पहला कदम था। डलहौजी ने बर्मा में ब्रिटिश साम्राज्य विस्तार की आधारशिला रख दी तथा कुछ ही दशकों में सम्पूर्ण बर्मा को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया।

द्वितीय बर्मा युद्ध का कारण डलहौजी की साम्राज्यवादी भावना तथा ब्रिटिश हितों की रक्षा करना था। डलहौजी प्रारम्भ से ही यह निश्चय कर चुका था कि बर्मा को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाना है। वर्मा के अँग्रेज व्यापारियों ने जानबूझकर बर्मा दरबार पर आरोप लगाये थे, किन्तु डलहौजी ने इन शिकायतों की न तो कोई जाँच की और न प्रमाण प्राप्त करने का प्रयत्न किया। वास्तव में अँग्रेज व्यापारी डलहौजी की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति से परिचित थे। डलहौजी के कुछ समर्थक इतिहासकारों का कहना है कि डलहौजी युद्ध नहीं चाहता था तथा जिन माँगों को उसने बर्मा दरबार के समक्ष रखा वह केवल बर्मा के राजा को डराने-धमकाने के लिये तथा बिना युद्ध किये समझौता करने के लिये ही थीं। लेकिन इस कथन में कोई सत्यता नहीं है। डलहौजी तो अपनी साम्राज्यवादी लिप्सा शान्त करने के लिये युद्ध करने पर तुला हुआ था। 24 अप्रैल,1852 को उसने लिखा भी था कि, "यह प्रश्न मामूली अपमान का नहीं है, बल्कि गम्भीर सम्मान का है। साधारण प्रश्न तो यह है कि क्या सम्पूर्ण एशिया की आँखों के सामने इंगलैण्ड आवा-दरबार के

सामने झुक जाय ?" बाद में बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के अध्यक्ष ने डलहौजी को लिखा भी था कि उसने बर्मा दरबार को बड़ा कठोर पत्र लिखा था। इसके प्रत्युत्तर में डलहौजी ने लिखा था कि, "भारत या अन्य पूर्वी देशों में सभ्य देशों की भाँति कूटनीति की भाषा का प्रयोग सफल नहीं हो सकता। इन देशों में तो कठोर और भय उत्पन्न करने वाली भाषा ही काम दे सकती है।" डलहौजी के इस कथन से स्पष्ट है कि 19वीं शताब्दी में यूरोपीय जातियाँ अपनी शक्ति और सभ्यता की श्रेष्ठता के आधार पर अपने साम्राज्य का विस्तार करना अपना अधिकार समझती थीं। ऐसी स्थिति में डलहौजी द्वारा बर्मा में की गई कार्यवाही का किसी भी प्रकार से समर्थन करना सर्वथा अनुचित होगा।

तृतीय बर्मा युद्ध—दूसरे बर्मा युद्ध के कारण डलहौजी की द्विपक्षीय आलोचना होने लगी। कुछ के अनुसार सम्पूर्ण बर्मा को विजय न करके उसने भयंकर भूल की थी तथा कुछ के अनुसार बर्मा के साथ छेड़छाड़ की कोई आवश्यकता नहीं थी। इंगलैण्ड में पहली विचारधारा बलवती होने लगी। भारत सचिव उत्तरी बर्मा को अधिक महत्त्वपूर्ण समझने लगा। यदि अँग्रेजों की सर्वोच्चता ब्रिटिश बर्मा और चीन के बीच के स्थानों पर कूटनीति द्वारा स्थापित नहीं हो सकती और यदि कोई दूसरी शक्ति वहाँ अपना प्रभाव स्थापित करे उससे पहले उत्तरी बर्मा को जीतना आवश्यक समझा गया। अतः दक्षिणी बर्मा को जीतकर अँग्रेजों को सन्तोष नहीं हुआ। वे ऐसे अवसर की तलाश में थे जबकि वे सम्पूर्ण बर्मा पर अपना प्रत्यक्ष अधिकार कर सकें। दूसरे बर्मा युद्ध के बाद कुछ ऐसे कारण उत्पन्न हो गये, जिससे तीसरा बर्मा-युद्ध हुआ और सम्पूर्ण बर्मा को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। तीसरे बर्मा-युद्ध के मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

(1) दूसरे बर्मा-युद्ध के बाद अँग्रेजों के आर्थिक साम्राज्यवाद का जाल फैलता रहा। बर्मा सरकार के साथ नई-नई सन्धियाँ करके अँग्रेज अपने अधिकारों में वृद्धि करते रहे। 1862 ई. की सन्धि के अनुसार अँग्रेजों को बर्मा की सीमाओं में रहने का अधिकार मिल गया। उन्हें बर्मा की सीमाओं से होकर चीन से व्यापार करने का अधिकार प्राप्त हो गया। 1867 ई. की एक दूसरी सन्धि द्वारा बर्मा ने लकड़ी, तेल तथा कीमती पत्थर के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं के व्यापार पर से अपना एकाधिकार त्याग दिया, बर्मा की राजधानी में ब्रिटिश रेजीडेण्ट को रहने की सुविधा दी गई तथा उसे ब्रिटिश नागरिकों के हितों की देखभाल का अधिकार दे दिया गया। इसके अतिरिक्त बर्मा सरकार को विभिन्न वस्तुओं की चुँगी समाप्त करने, विभिन्न भागों में एक राजनीतिक प्रतिनिधि रखने तथा युन्नान व रंगून के बीच जल यात्रा करने आदि के लिये विवश किया गया। अँग्रेज रंगून से प्रोम तक एक रेलवे लाइन भी बनाना चाहते थे। अँग्रेज इससे भी सन्तुष्ट नहीं थे। वे उत्तरी बर्मा को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने का जाल भी फैला रहे थे।

(2) बर्मा का राजा अँग्रेजों से घृणा करता था। बर्मा का राजा व अधिकारी, दो युद्धों में पराजित होने के बाद भी अपने को अँग्रेजों से श्रेष्ठ समझ रहे थे। बर्मी प्रथा के अनुसार विदेशी प्रतिनिधि को राजा के समक्ष उपस्थित होते समय अपने पैर से जूते उतारने पड़ते थे। अँग्रेजों को यह प्रथा अरुचिकर लगती थी। अतः 1876 ई. में गवर्नर-जनरल के आदेशानुसार अँग्रेजों ने इस प्रथा का पालन करना बन्द कर दिया। इस पर बर्मा के राजा ने कहा कि वह जूते के लिये अवश्य

युद्ध करेगा, हालाँकि उसने पीगू के लिए युद्ध नहीं किया था। इसके प्रत्युत्तर में अँग्रेज प्रतिनिधियों ने राजा से मिलना ही बन्द कर दिया।

(3) इसी समय बर्मा के राजा की कुछ गतिविधियों ने अँग्रेजों को नाराज कर दिया। 1873 ई. में बर्मा ने फ्रांस के साथ एक व्यापारिक सन्धि की, जिसमें एक शर्त यह भी थी कि फ्रांसीसी अधिकारी बर्मी सैनिकों को सैनिक प्रशिक्षण देंगे। अँग्रेजों ने इसका घोर विरोध किया तथा दबाव डालकर सन्धि को रद्द करवा दिया। बर्मा ने इसी तरह की सन्धि इटली से भी की जिसमें इटली ने बर्मा को कुछ सैनिक सामान देने का वादा किया। अँग्रेजों ने पुनः हस्तक्षेप किया और सन्धि की इस शर्त को रद्द करवा दिया। बर्मा की सरकार ने अपना एक प्रतिनिधिमण्डल ईरान भेजा तथा विदेशी शक्तियों के सहयोग से बर्मा में तोपें व बन्दूक बनाने का कारखाना स्थापित करने का प्रयत्न किया। अँग्रेज अधिकारी बर्मा के राजा की इन गतिविधियों को सहन नहीं कर सके।

थीबा की नीति—1878 ई. में मिण्डन की मृत्यु के बाद उसका युवा पुत्र थीबा बर्मा की गद्दी पर बैठा। इस समय लॉर्ड लिटन भारत का गवर्नर-जनरल था, जो अग्रगामी विदेश-नीति का समर्थक था। लॉर्ड लिटन ने बर्मा के नये राजा से अनेक नई सुविधाओं की माँग की, जिसमें जूते उतारने की प्रथा समाप्त करने की भी बात थी। थीबा ने अँग्रेजों की सभी माँगें स्वीकार करलीं, लेकिन जूते उतारने की प्रथा समाप्त करने से इन्कार कर दिया।

इसी बीच 1879 ई. में थीबा ने राज परिवार के लगभग 80 व्यक्तियों का कत्ल करवा दिया। इस पर लॉर्ड लिटन ने ब्रिटिश रेजीडेण्ट को घटना की विस्तृत रिपोर्ट देने को कहा। ब्रिटिश रेजीडेण्ट ने इस कत्लेआम के सम्बन्ध में एक कठोर पत्र थीबा को लिखा। बर्मा दरबार ने कहा कि यह काम राज्य हित में किया गया है। इस बार सम्पूर्ण ब्रिटिश जाति ने बर्मा को अँग्रेजी राज्य में मिलाने की माँग की। उनका कहना था कि जनता को क्रूर व अत्याचारी शासक से मुक्ति दिलाने के लिये बर्मा पर ब्रिटिश आधिपत्य आवश्यक है। किन्तु अफगानिस्तान में लॉर्ड लिटन की अग्रगामी नीति असफल हो जाने के कारण, ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ग्लेडस्टोन संयम से काम कर रहा था। फिर भी, बर्मा दरबार और अँग्रेजों के सम्बन्ध दिनों-दिन खराब होते गये। अक्टूबर, 1879 ई. में ब्रिटिश रेजीडेण्ट व अन्य अँग्रेज अधिकारियों ने माण्डले (1857 ई. में बर्मा की राजधानी आवा से बदलकर माण्डले कर दी गई थी) को छोड़ दिया।

थीबा ने अपने पिता की तरह कुछ यूरोपीय शक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। 1883 ई. में उसने अपना राजदूत पेरिस भेजा। अँग्रजों ने राजनयिक माध्यम से इसका विरोध किया तथा फ्रांस से यह वादा कराया कि यदि बर्मा से कोई सन्धि की जायेगी तो वह विशुद्ध व्यापारिक सन्धि होगी। जनवरी, 1885 ई. में बर्मा और फ्रांस के बीच एक व्यापारिक सन्धि सम्पन्न हो गयी। यद्यपि इस सन्धि में कोई राजनीतिक धारा नहीं थी, फिर भी अँग्रेज इस सन्धि से असन्तुष्ट थे। इसी बीच यह अफवाह फैली कि बर्मा ने फ्रांसीसियों को रेल लाइन बनाने, हीरे निकालने, माण्डले में एक बैंक खोलने के अधिकार व अन्य व्यापारिक सुविधाएँ प्रदान करदी हैं। यद्यपि यह सब अफवाह मात्र थी, फिर भी अँग्रेज, फ्रांसीसियों की प्रतिस्पर्द्धा से भयभीत हो उठे। अँग्रेज व्यापारियों ने भारत सचिव पर दबाव डाला कि या तो सम्पूर्ण बर्मा को जीतकर

ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया जाय या वहाँ ऐसे शासक को गद्दी पर वैठाया जाय जो पूरी तरह अँग्रेजों पर निर्भर हो। व्यापारी वर्ग के दबाव के कारण ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय कर लिया कि सम्पूर्ण बर्मा को अँग्रेजी राज्य में मिला लिया जाय। तत्कालीन गवर्नर-जनरल लॉर्ड डफरिन आरम्भ से ही बर्मा हो जीतना चाहता था। अतः अब बर्मा और अँग्रेजों का युद्ध अनिवार्य हो गया।

युद्ध और बर्मा का विलय—1881 ई. में भारत सरकार के एक आयोग ने बर्मा और मणिपुर की सीमा को निश्चित किया था। किन्तु बर्मा सरकार ने इसे मानने से इन्कार कर दिया और धमकी दी कि वह सीमा पर गड़े पत्थरों को उखाड़ फेंकेगा। इस पर अँग्रेजों ने मणिपुर के शासक को आदेश दिया कि यदि बर्मा ऐसा करे तो उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की जाय। लेकिन इस समय बर्मा के राजा ने संयम से काम लिया, जिससे कोई खुला संघर्ष नहीं हुआ। फिर भी युद्ध अधिक दिनों तक नहीं टाला जा सका।

एक अँग्रेज व्यापारिक कम्पनी—बम्बई-बर्मा व्यापारिक कारपोरेशन को वर्मा में जंगलों का ठेका दिया गया था। यह कम्पनी बिना उचित कर अदा किये कार्य कर रही थी। बर्मा सरकार ने इस सम्बन्ध में छानबीन की तो पता चला कि इस कम्पनी ने दस लाख रुपये के कर की चोरी की है। बर्मा सरकार ने इस कम्पनी के ठेके को समाप्त करने का निर्णय लिया, किन्तु बाद में उस पर साढ़े तेईस लाख रुपये का जुर्माना करके छोड़ देने का फैसला किया और कहा कि वह इस रकम का चार बराबर किश्तों में भुगतान करे। किन्तु कम्पनी ने इसे स्वीकार नहीं किया और ब्रिटिश सरकार से अपील की। भारत सरकार तो बर्मा में हस्तक्षेप करने का बहाना खोज रही थी। अतः ब्रिटिश कमिश्नर ने इस जुर्माने को रद्द करने की माँग की तथा सुझाव दिया कि इस मामले की निष्पक्ष जाँच के लिये यह मामला गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त एक प्रतिनिधि को सौंप दिया जाय। बर्मा सरकार ने इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया। तब 22 अक्टूबर, 1885 को बर्मा दरबार के समक्ष अल्टीमेटम भेजते हुए निम्नलिखित शर्तें प्रस्तुत कीं—

(1) बर्मा दरबार एक अँग्रेज प्रतिनिधि की राय से कम्पनी के झगड़े का फैसला करे।

(2) अँग्रेज प्रतिनिधि के पहुँचने तक कम्पनी के विरुद्ध कोई कार्यवाही न की जाय।

(3) भविष्य में एक अँग्रेज प्रतिनिधि हमेशा बर्मा दरबार में रहेगा।

(4) बर्मा विदेशों से अपने सम्बन्ध भारत के गवर्नर-जनरल की राय से स्थापित करे।

(5) अँग्रेजों को चीन से व्यापार करने की पूरी सुविधा प्रदान की जाय।

बर्मा सरकार से यह भी स्पष्ट कह दिया गया कि प्रथम तीन माँगें बिना किसी विवाद के 10 नवम्बर, 1885 तक स्वीकार कर ली जानी चाहिये। इस पर 9 नवम्बर को बर्मा सरकार ने प्रत्युत्तर भेजा कि यदि अँग्रेज कम्पनी बर्मा के राजा से कोई प्रार्थना करेगी तो उस पर अवश्य विचार किया जायेगा। तीसरी व पाँचवीं माँग स्वीकार करली गई। चौथी माँग के सम्बन्ध में कहा गया कि उसका निर्णय फ्रांस, जर्मनी और इटली के राज्यों को करने दिया जाय क्योंकि ये राज्य बर्मा और इंगलैण्ड दोनों के ही मित्र राज्य हैं।

लॉर्ड डफरिन ने अपनी माँगें भेजने के साथ ही युद्ध की तैयारी आरम्भ करदी थी। बर्मा के राजा ने अपना प्रत्युत्तर भिजवाया ही था कि वह यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि

ब्रिटिश सेना उसके देश में प्रवेश कर गई है। ब्रिटिश सेना का कोई विशेष विरोध नहीं किया जा सका और राजा ने बिना शर्त आत्म-समर्पण कर दिया। जनवरी, 1886 ई. में सम्पूर्ण उत्तरी बर्मा पर अँग्रेजों का अधिकार हो गया। कुछ थोड़े से सैनिक जो बर्मा के जंगलों में इधर-उधर भाग गये थे, उन्होंने दो वर्षो तक गुरिल्ला युद्ध नीति से ब्रिटिश अधिकारियों को परेशान किया। पर्याप्त जन-धन की हानि के बाद अन्ततः शान्ति स्थापित हो गयी। 1 जनवरी, 1886 को सम्पूर्ण बर्मा को अँग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया गया। वह अँग्रेजों के भारतीय साम्राज्य का एक सूबा बन गया। बर्मा में समस्याप्रधान जगहों पर छोटे-छोटे किलों का निर्माण करवाया गया तथा ब्रिटिश सैनिकों ने चलते-फिरते विद्रोहियों को शान्त कर दिया। विजित क्षेत्रों में सर चार्ल्स बर्नार्ड को चीफ कमिश्नर बनाया गया। 1935 ई. तक बर्मा इस स्थिति में रहा।

बर्मा विलय का औचित्य—नैतिकता के आधार पर बर्मा में की गई ब्रिटिश कार्यवाही का औचित्य सिद्ध करना अत्यन्त ही क़ठिन है। कुछ ब्रिटिश विद्वानों ने राजा के निरंकुश और कठोर चरित्र की आलोचना की है। यदि इन आलोचनाओं में कुछ सत्यता भी हो तो भी उससे ब्रिटिश कार्यवाही का औचित्य सिद्ध नहीं होता। यद्यपि बर्मा के राजा को फांस से मैत्री करने का अधिकार था, किन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों की पृष्ठभूमि में फ्रांसीसियों के प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए लॉर्ड डफरिन का कदम राजनीतिक बुद्धिमत्तापूर्ण कहा जाता है। अँग्रेजों का 2/3 बर्मा पर पहले से ही अधिकार था तथा शेष बर्मा पर अँग्रेज फ्रांस के प्रभाव की स्थापना कैसे बर्दाश्त कर सकते थे। लॉर्ड डफरिन ने अपनी कार्यवाही के औचित्य को सिद्ध करते हुए कहा था कि यदि फ्रांसीसियों की कार्यवाही हमें उत्तरी बर्मा से हटाने के गम्भीर प्रयास में जुटी हुई थी तो हमें उस क्षेत्र पर अधिकार करने की कार्यवाही करने से हिचकने की आवश्यकता नहीं थी।

वस्तुतः भारत में ब्रिटिश सरकार का अपने पड़ौसी राज्यों के साथ सम्बन्ध साम्राज्यवादी भावना से प्रभावित था। जब एक व्यापारिक कम्पनी ने राजनैतिक सत्ता प्राप्त की तब उसकी सुरक्षा के लिए विस्तार होना शुरू हो गया। यद्यपि बार-बार विस्तारवादी नीति के विरुद्ध घोषणाएँ की गईं, फिर भी अँग्रेज अपनी राज्य सीमा को यथावत न रख सके। वे अपने निकटवर्ती अव्यवस्थित एवं अर्द्धसभ्य राज्यों का विलय करते गए। उन दिनों साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से अर्द्धसभ्य राज्यों की कोई स्वतन्त्रता सत्ता नहीं थी। यूरोप की अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों के प्रभाव को भी अँग्रेज, भारतीय साम्राज्यवाद की ओर जाने वाले जल व थल मार्ग पर सहन नहीं कर सकते थे। पड़ौसी राज्य जब तक मैत्रीपूर्ण सहयोग के लिये अँग्रेजों पर निर्भर थे तथा किसी विदेशी प्रभाव से मुक्त थे, तब तक अँग्रेजों को कोई चिन्ता नहीं थी। लेकिन उनका शक्तिशाली होना या किसी अन्य शक्ति पर आश्रित होना उन्हें पसन्द नहीं था। यदि किसी दूसरे साम्राज्यवादी को उस राज्य की ओर बढ़ते देखते तो, इससे पूर्व कि दूसरी शक्ति का उस पर प्रभाव स्थापित हो, वे स्वयं उस भू-भाग पर अधिकार करने के अवसर से नहीं चूकते थे। बर्मा के सम्बन्ध में भी यही बात थी। बर्मा और फ्रांस की मैत्री और इस सम्बन्ध में फैलती हुई कुछ अफवाहों ने अँग्रेजों को उत्तेजित कर दिया। इससे पूर्व कि, फ्रांस, बर्मा पर अपना प्रभाव स्थापित करे, अँग्रेजों ने बर्मा को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया।

अध्याय-6

अँग्रेजों की गोद-निषेध नीति

भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के इतिहास में 1848 ई. से 1856 ई. का काल अत्यन्त ह महत्त्वपूर्ण माना गया है। 1848 ई. में लॉर्ड हार्डिंग के जाने के बाद लॉर्ड डलहौजी गवर्नर-जनरल बनकर भारत आया और वह 1856 ई. तक अपने पद पर बना रहा। लॉर्ड डलहौजी घो साम्राज्यवादी था तथा उसने जब भी और जहाँ भी सम्भव हुआ भारत में ब्रिटिश साम्राज्य क विस्तार किया। अपने आठ वर्ष के शासनकाल में वह साम्राज्य विस्तार की नीति का अनुसरण करता रहा। भारतीय देशी राज्यों से उसको तनिक भी सहानुभूति नहीं थी। भारतीय नरेशों व नवाबों से तो उसको इतनी चिढ़ थी कि वह भारतीय राज्यों के अस्तित्व को समाप्त करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहा। डलहौजी के शासनकाल में भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की विस्मयकारी वृद्धि हुई तथा अनेक भारतीय राज्यों का अस्तित्व समाप्त हो गया। थाम्पसन और गैरेट ने ठीक ही लिखा है कि डलहौजी के समय "कम्पनी किसी भी बहाने राज्यों को हड़पने के ज्वर की लहर में थी।"

प्रारम्भिक काल में कम्पनी की नीति कम्पनी के राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से देशी राज्यों को कम्पनी के राज्य के चारों ओर बनाये रखने की थी, जिसे ली-वार्नर ने 'घेरा डालने की नीति' कहा है। कम्पनी अपने क्षेत्र के चारों ओर मित्र राज्यों को बनाये रखना चाहती थी, ताकि कम्पनी का क्षेत्र सुरक्षित रहे। भारत के देशी राज्यों को 'विदेशी राज्य' माना जाता था और गवर्नर-जनरल उन राज्यों के आन्तरिक मामलों में कम-से-कम हस्तक्षेप करते थे। वे राज्यों के आन्तरिक मामलों में केवल उसी समय हस्तक्षेप करते थे जबकि कम्पनी का कोई राजनीतिक स्वार्थ पूरा होता हो। कम्पनी 1813 ई. तक इस नीति का अनुसरण करती रही। 1813 ई. में लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने अपने पूर्ववर्ती गवर्नर-जनरलों की नीति का परित्याग कर 'अधीनस्थ अलगाव' की नीति का अवलम्बन किया, जिसका अर्थ था कम्पनी के अधीन देशी राज्यों का अलग अस्तित्व बनाये रखना। इस नीति का अनुसरण करते हुए कम्पनी भारत में प्रमुख शक्ति बन गई। कम्पनी के अधीन देशी राज्यों के नरेश और नवाब कम्पनी की सर्वोपरि सत्ता के सिद्धान्त को मानने लग गये थे और वे अपने राज्य का शासन कम्पनी की सहायता से चलाते थे। कम्पनी ने सम्पूर्ण भारत में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने का एकाधिकार प्राप्त कर लिया था और देशी राज्यों में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने का बहाना लेकर राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने लग गई थी औ

उसका शासन संचालन करने लग गई थी। लॉर्ड डलहौजी के पूर्ववर्ती गवर्नर-जनरलों ने देशी राज्यों पर अधिक-से-अधिक प्रभाव स्थापना की नीति को प्राथमिकता दी और वह हरसम्भव उपाय से देशी राज्यों की शासन व्यवस्था का संचालन अपने हाथ में लेने लगी। लेकिन डलहौजी द्वारा देशी राज्यों के प्रति जो नीति अपनाई गई, वह उसके पूर्ववर्ती गवर्नर-जनरलों की नीति से थोड़ी भिन्न थी। डलहौजी के पूर्वाधिकारियों ने साम्राज्य विस्तार उसी स्थिति में किया अर्थात् देशी राज्यों का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय उसी स्थिति में किया जब कोई विशेष सैनिक अथवा राजनैतिक आवश्यकता उत्पन्न हुई। किन्तु डलहौजी ने तो हरसम्भव उपाय से साम्राज्य विस्तार को अपना लक्ष्य बना लिया था और वह अपने इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए बराबर प्रयत्नशील रहा। डलहौजी की नीति की चर्चा करते हुए इतिहासकार इन्स ने लिखा है कि; "उसके पूर्ववर्ती गवर्नर-जनरलों ने इस सामान्य सिद्धान्त का अनुसरण किया था कि जहाँ तक सम्भव हो, संयोजन (देशी राज्यों का ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाना) से बचा जाय, डलहौजी ने संयोजन करने के इस सिद्धान्त का अनुसरण किया कि जिस प्रकार भी हो सके राज्य विस्तार को उचित सिद्ध करके पूरा किया जाय।"

डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति अनेक कारणों से प्रभावित थी। प्रथम कारण तो उस समय की भारत की राजनीतिक स्थिति थी। इस समय तक भारत पर कम्पनी की प्रभुसत्ता स्थापित हो चुकी थी। भारतीय राज्यों की तो यह स्थिति बन चुकी थी कि कम्पनी बिना युद्ध किये जरा-सी धमकी देकर अपना आदेश मनवा सकती थी। वास्तव में भारतीय राज्य पेड़ पर लगे उस प्रकार के पके हुए फलों की तरह थे, जिन्हें केवल हिलाकर गिराया जा सकता था और डलहौजी ने ऐसा ही किया। दूसरा कारण था कि उस समय ब्रिटिश भारत का क्षेत्र भारतीय राज्यों के क्षेत्र से छोटा था। अतः डलहौजी इस अनुपात को बदल देना चाहता था, क्योंकि उसकी मान्यता थी कि भारतीय शासक सर्वथा अयोग्य हैं और उनमें शासन करने की क्षमता नहीं है। तीसरा कारण यह था कि इस समय इंगलैण्ड में उदारवादी विचारधारा का प्रभाव था। उदारवादियों की मान्यता थी कि भारतीय शासकों के मनमाने ढँग से शासन करने से राज्यों में भ्रष्टाचार तथा अव्यवस्था फैल रही है और जब तक इन राज्यों का शासन-सूत्र ब्रिटिश सरकार नहीं सम्भालेगी, तब तक देश में न्याय और व्यवस्था स्थापित नहीं होगी। डलहौजी का भी यही कहना था कि ब्रिटिश प्रशासन देशी नरेशों के प्रशासन से कहीं अधिक अच्छा है। उसने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया कि भारतीय जनता को ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ही अधिक लाभ प्राप्त हो सकते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि डलहौजी ब्रिटिश शासन की श्रेष्ठता सिद्ध करके साम्राज्य विस्तार की नीति को उचित ठहराना चाहता था। चौथा कारण साम्राज्य विस्तार द्वारा डलहौजी कम्पनी की आय में वृद्धि करना चाहता था। डलहौजी अपनी कुछ सुधार योजनाएँ लागू करना चाहता था और इसके लिये उसे धन की आवश्यकता थी। अन्तिम कारण यह था कि इस समय औद्योगिक क्रान्ति चल रही थी। ब्रिटेन के उद्योगों के लिए कच्चे माल की आवश्यकता थी और कच्चा माल भारतीय राज्यों से आसानी से प्राप्त हो सकता था। इन सभी कारणों के अतिरिक्त डलहौजी का स्वयं का चरित्र और महत्त्वाकांक्षी होना ही साम्राज्य विस्तार की नीति के लिये उत्तरदायी थे। जब वह भारत

आया था उस समय वह 36 वर्षीय नौजवान था। इससे पूर्व कोई भी इतनी कम उम्र में इस पद पर नियुक्त नहीं हुआ था। अतः नवयुवक होने से महत्त्वाकांक्षी होना स्वाभाविक था तथा भारत में साम्राज्य विस्तार करके अपने देशवासियों की नजर में प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता था।

साम्राज्य विस्तार की योजना पूरी करने के लिये डलहौजी ने चार प्रकार के साधन अपनाए—(1) युद्ध द्वारा (2) कर्ज के बदले में अथवा बकाया राशि के नाम पर (3) कुशासन का आरोप लगाकर (4) गोद-निषेध नीति अपनाकर अर्थात् गोद लेने की प्रथा अमान्य करके। युद्ध के द्वारा डलहौजी ने पंजाब और दक्षिणी बर्मा का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय किया। बकाया राशि के नाम पर उसने हैदराबाद राज्य के बरार क्षेत्र को हड़प लिया। कुशासन के आरोप में उसने अवध का अपहरण कर लिया।

गोद-निषेध नीति—युद्ध के द्वारा तो ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार प्रारम्भ से ही हो रहा था। कुशासन के आरोप में भी पहले राज्यों का विलय हो चुका था, जैसे लॉर्ड विलियम बैंटिक ने कुर्ग व मैसूर राज्यों का विलय किया था। कर्ज के बदले में भी राज्यों के भूक्षेत्र कम्पनी पहले से ही हथियाती आई थी। किन्तु डलहौजी की विशेषता गोद-निषेध नीति द्वारा राज्यों का अपहरण करने में थी।

गोद-निषेध नीति का अर्थ यह है कि पैतृक वारिस न होने की स्थिति में सार्वभौम सत्ता अपने अधीन तथा परतन्त्र क्षेत्रों को अपने साम्राज्य में मिला सकती थी। डलहौजी का कहना था कि सामान्य नागरिक द्वारा गोद लिया गया पुत्र अपने पिता की व्यक्तिगत सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता है, किन्तु इसी प्रकार से किसी शासक द्वारा गोद लिया गया पुत्र राज्य पर शासन करने का अधिकारी स्वाभाविक रूप से नहीं हो सकता। दत्तक पुत्र उसी स्थिति में राज्य का शासक हो सकता है जबकि भारत की सर्वोपरि सत्ता की हैसियत से ब्रिटिश सरकार उसके उत्तराधिकारी को स्वीकार करे। डलहौजी ने यह दावा किया कि यदि कोई शासक किसी व्यक्ति को गोद लेता है तो ब्रिटिश सरकार को उसके उत्तराधिकार को स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने की पूरी स्वतन्त्रता है।

भारत में गोद लेने की प्रथा कोई नई नहीं थी। प्राचीन काल से ही प्रत्येक हिन्दू को निजी पुत्र न होने की स्थिति में, किसी भी परिवार के बच्चे को गोद लेने का अधिकार था और इस दत्तक पुत्र को अपने पिता के उत्तराधिकारी के रूप में हर प्रकार के ऐसे अधिकार प्राप्त हो जाते थे जो किसी भी निजी पुत्र को प्राप्त होते थे। यह एक सर्वमान्य प्रथा थी। प्रचलित प्रथा के अनुसार निजी पुत्र और दत्तक पुत्र में किसी प्रकार का भेद नहीं था। मध्यकाल में भी मुस्लिम सुल्तानों, मुगल सम्राटों और मराठों ने इस प्रथा का सम्मान किया था। दत्तक पुत्र के उत्तराधिकारी होने के मामलों में वे लोग दत्तक उत्तराधिकारी से थोड़ा अधिक नजराना अवश्य ले लेते थे, परन्तु दत्तक पुत्र के वैधानिक अधिकार को कभी चुनौती नहीं दी गई। अतः डलहौजी द्वारा दत्तक पुत्र और निजी पुत्र में जो भेद किया गया वह प्रचलित परम्परा के प्रतिकूल था।

स्वयं ईस्ट इण्डिया कम्पनी गोद लेने की प्रथा को स्वीकार करती रही थी। 1825 ई. में ब्रिटिश सरकार ने यह घोषित किया था कि प्रत्येक सत्ताधारी को हिन्दू कानून के अनुसार लड़का

गोद लेने का अधिकार है और अँग्रेज सरकार इस अधिकार को स्वीकार करने के लिए बाध्य है। 1826 से 1848 ई. की अवधि में पन्द्रह भारतीय शासकों को गोद लेने का अधिकार दिया गया अथवा उनके द्वारा गोद लिये गये लड़कों को उनका वैधानिक उत्तराधिकारी स्वीकार किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि 1831 ई. के बाद कम्पनी सरकार की नीति में थोड़ा परिवर्तन आ गया था। आरम्भ में यह कहा जाने लगा कि अधीनस्थ शासकों को गोद लेने से पूर्व कम्पनी सरकार की स्वीकृति ले लेनी चाहिये। फिर यह मत प्रतिपादित किया जाने लगा कि कम्पनी को परिस्थितियों के आधार पर भारतीय शासक की गोद लेने की प्रार्थना को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का अधिकार प्राप्त है। 1834 ई. में कम्पनी के संचालक-मण्डल ने भी इस विषय पर नीति तय करते हुए लिखा था कि "यह साधारण नियम नहीं होना चाहिये। यह मान्यता हमारी विशेष कृपा के रूप में ही होनी चाहिये, सामान्य परिस्थितियों में नहीं।"

1848 ई. तक गोद लेने के सम्बन्ध में कम्पनी सरकार की नीति अधिक स्पष्ट नहीं रही। अनेक अवसरों पर कम्पनी ने भारतीय शासकों द्वारा गोद लिये गये लड़कों के उत्तराधिकार को पूर्णतया स्वीकार कर लिया, जबकि कुछ अवसरों पर उसने विरोध भी किया। कुछ अवसर ऐसे भी आये, जबकि शासक किसी बच्चे को गोद लेने के पहले ही मर गया और उसकी मृत्यु के बाद उसकी विधवा ने किसी को गोद लिया और कम्पनी ने उसके उत्तराधिकार को भी मान्यता प्रदान कर दी। उदाहरणार्थ, 1827 ई. में ग्वालियर के शासक दौलतराव सिन्धिया की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र न था और अपनी मृत्यु के पूर्व वह किसी बच्चे को गोद नहीं ले पाया। उसकी मृत्यु के बाद उसकी विधवा बैजाबाई ने जनकोजी को गोद लिया और कम्पनी ने उसके उत्तराधिकार को मान्यता प्रदान की। 1843 ई. में जनकोजी की भी मृत्यु हो गई। उसके भी कोई पुत्र न था। उसकी मृत्यु के बाद दौलतराव की विधवा ने जयाजीराव को गोद लिया और इस बार भी कम्पनी ने उसके उत्तराधिकार को मान्यता प्रदान करदी। परन्तु दूसरी तरफ कुछ ऐसे उदाहरण भी देखने को मिलते थे, जबकि कम्पनी सरकार ने गोद लेने के अधिकार को स्वीकार नहीं किया। उदाहरणार्थ, 1835 ई. में झाँसी के राजा रामचन्द्र की मृत्यु हो गई। उनके कोई पुत्र नहीं था और मरने से पूर्व उसने एक लड़के को गोद लिया था परन्तु इसके लिए उसने कम्पनी सरकार से स्वीकृति नहीं ली। उसकी मृत्यु के बाद दत्तक पुत्र के उत्तराधिकार को नहीं माना गया और मृत राजा के चाचा रघुनाथराव के उत्तराधिकार को मान्यता दी गई। 1841 ई. में जब कोलाबा के शासक राघोजी ने कम्पनी सरकार से बच्चा गोद लेने की स्वीकृति माँगी तो इसे मना कर दिया गया और उसकी मृत्यु के बाद उसके राज्य को अँग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया गया। इस प्रकार मांडवी के छोटे से राज्य को भी अँग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि डलहौजी के पूर्व गोद लेने के अधिकार के बारे में कम्पनी सरकार किसी सुनिश्चित नीति का निर्माण नहीं कर पाई थी।

डलहौजी ने गोद लेने की प्रथा के बारे में अधिक उग्र नीति का सहारा लिया, फिर भी उसने प्रत्येक देशी राज्य के सम्बन्ध में एक समान नीति नहीं अपनाई। उसकी नीति को अवसरवादी कहा जा सकता है, क्योंकि उसने जिन आधारों को तैयार किया था, वे अस्पष्ट थे और उनके बारे में अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार कम्पनी में निहित था। उसका मुख्य आधार स्वयं उसी के

द्वारा देशी राज्यों का किया गया वर्गीकरण था। उसने समस्त भारतीय हिन्दू राज्यों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया—(1) स्वतन्त्र (2) आश्रित (3) अधीन। स्वतन्त्र राज्यों की श्रेणी में उन देशी राज्यों को रखा गया, जो भारत में कम्पनी की सत्ता की स्थापना के समय अस्तित्व में थे और जिन्हें आन्तरिक प्रभुसत्ता प्राप्त थी तथा जिनके साथ सन्धियाँ करते समय कम्पनी ने उनकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया था। आश्रित श्रेणी के अन्तर्गत उन राज्यों को रखा गया, जो आरम्भ से ही किसी न किसी सत्ता के अधीन थे और जो कम्पनी के साथ सन्धि करने के पूर्व मुगल सम्राट अथवा पेशवा को खिराज देते थे। उदाहरणार्थ,जैसे झाँसी का राज्य पेशवा के अधीन था। तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत उन राज्यों को रखा गया,जिनका निर्माण ही कम्पनी ने किया था अथवा कम्पनी की मदद के द्वारा जिन्हें पुनः संगठित किया गया था। जव इंगलैण्ड में डलहौजी की गोद-निषेध नीति की आलोचना होने लगी तो उसने यह स्पष्टीकरण दिया कि उसका इरादा सभी राज्यों पर इस नीति को लागू करने का नहीं है। पहली श्रेणी के स्वतन्त्र शासकों को गोद लेने का अधिकार है और गवर्नर-जनरल इस अधिकार को मान्यता प्रदान करता रहेगा। परन्तु दूसरी श्रेणी के राज्यों को गोद लेने से पूर्व कम्पनी सरकार की स्वीकृति लेनी होगी,जो अस्वीकार भी की जा सकती है तथा तीसरी श्रेणी के राज्यों को गोद लेने का अधिकार नहीं होगा और उनके राज्य कम्पनी राज्य में सम्मिलित कर लिये जायेंगे।

वस्तुतः डलहौजी का यह वर्गीकरण वहुत ही अस्पष्ट तथा पेचीदा था और किस राज्य को किस श्रेणी में रखा जाय, इसका निर्णय गवर्नर-जनरल की इच्छा पर निर्भर था। यह सारी व्यवस्था भारत के देशी राज्यों को हड़पने के लिए एक वहाना मात्र था। उदाहरण के लिए,राजस्थान के करौली राज्य को हड़पने के लिए डलहौजी ने उसे दूसरी श्रेणी में रखा, परन्तु कम्पनी के संचालक-मण्डल ने उसे पहली श्रेणी के अन्तर्गत माना, जिससे करौली राज्य वच गया। इससे स्पष्ट है कि यह वर्गीकरण डलहौजी ने अपनी हड़प-नीति के औचित्य को सिद्ध करने के लिए ही वनाया था। इस नीति के अन्तर्गत जिन राज्यों को कम्पनी के राज्य में सम्मिलित किया गया, वे इस प्रकार थे—

सतारा—गवर्नर-जनरल का पद सम्भालने के कुछ दिनों वाद ही डलहौजी को सतारा की समस्या से निपटना पड़ा। पेशवा के पतन के वाद लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने सतारा का छोटा-सा राज्य शिवाजी के वंशज प्रतापसिंह को दे दिया था। 1839 ई. में कम्पनी सरकार ने प्रतापसिंह को अपदस्थ करके उसके भाई अप्पा साहव को सतारा का शासक वना दिया। 1848 ई. में अप्पा साहव की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र न था, परन्तु अपनी मृत्यु के कुछ समय पूर्व उसने वेंकटराव नामक लड़के को गोद ले लिया। जव डलहौजी के सामने वेंकटराव के उत्तराधिकारी को मान्यता देने का मामला रखा गया तो डलहौजी ने उसके उत्तराधिकार को अमान्य करते हुए सतारा को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया।

1818 ई. में सतारा के साथ अँग्रेजों ने जो सन्धि की थी, उसमें सतारा के शासक की "स्वतन्त्र सार्वभौमिकता" और इस स्थिति को निरन्तर बनाये रखना स्वीकार किया गया था। इस

दृष्टि से सतारा प्रथम श्रेणी का राज्य था। परन्तु डलहौजी ने उसे एक आश्रित राज्य मानकर उसे ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। डलहौजी के इस कदम को न्यायसंगत नहीं माना जा सकता । इंगलैण्ड में भी उसके इस कार्य की काफी निन्दा की गई। परन्तु डलहोजी कम्पनी की आय में वृद्धि करना चाहता था। इससे कम्पनी की सुरक्षा-व्यवस्था भी मजबूत हो सकती थी और बम्बई से कलकत्ता के मध्य का राजमार्ग भी खोला जा सकता था। सेना के आवागमन की व्यवस्था की दृष्टि से भी सतारा का क्षेत्र उपयोगी था। इन्हीं से प्रेरित होकर डलहौजी ने सतारा को हस्तगत किया था।

जैतपुर और संबलपुर—बुन्देलखण्ड क्षेत्र में जैतपुर एक छोटा-सा राज्य था। उसका कुल क्षेत्रफल 165 वर्गमील ही था। यहाँ के तत्कालीन शासक ने जब गर्वनर-जनरल से गोद लेने के लिए अनुमति प्रदान किये जाने की प्रार्थना की तो डलहौजी ने उसे स्पष्ट शब्दों में मना कर दिया और शासक की मृत्यु के बाद 1849 ई. में जैतपुर को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया। संबलपुर का छोटा-सा राज्य बंगाल की दक्षिण-पश्चिमी सीमा पर था। यहाँ के शासक नारायणसिंह के कोई पुत्र न था और न ही उसने किसी बच्चे को गोद लिया था। 1849 ई. में नारायणसिंह की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद उसकी विधवा रानी ने स्वयं शासन चलाने की स्वीकृति माँगी। परन्तु डलहौजी ने उसके अधिकार को मान्यता नहीं दी और संबलपुर को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया।

बाघट—बाघट पंजाब की सीमा में एक छोटा-सा पहाड़ी राज्य था। 1849 ई. में बाघट के शासक विजयसिंह की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र न था और न ही उसने किसी को गोद लिया था। उसकी मृत्यु के बाद उसके छोटे भाई उम्मेदसिंह ने अपना उत्तराधिकार प्रस्तुत किया परन्तु डलहौजी ने उसके उत्तराधिकार को अमान्य करते हुए, बाघट को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया। डलहौजी के उत्तराधिकारी केनिंग ने डलहौजी के निर्णय को रद्द करके बाघट का राज्य उम्मेदसिंह के पुत्र को सौंप दिया था।

उदयपुर—मध्यप्रदेश की सीमा में उदयपुर का राज्य स्थित था। इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग 2,000 वर्गमील था। यहाँ के शासक के निःसन्तान मरने पर डलहौजी ने इस राज्य को भी ब्रिटिश राज्य में मिला लिया। परन्तु केनिंग ने यहाँ भी डलहौजी के निर्णय को बदलकर यह राज्य वापस लौटा दिया।

झाँसी—झाँसी का राज्य बुन्देलखण्ड के मध्य में स्थित था और सामरिक दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण था। 1818 ई. की सन्धि के द्वारा झाँसी ने कम्पनी का संरक्षण प्राप्त किया था और उस सन्धि में झाँसी के राजा रामचन्द्रराव के वंशानुगत अधिकार (अर्थात् उसके परिवार का पीढ़ी-दर पीढ़ी अधिकार) को स्वीकार किया गया था। 1835 ई. में रामचन्द्रराव की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र न था और मरने के पहले उसने जिस बच्चे को गोद लिया था उसका उत्तराधिकार कम्पनी सरकार ने मान्य न करके रामचन्द्रराव के चाचा रघुनाथराव को झाँसी का राजा बनाया। 1838 ई. में उसकी भी मृत्यु हो गई और इस बार भी दत्तक पुत्र के स्थान पर रघुनाथराव के भाई गंगाधरराव को झाँसी का राजा बनाया गया। 1853 ई. में गंगाधरराव की भी मृत्यु हो गई और उसके भ

कोई पुत्र न था। गंगाधरराव ने आनन्दराव नामक बच्चे को गोद ले लिया था और झाँसी के अँग्रेज रेजीडेण्ट को बुलाकर उससे अनुरोध भी किया कि वह बच्चे के उत्तराधिकार की स्वीकृति के लिए गवर्नर-जनरल को पत्र लिखे। परन्तु डलहौजी तो झाँसी हड़पने को तैयार बैठा था। उसने झाँसी को एक आश्रित राज्य बतलाया और इस आधार पर उसने झाँसी के राजा द्वारा किसी बच्चे को गोद लेने के अधिकार को मान्य नहीं किया। फरवरी, 1854 ई. में उसने झाँसी को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया। झाँसी के सम्बन्ध में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। 1818 से 1838 के मध्य दो बार शासक गोद लेने के अधिकार को अमान्य किया गया, फिर भी झाँसी को कम्पनी राज्य में न मिलाकर राजवंश के ही निकटतम दावेदार को झाँसी का राज्य सौंप दिया गया। डलहौजी भी ऐसा कर सकता था। परन्तु उसने अब तक की नीति को त्यागकर विलय की नीति अपनाई, जो उसकी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का प्रतीक थी।

नागपुर—गोद प्रथा के सम्बन्ध में डलहौजी को जिन राज्यों से निपटना पड़ा उनमें नागपुर का राज्य सबसे अधिक समृद्ध और सबसे बड़ा था। यह राज्य 80,000 वर्गमील क्षेत्र में फैला हुआ था और इसकी आय लगभग 40 लाख रुपया वार्षिक थी। नागपुर पर अधिकार हो जाने से कम्पनी अपने बिखरे हुए क्षेत्र को संगठित कर सकती थी और हैदराबाद से लेकर मध्य भारत तक के क्षेत्र को एक इकाई में संगठित किया जा सकता था। इससे बम्बई से कलकत्ता के मध्य का सम्पूर्ण क्षेत्र कम्पनी के सीधे नियन्त्रण में आ जाता, जिससे व्यापार की वृद्धि की सम्भावना थी। इन्हीं सब सम्भावनाओं के कारण डलहौजी ने नागपुर को हड़पने का निश्चय किया।

1818 ई. में कम्पनी सरकार ने नागपुर के प्रसिद्ध भोंसले राज्य को अपने संरक्षण में ले लिया था और सन्धि के अनुसार भोंसले राजवंश के एक बच्चे रघुजी भोंसला तृतीय को नागपुर का शासक स्वीकार किया गया। 1830 ई. में जब रघुजी तृतीय वयस्क हो गया, तो उसने अपने राज्य का शासन-सूत्र सम्भाल लिया। 1853 ई. में रघुजी तृतीय की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र नहीं था। रघुजी ने नागपुर स्थित ब्रिटिश रेजीडेण्ट से किसी बच्चे को गोद लेने के सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल से अनुमति माँगने को कहा था, परन्तु रेजीडेण्ट रघुजी की बात को टालता रहा। इस प्रकार रघुजी अपने जीवनकाल में किसी को गोद न ले सका और डलहौजी ने किसी अन्य दावेदार के उत्तराधिकार को स्वीकार न करके नागपुर को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया। परन्तु यहाँ एक और प्रश्न उठ खड़ा होता है। नागपुर एक स्वतन्त्र राज्य था, परन्तु डलहौजी ने इसे भी आश्रित राज्य ठहराकर अपने पक्ष को मजबूत बनाने का प्रयत्न किया था। नागपुर को हस्तगत करने के सम्बन्ध में डलहौजी ने यह तर्क भी दिया था कि इस राज्य के विलीनीकरण से राज्य के निवासियों के हितों की सुरक्षा हो सकेगी। परन्तु हुआ इसके ठीक विपरीत। अँग्रेज अपने अधिकृत क्षेत्रों में देशी शासकों की तुलना में अच्छा प्रशासन लागू करने में असफल रहे, जिससे चारों तरफ असन्तोष फैल गया।

गोद-निषेध नीति की समीक्षा—गोद-निषेध नीति उचित थी अथवा अनुचित इस सम्बन्ध में अँग्रेज़ इतिहासकारों और भारतीय इतिहासकारों में मतभेद हैं। अँग्रेज इतिहासकारों का कहना

है कि यह नीति तीन सिद्धान्तों के आधार पर लागू की गई थी—प्रथम तो यह कि भारत में ब्रिटिश, सर्वोच्च शक्ति थी, दूसरी यह कि अधीन राज्यों को गोद लेने का अधिकार सर्वोच्च शक्ति की स्वीकृति से ही वैध माना जा सकता था और तीसरा यह कि सर्वोच्च शक्ति इस स्वीकृति को रोक सकती थी, क्योंकि उसे ऐसा करने का अधिकार था।

जहाँ तक ब्रिटिश सर्वोच्चता का प्रश्न है, इसका औचित्य केवल यही था कि भारत में अँग्रेज सर्वशक्तिमान थे, इसलिये वे सर्वोच्च थे। यह औचित्य केवल शक्ति पर आधारित था, तर्क पर नहीं। अँग्रेजों ने भारत में जो अधिकार प्राप्त किये थे वे या तो उन्होंने विजयों द्वारा, या अनुदानों द्वारा अथवा सन्धियों द्वारा प्राप्त किये थे। इस प्रकार प्राप्त किये गये अधिकारों से सार्वभौमिकता का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। अँग्रेजों के आने से पहले मुगल सम्राट को सार्वभौमिकता के अधिकार प्राप्त थे, लेकिन मुगल सम्राट ने न तो कभी इस प्रकार राज्यों का अपहरण किया और न मुगल सम्राट ने कभी अपनी सार्वभौमिकता कम्पनी को हस्तान्तरित की। अतः ब्रिटिश सरकार की सर्वोच्चता अथवा सार्वभौमिकता का सिद्धान्त आधारहीन था।

दूसरे सिद्धान्त में 'अधीन' शब्द ही भ्रामक है। अधीन और सहयोगी राज्यों के बीच तथा अधीन और आश्रित राज्यों के बीच भेद स्थापित करना केवल भ्रम उत्पन्न करना था। डलहौजी ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा था कि जो राज्य प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित किये गये हैं अथवा जिन राज्यों ने अपनी पूर्व की स्थिति को छोड़कर अँग्रेजों की सर्वोच्च सत्ता को मान्यता दी है। डलहौजी का यह कहना उचित नहीं था कि अँग्रेजों ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से किन्हीं राज्यों का निर्माण किया था। क्योंकि प्रत्येक राज्य किसी न किसी स्थिति में पहले से ही भारत में विद्यमान था। जहाँ तक गोद लेने के लिये सर्वोच्च सत्ता की स्वीकृति की बात है, यह समझना बहुत ही कठिन है कि कम्पनी ने किन परिस्थितियों में और कैसे यह अधिकार प्राप्त किया। ली-वार्नर ने मुगल सम्राट या मराठा पेशवा के सार्वभौमिकता के आधार पर इन अधिकारों की चर्चा की है। लेकिन मुगल सम्राट या पेशवा ने कभी भी अपने इस अधिकार का प्रयोग नहीं किया। मुगल सम्राट नये उत्तराधिकारी से, चाहे वह निजी पुत्र हो अथवा गोद लिया हुआ, नजराना अवश्य प्राप्त करता था, जो मात्र औपचारिकता थी। मुगल सम्राट या पेशवा की सार्वभौमिकता में कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जहाँ पैतृक वारिस न होने पर राज्य समाप्त हो जाय। अतः अँग्रेजों का यह मनगढ़न्त अधिकार, जो उन्होंने स्वतः ही ग्रहण कर लिया था, सर्वथा अनुचित था।

तीसरा सिद्धान्त कि सर्वोच्च सत्ता गोद लेने की स्वीकृति रोक सकती थी, भी सर्वथा गलत है। यद्यपि मुगलों के पास यह अधिकार था, लेकिन हिन्दू समाज की विचित्र स्थिति होने के कारण उन्होंने कभी इस स्वीकृति को नहीं रोका। सम्भव है मुगलों को यह अधिकार मुस्लिम कानून के अनुसार प्राप्त हुआ हो, लेकिन हिन्दुओं ने मुगलों के इस अधिकार को कभी मान्यता नहीं दी। प्रारम्भ में अँग्रेज भी मुगलों का अनुसरण करते रहे। केवल 1831 ई. में उनकी इस नीति में परिवर्तन आया और उनमें यह धारणा दृढ़ होती गई कि जो गोद लेने की स्वीकृति देता है उसे अस्वीकृत करने का भी अधिकार है। लेकिन उनकी यह धारणा बेबुनियाद थी। अँग्रेजों ने भारतीय शासकों से जो सन्धियाँ की थीं उनमें भी यह उल्लेख नहीं किया गया कि सर्वोच्च

सत्ता को गोद लेने की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति देने का अधिकार है, न अँग्रेजों ने इस प्रकार का कोई कानून ही बनाया था। अतः स्पष्ट है कि अँग्रेजों को गोद लेने से रोकने का न तो कोई नैतिक या कानूनी अधिकार था और न वे इस अधिकार का प्रयोग किसी परम्परा के आधार पर ही कर सकते थे।

अँग्रेज इतिहासकारों ने यह भी कहा है कि इस नीति से भारतीय राज्यों के लोगों को बड़ी प्रसन्नता हुई थी, क्योंकि भारतीय राज्यों की प्रजा ने ब्रिटिश शासन को अपने राजाओं के अत्याचारों से बचने का उपाय माना था। किन्तु आगे चलकर घटित होने वाली घटनाओं से इस कथन का खोखलापन सिद्ध हो जाता है। नागपुर, झाँसी आदि राज्यों के लोगों का 1857 ई. के विप्लव में सक्रिय भाग लेना इस बात का प्रमाण है कि इन राज्यों के लोगों को गोद-निषेध नीति से प्रसन्नता नहीं हुई, बल्कि वे क्रोध से पागल हो उठे थे। इस विप्लव ने यह सिद्ध कर दिया कि डलहौजी की गोद-निषेध नीति अनैतिक व अनुचित थी। इसीलिये विप्लव के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारतीय राजाओं द्वारा गोद लेने के अधिकार को मान्यता प्रदान करदी थी।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि डलहौजी की इस नीति से कम्पनी साम्राज्य का विस्तार हुआ, कम्पनी की आय में वृद्धि हुई और इंगलैण्ड को कच्चे माल की मण्डियाँ सुलभ हो गयीं। किन्तु डलहौजी की यह नीति कम्पनी शासन के लिये आतमघाती सिद्ध हुई, क्योंकि विप्लव की समाप्ति के बाद भारत में कम्पनी शासन का ही अन्त हो गया।

अध्याय-7

अवध का अधिग्रहण

1707 ई. में मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य पतनोन्मुख हो गया। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य का वैभव एवं ऐश्वर्य लुप्त हो गया। साम्राज्य की पतनोन्मुख स्थिति का लाभ उठाकर स्वार्थी एवं महत्त्वाकांक्षी मुगल सूबेदार केन्द्रीय सत्ता से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर अपने-अपने सूबों में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने लगे। निजाम-उल-मुल्क ने दक्षिण में जाकर हैदराबाद का स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया और अलीवर्दीखाँ ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करली। अवध को स्वतन्त्र राज्य का स्वरूप प्रदान करने वाला सआदतखाँ बुरहान-उल-मुल्क था। वह शिया सम्प्रदाय का तथा सैयदों के वंश में था। सैयद बन्धुओं के पतन में उसने मुगल सम्राट मुहम्मदशाह को सहयोग प्रदान किया था, जिससे वह मुगल सम्राट का कृपापात्र बन गया था। 1720 ई. में वह बयाना का फौजदार नियुक्त हुआ और तत्पश्चात् वह आगरे का सूबेदार भी बन गया। मुगल दरबार में सआदतखाँ ईरानी दल का नेता रहा। मुगल दरबार में उसने निजाम और सैयद बन्धुओं का विरोध किया। सैयद हुसैन अली का वध करने के बाद वह 5000 जात व 3000 सवार का मनसबदार बन गया। मुगल सम्राट ने उसे जाटों व राजपूतों का दमन करने भेजा, लेकिन वह अपने इस कार्य में असफल रहा। फलस्वरूप मुगल सम्राट मुहम्मदशाह उससे नाराज हो गया। कुछ समय बाद उसे अवध का सूबेदार नियुक्त किया गया। उस समय अवध की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त ही शोचनीय थी। सूबे के छोटे-छोटे अमीर अपना सिर उठा रहे थे तथा राजस्व देने में भी आनाकानी कर रहे थे। सआदतखाँ ने अपनी योग्यता का परिचय देते हुए अवध में सुव्यवस्था स्थापित की। अब वह अपने सूबे में निरंकुश व स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगा हालाँकि सिद्धान्त रूप से वह मुगल सम्राट को अपना अधिपति स्वीकार करता था। इस प्रकार अवध का स्वतन्त्र राज्य अस्तित्व में आया।

अवध राज्य का कम्पनी से सम्पर्क—1739 ई. में सआदतखाँ की मृत्यु के बाद उसका भतीजा और दामाद सफदरजंग उसका उत्तराधिकारी बना। अपनी योग्यता के कारण 1748 ई में वह मुगल सम्राट का वजीर बन गया। 1754 ई. में सफदरजंग की मृत्यु के बाद उसका पुत्र शुजाउद्दौला अवध का नवाब बना। 1761 ई. में पानीपत के तीसरे युद्ध में वह अहमदशाह

अब्दाली के पक्ष में और मराठों के विरुद्ध लड़ा था। 1762 ई. में जब अलीगौहर शाह आलम द्वितीय के नाम से सम्राट बना तब वह उसका वजीर बन गया। 1763 ई. में बंगाल के नवाब मीर कासिम और अँग्रेजों के बीच हुए युद्ध में मीर कासिम पराजित हुआ। जिस समय मीर कासिम पराजित होकर पटना की ओर भागा, तब अगस्त 1763 ई. में अवध के नवाब शुजाउद्दौला ने भगोड़े मीर कासिम के विरुद्ध अँग्रेजों को सहायता देने का प्रस्ताव किया था। किन्तु जब मीर कासिम अँग्रेजों के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने इलाहाबाद पहुँचा, जहाँ शुजाउद्दौला और मुगल सम्राट शाह आलम ठहरे हुए थे, तब शुजाउद्दौला का विचार बदल गया। क्योंकि इस समय मीर कासिम के पास दस करोड़ रुपये मूल्य के जवाहरात थे, जिसे शुजाउद्दौला हड़पना चाहता था। इसके अतिरिक्त वह बंगाल और बिहार में अपना प्रभाव बढ़ाने को भी उत्सुक था। परन्तु शुजाउद्दौला ने दुरंगी चाल चलते हुए अँग्रेजों से भी बातचीत जारी रखी। जब अँग्रेजों ने शुजाउद्दौला के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया तब उसने अँग्रेजों के विरुद्ध मीर कासिम को सहायता देना स्वीकार कर लिया। मुगल सम्राट शाह आलम भी उसके साथ हो गया। 23 अक्टूबर, 1764 ई. को इतिहास प्रसिद्ध बक्सर का युद्ध हुआ। इसमें अवध की सेना बुरी तरह से परास्त हो भाग खड़ी हुई। शुजाउद्दौला भी भाग निकला। अँग्रेजी सेना ने उसका पीछा किया। जनवरी, 1765 ई. में बनारस के निकट शुजाउद्दौला पुनः परास्त हुआ। अँग्रेजों ने चुनार तथा इलाहाबाद के दुर्गों पर अधिकार कर लिया। शुजाउद्दौला ने मराठा सेनानायक मल्हारराव होल्कर से सहायता प्राप्त की, किन्तु अप्रैल, 1765 ई. में कड़ा के युद्ध में अँग्रेजों ने उन दोनों को परास्त किया। अन्त में शुजाउद्दौला ने आत्म-समर्पण कर दिया।

इलाहाबाद की सन्धि—बक्सर के युद्ध में पराजित होने वाली भारत की प्रमुख तीन शक्तियाँ थीं—मुगल सम्राट शाह आलम, अवध का नवाब शुजाउद्दौला तथा बंगाल का नवाब मीर कासिम। लॉर्ड क्लाइव जब दूसरी बार कम्पनी का गवर्नर बनकर भारत आया तब उसके सामने प्रमुख समस्या यह थी कि इन पराजित शक्तियों के प्रति कैसी नीति अपनाई जाय ताकि इन शक्तियों की प्रतिष्ठा भी बनी रहे और कम्पनी के प्रभाव में भी वृद्धि हो। इस दृष्टि से क्लाइव ने सुरक्षा प्रकोट की नीति अपनाई। फलस्वरूप अवध के नवाब शुजाउद्दौला और कम्पनी के बीच 1765 ई. में इलाहाबाद की सन्धि हुई। इस सन्धि में कहा गया कि दोनों पक्षों के बीच चिरस्थायी और व्यापक शान्ति, वास्तविक मित्रता और सुदृढ़ संयोजन की व्यवस्था की जा रही है। इस सन्धि में यह भी तय किया गया कि दोनों पक्षों में से किसी पर बाहरी आक्रमण होने पर दूसरा पक्ष सैनिक सहायता देगा। अवध के नवाब ने यह स्वीकार किया कि यदि वह अपनी सुरक्षा के लिये ब्रिटिश सेना का उपयोग करेगा तो वह ब्रिटिश सेना का खर्च देगा। अवध के नवाब ने युद्ध के हर्जाने के रूप में 50 लाख रुपये कम्पनी को देना स्वीकार कर लिया। इस सन्धि के बाद अवध के नवाब शुजाउद्दौला ने अथवा उसके उत्तराधिकारियों ने न तो कभी अँग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष किया और न किसी ऐसे संघर्ष में भाग लिया जो अँग्रेजों के विरुद्ध किया गया हो। इस सन्धि के पश्चात् अवध के नवाब कमजोर होते गये। यद्यपि यह सन्धि समानता के आधार पर की गई थी, किन्तु कुछ ही वर्षों में अवध की स्थिति कम्पनी की तुलना में नीचे गिर गई।

वारेन हेस्टिंग्ज और अवध—इलाहाबाद की सन्धि के द्वारा लॉर्ड क्लाइव ने अवध के दो जिले कड़ा और इलाहाबाद लेकर मुगल सम्राट को सौंप दिये थे। किन्तु वारेन हेस्टिंग्ज ने सितम्बर, 1773 ई. में अवध के नये नवाब से बनारस की सन्धि करके कड़ा और इलाहाबाद पुनः अवध को लौटा दिये तथा इसके बदले में नवाब ने कम्पनी को 50 लाख रुपया देने का वादा किया। बनारस की सन्धि में पुनः दोहराया गया कि आवश्यकता पड़ने पर अवध का नवाब अँग्रेजों को निःशुल्क सैनिक सहायता देगा और यदि अवध का नवाब अँग्रेजों से सैनिक सहायता माँगेगा तो नवाब उस सेना का खर्च देगा। 1775 ई. के आरम्भ में शुजाउद्दौला की मृत्यु हो गयी, तब उसका 26 वर्षीय पुत्र आसफुद्दौला गद्दी पर बैठा।

आसफुद्दौला के गद्दी पर बैठने के बाद कम्पनी ने उसे सूचित किया कि कम्पनी और नवाब के बीच व्यक्तिगत आधार पर सन्धियाँ की गई थीं और शुजाउद्दौला की मृत्यु के बाद ही दोनों पक्षों के बीच हुई सन्धियाँ समाप्त हो गई हैं, अतः उसे एक नई सन्धि करने को कहा गया। कम्पनी का यह दृष्टिकोण सर्वथा अनुचित था, क्योंकि अवध के साथ की गई सन्धियों में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं थी और न दो राज्यों के बीच स्थापित सम्बन्ध किसी एक शासक की मृत्यु हो जाने पर स्वतः ही समाप्त होते हैं। लेकिन कम्पनी नये नवाब से अधिक लाभ प्राप्त करने तथा कम्पनी के नियन्त्रण को बढ़ाने के लिये उत्सुक थी। अतः 22 मई, 1775 ई. को कम्पनी और आसफुद्दौला के बीच एक नई सन्धि हुई, जिसे फैजाबाद की सन्धि कहते हैं। इस सन्धि के अनुसार कम्पनी ने अवध की सुरक्षा का दायित्व अपने ऊपर ले लिया तथा इस दायित्व को पूरा करने के लिये एक ब्रिगेड ब्रिटिश सेना तैनात कर दी गई। नवाब ने इस सुरक्षा के बदले में बनारस व गाजीपुर के क्षेत्र कम्पनी के नियन्त्रण में सौंप दिये। अवध की सुरक्षा के लिये जो एक ब्रिगेड सेना तैनात की गई उसका खर्च भी नवाब पर थोप दिया गया। किन्तु आसफुद्दौला इस सेना का खर्च कम्पनी को नहीं चुका पाया और अवध पर कम्पनी का कर्ज बढ़कर डेढ़ करोड़ रुपया हो गया।

वारेन हेस्टिंग्ज को उस समय भीषण आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। रुहेलों व मराठों के साथ हुए युद्ध के कारण कम्पनी का कोष रिक्त हो गया था। अतः वारेन हेस्टिंग्ज ने आसफुद्दौला को बकाया रकम चुकाने को कहा। आसफुद्दौला ने कहा कि उसके पास कोई सम्पत्ति नहीं है, यदि कम्पनी उसकी माँ तथा दादी से सम्पत्ति दिलवा दे तो वह कम्पनी का कर्ज चुका सकता है। अतः हेस्टिंग्ज के दबाव डालने पर अवध की बेगमों ने एक बार 26 लाख रुपया तथा दूसरी बार 30 लाख रुपया नवाब को दिया और नवाब ने यह राशि कम्पनी को दे दी। किन्तु बेगमों ने कम्पनी से यह वचन ले लिया कि अब भविष्य में उन पर कोई दबाव नहीं डाला जायेगा। इस धनराशि से कम्पनी का कर्जा नहीं चुकाया जा सका। हेस्टिंग्ज निरन्तर नवाब पर कर्जा चुकाने का दबाव डालता रहा। 1781 ई. में नवाब ने हेस्टिंग्ज से कहा कि यदि उसे सैनिक सहायता दी जाय तो वह बेगमों से धन लेकर कम्पनी को चुका सकता है। चूँकि हेस्टिंग्ज को इस समय धन की सख्त आवश्यकता थी, इसलिये उसने नवाब के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया तथा लखनऊ स्थित ब्रिटिश रेजीडेण्ट को आदेश दिया कि अवध का नवाब जो भी मदद माँगे, उसे दे दी जाय। अपने आदेश के औचित्य को सिद्ध करने के लिये हेस्टिंग्ज ने बेगमों पर

ब्रिटिश विरोधी एवं ब्रिटिश विरोधियों को सहायता देने का झूठा आरोप लगाया। 1782 ई. में अवध का नवाब कम्पनी की सेना लेकर फैजाबाद पहुँचा और बेगमों के महल को चारों ओर से घेर लिया। बेगमों के नौकरों व अंगरक्षकों को घोर यातनाएँ देकर खजाने का पता लगा लिया गया तथा पूरा खजाना हस्तगत कर लिया गया। अवध की बेगमों के साथ भी बड़ा अमानुषिक व्यवहार किया गया।

अवध की बेगमों से धन प्राप्त करने के बाद भी कम्पनी की पूरी बकाया राशि नहीं चुकायी जा सकी। वास्तव में सुरक्षा के नाम पर अवध से इतनी अधिक राशि निर्धारित की गई थी, जो आय के अनुपात से बहुत अधिक थी। अतः 1786 ई. में जब कार्नवालिस गवर्नर-जनरल बनकर आया तब नवाब आसफुद्दौला ने उससे अस्थायी ब्रिग्रेड अवध से हटा लेने की प्रार्थना की। कार्नवालिस ने अवध में तैनात ब्रिटिश सेना की संख्या में कमी करना तो स्वीकार नहीं किया, लेकिन उसके सैनिक खर्च को घटाकर 50 लाख रुपये वार्षिक कर दिया। इससे नवाब को थोड़ी राहत मिली।

सर जॉन शोर द्वारा हस्तक्षेप—1793 ई. में सर जॉन शोर भारत में गवर्नर-जनरल बनकर आया। 1794 ई. में सर जॉन शोर ने नवाब के सामने प्रस्ताव रखा कि अवध द्वारा कम्पनी को दिये जाने वाले खिराज को नियमित रूप से चुकाने के लिए गंगा-यमुना का दोआब, गोरखपुर जिले का लगान और इलाहाबाद का दुर्ग कम्पनी को सौंप दे। जॉन शोर ने लखनऊ स्थित ब्रिटिश रेजीडेण्ट को आदेश दिया कि वह नवाब से बातचीत करके इस बात को आगे बढ़ाये। लेकिन नवाब के मन्त्री इस प्रस्ताव से सहमत नहीं थे। 1797 ई. में स्वयं जॉन शोर लखनऊ गया। नवाब ने उससे ब्रिटिश रेजीडेण्ट चेरी के अनुचित हस्तक्षेप की शिकायत की। जॉन शोर ने नवाब को अपने मन्त्री (जो जॉन शोर के प्रस्ताव का विरोध कर रहे थे) बदलने के लिए विवश किया, तब नवाब को सन्तुष्ट करने के लिए ब्रिटिश रेजीडेण्ट चेरी को लखनऊ से हटा दिया गया और नवाब ने जॉन शोर के कहने के अनुसार अपने कुछ मन्त्रियों को बदल दिया। इस प्रकार अवध के प्रशासन में कम्पनी का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप आरम्भ हो गया और वह भी ऐसे गवर्नर-जनरल द्वारा, जिसका नाम 'अहस्तक्षेप की नीति' के साथ जुड़ा हुआ है।

सितम्बर, 1797 ई. में नवाब आसफुद्दौला की मृत्यु हो गयी। नवाब की माँ, प्रमुख अमीरों तथा ब्रिटिश रेजीडेण्ट ने विचार-विमर्श कर आसफुद्दौला के दत्तक पुत्र वजीरअली को नवाब घोषित कर दिया। गवर्नर-जनरल जॉन शोर ने भी वजीरअली को अवध का नवाब स्वीकार कर लिया। लेकिन कुछ ही दिनों बाद आसफुद्दौला के भाई सादतअली ने नवाब की गद्दी के लिए अपना दावा प्रस्तुत किया और कहा कि वजीरअली का जन्म एक नीची जाति में हुआ है और वह अवध के राजघराने से सम्बन्धित नहीं है। अवध के राजघराने के बहुत से सदस्यों ने भी सादतअली का समर्थन किया। लेकिन गवर्नर-जनरल जॉन शोर ने ब्रिटिश रेजीडेण्ट को वजीरअली के वंश आदि के बारे में जाँच-पड़ताल करने से मना कर दिया। कुछ महीनों तक यह स्थिति बनी रही। सादतअली ने कम्पनी को विश्वास दिलाया कि वह कम्पनी के सभी वायदे पूरे करने को तैयार

इस पर जॉन शोर दिसम्बर, 1797 ई. में स्वयं लखनऊ आया तथा उसने वजीरअली के जन्म तथा अवध की गद्दी पर उसके अधिकार के बारे में विभिन्न लोगों से बातचीत की। जॉन शोर द्वारा वजीरअली के उत्तराधिकार के बारे में जाँच-पड़ताल करने के कारण वजीरअली के विरोधी और अधिक सक्रिय हो उठे तथा उन्होंने नवाब को अपदस्थ करने की अपील की। जॉन शोर ने अनुभव किया कि वजीरअली के नवाब बने रहने से अवध पर ब्रिटिश प्रभाव को बढ़ाने में कठिनाई हो सकती है, अतः उसने वजीरअली को अपदस्थ कर सादतअली को नवाब बनाने का निश्चय किया। तत्पश्चात् जॉन शोर ने वजीरअली को एक फराश का पुत्र घोषित कर उसे गद्दी से हटा दिया तथा फरवरी, 1798 ई. में सादतअली को अवध का नवाब घोषित कर दिया। चूँकि सादतअली ब्रिटिश हस्तक्षेप एवं सहयोग से नवाब बना था, अतः इस समय से अवध के नवाब की स्थिति और भी अधिक कमजोर हो गई। गद्दी पर बैठने के बाद सादतअली ने कम्पनी से एक नई सन्धि की, जिसके अनुसार—

(1) नवाब कम्पनी को इलाहाबाद का दुर्ग समर्पित कर देगा तथा दुर्ग की मरम्मत के लिये 15 लाख रुपये देगा।

(2) अवध द्वारा सैनिक खर्च के लिए दी जाने वाली राशि 50 लाख रुपये से बढ़ाकर 75 लाख रुपये वार्षिक कर दी गई। सन्धि में यह भी तय किया गया कि अत्यावश्यक परिस्थितियों को छोड़कर किसी भी परिस्थिति में यह वार्षिक शुल्क बढ़ाया नहीं जायेगा। अत्यावश्यक परिस्थितियों का निर्णय स्वयं गवर्नर-जनरल करेगा।

(3) इलाहाबाद में कम्पनी की सेना रखी जायेगी तथा नवाब ने अपनी सेना में कमी करना स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार कम्पनी ने अपनी शक्ति के माध्यम से खुले तौर पर अवध के उत्तराधिकार के मामले में हस्तक्षेप किया, जिससे अवध में कम्पनी की स्थिति काफी मजबूत हो गयी। यद्यपि नवाब पर भारी शुल्क लाद दिया गया था, फिर भी नवाब इस शुल्क का भुगतान नियमित रूप से व समय पर करता रहा। किन्तु राज्य के प्रशासन में भ्रष्टाचार व्याप्त था। सादतअली अँग्रेजों के प्रति स्वामिभक्त बना रहा, फिर भी वह अँग्रेजों के शोषण से मुक्त नहीं हो सका। राज्य में कम्पनी का प्रभाव स्थापित हो जाने के बावजूद कम्पनी ने न तो प्रशासनिक सुधारों की तरफ कोई ध्यान दिया और न जन-कल्याण की ओर ध्यान दिया। फलस्वरूप अवध की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गयी। कम्पनी के आर्थिक दावों को पूरा करने के लिये जनता पर करों का बोझ बढ़ता गया। वस्तुतः जॉन शोर की अवध के प्रति नीति उग्र थी।

वेलेजली की दबाव डालने की नीति—मई, 1798 ई. में लार्ड वेलेजली गवर्नर जनरल बनकर भारत आया। वह घोर साम्राज्यवादी था तथा अवध के अधिकांश भू-भागों को कम्पनी के अधिकार में लेना चाहता था। वह अवध में तैनात ब्रिटिश सेना की संख्या में भी वृद्धि करना चाहता था। अतः वेलेजली ने सर्वप्रथम कर्नल विलियम स्काट को अवध में रेजीडेण्ट नियुक्त किया ताकि वह अवध में अपनी योजना को सुगमतापूर्वक लागू कर सके। तत्पश्चात् वेलेजली ने नवाब पर इस बात के लिए दबाव डाला कि नवाब अपनी निरर्थक सेना के एक भाग को समाप्त

कर दे तथा उसके बदले में कम्पनी की सहायक सेना में वृद्धि करदी जाय। वेलेजली ने अपनी इस माँग के औचित्य को बताते हुए कहा कि मैसूर का शासक टीपू अफगानिस्तान के शासक जमानशाह से साँठ-गाँठ कर रहा है तथा भारत पर जमानशाह के आक्रमण का भय है। वेलेजली ने कहा कि अवध में सहायक सेना में वृद्धि करने के बाद नवाब 126 लाख रुपये वार्षिक शुल्क कम्पनी को अदा करे। वास्तव में इस समय जमानशाह के आक्रमण का कोई भय नहीं था, क्योंकि अफगानिस्तान में गृहयुद्ध चल रहा था, जिसके फलस्वरूप जमानशाह को अपदस्थ कर दिया गया था। अतः वेलेजली ने जो भय दिखाना चाहा उससे नवाब तनिक भी प्रभावित नहीं हुआ। वास्तव में वेलेजली को खतरा मराठों से था तथा उत्तर भारत में मराठों से भावी संघर्ष की योजना के लिए वह अवध की सुरक्षा-व्यवस्था को मजबूत करना चाहता था तथा दोआब का क्षेत्र कम्पनी के अधिकार में लेना चाहता था। मई, 1799 ई. में टीपू की मृत्यु के बाद अब केवल मराठे ही अँग्रेजों के प्रतिद्वन्द्वी रह गये थे। मराठे फ्रांसीसियों से मिलकर अवध की कमजोर रक्षा-व्यवस्था का लाभ उठाकर कम्पनी के लिए खतरा उत्पन्न कर सकते थे। इस प्रकार वेलेजली के सामने जमानशाह के आक्रमण का भय नहीं था, बल्कि उत्तर भारत के भावी संघर्षों में अवध की सुरक्षा का भय था।

नवाब सादतअली को अवध में अँग्रेजी सेना बढ़ाये जाने पर तो कोई आपत्ति नहीं थी, लेकिन सेना के खर्च को बढ़ाये जाने पर गम्भीर आपत्ति थी, क्योंकि उसने पहले ही सेना के खर्च की राशि 50 लाख से बढ़ाकर 75 लाख रुपये कर दी थी। वेलेजली ने सुझाव दिया कि वह अपनी सेना के एक भाग को समाप्त कर दे तथा इससे जो बचत हो उससे ब्रिटिश सेना का खर्च चुका दे। किन्तु नवाब का कहना था कि सेना समाप्त करने से राज्य में असन्तोष फैल जायेगा तथा शेष सेना भी अनुशासनहीन हो जायेगी और उसकी स्वयं की प्रतिष्ठा भी कम हो जायेगी। वेलेजली नवाब के किसी तर्क को सुनने के लिए तैयार नहीं था। वह निरन्तर नवाब पर अपनी बात मनवाने के लिए दबाव डालता गया। अन्त में विवश होकर नवम्बर, 1799 ई. में नवाब ने कहा कि यदि उसके पुत्र को गद्दी सौंप दी जाय तो वह अवध की गद्दी त्यागने को तैयार है। वेलेजली इसके लिए तुरन्त तैयार हो गया। लेकिन नवाब को मालूम हुआ कि उसके गद्दी त्यागते ही वेलेजली समस्त अवध को अँग्रेजी राज्य में मिला लेगा। अतः नवाब ने गद्दी त्यागने का इरादा त्याग दिया। इस पर वेलेजली ने नवाब पर धोखा देने का आरोप लगाया और नवाब को सूचित किया कि अवध में अँग्रेजी सेना की संख्या बढ़ाई जा रही है और यह सेना अवध में प्रवेश करने के लिए तैयार है। नवाब ने इसके विरोध में अनेक आपत्तियाँ उठाईं, इस पर वेलेजली ने नवाब को धमकी दी कि अवध से ब्रिटिश संरक्षण समाप्त कर दिया जायेगा। इतना ही नहीं, उसने नवाब के विरोध की चिन्ता न करते हुए अवध में अँग्रेजी सेना भेज दी तथा नवाब को इस अतिरिक्त सेना का खर्च देने को विवश किया गया। नवाब को झुकना पड़ा।

अवध में सेना भेजकर भी वेलेजली सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह तो दोआब, रुहेलखण्ड व गोरखपुर पर ब्रिटिश नियन्त्रण चाहता था। अतः उसने अवध की वित्तीय कठिनाइयों को हल करने के लिए दो विकल्प प्रस्तुत किये—प्रथम तो यह कि नवाब गद्दी त्याग दे तथा अपना सम्पूर्ण राज्य कम्पनी को सौंप दे, दूसरा ब्रिटिश सेना के खर्च को चुकाने के लिए दोआब, रुहेलखण्ड

तथा गोरखपुर के क्षेत्र अँग्रेजों को सौंप दे। नवाब ने दोनों प्रस्ताव अस्वीकार कर दिए। इस पर वेलेजली ने नवाब पर विभिन्न प्रकार से दबाव डाला। नवाब विवश था और वेलेजली नवाब की विवशता का लाभ उठाने पर तुला हुआ था। वेलेजली ने अवध में स्थित ब्रिटिश रेजीडेण्ट को आदेश दिया कि वह अवध के उतने क्षेत्र पर अधिकार करले जितना सेना के खर्च के लिए आवश्यक हो और इसके लिए यदि आवश्यक हो तो बल प्रयोग भी किया जाय। अतः विवश होकर नवाब को वेलेजली के समक्ष घुटने टेकने पड़े। 10 नवम्बर, 1801 ई. को नवाब ने कम्पनी से एक नई सन्धि करके वेलेजली की शर्तों को स्वीकार कर लिया। इस सन्धि के अनुसार—

(1) नवाब ने गोरखपुर, इलाहाबाद, कानपुर, फर्रूखाबाद, इटावा, बरेली और मुरादाबाद के जिले, जिनकी आय लगभग एक करोड़ रुपये वार्षिक थी, स्थायी रूप से कम्पनी को समर्पित कर दिये।

(2) नवाब ने अवध की सेना के अधिकांश भाग को समाप्त करने का वचन दिया। फलस्वरूप कम्पनी को अवध के भिन्न-भिन्न भागों में अपनी सेना तैनात करने का अधिकार मिल गया।

(3) नवाब ने अपने प्रशासन का कार्य कम्पनी के परामर्श से करने का वादा किया।

इस सन्धि के परिणामस्वरूप अब नवाब के अधीन क्षेत्र चारों ओर से ब्रिटिश अधिकृत क्षेत्रों से घिर गया। अवध राज्य को तटस्थ क्षेत्र बनाये रखने की पुरानी नीति को समाप्त कर दिया गया और अब अँग्रेजों को अवध के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त हो गया। ब्रिटिश सेना का विशाल भाग अवध पर थोप दिया गया, जिसका भारी खर्च नवाब को देना पड़ता था। नवाब की सेना में भारी कमी करदी गई।

अवध के प्रति वेलेजली की नीति का मूल्यांकन करते हुए रेम्जे म्यूर ने इस नीति की प्रशंसा की है। उसका कहना है कि अवध पर कम्पनी का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो जाने से कम्पनी राज्य के उत्तर-पश्चिम से अब आक्रमण का कोई भय नहीं रहा और कम्पनी राज्य पूरी तरह से सुरक्षित हो गया। किन्तु अधिकांश विद्वानों ने वेलेजली की इस नीति की कटु आलोचना की है। 1765 ई. से ही अवध कम्पनी का मित्र राज्य था और उसके शासकों ने कभी भी कम्पनी के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की थी। फिर भी उस राज्य में सहायक सेना बढ़ाते रहना तथा बढ़ाई जाने वाली सेना के खर्च के लिए अतिरिक्त धनराशि की माँग करना और इसकी ओट में अवध के उपजाऊ भू-भागों पर बलपूर्वक अधिकार करना, अवध के साथ पूर्व में की गई सन्धियों का खुला उल्लंघन था। ब्रिटिश संसद सदस्य फाक्सडोन ने इस कार्य को डकैती की संज्ञा दी। एक अन्य संसद सदस्य थार्नटन ने कहा, "यदि यह सन्धि थी तो फिर खुले मैदान में जाते हुए किसी यात्री के ऊपर डाकू के टूट पड़ने और उसे लूट लेने को भी सन्धि का नाम दिया जा सकता है।" डॉडवेल ने लिखा है, "अवध के प्रति नीति वेलेजली की तानाशाही वृत्तियों में सबसे अधिक निकृष्ट थी।" वास्तव में इस नीति से कम्पनी को भले ही लाभ हुआ हो, लेकिन अवध के शासक और उसकी जनता के लिये यह अत्यधिक कष्टप्रद थी। इससे अवध का लगभग आधा भू-भाग

कम्पनी के नियन्त्रण में चला गया तथा अवध की सेना लगभग समाप्त ही हो गयी। अवध पूरी तरह से कम्पनी के आश्रित हो गया, जिसका लाभ आगे चलकर डलहौजी ने उठाया था।

अवध पर ब्रिटिश नियन्त्रण में वृद्धि—1765 ई. के बाद अवध पर ज्यों-ज्यों ब्रिटिश नियन्त्रण बढ़ता गया, राज्य में अव्यवस्था भी बढ़ती गई। नवाब केवल ब्रिटिश रेजीडेण्ट की सलाह से कार्य कर रहा था। फिर भी ब्रिटिश अधिकारी इस अव्यवस्था के लिये नवाब को ही उत्तरदायी ठहरा रहे थे। वेलेजली के बाद लॉर्ड हेस्टिंग्ज तथा एमहर्स्ट को नवाब की वफ़ादारी के प्रति कोई शिकायत नहीं रही। लॉर्ड हेस्टिंग्ज तो नवाब से अत्यन्त ही प्रसन्न था, क्योंकि नेपाल युद्ध के अवसर पर नवाब ने कम्पनी को ऋण दिया था। अतः लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने नवाब को राजा की उपाधि प्रदान की। लॉर्ड एमहर्स्ट के शासनकाल में हुए वर्मा युद्ध के अवसर पर भी नवाब ने अँग्रेजों को वित्तीय सहायता प्रदान की थी। फ़िर भी इन युद्धों के फलस्वरूप ब्रिटिश कोष रिक्त हो गया तथा अवध के भी सारे स्रोत सूख गये, तब लॉर्ड विलियम बैंटिक को अचानक अवध में अव्यवस्था दिखाई देने लगी और उसने घोषणा की कि, "यदि नवाब ने जनता की समृद्धि के लिये राज्य के प्रशासन को उचित ढँग से संचालित नहीं किया तो राज्य का समस्त प्रबन्ध कम्पनी अपने हाथ में ले लेगी।" जनता की समृद्धि के नाम पर अवध राज्य के अधिग्रहण करने का कोई कानूनी आधार नहीं था। अतः 1837 ई. में लॉर्ड ऑकलैण्ड ने स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया।

7 जुलाई, 1837 ई. को नवाब नासिरुद्दीन की मृत्यु हो गयी। नासिरुद्दीन की मृत्यु के बाद अवध में स्थित रेजीडेण्ट जॉन लो ने मुस्लिम कानून के अनुसार मृत नवाब के चाचा मोहम्मद अली को गद्दी पर बैठाने का प्रयत्न किया। किन्तु मृत नवाब की सौतेली माँ पादशाही बेगम ने इसका विरोध किया। अतः ब्रिटिश सेना को बुला लिया गया और जब ब्रिटिश रेजीडेण्ट की चेतावनी का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा तो तोपों के मुँह खोल दिये गये। फलस्वरूप 40 व्यक्ति मारे गये तथा शेष भाग खड़े हुए। पादशाही बेगम तथा उसके द्वारा मनोनीत नवाब गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें चुनार भेज दिया गया। ब्रिटिश रेजीडेण्ट द्वारा मनोनीत मुहम्मद अली को अवध की गद्दी पर बैठा दिया गया। इसके बदले में मुहम्मद अली ने जॉन लो द्वारा तैयार किये गये एक समझौता-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। इस समझौता-पत्र में कहा गया था कि नवाब अपने स्वयं के खर्चे से, जो लगभग 1,60,000 पौण्ड प्रति वर्ष होगा, अवध में दो रेजीमेण्ट घुड़सवार सेना, पाँच रेजीमेण्ट पैदल सेना तथा दो बटैलियन अनुशासित एवं प्रशिक्षित सेना रखेगा, जो ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा संगठित की जायेगी। इस सेना को साधारण राजस्व वसूली के लिये प्रयोग में नहीं लिया जायेगा। समझौता-पत्र में यह भी कहा गया था कि यदि अवध के किसी जिले में अराजकता एवं अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है तो वह जिला, ब्रिटिश अधिकारियों के नियन्त्रण में स्थानान्तरित कर दिया जायेगा। इन जिलों से जो राजस्व प्राप्त होगा वह प्रजा के हित में खर्च किया जायेगा तथा अधिशेष राजस्व नवाब के खजाने में जमा करा दिया जायेगा। इस घटना से स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि अवध पर ब्रिटिश नियन्त्रण दिनों-दिन बढ़ता जा रहा था तथा यह नियन्त्रण दृढ़ भी होता जा रहा था।

उपर्युक्त सन्धि सर्वथा अनुचित थी। अतिरिक्त सेना के गठन के लिये नवाब को अतिरिक्त रक़म जुटानी थी और यह रकम राजस्व और करों में वृद्धि करके ही जुटायी जा सकती थी। इसका एक प्रभाव तो प्रशासन की कार्य-कुशलता पर पड़ सकता था और दूसरा जनता पर भारी कर लगाने से जनता में असन्तोष और विद्रोह की भावना फैल सकती थी, जिसका परिणाम होगा अराजकता, अव्यवस्था और दमन तथा इससे ब्रिटिश हस्तक्षेप होगा। जॉन लो ने इस सन्धि का विरोध किया था और यह आशंका व्यक्त की थी कि इससे स्थिति और बिगड़ जायेगी। कम्पनी के संचालक मण्डल ने भी इस सन्धि को स्वीकार नहीं किया था तथा अप्रैल, 1839 ई. में अपनी अस्वीकृति भेजते हुए लॉर्ड ऑकलैण्ड को आदेश दिया कि वह सन्धि निरस्त किये जाने की सूचना नवाब के पास भेज दे। ऑकलैण्ड ने इस आदेश की कोई परवाह नहीं की, हालाँकि उसने नवाब को यह सूचित कर दिया कि वह अतिरिक्त सेना के गठन के दायित्व से मुक्त किया जाता है, किन्तु उसने नवाब एवं उसके मन्त्रियों को यह भी बोध करवा दिया कि सन्धि की अन्य शर्तें यथावत रहेंगी। इतना ही नहीं, ऑकलैण्ड ने संचालक मण्डल के साथ भी धोखा किया और उन्हें सूचित कर दिया कि उनके आदेशों को कार्यान्वित कर दिया गया है, लेकिन उसने भारत में संचालक मण्डल के उक्त आदेश को गुप्त रखा। यहाँ तक कि 1847 ई. में लॉर्ड हार्डिंग को तथा 1854 ई. में कर्नल स्लीमन को भी मालूम नहीं था कि सम्पूर्ण सन्धि निरस्त कर दी गई है। इसीलिये 1847 ई. में लॉर्ड हार्डिंग ने अवध में फैली अव्यवस्था के सम्बन्ध में नवाब को चेतावनी देते हुए इस सन्धि का हवाला दिया था।

अवध का अधिग्रहण—1848 ई. में लॉर्ड डलहौजी भारत में गवर्नर-जनरल बनकर आया। उसके आने के पहले अवध पूरी तरह से असहाय व अँग्रेजों के आश्रित हो चुका था और इस प्रकार अवध के अधिग्रहण की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी। डलहौजी घोर साम्राज्यवादी था तथा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार करना चाहता था। डलहौजी ने 1849 ई. में कर्नल स्लीमन को अवध में रेजीडेण्ट नियुक्त किया तथा अवध की स्थिति के बारे में एक रिपोर्ट तैयार करने को कहा। स्लीमन ने जो रिपोर्ट तैयार की उसमें अवध की दुर्दशा को अतिरंजित रूप से बताया गया। स्लीमन ने अपनी रिपोर्ट के साथ ऐसे लोगों (अवध के देशद्रोहियों) की सूची लगाई जो अवध के प्रशासन का, कम्पनी द्वारा अधिग्रहण करने का समर्थन कर रहे थे। किन्तु स्लीमन ने अपनी रिपोर्ट में यह भी लिखा कि अवध राज्य का अधिग्रहण करना उचित नहीं होगा। हालाँकि उसने अवध की दुर्दशा के लिये नवाब वाजिदअली शाह को दोषी बताया था। डलहौजी अवध को अँग्रेजी साम्राज्य में मिलाने के लिए कृत संकल्प था। अतः स्लीमन की रिपोर्ट से उसकी मनोकामना पूरी नहीं हो सकी। डलहौजी ने स्लीमन की रिपोर्ट के आधार पर नवाब को शासन सुधारने की कोई चेतावनी भी नहीं दी। डलहौजी ने कर्नल स्लीमन को रेजीडेण्ट के पद से हटा दिया और 1854 ई. में जनरल आउटरम को अवध में रेजीडेण्ट के पद पर नियुक्त किया। डलहौजी ने जनरल आउटरम को अवध के बारे में एक रिपोर्ट प्रस्तुत करने को कहा। आउटरम ने अवध की स्थिति के बारे में एक नई रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें उसने तथ्यों को छिपाते हुए खराब से खराब स्थिति का वर्णन किया। वस्तुतः आउटरम ने वैसी ही रिपोर्ट तैयार की जैसी डलहौजी

चाहता था। आउटरम की रिपोर्ट प्राप्त होने के बाद डलहौजी ने अवध के बारे में एक ब्यौरा तैयार किया, जिसमें उसने सुझाव दिया कि राज्य में अव्यवस्था एवं कुशासन के कारण इसका प्रशासन कम्पनी को अपने हाथ में ले लेना चाहिये तथा नवाब चूँकि निरन्तर कम्पनी के प्रति वफादार रहा है, अतः पुरस्कार के रूप में उसे नवाब की उपाधि रखने की अनुमति दे दी जाय। डलहौजी ने यह भी सुझाव दिया कि यदि नवाब इस व्यवस्था पर अपनी सहमति न दे तो 1801 ई. की सन्धि को रद्द कर अवध में ब्रिटिश संरक्षण समाप्त कर दिया जाय और नवाब को उसके भाग्य पर छोड़ दिया जाय। लेकिन डलहौजी की कौंसिल के अधिकांश सदस्यों ने 1801 ई. की सन्धि को रद्द करने के सुझाव को स्वीकार नहीं किया। डलहौजी ने अवध के बारे में तैयार किये गये ब्यौरे व कौंसिल का निर्णय गृह-सरकार को प्रेषित कर दिया। गृह-सरकार ने डलहौजी के ब्यौरे को स्वीकृति प्रदान करते हुए अवध को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने का आदेश दे दिया।

1856 ई. के आरम्भ में डलहौजी ने अवध के नवाब वाजिदअली शाह पर आरोप लगाया कि उसने शासन कार्यों की उपेक्षा करते हुए राज्य में कुशासन को बढ़ावा देकर 1801 ई. की सन्धि का उल्लंघन किया है। अतः इस सन्धि को भंग कर दिया गया तथा नवाब वाजिदअली शाह के सामने प्रस्ताव किया गया कि वह कम्पनी से एक नई सन्धि करके अवध का सम्पूर्ण प्रशासन कम्पनी को सौंप दे। इस प्रकार की माँग करके डलहौजी यह प्रदर्शित करना चाहता था कि वह अवध को कम्पनी राज्य में मिलाना नहीं चाहता बल्कि केवल प्रशासनिक अव्यवस्था को ठीक करने के लिये अवध का प्रशासन अपने हाथ में लेना चाहता है। नवाब वाजिदअली शाह को नई सन्धि पसन्द नहीं आई, क्योंकि वह नाममात्र का नवाब बने रहने को तैयार नहीं था। वह डलहौजी से मिलने कलकत्ता गया, परन्तु डलहौजी ने उसके प्रति कोई उदारता नहीं दिखाई। 13 फरवरी, 1856 ई. को डलहौजी ने नवाब वाजिदअली शाह को अपदस्थ करने तथा अवध को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने की घोषणा करदी। डलहौजी की इस घोषणा के साथ ही स्वतन्त्र अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र अवध का अस्तित्व समाप्त हो गया।

अवध के अधिग्रहण का औचित्य—डलहौजी ने अवध का अधिग्रहण करते हुए घोषणा की थी कि सर्वोपरि सत्ता की हैसियत से कम्पनी अवध में व्याप्त कुशासन को एक मूक दर्शक की भाँति सहन नहीं कर सकती। डलहौजी के इस कथन में कोई सत्यता नहीं है, क्योंकि अवध का अधिग्रहण करने के बाद भी कम्पनी ने अवध के प्रशासन में सुधार करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। डलहौजी का पक्ष लेने वाले अनेक इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अवध राज्य में परिस्थितियाँ ही ऐसी उत्पन्न हो गई थीं कि डलहौजी को विवश होकर अवध का अधिग्रहण करना पड़ा। किन्तु इन कथनों में भी कोई सच्चाई नहीं है। सच तो यह है कि आरम्भ से ही डलहौजी की निगाहें अवध राज्य पर थीं। कलकत्ता से पंजाब तक अँग्रेजों का शासन स्थापित हो चुका था। अवध का राज्य कलकत्ता और लाहौर के बीच आवागमन में बाधा उपस्थित कर रहा था। इसलिये अवध को हड़प कर सम्पूर्ण उत्तर भारत पर प्रत्यक्ष अधिकार करने की योजना बनाई गई थी। अवध राज्य से कम्पनी को विशेष आर्थिक लाभ प्राप्त होने की आशा थी। अतः डलहौजी ने योजनाबद्ध तरीके से कार्य किया। 18 सितम्बर, 1848 ई. को उसने अपने

एक मित्र को पत्र लिखा था, जिसमें उसने अवध पर अधिकार करने की इच्छा व्यक्त की थी। इससे स्पष्ट है कि वह अवध को हड़पने की योजना बना रहा था, लेकिन उसे संचालक मण्डल की स्वीकृति के प्रति सन्देह था। इसलिये उसने कहा था कि, "बिना स्वीकृति के मुझे ऐसा करने का कोई बहाना नहीं मिल रहा है।"

कर्नल स्लीमन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि अवध में चारों ओर अव्यवस्था फैली हुई है। उसने इस अव्यवस्था और अराजकता के लिये नवाब को दोषी बताया और लिखा कि वह कभी दरबार में उपस्थित ही नहीं होता। स्लीमन ने लिखा कि कठोर कार्यवाही के बिना शासन तन्त्र में सुधार नहीं किया जा सकता। किन्तु स्लीमन इस बात के पक्ष में नहीं था कि अवध को अँग्रेजी राज्य में मिला लिया जाय। अतः उसने सुझाव दिया कि ब्रिटिश अधिकारियों की सहायता से शासन में सुधार करने के लिये नवाब को राजी किया जाय। स्लीमन की रिपोर्ट से डलहौजी की योजना सफल नहीं हो सकी। अतः उसने 1854 ई. में आउटरम को अवध में रेजीडेण्ट नियुक्त किया तथा उसे भी अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने को कहा। आउटरम ने अवध के शासन के स्वरूप की विकृतियों को बढ़ा-चढ़ाकर लिखा। आउटरम की रिपोर्ट से डलहौजी का काम आसान हो गया और उसने तथ्यों को तोड़-मरोड़कर संचालक मण्डल के पास अपनी रिपोर्ट भेजी। तत्पश्चात् उसने 12 मई, 1855 ई. को अपने मित्र को लिखा कि, "उनके पास (संचालक मण्डल के पास) ऐसा प्रकरण भेजा गया है कि अब वे स्वीकृति को नहीं रोक सकते।"

पी. ई. राबर्ट्स ने डलहौजी की इस कार्यवाही को विश्वासघात की संज्ञा दी है, लेकिन इसके लिये उसने डलहौजी को नहीं वरन् गृह-सरकार को दोषी ठहराया है। अवध के अधिग्रहण का कोई कारण विद्यमान नहीं था। डलहौजी और गृह-सरकार के इस दावे में भी कोई वजन नहीं था कि 'यह कार्यवाही प्रजा के हित को ध्यान में रखते हुए की गई थी, क्योंकि अवध के लोग नवाब के प्रशासन से असन्तुष्ट थे'। यदि इस कथन में सच्चाई होती तो अवध की जनता 1857 ई. के विप्लव में अँग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह में सक्रिय भाग नहीं लेती। यदि इस तथ्य को स्वीकार भी कर लिया जाय कि प्रजा नवाब के प्रशासन से असन्तुष्ट थी तो भी किसी विदेशी शक्ति द्वारा प्रशासन ग्रहण करना नैतिक दृष्टि से भी उचित नहीं ठहराया जा सकता। यह भी सही नहीं है कि अवध का अधिग्रहण करने के बाद अवध के प्रशासन में कोई सुधार हुआ। इसके विपरीत नवाब के दरबार के अनेक व्यक्ति, व्यापारी, पेंशन भोक्ता आदि सभी बर्बाद हो गये। जमींदारों को अँग्रेजों की नवीन भूमि-व्यवस्था से हानि हुई और किसानों द्वारा अधिक लगान देने के कारण अत्यधिक कष्ट उठाने पड़े। लखनऊ के राजमहलों को स्टॉल और कुत्ते रखने की जगहों में परिवर्तित कर दिया गया। राज्य परिवार की औरतों को इधर-उधर भटकने के लिये विवश कर दिया, राजकोष को नष्ट कर दिया, राज्य परिवार की निजी सम्पत्ति को भी नीलाम कर दिया गया। इस प्रकार राज्य परिवार के लोगों की बड़ी दुर्दशा हुई। जो लोग राज्य की ओर से पेन्शन या वेतन पाते थे वे अब दर-दर की ठोकरें खाने लगे। अवध की सेना की संख्या जो लगभग 60,000 थी उसमें से केवल 1/4 सेना को छोड़कर शेष सैनिकों को सड़कों एवं गलियों में भटकने को मजबूर कर दिया गया। राजस्व वसूली की नवीन व्यवस्था के अन्तर्गत ग्राम तालुकेदारों को प्रत्यक्ष रूप से राजस्व अदा करने का आदेश दिया गया, फलस्वरूप तालुकेदारों को अत्यधिक कष्ट उठाने

पड़े और वे पुरानी व्यवस्था पुनः स्थापित करने की माँग करने लगे। नई न्यायिक व्यवस्था भी जनता के लिये कष्टदायी सिद्ध हुई। अतः अवध के अधिग्रहण का प्रमुख परिणाम यह हुआ कि अवध की प्रजा का प्रत्येक वर्ग शासन के प्रति उपेक्षित हो गया और 1857 के विप्लव की पृष्ठभूमि तैयार हो गयी।

डलहौजी के समर्थकों ने अवध के अधिग्रहण का समर्थन करते हुए लिखा है कि अवध में कुशासन व्याप्त था तथा डलहौजी के पूर्व के गवर्नरों ने अवध के नवाब को कई बार चेतावनियाँ भी दी थीं। यह सही है कि अवध में कुशासन था, लेकिन इसके लिये नवाब नहीं, बल्कि स्वयं अँग्रेज उत्तरदायी थे। जिन नवाबों ने शासन में सुधार करने का प्रयत्न किया भी, वे सुधार इस कारण नहीं कर सके, क्योंकि उन्हें अँग्रेजों से कोई सहयोग प्राप्त नहीं हुआ। वजीर हकीम मेंहदी ने जब लॉर्ड विलियम बैंटिक से सुधारों के लिये सहायता माँगी तो उसे अस्वीकार कर दिया गया। इससे स्पष्ट है कि ब्रिटिश गवर्नर-जनरल अवध के विभिन्न नवाबों को धमकी तो देते रहे, लेकिन शासन सुधार में नवाब से कोई सहयोग करने को तैयार नहीं थे। अवध की उन परिस्थितियों में जबकि वहाँ के वास्तविक शासक अँग्रेज ही बन गये थे तथा आन्तरिक प्रशासन में रेजीडेण्ट मनमाना हस्तक्षेप कर सकता था, अवध के शासन में उस समय तक कोई सुधार सम्भव नहीं था जब तक कि अँग्रेज नवाब के साथ सहयोग न करें। वास्तव में अँग्रेज अवध के शासन में सुधार के लिये इच्छुक नहीं थे वरन् शासन की खराबी को, अवध राज्य को अँग्रेजी राज्य में मिलाने का आधार बनाना चाहते थे। इससे स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि अँग्रेजों द्वारा अवध का अधिग्रहण करने का कोई औचित्य नहीं था।

अध्याय-8

आंग्ल-मुगल सम्बन्ध

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जब मुगल साम्राज्य पतनोन्मुख हो रहा था, तब देश में राजनीतिक शून्यता उत्पन्न हो गयी। उस राजनीतिक शून्यता को भरने के लिए भिन्न-भिन्न शक्तियाँ संघर्ष करने लगीं। इस संघर्ष में अँग्रेजों को सफलता प्राप्त हुई और उन्होंने भारत में एक नये विदेशी साम्राज्य की नींव डाली। मुगल साम्राज्य को पाने के लिए या उस राजनीतिक शून्यता को भरने के लिए, सभी दावेदारों को, मराठों को छोड़कर विदेशी मित्रों की आवश्यकता थी, जो उन्हें सैनिक सहायता प्रदान कर सकें। उस समय भारत में दो विदेशी कम्पनियाँ—अँग्रेजी और फ्रांसीसी, शक्ति संचय कर रही थीं। इन दोनों कम्पनियों में पारस्परिक व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा तो थी ही, साथ ही यूरोप में दोनों राष्ट्रों में राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा भी थी। इन दोनों शक्तियों ने भारतीय मामलों में हस्तक्षेप कर भारत में सर्वोच्चता प्राप्त करने का प्रयास किया। सर्वाधिक आश्चर्यजनक तथ्य तो यह है कि इन दोनों यूरोपीय शक्तियों ने यूरोप में आस्ट्रिया के उत्तराधिकार-युद्ध के कारण भारतीय राजनीति के भँवर में प्रवेश किया, मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकार-युद्ध के कारण नहीं। दोनों विदेशी शक्तियों ने भारत की भूमि पर तीन युद्ध लड़े, जिसमें अँग्रेजों को निर्णायक सफलता प्राप्त हुई। जिस समय दोनों शक्तियाँ भारत की भूमि पर अपना शक्ति-परीक्षण कर रही थीं, मुगल सम्राट मात्र मूक-दर्शक बना हुआ था।

आंग्ल-मुगल प्रारम्भिक सम्बन्ध—जिस समय लन्दन के लगभग अस्सी अँग्रेज व्यापारी, 1599 ई. में भारत से व्यापार करने के लिए लन्दन में एक कम्पनी स्थापित करने के लिए एकत्रित हुए थे, उस समय उन अँग्रेज व्यापारियों के मन में भारतीय राजनीति में भाग लेने या हस्तक्षेप करने की कोई लालसा नहीं थी। उनका मुख्य उद्देश्य भारत में गरम मसाले के व्यापार को अपने हाथ में लेना था, जिस पर पहले पुर्तगालियों का और फिर डचों का एकाधिकार था। इन अँग्रेज व्यापारियों ने भारत से व्यापार करने के लिए एक ईस्ट इण्डिया कम्पनी स्थापित करली। इस कम्पनी को महारानी एलिजाबेथ ने एक आज्ञा-पत्र प्रदान किया, जिसके अनुसार कम्पनी को पूर्वी द्वीप समूहों से व्यापार करने का अधिकार दिया गया था। कम्पनी के अस्तित्व में आने के समय भारत में मुगल साम्राज्य का देदीप्यमान सूर्य अपने चरम शिखर पर था। अतः अँग्रेजों द्वारा मुगल सम्राट से व्यापार-प्रसार के लिए सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना स्वाभाविक ही था। सन् 1611 ई. में अँग्रेज व्यापारियों ने विलियम हाकिन्स को मुगल सम्राट जहाँगीर के दरबार में

व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करने के उद्देश्य से भेजा, किन्तु उसे अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई। सन् 1613 ई. और सन् 1619 ई. के वर्षों के मध्य अँग्रेजों ने सर टामस रो के माध्यम से पुनः प्रयत्न किये, किन्तु मुगल दरबार में पुर्तगाल और हालैण्ड के व्यापारियों का प्रभाव होने के कारण उसे कोई विशेष सफलता तो नहीं मिली, लेकिन टामस रो ने मुगल सम्राट से कुछ व्यापारिक अधिकार इस शर्त पर अवश्य प्राप्त कर लिये कि अँग्रेज मुगल जहाजों की पुर्तगाली जहाजों से रक्षा करेंगे। टामस रो ने कम्पनी को शान्तिपूर्वक व्यापार करने और भूमि सम्बन्धी युद्धों से दूर रहने की सलाह दी। इस समय अँग्रेजों को केवल सूरत एवं कुछ अन्य स्थानों पर अपनी बस्तियाँ बसाने का शाही आदेश प्राप्त हुआ। अतः अँग्रेजों की प्रारम्भिक बस्तियाँ सूरत, अहमदाबाद, आगरा एवं भड़ौच में स्थापित हुईं। जिस समय अँग्रेज उत्तर भारत में व्यापारिक केन्द्रों की स्थापना कर रहे थे, उसी समय वे दक्षिण भारत में भी अपनी बस्तियाँ स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे। सन् 1611 ई. में उन्होंने गोलकुण्डा के सुल्तान से मछलीपट्टम में अपनी व्यापारिक कोठी स्थापित करने की स्वीकृति प्राप्त करली थी।

मुगल साम्राज्य में, सम्राट और उनके प्रतिनिधि यद्यपि यूरोपीय व्यापारियों से व्यापार करना चाहते थे, लेकिन किसी खास समुदाय पर उनकी कृपादृष्टि नहीं थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपने यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियों की अपेक्षा भारत में एकाधिकार और चुँगी की छूट चाहती थी। लेकिन वह भारतीय शासकों को प्रभावित न कर सकी, इसीलिये वह व्यापारिक कम्पनी मात्र ही रह गई और उसको भारत में कम्पनी का आधार स्थापित करने में भी कठिनाई हो रही थी। चापलूसी, उपहार और रिश्वत द्वारा कम्पनी ने भारतीय शासकों से अपने उद्देश्य प्राप्त करने की कोशिश की। इस समय भारत में कम्पनी की स्थिति बहुत ही साधारण थी। 1687 ई. तक सूरत इसका मुख्य व्यापारिक अड्डा रहा। इस समय अँग्रेज मुगल सत्ता के समक्ष एक प्रार्थी के समान रहे। 1623 ई. तक अँग्रेजों ने सूरत, भड़ौच, अहमदाबाद, आगरा और मछलीपट्टम में फैक्ट्रियों की स्थापना करली थी।

स्थानीय शासकों द्वारा व्यापारिक सुविधाएँ—जब मुगल सम्राट से अँग्रेजों को कोई व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त नहीं हो सकीं तब उन्होंने स्थानीय शासकों से व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयत्न किया। गुजरात के सूबेदार शाहजादा खुर्रम ने न केवल अँग्रेजों को सूरत में व्यापारिक सुविधाएँ ही प्रदान कीं, बल्कि उसने उन्हें अपने कारखानों के स्वतन्त्रतापूर्वक संचालन का भी अधिकार प्रदान किया। 1639 ई. में वांडिवाश के शासक ने कम्पनी द्वारा बन्दरगाह से प्राप्त आय के कुछ भाग के बदले में कम्पनी को दुर्ग बनाने, सिक्के ढालने एवं मद्रास पर शासन करने का अधिकार प्रदान कर दिया। 1640 ई. में अँग्रेजों ने मद्रास में सेंट जार्ज का किला बनवाया। 1650 ई. में बंगाल के सूबेदार से कम्पनी को बंगाल प्रान्त में व्यापार करने एवं कारखाने स्थापित करने का अधिकार मिल गया। अतः कम्पनी ने हुगली, पटना एवं करीम बाजार में बस्तियों का निर्माण किया। 1690 ई. में कम्पनी ने हुगली को छोड़ दिया एवं सुतनती में कारखाना स्थापित किया। 1698 ई. में कम्पनी ने 1,200 रुपये वार्षिक शुल्क पर सुतनती, कलकत्ता और गोविन्दपुर की जमींदारी खरीद ली तथा सुतनती की किलेबन्दी कर उसको फोर्ट विलियम का नाम दिया। अँग्रेजों का प्रभाव-क्षेत्र अब पूर्व की ओर बढ़ा। बंगाल में सुल्तान शुजा (शाहजहाँ का पुत्र) ने तीन हजार रुपये का वार्षिक कर लेकर कम्पनी को व्यापारिक मामलों में कुछ विशेषाधिकार दिये।

1656 ई. के एक फरमान से भारतीय कर्मचारियों का अँग्रेजों से आयात और निर्यात कर लेना वर्जित हो गया।

औरंगजेब द्वारा सुविधाएँ प्रदान करना—सुल्तान शुजा ने अँग्रेजों को जो आयात और निर्यात कर में छूट दी उसे शुजा के उत्तराधिकारियों ने मान्यता नहीं दी, क्योंकि अन्य विदेशी कम्पनियाँ भी इसी अधिकार की माँग कर रही थीं, जिससे बंगाल के खजाने को और लगान की हानि होती। कम्पनी ने बंगाल के सूबेदार शायस्तखाँ से 1672 ई. में शुल्क से छूट प्राप्त की। 1680 ई. में मुगल बादशाह औरंगजेब ने भी कम्पनी से जजिया का भुगतान लेकर फरमान जारी किया कि कम्पनी सूरत के अलावा सभी स्थानों में सीमा शुल्क दिये बिना व्यापार कर सकती है। लेकिन स्थानीय अधिकारी अब भी कम्पनी को तंग किया करते थे, क्योंकि कम्पनी के कर्मचारी अपने और अपने समवेशी मित्रों के लिए आन्तरिक व्यापार में तस्करी करते थे। कम्पनी ने अपनी सुरक्षा के लिए किलेबन्दी शुरू करदी। कम्पनी मुगलों को कमजोर मानती थी, लेकिन 1688 ई. में वह उनसे पराजित हो गयी। औरंगजेब ने उनको व्यापार जारी रखने दिया, क्योंकि वह कम्पनी के सूरत के व्यापार को चालू रखना चाहता था, जिससे उसके खजाने को आय प्राप्त हो। इस तरह मुगल अर्थव्यवस्था का ईस्ट इण्डिया कम्पनी से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। मुगलों ने अँग्रेजों को पुनः व्यापार इसलिये भी करने दिया क्योंकि वे कम्पनी के माल के ग्राहक थे।

सरमन शिष्टमण्डल—1707 ई. में मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु हो गयी। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया। बंगाल एवं अन्य कई प्रान्त मुगल सम्राट के नियन्त्रण से मुक्त हो गये। मुगल दरबार षड्यन्त्रों का अड्डा बन गया। औरंगजेब के बाद उसका पुत्र मुअज्जम, उत्तराधिकार के युद्ध में विजय प्राप्त कर बहादुरशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। वह एक ऐसा शासक था जिसे यह भी पता नहीं था कि उसके इर्द-गिर्द क्या हो रहा है। 1712 ई. में बहादुरशाह की मृत्यु होने पर पुनः उत्तराधिकार के लिए संघर्ष हुआ और जहाँदारशाह दिल्ली के तख्त पर आसीन हुआ। लेकिन वह भी सुरा व सुन्दरी के वश में हो गया। उसके एक भतीजे फर्रुखसियर ने स्थिति का लाभ उठाकर जहाँदारशाह को कैद कर मरवा डाला और 1713 ई. में वह स्वयं दिल्ली के मुगल सिंहासन पर बैठा। मुगल सम्राट की कमजोर स्थिति को देखते हुए अँग्रेजों ने 1714 ई. में सरमन की अध्यक्षता में एक शिष्टमण्डल फर्रुखसियर के दरबार में भेजा। सरमन ने सम्राट से गुजरात, हैदराबाद और बंगाल के स्थानीय अधिकारियों के नाम तीन फरमान प्राप्त किये जिसमें उनके पुराने अधिकारों को स्वीकृति प्राप्त हुई और कुछ नये अधिकार भी प्रदान किये। परन्तु यह वह समय था जबकि केन्द्रीय सत्ता सर्वथा शक्तिहीन हो चुकी थी। इसलिए केन्द्रीय सत्ता को प्रान्तों में नहीं माना जाता था और इसलिए कम्पनी द्वारा प्राप्त किए गए फरमानों से अँग्रेजों की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया।

अतः कम्पनी ने मुगल सम्राट से व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयास जारी रखा। फलस्वरूप 1717 ई. में सम्राट फर्रुखसियर ने एक फरमान जारी कर कम्पनी को निम्नलिखित सुविधाएँ प्रदान कर दीं—

(1) बंगाल में कम्पनी को 30,000 रुपये की निश्चित वार्षिक राशि के बदले निःशुल्क व्यापार करने का अधिकार मिल गया।

(2) कम्पनी कलकत्ते के पास अतिरिक्त भूमि किराये पर ले सकती थी।

(3) कम्पनी हैदराबाद में भी व्यापार कर सकती थी और मद्रास में भी वही किराया निश्चित कर दिया गया जो कम्पनी वहाँ दे रही थी।

(4) सूरत में भी 10,000 रुपये की राशि देकर कम्पनी को निःशुल्क व्यापार करने का अधिकार मिल गया।

(5) कम्पनी के जो सिक्के बम्बई की टकसाल में बने थे उन्हें मुगल साम्राज्य में मान्यता मिल गई।

इस प्रकार कम्पनी भारत में शक्तिशाली बन गई। इतिहासकार ओर्म्स ने इस शाही फरमान को कम्पनी का महाधिकार-पत्र कहा है। मद्रास में कम्पनी के सम्बन्ध कर्नाटक व अर्काट के नवाबों तथा दक्षिण के सूबेदार निजाम-उल-मुल्क से अच्छे थे। 1717 ई. में कम्पनी ने मद्रास के पास और क्षेत्र प्राप्त करके मद्रास में भी अपनी स्थिति मजबूत करली थी। मराठों के विरुद्ध अभियानों में औरंगजेब के व्यस्त रहने तथा उसकी मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य के पतनोन्मुख होने और बम्बई एवं मद्रास की फैक्टियों की किलेबन्दी होने के कारण अँग्रेजों ने धीरे-धीरे विनम्र प्रार्थी की भूमिका त्याग दी और उनमें भारत में राजनीतिक सत्ता स्थापित करने के लिये महत्त्वाकांक्षा जाग उठी। राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर और उस शक्ति में वृद्धि करके ही वह मुगलों को, व्यापार के क्षेत्र में एकाधिकार और स्वतन्त्रता देने पर बाध्य कर सकती थी। भारतीय कारीगरों को भी वह सस्ता माल बेचने पर बाध्य कर सकती थी। कम्पनी अन्य यूरोपीय कम्पनियों को तो भारतीय व्यापार से बहिष्कृत करना ही चाहती थी, साथ ही अपने व्यापार को भारतीय शासकों की राजनीति से भी स्वतन्त्र और पृथक् रखना चाहती थी। राजनीतिक शक्ति ग्रहण करने से भारतीय राजस्व पर कम्पनी का नियन्त्रण हो सकता था और वह भारत पर विजय भारतीय साधनों से ही कर सकती थी। मुगल सत्ता ने भी अँग्रेजों के विद्रोहों को क्षमा कर दिया, क्योंकि वह विदेशी व्यापार के महत्त्व को समझती थी, जिससे भारतीय कारीगरों और मुगल राजकोष को लाभ हो रहा था। अँग्रेज स्थल शक्ति में भले ही दुर्बल थे, लेकिन अपनी समुद्री शक्ति की श्रेष्ठता से, वे भारत के ईरान, पश्चिमी एशिया, उत्तर, दक्षिण और पूर्वी अफ्रीका के व्यापार को और नौ-परिवहन को अवश्य हानि पहुँचा सकते थे। मुगलों की यह अदूरदर्शिता थी कि वे अँग्रेजों को एक सम्भावित खतरे के रूप में न देख सके। अँग्रेजों की मुख्य बस्तियाँ बम्वई, मद्रास और कलकत्ता के समुद्री तट पर थीं ज़हाँ से वे अपनी श्रेष्ठ जलसेना द्वारा प्रवेश भी कर सकते थे और आवश्यकता पड़ने पर भाग भी सकते थे। ये बस्तियाँ किलेबन्द भी थीं और स्थानीय शासकों द्वारा आसानी से पराजित नहीं की जा सकती थीं। भारतीय शासकों से संघर्ष होने पर वे इन्हीं प्रवेश द्वारों से समुद्र में पहुँच सकते थे, जहाँ उनकी शक्ति सर्वोच्च थी।

मुगल सत्ता का क्षीण होना—एक ओर मुगल दरबार में सैयद भाइयों के बढ़ते प्रभाव के कारण मुगल सम्राट फर्रुखसियर को षड्यन्त्रों का सामना करना पड़ रहा था तो दूसरी ओर अँग्रेज इस स्थिति का लाभ उठाना चाहते थे। फर्रुखसियर ने सैयद भाइयों के प्रभाव को कम करने का प्रयास किया तो सैयद भाइयों ने मराठों की सहायता से फर्रुखसियर को कैद करके मार

डाला और रफी-उस-शान के पुत्र रफी- उद्-दरजात को गद्दी पर बैठा दिया। इससे सैयद भाइयों की स्थिति मजबूत हो गई। इसके चार महीने बाद ही सैयद भाइयों ने रफी-उद्-दरजात को गद्दी छोड़ने को बाध्य कर दिया और जून 1719 में रफी-उद्-दौला को गद्दी पर बैठा दिया। नया सम्राट भी सैयद भाइयों के हाथ की कठपुतली बना रहा। सितम्बर, 1719 में रफी-उद्-दौला की मृत्यु हो गयी और सैयद भाइयों ने जहानशाह के पुत्र रोशत अख्तर को मुहम्मदशाह के नाम से गद्दी पर बैठा दिया। यद्यपि मुहम्मदशाह ने सैयद भाइयों की सहायता से गद्दी ग्रहण की थी किन्तु वह सैयद भाइयों के हाथ की कठपुतली बना नहीं रहना चाहता था। फलस्वरूप दरबार के षड्यन्त्रों के कारण 1720-22 ई. में सैयद भाइयों का पतन हो गया। लेकिन मुगल शासन को क्षय का जो कीड़ा लग चुका था उसमें सैयद भाइयों के पतन से भी कोई सुधार न हो सका। दरबार में दलबन्दी व षड्यन्त्रों के फलस्वरूप प्रान्त केन्द्र से स्वतन्त्र होने लगे। बंगाल, अवध, मालवा, गुजरात, बुन्देलखण्ड, पंजाब के सिक्ख, गंगा के दोआब में रोहिले, जाटों, राजपूतों व मराठों—सभी ने स्वतन्त्र होना आरम्भ कर दिया। इससे न केवल मुगल साम्राज्य के क्षेत्रों में नये स्वतन्त्र प्रान्तों का सृजन हुआ बल्कि अँग्रेज भी शक्तिशाली हो गये। 1748 ई. में मुहम्मदशाह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अहमदशाह गद्दी पर बैठा। अनुभवहीन अहमदशाह साम्राज्य के विघटनकारी तत्त्वों से निपटने में असमर्थ रहा। फलस्वरूप वजीर सफदरजंग ने षड्यन्त्र करके उसे अन्धा कर दिया और उसे कैद में डाल दिया। अहमदशाह के काल में चल रहे षड्यन्त्रों के बीच अफगान शासक अहमदशाह अब्दाली ने 1749 ई. में भारत पर आक्रमण करके साम्राज्य की शक्ति को क्षीण बना दिया।

1754 ई. में सम्राट अहमदशाह को गद्दीच्युत करने के बाद, जहाँदारशाह के द्वितीय पुत्र अजीजुद्दीन को आलमगीर द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठाया गया। आलमगीर द्वितीय को गद्दी पर बैठाने में वजीर गाजीउद्दीन इमाद-उल-मुल्क ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। इमाद-उल-मुल्क ने उत्तर भारत में मराठों की बढ़ती हुई शक्ति को कुचलने का प्रयास किया, किन्तु असफल रहा। इस संघर्ष में मराठा और अधिक शक्तिशाली हो गये और अब मुगल सम्राट और उसका वजीर मराठों की सहायता पर निर्भर हो गए। आलमगीर द्वितीय के काल में वजीर इमाद-उल-मुल्क की पंजाब में की गई कार्यवाही के फलस्वरूप अहमदशाह अब्दाली ने भारत पर चौथी बार आक्रमण किया। अब्दाली ने दिल्ली व मथुरा में भीषण लूटमार की। मुगल सम्राट ने उसे पंजाब, सरहिन्द, सिन्ध और कश्मीर के क्षेत्र दे दिये। अब मुगल सम्राट का प्रभाव-क्षेत्र दिल्ली व उसके आसपास के कुछ क्षेत्रों तक सीमित हो गया। वह केवल नाममात्र का हिन्दुस्तान का बादशाह रह गया था। सम्राट अब इमाद-उल-मुल्क के प्रभाव से मुक्त होना चाहता था, लेकिन 1759 ई. में इमाद-उल-मुल्क ने उसकी हत्या करवा दी।

इमाद-उल-मुल्क की महत्त्वाकांक्षा और आलमगीर द्वितीय की निर्बलता ने अँग्रेजों को भी अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर प्रदान किया। अँग्रेजों ने बंगाल में सिराजुद्दौला को प्लासी के युद्ध में पराजित कर अपने कठपुतले मीरजाफर को बंगाल की गद्दी पर बैठा दिया। मुगल सम्राट अँग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति को नहीं रोक पाया, बल्कि उसने तो बंगाल में किए गए

परिवर्तन को मान्यता प्रदान कर दी। इससे अब यह स्पष्ट हो गया कि मुगल सम्राट केवल मूक दृष्टा रह गया था।

आलमगीर द्वितीय की हत्या करवाने के बाद इमाद-उल-मुल्क ने औरंगजेब के पुत्र कामबख्श के पोते शाहजहाँ तृतीय को गद्दी पर बैठाया। उधर आलमगीर का ज्येष्ठ पुत्र अलीगौहर मुगल गद्दी हथियाने के लिए इधर-उधर भटक रहा था। अब्दाली चौथी बार आक्रमण करके वापिस लौटते समय अलीगौहर को मुगल सम्राट घोषित कर गया था। अलीगौहर ने बंगाल में फैली अव्यवस्था का लाभ उठाने के लिए 1759 ई. में बिहार पर आक्रमण किया था, लेकिन पटना के नायब सूबेदार रामनारायण ने अँग्रेजों की सहायता से उसे पराजित कर दिया। 1760 ई. में अँग्रेजों ने मीरजाफर को बंगाल की गद्दी से हटाकर मीरकासिम को बंगाल का नवाब बना दिया। अँग्रेज दिन-प्रतिदिन शक्तिशाली बनते जा रहे थे। 1760 ई. के अन्त में अलीगौहर ने बिहार पर पुनः आक्रमण किया, किन्तु इस बार भी पटना में नियुक्त ब्रिटिश सेनाधिकारी कारनॉक ने उसे खदेड़ दिया। इस पराजय के बाद अलीगौहर ने अँग्रेजों से बातचीत शुरू की और स्वयं को मुगल सम्राट घोषित करवाने तथा दिल्ली के सिंहासन पर बैठाने में अँग्रेजों से सहायता की माँग की। अँग्रेजों ने उसे पटना में आमन्त्रित किया और शाही सम्मान के साथ उसका स्वागत किया। अब्दाली उसे सम्राट मनोनीत कर ही गया था, अतः अँग्रेजों ने स्थिति का लाभ उठाते हुए अलीगौहर को शाहआलम द्वितीय के नाम से मुगल सम्राट घोषित कर दिया तथा मीरकासिम से उसको 12 लाख रुपये नजराने के दिलवा दिये। इस प्रकार अँग्रेजों की सहायता से वह दिल्ली का सम्राट तो घोषित हो गया किन्तु वह लगभग 12 वर्ष तक दिल्ली नहीं जा सका क्योंकि दिल्ली में वजीर अपना प्रभाव स्थापित किए हुए था। अतः सम्राट ने अपना अधिकांश समय अँग्रेजों के संरक्षण में व्यतीत किया।

1763 ई. में मीर कासिम और अँग्रेजों के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो गया, जिसमें मीर कासिम पराजित होकर भाग खड़ा हुआ। मीर कासिम, अँग्रेजों के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने अवध के नवाब शुजाउद्दौला के पास गया। इस समय शुजाउद्दौला, मुगल सम्राट शाह आलम के साथ इलाहाबाद में ठहरे हुए थे। शुजाउद्दौला और मीर कासिम के बीच सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। इसीलिए जब मीर कासिम अँग्रेजों से पराजित होकर भाग खड़ा हुआ था तब शुजाउद्दौला ने मीर कासिम के विरुद्ध अँग्रेजों को सहायता देने की पेशकश की थी। अवध के दरबार में अँग्रेजी हितों की देखभाल सितबराय कर रहा था। 1763 ई. के आरम्भ में सितबराय ने मीरजाफर को गुप्त रूप से कहलवाया कि वह बंगाल की नवाबी के लिये सम्राट के पास प्रार्थना-पत्र भेजे, जिसकी सम्राट से स्वीकृति दिलवा दी जायेगी। मीरजाफर ने पाँच लाख रुपये नजराना देने का आश्वासन देते हुए प्रार्थना-पत्र सम्राट के पास भेज दिया। इसी बीच मीर कासिम इलाहाबाद पहुँच गया। मीर कासिम के पास दस करोड़ रुपये के जवाहरात थे, जिसे शुजाउद्दौला हड़पना चाहता था। जब मीर कासिम ने अँग्रेजों के विरुद्ध सहायता माँगी तो वह पहले टालमटोल करने लगा तथा मीर जाफर के पक्ष में सनद पर सम्राट के हस्ताक्षर करवा कर यह सनद मीर जाफर को भिजवा दी। शुजाउद्दौला ने अँग्रेजों से भी बातचीत जारी रखी, लेकिन 6 महीने बीत जाने के बाद जब अँग्रेजों ने उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया तब वह अँग्रेजों से मैत्री सम्बन्धों का आडम्बर

व मीरजाफर को सनद दिये जाने की बात भूलकर मीर कासिम को सहायता देने को तैयार हो गया। मुगल सम्राट भी दिखावे के तौर पर उसके साथ हो गया, लेकिन मुगल सम्राट ने गुप्त रूप से अँग्रेजों को लिखा कि वह अँग्रेजों से मैत्री के लिए हाथ बढ़ाने को तैयार है और इस मित्रता के बदले वह उन्हें बंगाल का प्रान्त भी देने को तैयार है। सम्राट ने अँग्रेजों को यह भी लिखा कि यदि वे उसके व्यय की व्यवस्था कर दें तो वह अपने वजीर को छोड़कर दिल्ली जाने को तैयार है। लेकिन अँग्रेज नवाब वज़ीर के विरुद्ध सम्राट की सहायता नहीं कर सकते थे, फिर भी अँग्रेजों ने सम्राट से सम्पर्क बनाये रखा तथा उसे भुलावे में रखा। मीर कासिम, शुजाउद्दौला और शाह आलम ने अँग्रेजों के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बनाया। लेकिन मीर कासिम को छोड़कर सभी गुप्त रूप से अँग्रेजों से पत्र-व्यवहार कर उनकी छत्रछाया के आकांक्षी थे। फलस्वरूप बक्सर के युद्ध का परिणाम तो अपेक्षित ही था। 1765 ई. में शुजाउद्दौला ने आत्म-समर्पण कर दिया, मीर कासिम भाग कर दिल्ली चला गया और सम्राट शाहआलम अँग्रेजों की दया पर आश्रित हो गया। इस युद्ध के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक अखिल भारतीय शक्ति बन गई।

अँग्रेजों का राजनैतिक वर्चस्व—बक्सर के युद्ध के बाद अवध अँग्रेजों के समक्ष धराशायी हो चुका था। अँग्रेजों ने अवध मुगल सम्राट को देने का वादा किया था। किन्तु जब लॉर्ड क्लाइव दूसरी बार कम्पनी का गवर्नर बनकर कलकत्ता आया तो सम्पूर्ण अवध मुगल सम्राट को देने से इन्कार कर दिया, क्योंकि यदि सम्पूर्ण अवध मुगल सम्राट को दे दिया जाता तो कमजोर मुगल सम्राट उसकी रक्षा नहीं कर पाता और मराठों के अवध पर धावे शुरू हो जाते, जिससे अँग्रेजों को मराठों से उलझना पड़ता। कलकत्ता कौंसिल के कुछ सदस्यों ने क्लाइव को सलाह दी कि वह दिल्ली पर अधिकार कर ले, लेकिन क्लाइव ने इस कदम को भी उचित नहीं समझा, क्योंकि कम्पनी के पास इस समय इतने साधन नहीं थे कि इतने बड़े भू-भाग की व्यवस्था कर सके। इससे कम्पनी का मराठों से झगड़ा उठ खड़ा होता और इस बात की भी आशंका थी कि कहीं बंगाल, बिहार व उड़ीसा भी कम्पनी के हाथ से न निकल जायँ। ऐसी स्थिति में क्लाइव ने मुगल सम्राट से बातचीत की और उसने मुगल सम्राट के समक्ष दो प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत किये—एक में तो बंगाल, बिहार व उड़ीसा की दीवानी देने की माँग की गई थी और दूसरा मीरजाफर के पुत्र नजीमुद्दौला को इन प्रान्तों का नवाब बनाये जाने की स्वीकृति प्रदान करने का था। साधनविहीन सम्राट, जो 1761 ई. से व्यावहारिक रूप से शुजाउद्दौला का बन्दी था, ने 12 अगस्त, 1765 को क्लाइव के शिविर में एक अस्थायी कामचलाऊ सिंहासन पर अपना स्थान ग्रहण किया और एक आधिकारिक समारोह में फोर्ट विलियम के प्रार्थना-पत्रों को स्वीकृति प्रदान की। इसके बदले में क्लाइव ने अवध के दो जिले कड़ा और इलाहाबाद, सम्राट के सुपुर्द कर दिये। साथ ही शाह आलम को भारत का सम्राट स्वीकार करते हुए कम्पनी ने 26 लाख रुपये का वार्षिक कर सम्राट को देने का निश्चय किया। डॉ. रामगोपाल ने लिखा है कि, "किसी राज दरबार में यह एक हास्यास्पद क्रिया थी। एक ऐसा सम्राट जिसके पास कोई साम्राज्य क्षेत्र नहीं था, जिसके पास अपने जीवन निर्वाह तक के साधन नहीं थे और जो एक विदेशी व्यापारिक कम्पनी पर आश्रित था, वह एक फरमान जारी करता है। वह ऐसा, स्वयं को या कम्पनी को ठगने के लिये नहीं करता, बल्कि उस जनता को ठगने के लिये कर रहा है, जो अज्ञानतावश अब भी विश्वास करती है कि

राजसत्ता अब भी उसी के हाथ में है और इसलिए राजस्व एकत्रित करने का अधिकार उसी के पास है।" इस प्रकार ब्रिटिश कम्पनी ने दीवानी का अधिकार प्राप्त करके, बंगाल, बिहार व उड़ीसा पर अपने वर्चस्व पर वैधानिकता की मोहर लगा दी। अब मुगल सम्राट केवल नाममात्र का रह गया था। 1770 ई. तक वह अँग्रेजों के हाथ की कठपुतली रहा। 1771 ई. में उस पर मराठे अपना प्रभाव स्थापित करके अपने संरक्षण में उसे दिल्ली ले गये और मुगल तख्त पर आसीन किया। जब वह मराठों के प्रभाव में चला गया तब वारेन हेस्टिग्ज ने उससे कड़ा और इलाहाबाद वापिस ले लिये और इन्हें अवध के नवाब को लौटा दिया। इस प्रकार मुगल सम्राट पर अँग्रेजों का वर्चस्व धीरे-धीरे बढ़ता गया। उधर मराठे अँग्रेजों से संघर्षरत हो गये। 1788 ई. में मुगल सम्राट को अन्धा कर दिया गया और 1803 ई. में अँग्रेजों ने उसे बन्दी बना लिया। उसने अपने जीवन के तीन वर्ष बन्दी-अवस्था में व्यतीत किये और 1806 ई. में इसी स्थिति में उसकी मृत्यु हो गयी।

शाहआलम द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अकबर द्वितीय के नाम से दिल्ली के तख्त पर आसीन हुआ। उसका अधिकार-क्षेत्र दिल्ली तक सीमित रह गया था और व्यावहारिक रूप से वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी का पेन्शनभोगी रह गया था। उसके शासनकाल में अँग्रेजों ने मराठा शक्ति को पूर्णतः कुचल दिया और कम्पनी व्यावहारिक रूप से भारत की सार्वभौम-सत्ता बन गई। अँग्रेजों की कृपा पर आश्रित रहकर उसने लगभग 30 वर्ष तक राज्य किया। 1838 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। तत्पश्चात् बहादुरशाह द्वितीय मुगल सिंहासन पर बैठा।

मुगल सम्राट बहादुरशाह द्वितीय दयालु व भावुक व्यक्ति था। भारत की देशी रियासतों के शासकों व भारतीय जनता के मन में अब भी मुगल सम्राट के प्रति श्रद्धा थी। लेकिन मुगल सम्राट ब्रिटिश-सत्ता के समक्ष असहाय था और कम्पनी से प्राप्त होने वाली पेन्शन से अपना जीवन-यापन कर रहा था। भारत में ब्रिटिश-सत्ता सार्वभौम बन चुकी थी। अतः अब अँग्रेजों ने मुगल सम्राट की प्रतिष्ठा पर प्रहार करना आरम्भ कर दिया। मुगल सम्राट को नजर देना व सम्मान प्रदर्शित करना बन्द कर दिया तथा सिक्कों से बादशाह का नाम हटा दिया। अँग्रेजों ने मुगल सम्राट के उत्तराधिकार के प्रश्न को खड़ा करके सम्राट की इच्छा के विरुद्ध उसके आठ जीवित पुत्रों में से सबसे निकम्मे पुत्र मिर्जा कोयास को युवराज घोषित कर दिया और मिर्जा कोयास के साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार मिर्जा कोयास सम्राट बनने पर लाल किला खाली कर अँग्रेजों को सौंप देगा, स्वयं को बादशाह नहीं कहेगा तथा एक लाख रुपये के स्थान पर 15 हजार रुपये वार्षिक पेन्शन स्वीकार करेगा।

मुगल सत्ता का अवसान—मई, 1857 ई. में ब्रिटिश-सत्ता के विरुद्ध भारतव्यापी विप्लव उठ खड़ा हुआ। देश के विभिन्न भागों के विप्लवकारी, अपने-अपने क्षेत्र में उपद्रव करके दिल्ली पहुँचे और उन्होंने यहाँ अनेक अँग्रेज अधिकारियों को मारकर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। विप्लवकारियों ने मुगल सम्राट बहादुरशाह को इस क्रान्ति का नेतृत्व करने का अनुरोध किया। वृद्ध एवं असहाय मुगल सम्राट ने पहले तो नेतृत्व स्वीकार करने में संकोच दिखाया, किन्तु विप्लवकारियों का अत्यधिक दबाव देखकर अन्त में विवश होकर क्रान्ति का नेतृत्व करना स्वीकार कर लिया। यद्यपि बहादुरशाह बिना साम्राज्य के सम्राट था और एक ऐसा सेनापति था, जिसे

किसी युद्ध का कोई अनुभव नहीं था, फिर भी महान् मुगलों का वंशज होने के नाते उसके नाम में जादू का असर था। सम्राट ने भारत के राजा-महाराजाओं को पत्र लिखे जिनमें उनमें एक संघ स्थापित करने को कहा गया। सम्राट ने क्रान्ति के सफल होने पर पद-त्याग का भी प्रस्ताव किया। तत्पश्चात् विभिन्न स्थानों पर मुगल सम्राट के नाम पर विद्रोह हुए।

प्रारम्भ में अँग्रेज अधिकारी विप्लव की व्यापकता का अनुमान नहीं लगा सके। अतः विप्लव आरम्भ होने के बाद दो दिन तक अँग्रेजों ने कोई कार्यवाही नहीं की। किन्तु बाद में उन्होंने जवाबी कार्यवाही दिल्ली से आरम्भ की। हेनरी बरनार्ड को सेना लेकर दिल्ली भेजा गया। मुगल सम्राट बहादुरशाह की सेना ने आक्रमण करके अँग्रेजी सेना को पीछे धकेल दिया, किन्तु उसे छिन्न-भिन्न न कर सकी। दिल्ली में भारतीय सैनिकों में, अँग्रेजों के मुकाबले, कुशल युद्ध संचालकों का अभाव था। अतः अँग्रेजों के लिये पंजाब से आने वाली सहायता को वे नहीं रोक सके। दूसरी ओर अँग्रेजी पलटनें पूर्णतः अनुशासित और अनुभवी सेनापति की कमान में थीं। अगस्त-सितम्बर 1857 में पंजाब से बड़ी-बड़ी तोपें दिल्ली पहुँच गईं। 14 सितम्बर, 1857 को दिल्ली में कश्मीरी गेट को बारूद से उड़ा दिया गया तथा छः दिनों के भयंकर युद्ध के बाद 20 सितम्बर तक दिल्ली के विभिन्न स्थानों पर अँग्रेजों ने अधिकार कर लिया। 21 सितम्बर को मुगल सम्राट बाहदुरशाह, बेगम जीनत महल और उसके पुत्र को बन्दी बना लिया गया तथा उन्हें भारत से निर्वासित करके रंगून भेज दिया गया, जहाँ बेबसी में दिन काटते हुए 1862 ई. में अन्तिम मुगल बादशाह की मृत्यु हो गई और इसी के साथ भारत में मुगल-सत्ता का सूर्य सदा के लिये अस्त हो गया।

उपसंहार—भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यापारिक कम्पनी थी, जिसका मुख्य उद्देश्य व्यापार से लाभ कमाना था। अतः प्रारम्भ में कम्पनी एक याचक थी जो मुगल सम्राट से व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करना चाहती थी। औरंगजेब की मृत्यु के बाद अयोग्य एवं विलासी मुगल शासकों की श्रृंखला आरम्भ हो जाती है, जिससे मुगल दरबार षड्यन्त्रों एवं कुचक्रों का अड्डा बन गया। इन षड्यन्त्रों एवं कुचक्रों के कारण मुगल सम्राट की शक्ति क्षीण होती गई। केन्द्रीय मुगल सत्ता की क्षीण स्थिति का लाभ उठाकर अँग्रेजों ने बंगाल, बिहार व उड़ीसा पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। प्लासी के युद्ध से यह स्पष्ट हो गया कि एक व्यापारिक कम्पनी ने एक मुगल सूबेदार को पदच्युत करके दूसरे व्यक्ति को सूबेदार नियुक्त कर दिया और मुगल सम्राट एक मूकद्रष्टा रह गया। प्लासी के युद्ध से पूर्व अँग्रेज केवल एक व्यापारिक कम्पनी के मालिक थे किन्तु प्लासी के युद्ध के बाद वे एक राजनैतिक शक्ति बन गये। तत्पश्चात् 1759 ई. में अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण से फैली अव्यवस्था का लाभ उठाकर अँग्रेजों ने शाह आलम द्वितीय को मुगल तख्त पर आसीन कर दिया। इससे मुगल सम्राट की शक्ति क्षीण हो गयी और अँग्रेजों का वर्चस्व बढ़ने लगा। बक्सर के युद्ध के बाद तो मुगल सम्राट अँग्रेजों पर पूरी तरह आश्रित हो गया और मात्र कम्पनी का पेन्शनभोक्ता बनकर रह गया। 1857 ई. के विप्लव ने तो मुगलों की रही-सही सत्ता को भी पूर्णतः समाप्त कर दिया और अँग्रेज भारत की सार्वभौम-सत्ता बन गये। इस प्रकार एक व्यापारिक कम्पनी के मालिक भारत की राजनैतिक शक्ति बन गये और भारत को गुलामी की बेडियों में जकड़ दिया।

अध्याय-9

1857 की सशस्त्र क्रान्ति

1857 में अँग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध भारतीयों का विद्रोह आधुनिक भारत के इतिहास की एक युगान्तकारी घटना है। भारत में ब्रिटिश सम्राज्य की स्थापना छल, कपट, नीचता एवं शोषण से हुई थी। एक सभ्य-समृद्ध देश को सात समुद्र पार से आये मुट्ठी भर बनियों ने पराजित कर अपना राज्य स्थापित कर लिया। वस्तुतः भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का इतिहास निरन्तर साम्राज्य विस्तार करने तथा व्यापार की ओट में भारत का आर्थिक शोषण करने का इतिहास रहा है। अधिकाधिक भारतीय राज्यों का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय करके साम्राज्य-विस्तार करना तथा प्रत्येक प्रकार से भारत में आर्थिक लाभ प्राप्त करना अँग्रेजों ने अपना एकमात्र उद्देश्य निश्चित कर लिया था। 1857 ई. तक भारत में विशाल अँग्रेजी साम्राज्य स्थापित हो गया था। अँग्रेजों के लिए विशाल साम्राज्य को प्राप्त करना तो सरल था, लेकिन उस साम्राज्य का उचित संगठन करना अत्यन्त कठिन था। यद्यपि ब्रिटिश शासन भारतीयों के लिए विभिन्न प्रकार के कष्टों तथा असुविधाओं का कारण बन गया था, तथापि ऊपरी तौर पर ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो भारतीयों ने ब्रिटिश शासन को धैर्य से स्वीकार कर लिया हो। किन्तु इस प्रशान्त वातावरण के नीचे एक भयानक ज्वालामुखी धधक रहा था, जो डलहौजी के जाने के एक वर्ष के भीतर ही फूट पड़ा।

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि विभिन्न भारतीय राज्यों का ब्रिटिश साम्राज्य में विलीनीकरण होने के पश्चात् भी भारतीय जन-मानस सामन्ती व्यवस्था को स्वीकार किये हुए था, क्योंकि अँग्रेजों की नीतियों एवं कार्यों से भारतीयों में असन्तोष और अविश्वास उत्पन्न हो गया था। अतः समय-समय पर ब्रिटिश-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह हुए। 10 जुलाई, 1806 ई. को वैल्लोर में स्थित कम्पनी की सेना के देशी सैनिकों ने विद्रोह किया। 30 अक्टूबर, 1824 ई. को कलकत्ता के निकट बैरकपुर की छावनी में विद्रोह हुआ। 1831-33 ई. में कील में विद्रोह हुआ, फरवरी, 1842 ई. में फिरोजपुर में 34वीं रेजीमेण्ट का विद्रोह हुआ, 1848 ई. में काँगड़ा, जसवार और दातारपुर के राजाओं ने विद्रोह किया और 1855-56 ई. में संथाल में विद्रोह हुआ। अँग्रेज इतिहासकारों ने इन विद्रोहों को सामन्ती असन्तोष की अभिव्यक्ति कहकर उनके महत्त्व को कम करने का प्रयास किया है। यद्यपि उन विद्रोहों के पीछे सामन्ती असन्तोष तो था ही, किन्तु वे विद्रोह सामन्त और सेना दोनों के ही प्रचलित माध्यम से सामाजिक असन्तोष की अभिव्यक्ति

के लिए भी किये गये थे। यद्यपि अँग्रेजों ने अपनी सैनिक शक्ति के बल पर इन सारे विद्रोहों का दमन कर दिया था, किन्तु इन विद्रोहों ने 1857 ई. के विद्रोह की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। 1857 ई. का विद्रोह अँग्रेजी सत्ता के विरुद्ध सबसे व्यापक विद्रोह था।

1857 ई. के विद्रोह के कारणों पर विचार करने से पूर्व इस तथ्य की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि अधिकांश अँग्रेज लेखकों ने मात्र सैनिकों के असन्तोष को विप्लव का कारण मानते हुए इसे 'सैनिक विद्रोह' की संज्ञा दी है। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारतीय सैनिकों में तीव्र असन्तोष था और जोश में आकर उन्होंने अँग्रेज अधिकारियों के विरुद्ध हथियार उठाये थे। किन्तु उनका यह कथन भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होता है। वस्तुतः अँग्रेजों की नीतियों ने प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में पुरानी परम्परागत प्रचलित व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया था। अँग्रेजों की समस्त नीतियों के संचित प्रभाव का भारत के सभी वर्गों—राज्यों के राजाओं, सैनिकों, जमींदारों, किसानों, व्यापारियों, ब्राह्मणों तथा मौलवियों, सभी पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा था। अतः यह कहना कि विप्लव के कोई दूरगामी कारण नहीं थे, गलत होगा। विविध स्रोतों से जन-असन्तोष की धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं और जब इन विविध स्रोतों की धाराएँ एक ही प्रबल धारा में प्रवाहित होने लगीं, तब विप्लव का विस्फोट हो गया। 1857 ई. का विप्लव विविध स्रोतों से प्रवाहित होने वाली असन्तोष की धाराओं का सामूहिक परिणाम था। इस विप्लव के मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

(1) राजनीतिक कारण

विप्लव के अधिकांश राजनीतिक कारण डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति से उत्पन्न हुए थे। डलहौजी के गोद-निषेध सिद्धान्त से भारतीय जनता निराश और उत्तेजित हो उठी थी। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत विभिन्न भारतीय नरेशों व राजवंशों को समाप्त कर दिया गया। कुछ राज्यों पर कुशासन का आरोप लगाकर उनका अपहरण कर लिया गया। अवध अँग्रेजों का सर्वाधिक घनिष्ठ मित्र राज्य था, किन्तु 13 फरवरी, 1856 को उसका भी अपहरण कर लिया गया। इससे भारतीय नरेश तो नाराज हुए ही, लेकिन अँग्रेजों के अनन्य भक्त भी अपने अस्तित्व के प्रति सन्देह प्रकट करने लगे। नरेशों व राजवंशों की समाप्ति का प्रभाव उन पर आश्रित सामन्तों, सैनिकों, शिल्पियों तथा अन्य वर्गों पर भी पड़ा। कर्नाटक व तंजोर के शासकों की उपाधियाँ व पेंशन बन्द करके अँग्रेजों ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करदीं कि यदि भारतीय अँग्रेजी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह न करते तो उन्हें मनुष्यत्व से गिरा हुआ कहा जाता। झाँसी के अपहरण से तो यह स्पष्ट हो गया था कि अँग्रेजी साम्राज्यवाद के समक्ष शासकों के हित सुरक्षित नहीं रह सकते।

मुगल सम्राट के साथ किये गये दुर्व्यवहार से भी जनता क्रुद्ध हो उठी। मुगल सम्राट बहादुरशाह द्वितीय दयालु व भावुक व्यक्ति था। देशी शासकों व भारतीय जनता के मन में अब भी मुगल सम्राट के प्रति श्रद्धा थी। अँग्रेजों ने उसकी प्रतिष्ठा पर प्रहार करना आरम्भ कर दिया। मुगल सम्राट को नजर देना व सम्मान प्रदर्शित करना बन्द कर दिया तथा सिक्कों से बादशाह का नाम हटा दिया। इस पर भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने मुगल सम्राट के उत्तराधिकार के प्रश्न को खड़ा करके सम्राट और साम्राज्ञी की इच्छा के विरुद्ध, उसके आठ जीवित पुत्रों में सबसे निकम्मे

पुत्र मिर्जा कोयास को युवराज घोषित कर दिया। मिर्जा कोयास को अपमानजनक सन्धि के लिए बाध्य किया, जिसके अनुसार वह दिल्ली का लाल किला खाली कर देगा, स्वयं को बादशाह नहीं कहेगा तथा एक लाख रुपये के स्थान पर 15 हजार रुपये मासिक पेंशन स्वीकार करेगा। मुगल सम्राट के साथ किये गये इस व्यवहार से देश में असन्तोष और विद्वेष का वातावरण उत्पन्न हो गया। इसी का परिणाम था कि विप्लवकारियों ने मुगल सम्राट को अपना नेता मान लिया और मुगल दरबार क्रान्ति का केन्द्र बन गया।

भारतीयों की दृष्टि में अँग्रेज सैनिक दृष्टि से अजेय समझे जाते थे। किन्तु प्रथम अफगान युद्ध में अँग्रेजों की शक्ति पर घातक प्रहार हुआ। इस घटना से भारतीयों के मन में यह बात जम गई कि यदि अफगान अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये अँग्रेजों से टक्कर ले सकते हैं तो भारतीय क्यों नहीं ले सकते। इसी समय यह अफवाह फैली कि रूस क्रीमिया युद्ध का बदला लेने के लिये भारत पर आक्रमण कर रहा है। इससे भारतीय और अधिक प्रोत्साहित हुए, क्योंकि उनका विचार था कि जब अँग्रेज, रूस के साथ युद्ध में उलझे हुए होंगे तब उनके विरुद्ध विद्रोह करने पर सफलता मिल सकती है। इन परिस्थितियों में भारतीय उत्साहित तो हो ही रहे थे कि किसी ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की कि भारत में अँग्रेजों का राज्य सौ वर्ष बाद समाप्त हो जायेगा। 1757 में प्लासी के युद्ध के बाद अँग्रेजी राज्य की स्थापना हुई थी और अब 1857 में सौ वर्ष पूरे हो चुके थे। इससे क्रान्ति का उचित वातावरण तैयार हो गया।

(2) प्रशासनिक कारण

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अँग्रेजों की नीतियों के कारण भारत की प्राचीन प्रचलित संस्थाएँ समाप्त हो गईं तथा प्रशासन जनसाधारण से अलग हट गया। अँग्रेजों ने आरम्भ से ही प्रशासन में भेदभावपूर्ण नीति अपनाई। लॉर्ड कार्नवालिस ने सदैव भारतीयों को अविश्वास की दृष्टि से देखा और उसने भारतीयों को उच्च पदों से वंचित कर दिया। यद्यपि 1833 के चार्टर एक्ट में जाति एवं रंगभेद नीति समाप्त कर कम्पनी की सेवा में भारतीयों को लेने की घोषणा की गई थी, किन्तु इस एक्ट की यह धारा कभी कार्यान्वित ही नहीं की गई। न्यायिक क्षेत्र में भी अँग्रेज भारतीयों से श्रेष्ठ समझे जाते थे तथा भारतीय जजों की अदालतों में उनके विरुद्ध कोई मुकदमा दायर नहीं हो सकता था। कार्नवालिस द्वारा किये गये न्यायिक परिवर्तनों के पीछे मूल भावना यह थी कि भारतीयों के स्थान पर अँग्रेज न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाय। अँग्रेजों ने जो विधि-प्रणाली लागू की वह भारतीय के लिये बिल्कुल नई थी, जिसे वे ठीक से समझ नहीं पाते थे। इस न्याय-प्रणाली में अत्यधिक धन व समय नष्ट होता था और फिर भी अनिश्चितता बनी रहती थी। भू-राजस्व प्रणाली को नियमित करने के नाम पर जमींदारों के पट्टों की छानबीन करवाई गई तथा अनेक लोगों की जमीनें छीन ली गईं। बम्बई के इमाम कमीशन ने लगभग 20 हजार जागीर भूमि का अपहरण किया। बैंटिक ने तो माफी की भूमि तक छीन ली। इस प्रकार कुलीन वर्ग को अपनी सम्पत्ति व आमदनी से हाथ धोना पड़ा। इससे कुलीन वर्ग क्रुद्ध हो गया। किसानों की दशा सुधारने के नाम पर स्थायी बन्दोबस्त, रैय्यतवाड़ी व महालवाड़ी प्रणाली लागू की गई और प्रत्येक बार किसानों से पहले की अपेक्षा दुगुना या इससे भी अधिक लगान लिया गया।

भारत में कम्पनी की सर्वोच्चता स्थापित होने के साथ ही प्रशासन में एक शक्तिशाली ब्रिटिश अधिकारी वर्ग का विकास हुआ। यह अधिकारी वर्ग अपने आपको भारतीय कर्मचारियों से पूरी तरह अलग रखता था और हर प्रकार से उन्हें अपमानित करता था। भारतीय कर्मचारियों के साथ उनका व्यवहार कुत्तों से भी बदतर था। इतना ही नहीं, वे अँग्रेजों को भारतीयों से मिलने-जुलने तक नहीं देते थे। अँग्रेजों की इस प्रजाति भेदभाव की नीति से भारतीय क्रोधित हो उठे और उनका यह क्रोध 1857 के विप्लव के रूप में व्यक्त हुआ।

(3) सामाजिक कारण

अँग्रेजों द्वारा भारतीय समाज की बुराइयों को दूर करने के प्रयासों का भारतीय सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। पाश्चात्य शिक्षा से तो सामाजिक जीवन ही अस्त-व्यस्त हो गया। पाश्चात्य शिक्षा से भारतीयों के जीवन में पाश्चात्य व्यक्तिवाद (Western self-assertive attitude) का बीजारोपण हुआ, जिससे भारतीय सामाजिक जीवन की विशेषताएँ ही समाप्त हो गयीं। भारत में प्राचीन काल से लोगों में आभार प्रदर्शन करना तथा पारस्परिक सहयोग की भावना थी, किन्तु पाश्चात्य शिक्षा ने उसे नष्ट कर दिया। भारतीयों के खान-पान में, कपड़े आदि पहनने में तथा उनकी आदतों में पाश्चात्य ढँग आ गया, जिससे भारतीय सामाजिक जीवन के मूल तत्त्व ही नष्ट हो गये। कुलीन वर्ग की सम्पत्ति और जागीरें छीनकर उनकी सामाजिक मर्यादा पर प्रहार किया तथा समाज सुधार के नाम पर भारतीयों के सामाजिक क्षेत्र में हस्तक्षेप कर उन्हें क्रोधित कर दिया। यद्यपि देश में समाज को सुधारने की नितान्त आवश्यकता थी तथा जो सुधार किये गये वे भारतीयों के हित में थे, किन्तु रूढ़िवादी भारतीयों के लिये अपने परम्परागत सामाजिक नियमों में अँग्रेजों का हस्तक्षेप असहनीय था। भारतीयों का विचार था कि अँग्रेज सामाजिक नियमों में हस्तक्षेप कर भारतीय सभ्यता को नष्ट करना चाहते हैं। रेल, तार आदि के वैज्ञानिक प्रयोगों को भी अशिक्षित जनता नहीं समझ सकी और उसने अपनी सभ्यता और धर्म पर प्रहार समझा।

सामाजिक दृष्टि से अँग्रेजों का भारतीयों के प्रति व्यवहार नितान्त अपमानजनक था। भारतीय रेलगाड़ी के प्रथम श्रेणी में सफर नहीं कर सकते थे। अँग्रेजों द्वारा संचालित होटलों व क्लबों की तख्तियों पर लिखा होता था, "कुत्तों और भारतीयों के लिए प्रवेश वर्जित।" अँग्रेजों की मनोवृत्ति का अनुमान आगरा के मजिस्ट्रेट के इस आदेश से लगाया जा सकता है, "किसी भी कोटि के भारतीय के लिये कठोर सजाओं की व्यवस्था करके उसे विवश किया जाना चाहिये कि वह सड़क पर चलने वाले प्रत्येक अँग्रेज को सलाम करे और यदि भारतीय घोड़े पर चढ़ा हो या किसी गाड़ी में हो तो उसे नीचे उतरकर आदर प्रदर्शित करते हुए उस समय तक खड़ा रहना चाहिये, जब तक उक्त अँग्रेज चला नहीं जाता।" इसी प्रकार के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि अँग्रेज भारतीयों को बराबरी का दर्जा भी देने को तैयार नहीं थे।

अँग्रेजों ने सुधारों के नाम पर अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रचार भी किया। उन्होंने यूरोपीय चिकित्सा विज्ञान को प्रोत्साहन दिया, जो भारतीय चिकित्सा विज्ञान के पूर्णतया विरुद्ध था। रेलें व तार-व्यवस्था को जादू व शैतान का कार्य समझा गया। स्कूल, अस्पताल, दफ्तर और

सेना पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार के केन्द्र थे। इनसे भारतीय साहित्य व संस्कृति की बड़ी दुर्दशा हुई। भारतीयों को यह विश्वास होने लगा कि अँग्रेज भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को नष्ट कर उन्हें ईसाई बनाना चाहते हैं। अत: भारतीयों के मन में अँग्रेजों के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी और इस घृणा ने 1857 में विद्रोह का रूप धारण कर लिया।

(4) धार्मिक कारण

भारत में ईसाई धर्म का प्रसार सर्वप्रथम पुर्तगालियों ने किया। तत्पश्चात् अँग्रेजों ने भारत को ईसाइयत के रंग में रंगने का प्रयास किया। 1833 के चार्टर एक्ट द्वारा ईसाई मिशनरियों को भारत में धर्म-प्रचार की स्वतन्त्रता प्रदान करदी गई थी। ब्रिटिश संसद में बोलते हुए मेगल्स ने घोषणा की थी कि, "परमात्मा ने भारत का विस्तृत साम्राज्य ब्रिटेन को प्रदान किया है, ताकि ईसाई धर्म-पताका भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक लहरा सके। प्रत्येक व्यक्ति को अविलम्ब ही देश में समस्त भारतीयों को ईसाई धर्म में परिणित करने के महान् कार्य को सभी प्रकार से सम्पन्न करने में अपनी शक्ति लगा देनी चाहिये।" अँग्रेजों की इस नीति के अन्तर्गत भारत में ईसाई धर्म-प्रचारकों को सभी प्रकार की सुविधा प्रदान की गई।

ईसाई धर्म-प्रचारक बड़े उद्दण्डी थे। वे खुले रूप से हिन्दू व इस्लाम धर्म की निन्दा करते थे। हिन्दुओं के अवतारों तथा मुस्लिम पैगम्बरों को गालियाँ देते थे और उन्हें कुकर्मी कहकर उनकी निन्दा करते थे। सैनिक क्षेत्र में ईसाई धर्म का प्रचार विशेष रूप से किया गया। इस कार्य के लिये 'पादरी लैफ्टिनेण्ट' तथा 'मिशनरी कर्नल' नियुक्त किये जाते थे। इनका काम सेना में भारतीयों को ईसाई बनाना मात्र था। भारतीय सिपाहियों द्वारा धर्म-परिवर्तन करने पर पदोन्नति दी जाती थी। सरकारी स्कूलों में बाइबिल की शिक्षा अनिवार्य थी। मिशनरी स्कूलों में ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाती थी। फलस्वरूप मिशनरी स्कूलों में पढ़े भारतीय विद्यार्थी भारतीय धर्म की खुली आलोचना करते थे। इससे भारतीयों में यह विश्वास फैलने लगा कि मिशनरी स्कूल भारतीयों को ईसाई बनाने के साधन हैं। यह सब भारतीयों के लिये असहनीय था। उनके मन में अँग्रेजों के प्रति घृणा पैदा हो गयी।

बेरोजगारों, अकाल पीड़ितों, कैदियों, विधवाओं तथा अनाथ बच्चों को तो बलपूर्वक ईसाई बना लिया जाता था और अन्य लोगों को विभिन्न प्रकार के प्रलोभन दिये जाते थे। बैंटिक ने तो यह नियम बना दिया कि धर्म-परिवर्तन करने पर पैतृक सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा। इससे लोग स्वेच्छा से ईसाई बनने लगे।

लॉर्ड कैनिंग ने तो धर्म-प्रचार से लिये लाखों रुपये दिये। इससे लोगों का क्रोधित होना तो स्वाभाविक ही था। जिन भारतीयों को कारावास की सजा होती थी, वे जेल में अपने साथ जलपात्र ले जाते थे, क्योंकि वे किसी के छुए हुए जल को अपवित्र समझते थे। लेकिन सरकार ने जलपात्र ले जाने पर रोक लगा दी। इससे हिन्दुओं को यह विश्वास हो गया कि अँग्रेज उन्हें अपना छुआ हुआ पानी पिलाकर जबरदस्ती ईसाई बना रहे हैं। इसी सन्देह के वातारण में चरबी वाले कारतूस की घटना हुई, जिसे विद्रोहाग्नि प्रज्ज्वलित हो गयी।

(5) आर्थिक कारण

अँग्रेजों ने जितना भारतीयों का राजनीतिक शोषण किया, उससे भी बढ़कर आर्थिक शोषण किया। बंगाल में दीवानी का अधिकार प्राप्त करने के बाद भारतीयों का आर्थिक शोषण व कुटीर उद्योगों का विनाश आरम्भ हो गया। 1813 के चार्टर एक्ट द्वारा ब्रिटेन के निजी व्यापारियों को भारत में व्यापार करने की अनुमति प्राप्त हो जाने से तो यह आर्थिक शोषण और तीव्र हो उठा। मुक्त व्यापार नीति से इंग्लैण्ड का निर्मित माल अधिकाधिक मात्रा में भारत के बाजारों में आने लगा। फलस्वरूप भारतीय उद्योग प्रायः नष्ट हो गये। अँग्रेजों ने भारतीय व्यापार, वाणिज्य और कुटीर उद्योग अपने नियन्त्रण में ले लिये, अतः भारतीयों में निर्धनता बड़ी तेजी से बढ़ने लगी। भारत का अत्यधिक धन इंगलैण्ड जाने लगा।

किसानों के कल्याण के नाम पर भूव्यवस्था के सम्बन्ध में अब तक अनेक प्रयोग किये गये, किन्तु प्रत्येक भूव्यवस्था में ब्रिटिश हितों का अधिक ध्यान रखा जाता था। स्थायी बन्दोबस्त तथा रैय्यतवाड़ी बन्दोबस्त का भी किसानों पर हानिकारक प्रभाव पड़ा, क्योंकि किसानों से अधिक लगान वसूल करने की प्रवृत्ति का अन्त नहीं हुआ था। बैंटिक के काल में तो करमुक्त भूमि का भी अपहरण कर लिया गया, फलस्वरूप अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों को अपने जीविकोपार्जन हेतु दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं। इससे पुराना जमींदार वर्ग समाप्त हो गया। उद्योग और व्यापार नष्ट होने से कारीगर बेकार हो गये, अतः वे कृषि पर निर्भर होने का प्रयास करने लगे, किन्तु भूमि सीमित थी, इसलिए कृषि से भी उन्हें कोई लाभ नहीं हुआ। भूमि सम्बन्धी व्यवस्था व भूमि का अपहरण करने से किसान एवं खेतीहर मजदूर बेकार हो गये, उद्योग और व्यापार का विनाश होने से अनेक कारीगर बेकार हो गये और देशी राज्यों का अँग्रेजी राज्य में विलय कर देने से अनेक सैनिक बेकार हो गये। इस प्रकार ब्रिटिश प्रशासन के अन्तर्गत लाखों लोगों को अपनी जीविका से हाथ धोना पड़ा। फलस्वरूप अँग्रेजों से सैनिक व असैनिक दोनों रुष्ट हो गये। इन बेरोजगारों ने घूम-घूमकर अँग्रेजों के विरुद्ध प्रचार किया तथा विद्रोह के लिए प्रोत्साहित किया।

(6) सैनिक कारण

अँग्रेजों ने भारतीय सेना की सहायता से ही भारत में अपनी सर्वोच्चता स्थापित की थी। इसलिए कम्पनी ने बड़ी संख्या में भारतीय सैनिकों को अपनी सेवा में रख लिया था। वेलेजली की सहायक प्रथा के फलस्वरूप कम्पनी की सेना में भारतीय सैनिकों की असाधारण वृद्धि हुई थी। 1856 में डलहौजी के जाने के समय कम्पनी की सेना में 2,38,000 देशी और 45,322 अँग्रेज सैनिक थे। भारतीय सैनिकों की विशालता ने उन्हें निर्भीक बना दिया था। जो थोड़े-बहुत अँग्रेज सैनिक थे, उनका विभिन्न क्षेत्रों में वितरण ठीक नहीं था। अनेक क्षेत्र ऐसे थे, जहाँ केवल देशी सैनिक ही थे और अँग्रेज सैनिक थे भी तो उनकी संख्या नगण्य-सी थी। अधिकांश अँग्रेज सैनिक अधिकारियों को सीमान्त प्रदेशों एवं नये राज्यों में, जो हाल ही में ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाये गये थे, प्रशासनिक एवं सैनिक पदों पर भेज दिये गये थे। कम्पनी की इस दुर्बलता से भारतीय सैनिक परिचित थे।

सेना में वेतन, भत्ते एवं पदोन्नति के सम्बन्ध में भारतीय सैनिकों के साथ भेदभावपूर्ण नीति अपनायी जाती थी। एक साधारण भारतीय सैनिक का वेतन सात या आठ रुपये मासिक होता था और इस वेतन में से ही उन्हें खाने का खर्च व वर्दी के पैसे देने पड़ते थे। इसलिए वेतन के दिन उन्हें एक या डेढ़ रुपया वेतन मिलता था। इसी प्रकार सेना में एक भारतीय सूबेदार का वेतन 35 रुपये मासिक था, जबकि अँग्रेज सूबेदार को 195 रुपये मासिक वेतन मिलता था। यद्यपि कम्पनी की सेना में अँग्रेज सैनिकों की संख्या भारतीय सैनिकों की संख्या के लगभग 1/5 भाग से कुछ अधिक थी, लेकिन सैनिक खर्च का आधे से अधिक भाग अँग्रेज सैनिकों पर खर्च किया जाता था। भारतीय सैनिकों के लिए पदोन्नति के अवसर भी नहीं के बराबर थे। यदि वरिष्ठता के आधार पर कभी भारतीय सैनिक के लिए पदोन्नति का अवसर आता भी, तो उसे इनाम देकर सेना से अलग कर दिया जाता था। वस्तुतः अँग्रेजों को भारतीयों पर विश्वास ही नहीं था और वे समझते थे कि उच्च पद केवल अँग्रेजों लिए सुरक्षित हैं। अँग्रेजों की इस नीति से भारतीय सैनिकों का रुष्ट होना स्वाभाविक ही था और इसीलिए 1806 से 1855 के बीच भारतीय सैनिकों ने अनेक विद्रोह किये। किन्तु विद्रोही सैनिकों को भीषण यातनाएँ दी गयीं और यहाँ तक कि भारतीय सैनिकों को गोली से उड़ा दिया गया। इन कारणों से भारतीयों का क्रोध भड़क उठा।

कम्पनी की सेना में अधिकांश सैनिक, उच्च जाति के ब्राह्मण, राजपूत, जाट व पठान आदि थे। वे न केवल अनपढ़ थे, बल्कि रूढ़िवादी भी थे तथा धर्म के नाम पर अपने अधिकारी के आदेशों की अवहेलना करना उनके लिए साधारण बात थी। अँग्रेजों ने सेना में पाश्चात्य नियम लागू करते हुए सैनिक को माला पहनने व तिलक लगाने की मनाही कर दी। मुसलमान सैनिक दाढ़ी नहीं रख सकते थे। ये नियम भारतीयों के धर्म व परम्परा के विरुद्ध थे। भारतीय सैनिक विदेश जाना धर्म के विरुद्ध समझते थे, अतः भारतीय सैनिकों ने विदेश जाने से इन्कार कर दिया। इस पर लॉर्ड कैनिंग ने सामान्य सेना भर्ती अधिनियम पारित किया, जिसके अनुसार भविष्य में भावी सैनिकों को सेवा के लिए कहीं भी भेजा जा सकता था और उन्हें यह बात लिखित रूप में देनी पड़ती थी। एक अन्य घोषणा में कहा गया कि विदेशों में सेवा के लिए अयोग्य समझे गये सैनिकों को अवकाश प्राप्त करने पर पेंशन नहीं मिलेगी, इससे भारतीय सैनिकों में यह भावना दृढ़ हो गयी कि अँग्रेज उनके धर्म व रीति-रिवाजों पर प्रहार कर उन्हें ईसाई बना रहे हैं। इस पर सेना में अँग्रेज अधिकारियों के प्रति अविश्वास फैलने लगा। ऐसे वातावरण में चरबी वाले कारतूसों ने चिनगारी का काम किया और असन्तोष रूपी बारूद के ढेर में विस्फोट हो गया।

(7) तात्कालिक कारण

भारतीयों में यह विश्वास होता जा रहा था कि अँग्रेज भारतीय धर्म, रीति-रिवाजों व संस्कारों को नष्ट करना चाहते हैं। ठीक ऐसे वातावरण में चरबी वाले कारतूस की घटना हुई। ब्रिटेन में एक एनफील्ड राइफल का आविष्कार हुआ। इस राइफल में विशेष प्रकार का कारतूस प्रयोग में लाया जाता था, जिसको चिकना करने हेतु गाय व सूअर की चरबी का प्रयोग होता था। इस कारतूस को राइफल में डालने से पूर्व उसकी टोपी को मुँह से काटना पड़ता था। 1 जनवरी, 1857 को इस राइफल का प्रयोग भारत में आरम्भ किया गया। तत्पश्चात् दमदम शस्त्रागार में एक दिन एक खलासी ने एक ब्राह्मण सैनिक के लोटे से पानी पीना चाहा, लेकिन

उस ब्राह्मण ने इसे अपने धर्म के विरुद्ध मानकर इन्कार कर दिया। इस पर उस खलासी ने व्यंग्य किया कि उसका धर्म तो नये कारतूसों के प्रयोग से समाप्त हो जायेगा, क्योंकि उस पर गाय और सूअर की चर्बी लगी हुई है। खलासी के व्यंग्य से सत्य खुल गया और सैनिक भड़क उठे। 26 फरवरी, 1857 को बरहामपुर के सैनिकों ने इन कारतूसों का प्रयोग करने से इन्कार कर दिया। बाद में यद्यपि सैनिकों ने आज्ञा का पालन कर लिया, लेकिन कैनिंग ने उस सैनिक टुकड़ी को भंग कर दिया। इससे अन्य सैनिक टुकड़ियों में असन्तोष फैल गया। 29 मार्च, 1857 को मंगल पाण्डे नामक एक सैनिक ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया तथा अँग्रेज अधिकारियों पर गोली चला दी। इससे एक अँग्रेज अधिकारी मारा गया तथा दो घायल हो गये। मंगल पाण्डे को बन्दी बनाकर उसे मौत की सजा दे दी गई। 2 मई, 1857 को लखनऊ की अवध रेजीमेण्ट ने भी इन कारतूसों के प्रयोग करने से इन्कार कर दिया। फलस्वरूप अवध रेजीमेण्ट को भंग कर दिया।

चरबी वाले कारतूसों की खबर मेरठ भी पहुँच गई। वहाँ का अँग्रेज सैनिक अधिकारी कारमाइकेल स्मिथ अत्यन्त ही अहमी था। अतः 24 अप्रैल, 1857 को वहाँ घुड़सवारों की एक सैनिक टुकड़ी ने जब इन कारतूसों का प्रयोग करने से इन्कार कर दिया तो इन्कार करने वालों को 5 वर्ष के कारावास की सजा सुना दी तथा 9 मई को उन्हें अपराधियों के कपड़े पहनाकर बेड़ियाँ लगा दीं। इतना ही नहीं, कारमाइकेल ने अन्य सैनिकों को अपने साथियों के इस अपमान का बदला लेने के लिए चुनौती दे दी। फिर क्या था, दूसरे दिन 10 मई, 1857 को सायं 5 बजे के लगभग मेरठ की एक पैदल सैनिक टुकड़ी ने विद्रोह कर दिया और बाद में यह विद्रोह घुड़सवारों की टुकड़ी में भी फैल गया। कारमाइकेल को अपनी जान बचाकर भागना पड़ा और उसने अन्य अधिकारियों के बंगलों में शरण ली। विद्रोही जेल में घुसे और कैदियों को मुक्त कर दिया। बन्दी सैनिकों की बेड़ियाँ काटकर उन्हें अस्त्र-शस्त्र प्रदान किये और जहाँ कहीं अँग्रेज मिले, उन्हें मौत के घाट उतार दिया। तत्पश्चात् विद्रोही सैनिक दिल्ली की ओर चल पड़े।

विप्लव की घटनायें एवं प्रसार

11 मई, 1857 को मेरठ के विद्रोही सैनिक दिल्ली पहुँचे। यहाँ पर उन्होंने अनेक अँग्रेज अधिकारियों को मार डाला तथा दिल्ली पर अधिकार कर लिया। विद्रोहियों ने मुगल सम्राट बहादुरशाह से क्रान्ति का नेतृत्व करने का अनुरोध किया। पहले तो बहादुरशाह ने नेतृत्व स्वीकार करने में संकोच दिखाया, किन्तु विद्रोहियों का अत्यधिक दबाव देखकर क्रान्ति का नेतृत्व करना स्वीकार कर लिया। दिल्ली की इन घटनाओं का समाचार अन्य नगरों में भी पहुँच गया और कुछ ही दिनों में उत्तरी भारत के अधिकांश भाग में विद्रोह फैल गया। नाना साहब ने कानपुर पर अपना अधिकार स्थापित कर अपने आपको पेशवा घोषित कर दिया। बुन्देलखण्ड में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने तथा मध्य भारत में तांत्या टोपे नामक मराठा ब्राह्मण ने क्रान्तिकारियों का नेतृत्व ग्रहण कर लिया। बिहार में जगदीशपुर के जमींदार कुँवरसिंह ने विद्रोहियों का नेतृत्व किया। इसी प्रकार उत्तर भारत में कानपुर, आगरा, अलीगढ़, बरेली, मथुरा आदि विद्रोह के प्रमुख केन्द्र बन गये। अवध राज्य के सभी क्षेत्र इस विद्रोह में सम्मिलित हो गये।

राजस्थान में 28 मई, 1857 को नसीराबाद की सैनिक छावनी में तथा 3 जून, 1857 को रात्रि के 11 बजे नीमच के सैनिकों ने विद्रोह कर छावनी में आग लगा दी। राजस्थान में कोटा

व आउवा विद्रोह के प्रमुख केन्द्र बने। 21 अगस्त, 1857 को एरिनपुरा स्थित जोधपुर लीजियन की एक सैनिक टुकड़ी ने, जो अभ्यास हेतु आबू गई थी, विद्रोह कर दिया। तत्पश्चात् यह सैनिक टुकड़ी आबू की पहाड़ी से नीचे उतरी और एरिनपुरा में लूटमार कर मारवाड़ के रास्ते से दिल्ली की ओर रवाना हुई। रास्ते में पाली के निकट आउवा के ठाकुर खुशालसिंह ने उन्हें अपनी सेवा में ले लिया और आउवा ले गया। आउवा में मारवाड़ और मेवाड़ के कुछ जागीरदार अथवा उनकी सेनाएँ सम्मिलित हो गयीं। जोधपुर के महाराजा तख्तसिंह ने इनके विरुद्ध एक सेना भेजी, किन्तु 8 सितम्बर, 1857 को राजकीय सेना पराजित हुई। इस पर राजस्थान का ए.जी.जी. जार्ज लॉरेन्स स्वयं सेना लेकर गया, किन्तु उसे भी पराजय का सामना करना पड़ा। अन्त में जनवरी, 1858 में कर्नल होम्स ने आउवा में विद्रोहियों का दमन किया। मेवाड़ में यद्यपि कोई प्रत्यक्ष विद्रोह नहीं हुआ, किन्तु मेवाड़ के कुछ जागीरदारों ने विद्रोहियों को रसद आदि देकर अप्रत्यक्ष रूप से सहायता की।

पंजाब, बंगाल और दक्षिणी भारत के अधिकांश भागों में कोई विद्रोह नहीं हुआ। भारत के अधिकांश नरेशों ने अँग्रेजों की सहायता की।

अवध में विद्रोह—अवध को अँग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के कारण वहाँ अँग्रेजों के विरुद्ध व्यापक असन्तोष था। 3 मई, 1857 को लखनऊ में सैनिकों ने विद्रोह कर दिया, लेकिन उसका दमन कर दिया गया। तत्पश्चात् 30 मई, 1858 को पुनः विद्रोह हुआ, जो अवध राज्य के विभिन्न भागों में फैल गया। अवध का नवाब वाजिदअलीशाह कलकत्ता में अँग्रेजों का बन्दी था, अतः विद्रोहियों ने उसके अल्पवयस्क पुत्र बिरजीस कद्र को नवाब घोषित कर दिया तथा प्रशासन संचालन का काम बेगम हजरत महल को सौंप दिया गया। 20 जून, 1857 को अँग्रेजी सेना विद्रोहियों से परास्त हुई तथा अधिकांश ताल्लुकेदारों व जमींदारों ने अपनी-अपनी जागीरों व जमींदारी पर अधिकार कर लिया। 4 जुलाई, 1857 को एक भीषण विस्फोट में अवध के कमिश्नर हेनरी लॉरेन्स की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् अँग्रेजों की सहायता के लिये आउटरम तथा हेवलाक अपनी सेनाओं के साथ आये। प्रधान सेनापति केम्पबेल तथा नेपाल से गोरखा सेना भी वहाँ आ पहुँची। अन्त में 31 मार्च, 1858 को अँग्रेज पुनः लखनऊ पर अधिकार करने में सफल रहे। यद्यपि इसके बाद भी ताल्लुकेदार छिपे रूप से अँग्रेजों की हत्या करते रहे, किन्तु मई, 1858 में बरेली पर अँग्रेज़ों का प्रभुत्व हो जाने पर अवध के क्रान्तिकारियों ने भी हथियार डाल दिये तथा विद्रोह का पूर्ण रूप से दमन कर दिया गया।

झाँसी में क्रान्ति—1854 में झाँसी को अँग्रेजी राज्य में मिला लिया गया था। अतः झाँसी में भी अँग्रेजों के विरुद्ध व्यापक असन्तोष था। 5 जून, 1857 को झाँसी की सेना ने भी विद्रोह कर दिया तथा अँग्रेज अधिकारियों को दुर्ग में घेरकर 8 जून को उनकी हत्या कर दी। आरम्भ में रानी लक्ष्मी बाई ने विद्रोहियों का समर्थन नहीं किया तथा सागर डिविजन के कमिश्नर को पत्र लिखकर अपनी स्थिति भी स्पष्ट की। अर्सकाइन ने भी लक्ष्मीबाई को झाँसी के प्रशासन का उत्तरदायित्व सौंपा, फिर भी अँग्रेजों ने झाँसी की घटनाओं के लिये रानी लक्ष्मीबाई को दोषी ठहराया। जब ओर्छा तथा दतिया के शासकों ने झाँसी पर आक्रमण किया, तब भी रानी लक्ष्मीबाई अँग्रेजों से सहायता प्राप्त करना चाहती थी, किन्तु अँग्रेजों ने उसे सन्देह की दृष्टि से देखा। विवश होकर रानी ने झाँसी के विद्रोहियों का नेतृत्व ग्रहण कर लिया। रानी का दमन करने के लिए ह्यूरोज

सेना लेकर बुन्देलखण्ड की ओर आया। रानी ने स्वयं सेना का संचालन किया और उसकी वीरता को देखकर अँग्रेजों ने भी दाँतों तले अँगुलियाँ दबा लीं। ग्वालियर से तांत्या टोपे भी रानी की सहायता के लिये आ पहुँचा। किन्तु कुछ देशद्रोहियों ने किले के फाटक खोल दिये, जिससे शत्रु सेना को अन्दर आने का मार्ग मिल गया। अतः रानी लक्ष्मीबाई 4 अप्रैल, 1858 को रात के अँधेरे में नगर से बाहर चली गई और बड़ी बहादुरी से लड़ती हुई कालपी पहुँची। ह्यूरोज भी रानी का पीछा करते हुए कालपी आ पहुँचा और वहाँ घमासान युद्ध हुआ। मई, 1858 में कालपी पर अँग्रेजों का अधिकार हो गया। वहाँ से रानी ग्वालियर पहुँची तथा ग्वालियर के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। ह्यूरोज रानी का पीछा करता हुआ ग्वालियर आ पहुँचा। इस युद्ध में रानी का रणकौशल दर्शनीय था, किन्तु शत्रु सेना नें रानी को घेर लिया, अतः रानी ने यहाँ से भी भागने का प्रयास किया किन्तु उसका घोड़ा सामने पड़े हुए नाले को पार न कर सका और वहीं गिर गया। रानी स्वयं इतनी घायल हो चुकी थी कि उसका बचना असम्भव हो गया। इस प्रकार रानी लक्ष्मीबाई ने एक शहीद की भाँति मृत्यु का वरण किया।

कानपुर की क्रान्ति—1818 में पेशवा बाजीराव द्वितीय को कानपुर के निकट बिठुर भेज दिया गया था तथा उसके लिए 8 लाख रुपये वार्षिक पेन्शन देना तय किया गया। बाजीराव के कोई पुत्र नहीं था, अतः उसने नाना धुन्धुपन्त को जिसे नाना साहब कहकर पुकारा जाता था, गोद लिया। 28 जनवरी, 1851 को बाजीराव की मृत्यु हो गयी। किन्तु डलहौजी ने नानासाहब को पेंशन देने से इन्कार कर दिया। अतः नाना अँग्रेजों का कट्टर दुश्मन बन गया।

मेरठ में हुए विद्रोह की सूचना जब कानपुर पहुँची तो अँग्रेजों ने खजाने तथा बारूद के भण्डार की सुरक्षा का दायित्व नाना साहब के सिपाहियों को सौंप दिया। किन्तु 4 जून को कानपुर में विद्रोह हो गया। 6 जून, 1857 को नाना ने विद्रोहियों का नेतृत्व ग्रहण किया और कानपुर की ओर आया। अँग्रेजों ने अपनी सुरक्षा के लिये एक अस्थाई शिविर बना लिया, किन्तु 25 जून को इस शिविर पर विद्रोहियों का अधिकार हो गया। 27 जून को अँग्रेज इलाहाबाद की ओर जाने लगे, किन्तु विद्रोहियों ने उन पर आक्रमण कर दिया। कानपुर पर अधिकार हो जाने के बाद बिठुर में नाना ने अपने आप को पेशवा घोषित कर दिया। किन्तु इलाहाबाद से अँग्रेजी सेना आ पहुँची, जिसने 16 जुलाई, 1857 को कानपुर पर पुनः अधिकार कर लिया। इसी दिन कानपुर में एक बीबीघर नामक मकान में कुछ अँग्रेज स्त्रियों व बच्चों की हत्या कर दी गई। अब अँग्रेज़ों ने कानपुर की साधारण जनता पर जो अत्याचार किये, वे दिल दहलाने वाले थे। अँग्रेज अधिकारी जनरल नील ने एक मुसलमान अधिकारी को बीबीघर में फर्श पर लगे खून को जीभ से साफ करने का आदेश दिया और उसके द्वारा आज्ञा पालन करने पर भी उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। जनरल नील ने मृत ब्राह्मणों को जमीन में दफनवा दिया तथा मुसलमानों को चिता में जलवा दिया। 19 जुलाई, 1857 को बिठुर पर आक्रमण कर दिया और नाना के महल में आग लगा दी। बिठुर में भयंकर लूटमार की गई तथा धन-सम्पत्ति के लोभ में एक महल की एक-एक ईंट उखड़वा दी। अँग्रेजों को बिठुर की लूट में इतना अधिक सोना-चाँदी प्राप्त हुआ कि उसे ले जा नहीं सकते थे। जनवरी, 1858 के बाद नाना के बारे में कोई पता नहीं चला। बाद में पता चला वह नेपाल चला गया है, लेकिन उसके बाद उसकी कोई निश्चित जानकारी नहीं मिल सकी।

बिहार में क्रान्ति—बिहार में विद्रोह का संचालन जगदीशपुर (शाहाबाद जिले में) के जमींदार कुँवरसिंह ने किया, जिसकी उस समय आयु 70 वर्ष थी। कुँवरसिंह की जमींदारी काफी बड़ी थी, लेकिन अँग्रेजों की नीति के फलस्वरूप कुँवरसिंह दिवालियेपन की स्थिति में पहुँच गया था। बिहार में सर्वप्रथम विद्रोह जुलाई, 1857 में दानापुर में हुआ। विद्रोहियों ने आगरा पर अधिकार कर कुँवरसिंह को बुलवा लिया तथा इस संघर्ष का नेतृत्व कुँवरसिंह को सौंप दिया। अगस्त, 1857 में कुँवरसिंह लखनऊ की ओर चल पड़ा। रास्ते में आजमगढ़ जिले में अँग्रेजी सेना से उसकी मुठभेड़ हो गयी। कुँवरसिंह ने अँग्रेजी सेना को खदेड़कर मार्च, 1858 में आजमगढ़ पर अधिकार कर लिया। यह उसकी सबसे बड़ी सफलता थी और इससे उसका हौंसला दूना हो गया। अब कुँवरसिंह बनारस की ओर बढ़ा। 6 अप्रैल, 1858 को लॉर्ड मार्क ने अपने तोपखाने सहित कुँवरसिंह से मुकाबला किया, किन्तु कुँवरसिंह के युद्ध कौशल के सामने मार्क को भी अपनी जान बचाकर भागना पड़ा। 22 अप्रैल, 1858 को कुँवरसिंह ने अपनी जागीर जगदीशपुर पर अधिकार कर लिया। किन्तु जगदीशपुर में पहुँचे 24 घण्टे भी नहीं हुए थे कि आरा से ली-ग्रेड एक सेना लेकर जगदीशपुर आ पहुँचा। कुँवरसिंह ने उसे पराजित कर दिया। तीन दिन बाद कुँवरसिंह की मृत्यु हो गई और उस समय जगदीशपुर पर आजादी का ध्वज लहरा रहा था। वह अँग्रेजों के विरुद्ध लगभग एक वर्ष तक संघर्ष करता रहा और अँग्रेजों को अनेक बार परास्त किया। उसके सफल विद्रोह से अँग्रेज इतने खीझ उठे कि उसकी मृत्यु के बाद मेजर आयर ने जगदीशपुर के महल और मन्दिरों को नष्ट करके अपने दिल की भड़ास निकाली।

अँग्रेजों द्वारा विप्लव का दमन

विप्लव की व्यापकता का अनुमान अँग्रेज अधिकारी नहीं लगा सके। अतः विद्रोह आरम्भ होने के बाद भी दो दिन तक अँग्रेजी सेना ने कोई कार्यवाही नहीं की। विप्लव का दमन सर्वप्रथम दिल्ली से आरम्भ हुआ। हेनरी बरनार्ड को सेना देकर दिल्ली की ओर भेजा गया। मुगल सम्राट बहादुरशाह की सेना ने आक्रमण कर अँग्रेजी सेना को पीछे हटा दिया। दिल्ली में भारतीय सैनिकों में कुशल युद्ध संचालकों का अभाव था। अतः वे अँग्रेजों के लिए पंजाब से आने वाली सहायता को रोकने में असमर्थ रहे। इसके विपरीत अँग्रेजी पलटनें पूर्ण सैनिक अनुशासन और अनुभवी सेनापति की कमान में थीं। अगस्त-सितम्बर में पंजाब से बड़ी-बड़ी तोपें दिल्ली पहुँच गईं। 14 सितम्बर, 1857 को कश्मीरी गेट को बारूद से उड़ा दिया गया तथा छः दिनों के भयंकर युद्ध के पश्चात् 20 सितम्बर तक दिल्ली के विभिन्न स्थानों पर अँग्रेजों ने अधिकार कर लिया। 21 सितम्बर को बहादुरशाह, उसकी बेगम जीनत महल और उसके पुत्र को बन्दी बनाकर उन्हें भारत से निर्वासित करके रंगून भेज दिया, जहाँ बेबसी में दिन काटते हुए 1862 में अन्तिम मुगल बादशाह की मृत्यु हो गयी। दिल्ली पर अधिकार करने के बाद अँग्रेजों ने निर्दोष व्यक्तियों का कत्लेआम कर खून की नदियाँ बहा दीं। यद्यपि विद्रोहियों ने भी अँग्रेजों की हत्याएँ की थीं किन्तु ये हत्याएँ विप्लव के काल में हुई थीं, लेकिन अँग्रेजों ने रक्तपात विद्रोह की समाप्ति के बाद किया। अँग्रेजों ने केवल विद्रोही सैनिकों का ही नहीं बल्कि साधारण नागरिकों का भी रक्तपात किया। दिल्ली की लूट और विनाश का अनुमान 'टाइम्स' पत्र के संवाददाता के इस कथन से लगाया जा सकता है, "शाहजहाँ के शहर में नादिरशाह के कत्लेआम के दिन के बाद ऐसा दृश्य नहीं देखा गया था।"

जुलाई, 1857 में अँग्रेजों ने कानपुर पर अधिकार कर लिया, किन्तु तांत्या टोपे ने संघर्ष जारी रखा। अँग्रेजों ने उसे पकड़ने में सारी शक्ति लगा दी। 1859 के अन्त तक वह अँग्रेजों से जूझता रहा, लेकिन अन्त में देशद्रोही मानसिंह ने अलवर के जंगलों में तांत्या टोपे को रात में सोते हुए पकड़वा दिया। कहा जाता है कि तांत्या टोपे को फाँसी दे दी गई, किन्तु अनेक इतिहासकारों का कहना है कि जिस व्यक्ति को फाँसी दी गई थी, वह तांत्या टोपे नहीं था। जून, 1858 तक अधिकांश क्षेत्रों पर अँग्रेजों ने पुनः अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया था। जनरल नील तथा जनरल हेवलाक ने, जिस रास्ते से भी वे गुजरे, निरीह पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का कत्लेआम करवाया। झाँसी और लखनऊ में भी साधारण नागरिकों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया गया। रस्सियों से लटकवा कर गोली से उड़ा देना सामान्य बात थी। जिन-जिन रास्तों से अँग्रेजी सेना गुजरती थी, वहाँ लाशों के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं देता था।

जनरल नील ने इलाहाबाद और बनारस पहुँच कर गाँव के गाँव जला दिये और किसानों की खड़ी फसलें बर्बाद कर दीं। जून, 1857 में बनारस और इलाहाबाद के क्षेत्रों में मार्शल-लॉ लागू कर दिया तथा बिना मुकदमा चलाये लोगों को मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। इतिहासकार जॉन ने लिखा है कि तीन महीनों तक आठ गाड़ियाँ सुबह से शाम तक शवों को चौराहों व बाजारों से हटाकर ले जाने में व्यस्त रहीं। किसी भी व्यक्ति को भागकर जाने नहीं दिया गया, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उन्हें विद्रोही दिखाई दे रहा था। संभवतः वे भारतीयों को बता देना चाहते थे कि ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह करना सरल नहीं है। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि ये अत्याचार उन अँग्रेज प्रशासकों द्वारा किये गए जो अपने आपको सभ्य, प्रगतिशील और शिक्षित कहते थे।

विप्लव का स्वरूप

1857 के विप्लव का स्वरूप क्या था, इस प्रश्न पर विद्वान् एकमत नहीं हैं। 1857-58 में कुछ अँग्रेजों की यह मान्यता थी कि विप्लव जनसाधारण द्वारा असन्तोष अभिव्यक्ति का एक उदाहरण था, किन्तु अधिकांश ब्रिटिश लेखकों ने इसे मात्र सैनिक विद्रोह की संज्ञा दी है। ईसाई मिशनरी तथा आध्यात्मिक विचारधारा के लोग इसे ईश्वर द्वारा भेजी गई विपत्ति समझते थे, क्योंकि कम्पनी प्रशासन ने भारतीय प्रजा को ईसाई नहीं बनाया। कुछ अँग्रेज लेखकों ने इसे हिन्दू-मुसलमानों का ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकने का षड्यन्त्र भी बताया है। इन विचारों के ठीक विपरीत 1909 में विनायक दामोदर सावरकर ने इसे प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम कहा। अतः इस विप्लव के स्वरूप के बारे में आज भी मतभेद विद्यमान हैं।

(1) सैनिक विद्रोह—सर जॉन सीले के मतानुसार 1857 की क्रान्ति पूर्णतः अराष्ट्रीय तथा स्वार्थी सैनिकों का विद्रोह था, जिसका न कोई देशी नेतृत्व था और न जनता का सहयोग। सर जॉन लॉरेन्स ने भी इसे केवल सैनिक विद्रोह बताया है और इसका प्रमुख कारण चर्बी वाले कारतूस बताया है। पी. ई. राबर्ट्स भी इसे विशुद्ध सैनिक विद्रोह मानते हैं। वी. ए. स्मिथ ने भी लिखा है कि, "यह एक शुद्ध रूप से सैनिक विद्रोह था, जो संयुक्त रूप से भारतीय सैनिकों की अनुशासनहीनता और अँग्रेज सैनिक अधिकारियों की मूर्खता का परिणाम था।" इस प्रकार लगभग सभी विदेशी इतिहासकार इसे एक सैनिक विद्रोह मानते हैं।

1957 में स्वतन्त्र भारत में 1857 की क्रान्ति की पहली शताब्दी मनाई गई और इस अवसर पर सरकार की ओर से तथा अन्य शोधकर्त्ताओं द्वारा इस विप्लव पर पुनः विचार किया गया। सुरेन्द्रनाथ सेन ने अपनी पुस्तक 'एटीन फिफ्टीसेवन' में लिखा, "आन्दोलन एक सैनिक विद्रोह की भाँति आरम्भ हुआ, किन्तु केवल सेना तक सीमित नहीं रहा। सेना ने भी पूरी तरह विद्रोह में भाग नहीं लिया।" उन्होंने यह भी लिखा है कि इस विप्लव को मात्र सैनिक विप्लव कहना गलत होगा। शशिभूषण चौधरी ने भी इसे सामान्य जनता का विद्रोह बताया। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने इसे सैनिक विप्लव बताया, लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि कुछ क्षेत्रों में जन-साधारण ने इसका समर्थन किया था। नाथूराम खड्गावत ने राजस्थान में हुए विप्लव पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए बताया कि यहाँ विप्लव में साधारण जनता ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में भाग लिया।

अतः यह तथ्य तो अब सर्वमान्य है कि 1857 का विप्लव यद्यपि सैनिक विप्लव के रूप में फूट पड़ा था, किन्तु यह पूर्ण रूप से सेना से ही सम्बन्धित नहीं रहा। किन्तु प्रश्न पैदा होता है कि यदि यह सैनिक विप्लव नहीं था, तो इससे अधिक क्या था ? इस पर भी विद्वानों में काफी मतभेद हैं। डॉ. ताराचन्द ने लिखा है कि अशक्त वर्गों का अपनी खोई हुई सत्ता को पुनः प्राप्त करने का अन्तिम प्रयास था। यह वर्ग ब्रिटिश नियन्त्रण से मुक्ति पाना चाहता था, क्योंकि अँग्रेजों की नीतियों से इस वर्ग के लोगों के हितों को हानि पहुँच रही थी। विप्लव की घटनाओं से पता चलता है कि अवध में इस विप्लव को जन-साधारण का पूर्ण समर्थन प्राप्त था और बिहार के भी कुछ हिस्सों में यही स्थिति थी। उस समय ग्रामीण जनता में भी यह भावना फैल गई कि सेना का लक्ष्य केवल अपनी स्थिति सुधारना ही नहीं था, बल्कि भारत को अँग्रेजों के चंगुल से मुक्त कराना था। ऐसी स्थति में इसे केवल सैनिक विप्लव का स्वरूप प्रदान करना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।

(2) मुस्लिम सत्ता की पुनः स्थापना का प्रयास—सर जेम्स आउटरम का मत है कि यह मुसलमानों के षड्यन्त्र का परिणाम था, जो हिन्दुओं की शक्ति के बल पर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते थे। स्मिथ ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि, "यह हिन्दू शिकायतों की आड़ में मुस्लिम षड्यन्त्र था।" इस दृष्टिकोण से यह विप्लव भारतीय मुसलमानों का षड्यन्त्र था, जो अँग्रेजी सत्ता को उखाड़ फेंक कर पुनः मुगल सम्राट बहादुरशाह के नेतृत्व में मुस्लिम सत्ता स्थापित करना चाहते थे। विद्रोह के काफी समय बाद बेगम जीनत महल ने भी देशी शासकों को पत्र लिखे, जिसमें मुगल सम्राट की अधीनता में अँग्रेजों को देश से बाहर निकालने की बात कही थी। अतः जेम्स आउटरम व स्मिथ के कथनों में कुछ सच्चाई अवश्य प्रतीत होती है।

किन्तु इन कथनों में पूर्ण सत्यता नहीं है। 1857 की क्रान्ति में देश के केवल 1/3 मुसलमानों ने भाग लिया था। इसके अतिरिक्त नाना साहब, झाँसी की रानी, कुँवरसिंह और अवध के ताल्लुकेदारों ने क्रान्ति का वास्तविक संचालन किया था। अतः इसे मुस्लिम षड्यन्त्र नहीं कहा जा सकता।

(3) सामन्तवादी प्रतिक्रिया—इतिहासकार मेलीसन ने इसे जागीरदारों द्वारा अपने शासकों के विरुद्ध सामन्ती प्रतिक्रिया कहा है। अँग्रेजों की देशी रियासतों के प्रति नीति के फलस्वरूप

अनेक सामन्त अपनी जागीरों से हाथ धो बैठे थे। इन लोगों में अँग्रेजों के प्रति घृणा व क्रोध फूट पड़ना स्वाभाविक था। दूसरी ओर अँग्रेजों ने देशी शासकों से मिलकर सामन्तों के विशेषाधिकारों पर प्रहार किया तथा उनकी प्रतिष्ठा को गिराया। ऐसे सामन्तों ने विप्लवकारियों का साथ देकर विप्लव को फैलाने में योगदान दिया। किन्तु देश के मुट्ठी भर सामन्तों द्वारा संघर्ष में भाग लेने से पूरे विप्लव को सामन्तवादी प्रतिक्रिया का रूप नहीं दिया जा सकता।

(4) प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम—सर्वप्रथम श्री सावरकर ने इस विप्लव को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए आयोजित युद्ध कहा। पट्टाभिसीतारमैया के अनुसार भी 1857 का महान् आन्दोलन भारत का पहला स्वतन्त्रता संग्राम था। अशोक मेहता ने भी अपनी पुस्तक 'द ग्रेट रिवोल्ट' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह एक राष्ट्रीय विद्रोह था। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने भी लिखा है कि यह केवल सैनिक विद्रोह नहीं था, यद्यपि इसका विस्फोट सैनिक विद्रोह के रूप में हुआ था, क्योंकि यह विद्रोह शीघ्र ही जन-विद्रोह के रूप में परिणित हो गया था। बैंजेमिन डिजरैली ने भी ब्रिटिश संसद में इसे एक राष्ट्रीय विद्रोह कहा था। सुरेन्द्र नाथ सेन लिखते हैं कि "जो युद्ध धर्म के नाम पर प्रारम्भ हुआ था, वह स्वातन्त्र्य युद्ध में जाकर समाप्त हुआ, क्योंकि इस बात में कोई सन्देह नहीं कि विद्रोही विदेशी शासन से मुक्ति चाहते थे और वे पुनः पुरातन शासन व्यवस्था स्थापित करने के इच्छुक थे, जिनका प्रतिनिधित्व दिल्ली का बादशाह करता था।"

जिन विद्वानों ने इसे स्वतन्त्रता संग्राम माना है, उन्होंने अपने मत के समर्थन में तर्क दिया है कि इस संग्राम में हिन्दू और मुसलमानों ने कन्धे से कन्धा मिलाकर समान रूप से भाग लिया और इन्हें जन-साधारण की सहानुभूति प्राप्त थी। अतः इसे केवल सैनिक विप्लव या सामन्तवादी प्रतिक्रिया अथवा मुस्लिम षड्यन्त्र नहीं कहा जा सकता। सैनिकों ने विद्रोह आरम्भ अवश्य किया था और अन्त तक वे ही लड़ते रहे, किन्तु उनके साथ लाखों अन्य लोगों ने भी भाग लिया। इस कथन को प्रमाणित करने के लिए कहा जाता है कि विप्लव काल में मरने वालों में जन-साधारण की संख्या अधिक थी। सामन्तों या सैनिकों ने तो केवल अपने स्वार्थों से प्रेरित होकर विद्रोह में भाग लिया था, जबकि जन-साधारण का तो एक ही स्वार्थ था—विदेशियों को भारत से खदेड़ना। अनेक स्थानों पर तो जनता ने ही सैनिकों को विद्रोह के लिए प्रोत्साहित किया तथा जिन लोगों ने या नरेशों ने अँग्रेजों का पक्ष लिया, उनका सामाजिक बहिष्कार किया गया। जब जनरल ब्लॉक को अपनी सेना के साथ एक नदी पार करनी थी तो किसी नाविक ने उसे नाव नहीं दी। कानपुर में अँग्रेजों के लिए मजदूरों ने काम करना बन्द कर दिया। विद्रोह आरम्भ होने के बाद जब उदयपुर का पोलीटिकल एजेण्ट कर्नल शॉवर्स महाराणा से मिलने उनके महल की ओर जा रहा था, तब आम जनता ने उसे कर्कश स्वरों से धिक्कारा। जोधपुर में कर्नल मेसन की हत्या करदी गई। कोटा के महाराजा को विद्रोहियों ने तब तक घेरे रखा, जब तक कि उसने विद्रोहियों को सहयोग देने का वादा नहीं कर लिया। कुछ नरेशों ने तो केवल जनमत के दवाव में आकर, अँग्रेजों के प्रति स्वामिभक्ति प्रदर्शित करते हुए भी, विद्रोहियों को शरण दी। विप्लव काल में जो साम्प्रदायिक एकता स्थापित हुई, वह भी विप्लव को राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करती है।

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि विप्लव का स्वरूप राष्ट्रीय था। किन्तु यह भी सत्य है कि आज के मापदण्ड के अनुसार उस समय तक राष्ट्रीयता की भावना का विकास नहीं हुआ था।

डॉ. आर. सी. मजूमदार का कहना है कि इस विप्लव को राष्ट्रीय युद्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि नागरिकों का विद्रोह अत्यन्त ही सीमित क्षेत्र में था। देश का अधिकांश भाग तो इसमें सम्मिलित ही नहीं हुआ था तथा अधिकांश देशी नरेशों ने विप्लव को दबाने में अँग्रेजों का साथ दिया था। सिक्ख और गोरखा सेना ने तो अँग्रेजों की भरपूर सहायता की थी। विप्लव काल में हमें ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं, जबकि भारतीयों ने अपना स्वयं का जीवन खतरे में डालकर अँग्रेज स्त्रियों, पुरुषों व बच्चों की रक्षा की थी। इन्हीं तथ्यों का हवाला देते हुए डॉ. मजूमदार लिखते हैं कि यह विद्रोह न तो राष्ट्रीय था और न स्वतन्त्रता का प्रथम संग्राम था।

विद्रोह के स्वरूप की समीक्षा—उपर्युक्त मत-मतान्तरों से स्पष्ट है कि विद्रोह के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न परस्पर विरोधी मत हैं। अतः किसी एक मत को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेना अनुचित होगा। विद्रोह का सही स्वरूप समझने के लिये हमें विश्व की अन्य क्रान्तियों के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें समझनी होंगी। किसी भी क्रान्ति का स्वरूप केवल उस क्रान्ति के आरम्भ करने वालों के लक्ष्यों से निर्धारित नहीं हो सकता बल्कि उस क्रान्ति ने अपनी छाप क्या छोड़ी, इससे क्रान्ति का स्वरूप निर्धारित किया जाता है। 1688 में इंगलैण्ड में हुई क्रान्ति को गौरवपूर्ण कहा जाता है। वास्तव में उसमें गौरवपूर्ण कुछ भी नहीं था, बल्कि क्रान्ति के बाद इंगलैण्ड में स्थापित प्रजातन्त्र अधिक महत्त्वपूर्ण था। 1789 में फ्रांसीसी क्रान्ति का आरम्भ सामन्ती वर्ग द्वारा राजा की निरंकुशता पर नियन्त्रण लगाने के फलस्वरूप हुआ था, किन्तु इतिहास में इस क्रान्ति को राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र का जनक मानते हैं। अतः 1857 के विप्लव का स्वरूप निर्धारित करते समय हमें यह देखना होगा कि इस संघर्ष में भाग लेने वालों का दृष्टिकोण क्या था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे अँग्रेजों को काफिर और फिरंगी कहते थे और उन्हें भारत से निकालना चाहते थे। सारे देश में अँग्रेज-विरोधी भावनाएँ थीं। सभी विद्रोहियों का तथा जनसाधारण का एक ही लक्ष्य था—अँग्रेजों को भारत से निकालना। इससे बढ़कर स्वतन्त्रता संघर्ष के लिए और लक्ष्य हो भी क्या सकता है। डॉ. मजूमदार एक स्थान पर स्वीकार करते हैं कि कुछ स्थानों पर जनता ने इसमें भाग लिया था। यदि कुछ स्थानों पर जनता ने भाग लिया था तो अन्य स्थानों पर जनता का नैतिक समर्थन उसे प्राप्त था। मध्य भारत का विद्रोही नेता तांत्या टोपे जहाँ भी गया, जनता ने उसका हार्दिक स्वागत किया तथा उसे रसद आदि प्रदान की। यह जनता का नैतिक समर्थन नहीं तो और क्या था ? इसके विपरीत अँग्रेज अधिकारी जहाँ भी गये, जनता ने उन्हें धिक्कारा व गालियाँ दीं। इससे स्पष्ट है कि अँग्रेजों के विरुद्ध सर्वव्यापी रोष था। इसके अतिरिक्त साहित्य समाज का दर्पण होता है। यदि हम तात्कालिक साहित्य पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जाता है कि उस समय का साहित्य भी अँग्रेज विरोधी भावना प्रदर्शित करता है। जिन लोगों ने विप्लव में भाग लिया अथवा विप्लवकारियों को शरण एवं सहायता दी, उनकी प्रशंसा में गीतों की रचना की गई। जिन्होंने अँग्रेजों का साथ दिया, उन्हें कायर कहा गया। जनता की इन भावनाओं को राष्ट्रीय न कहा जाय तो और क्या कहा जा सकता है ? जहाँ तक विद्रोह में सक्रिय भाग लेने का प्रश्न है, महात्मा गाँधी के स्वतन्त्रता आन्दोलन में क्या भारत की समस्त 40 करोड़ जनता ने भाग लिया था ? क्या उस समय भी कोई अँग्रेज-भक्त नहीं था ? ये सभी बातें तो हमारे स्वतन्त्रता आन्दोलन में भी मिलती हैं। किन्तु मूल बात तो यह है कि किसी संघर्ष में जन-भावना क्या

थी ? 1857 के संघर्ष में निस्संदेह जन-भावना अँग्रेजों के विरुद्ध थी। अतः डॉ. मजूमदार का यह कथन कि सामान्य जनता का दृष्टिकोण अँग्रेजों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था, सत्य प्रतीत नहीं होता। डॉ. ताराचन्द ने स्वीकार किया है कि विद्रोहियों को संगठित करने वाला एकमात्र तत्त्व विदेशी शासन को समाप्त करने की भावना थी। अतः इस बात में कोई सन्देह नहीं कि 1857 का विप्लव विदेशी शासन को समाप्त करने के लिये हुआ था।

कुछ इतिहासकारों ने इस विद्रोह को महत्त्वहीन सिद्ध करने के लिये मत प्रकट किया है कि यह विद्रोह बहुत कम क्षेत्र में फैला। किन्तु तथ्य यह है कि बंगाल, पंजाब व दक्षिणी भारत के कुछ हिस्सों को छोड़कर भारत के सभी प्रमुख स्थानों पर विद्रोह हुआ था और इतना व्यापक विद्रोह पहले कभी नहीं हुआ था। यदि सम्पूर्ण भारत में यह विद्रोह नहीं फैला तो इसका मुख्य कारण देश की भौगोलिक विशालता तथा यातायात की सुविधाओं का न होना था। किन्तु इससे विप्लव के राष्ट्रीय स्वरूप को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

विप्लव की असफलता के कारण

अँग्रेजों को भारत से बाहर निकालने के लिये 1857 में जो संघर्ष हुआ, उसकी असफलता तो पूर्व निश्चित थी। इसकी असफलता के लिये पाँच प्रमुख कारण बताये जाते हैं—(1) मेरठ का विद्रोह, (2) सिक्खों व गोरखों की गद्दारी, (3) दक्षिण भारत की उदासीनता, (4) नरेशों का असहयोग, (5) योग्य नेता का अभाव। पी.ई.राबर्ट्स ने दो और अन्य कारण बताये हैं—केन्द्रीभूत विद्रोह तथा केनिंग की उदारता। डॉडवेल ने इसमें एक कारण और जोड़ा है—संगठन का अभाव। समग्र रूप से विप्लव की असफलता के निम्नलिखित कारण थे—

(1) मेरठ का विद्रोह—विद्रोह की पूर्व योजनानुसार 31 मई, 1857 का दिन सम्पूर्ण भारत में एक साथ विद्रोह करने हेतु तय किया गया था, किन्तु दुर्भाग्य से 29 मार्च, 1857 को ही मंगल पाण्डे ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। यह समाचार तत्काल मेरठ पहुँचा और 10 मई, 1857 को मेरठ में भी विद्रोह हो गया। वास्तव में निश्चित समय से पूर्व विद्रोह करके विद्रोह की योजना का तार तोड़ दिया गया। इस प्रकार अपरिपक्व अवस्था में विद्रोह आरम्भ करने से असफलता तो निश्चित ही थी। जैसा कि मेलीसन ने लिखा है, "यदि पूर्व निश्चय के अनुसार 31 मई, 1857 को एक साथ सभी स्थानों पर स्वाधीनता का व्यापक और महान् संग्राम आरम्भ हुआ होता तो कम्पनी के अँग्रेज शासकों के लिये भारत को फिर से विजय कर सकना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं होता।"

(2) सिक्खों व गोरखों की गद्दारी—राजपूत, सिक्ख व गोरखे अपनी वीरता के लिये विश्वविख्यात थे। कुछ इने-गिने स्थानों को छोड़कर राजपूतों ने विद्रोह के प्रति उदासीनता प्रदर्शित की। सिक्खों ने भी ब्रिटिश साम्राज्य का समर्थन करना ही उचित समझा। सिक्ख बंगाल सेना से, जिसने पंजाब विलय के समय अँग्रेजों का साथ दिया था, प्रतिशोध लेना चाहते थे अथवा वे मुगल सम्राट का, जिसने गुरु तेग बहादुर को मरवाया था, समर्थन करने को तैयार नहीं थे। अतः वे अँग्रेजों के प्रति वफादार रहे। सिक्खों ने दिल्ली और लखनऊ जीतकर क्रान्ति की कमर ही तोड़ दी। यदि पटियाला, नाभा व झिन्द ने ठीक समय पर अँग्रेजों की मदद न की होती तो क्रान्ति

का परिणाम ही कुछ और होता। इसी प्रकार गोरखों ने अपने सेनापति जंग बहादुर की अधीनता में अवध पर आक्रमण कर अँग्रेजों की मदद की तथा भारतीयों से गद्दारी कर क्रान्ति को असफल बना दिया।

(3) योग्य नेताओं का अभाव—विद्रोह को ठीक तरह से संचालित करने वाला कोई योग्य नेता नहीं था। यद्यपि विद्रोहियों ने बूढ़े बहादुरशाह को अपना नेता मान लिया था, लेकिन बूढ़े बहादुरशाह से सफल सैन्य संचालन एवं नेतृत्व की आशा करना दुराशा मात्र थी। प्रमुख नेता नाना साहब चतुर अवश्य था, किन्तु वह सैन्य संचालन में निपुण नहीं था। तांत्या टोपे का चरित्र उच्च था, किन्तु उसमें सैनिक योग्यता नहीं थी। सर्वाधिक योग्य नेताओं में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई तथा जगदीशपुर का जमींदार कुँवरसिंह थे। रानी लक्ष्मीबाई वीर होते हुए भी अनुभवहीन थी तथा उसका कार्यक्षेत्र सीमित था। कुँवरसिंह भी वीर था, लेकिन पूर्णतया वृद्ध था तथा सभी उसे नेता मानने को तैयार न थे। फिर केवल व्यक्तिगत साहस ही युद्ध में सफलता दिलवाने के लिए पर्याप्त नहीं होता। नाना साहब, लक्ष्मीबाई, कुँवरसिंह और बहादुरशाह मिलकर कार्य नहीं कर सके। इस प्रकार विद्रोह का कोई ऐसा योग्य नेता नहीं था, जो योग्यतानुसार सबको संगठित कर संघर्ष को सफलता के द्वार तक पहुँचा सके।

(4) नरेशों का असहयोग—प्रायः सभी भारतीय नरेशों ने विद्रोह का दमन करने में अँग्रेजों का साथ दिया। सिन्धिया के मन्त्री दिनकरराव तथा निजाम के मन्त्री सालारजंग ने अपने-अपने राज्य में क्रान्ति को फैलने नहीं दिया। राजपूताना के नरेशों ने भी अँग्रेजों की भरपूर सहायता की। विद्रोह काल में स्वयं केनिंग ने कहा था कि, "यदि सिन्धिया भी विद्रोह में सम्मिलित हो जाय तो मुझे कल ही बिस्तर गोल करना पड़ जाय।" इसी प्रकार मैसूर का राजा, पंजाब में सिक्ख सरदार, मराठे और पूर्वी बंगाल आदि के शासक भी शान्त रहे। यदि वे सभी मिलकर अँग्रेजों के विरुद्ध व्यूह-रचना करते तो अँग्रेजों को अपनी जान के लाले पड़ जाते। इसके अलावा जिन नरेशों ने तथा सामन्तों ने क्रान्तिकारी रुख अपनाया वे भी अलग-अलग अपने क्षेत्रों में अँग्रेजों से लड़ते रहे। फलस्वरूप अँग्रेजों ने उन्हें एक-एक करके अलग-अलग परास्त कर दिया।

(5) दक्षिण भारत की उदासीनता—नर्मदा का दक्षिणी भाग पूर्णतः शान्त रहा तथा सिन्ध तथा राजपूताना में कोई विशेष संघर्ष नहीं हुआ। यदि उत्तर भारत के साथ-साथ दक्षिण भारत भी विद्रोह में कूद पड़ता तो इतने विशाल क्षेत्र में फैले विद्रोह को दबाना असम्भव हो जाता। विद्रोह के प्रमुख केन्द्र बिहार, अवध, रुहेलखण्ड, चम्बल तथा नर्मदा के मध्य की भूमि एवं दिल्ली ही थे। अतः अँग्रेजों ने दक्षिण से सेनाएँ बुला लीं तथा विद्रोही क्षेत्रों पर आक्रमण करके विजय प्राप्त करली। अँग्रेजों को बहुत ही सीमित क्षेत्र में विद्रोह का सामना करना पड़ा। इस प्रकार दक्षिण भारत की उदासीनता अँग्रेजों के लिये वरदान सिद्ध हुई। इसीलिए अँग्रेज, निजाम और सिन्धिया का नाम कृतज्ञता से लेते रहे।

(6) नागरिकों का असहयोग—वस्तुतः मोटे तौर पर यह विद्रोह कुछ नरेशों, जागीरदारों एवं सैनिकों तक ही सीमित था। भारत की अधिकांश जनता कृषक थी और यहाँ कोई भी विद्रोह इस वर्ग की उपेक्षा करके सफल नहीं हो सकता था। किन्तु विद्रोहियों ने किसानों का सहयोग

प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं किया। इस प्रकार यह क्रान्ति जन-क्रान्ति नहीं बन सकी। जो लोग संघर्ष कर रहे थे वे अँग्रेजों द्वारा सताए गए तथा अपने स्वार्थों से वशीभूत होकर लड़ रहे थे। विद्रोही मुख्यतः पुरानी व्यवस्था के समर्थक थे। अतः उनका असफल होना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त विप्लवकारियों ने लूट-पाट मचाकर जन-साधारण की सहानुभूति भी खो दी। जेलों को तोड़ने से पेशेवर चोर और लुटेरे कैदी बाहर निकल आये, जिससे चारों ओर अराजकता फैल गई। अतः अधिकांश जनता विद्रोहियों से नाराज हो गयी और जो लोग संघर्ष कर रहे थे, उनमें अँग्रेजों को परास्त करने की क्षमता नहीं थी।

इस क्रान्ति को शिक्षित लोगों का सहयोग प्राप्त नहीं हुआ। इस विप्लव के दो पहलू थे—एक ओर तो इससे स्पष्ट हो रहा था कि भारत के ऊपरी शान्त वातावरण के तले जन-विद्रोह की कितनी विराट शक्तियाँ जन्म ले रही हैं। लेकिन दूसरी ओर इस विद्रोह पर दकियानूसी और सामन्तवादी शक्तियों की छाप थी। विद्रोह के इस प्रतिक्रियावादी स्वरूप के कारण इसे शिक्षित-वर्ग का समर्थन नहीं मिल सका। इसके विपरीत अँग्रेज राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिये लड़ रहे थे। अतः विद्रोह का असफल होना स्वाभाविक था।

(7) **केन्द्रीय संगठन का अभाव**—यद्यपि विद्रोह आरम्भ होने से पूर्व कुछ संगठन एवं योजना अवश्य थी, किन्तु विद्रोह आरम्भ हो जाने के बाद योजना का क्रमबद्ध रूप दिखाई नहीं देता। विद्रोही सेनाओं के दिल्ली पहुँचने तक तो किसी पूर्व निश्चित योजना का स्वरूप दिखाई देता है, किन्तु बाद में वह समाप्त-सा दिखाई देता है। सम्पूर्ण विद्रोह मध्य उत्तर भारत के आस-पास के क्षेत्रों तक सीमित था, किन्तु कोई केन्द्रीय संगठन भी होना चाहिये था, जो अँग्रेजों की गतिविधियों को ध्यान में रखकर सभी क्षेत्रों के विद्रोहों में समन्वय स्थापित कर सके। जैसे झाँसी और बुन्देलखण्ड में विद्रोह उस समय आरम्भ हुआ, जब दिल्ली और कानपुर में अँग्रेजों को सफलता प्राप्त हो चुकी थी। ऐसे विद्रोह को असफल करना अँग्रेज जैसे कूटनीतिज्ञों के लिये असम्भव नहीं रहा।

(8) **लॉर्ड केनिंग की उदारता**—तात्कालिक गवर्नर-जनरल लॉर्ड केनिंग की उदारता भी विद्रोहियों को शान्त करने में सफल हुई। यद्यपि कुछ अँग्रेजों ने केनिंग की उदार नीति की बड़ी आलोचना की थी तथा क्रान्ति का दमन करने में अपनी पाशविक प्रवृत्ति का परिचय देते रहे, किन्तु केनिंग ने स्पष्ट घोषणा की कि जो हथियार डाल देगा, उसके साथ न्याय होगा तथा हिंसा करने वालों को छोड़कर सभी को माफ कर दिया जायेगा। उसने यह भी कहा कि बिना जाँच के किसी को दण्ड नहीं दिया जायेगा। इस घोषणा का व्यापक प्रभाव पड़ा, मानो जलते हुए अँगारों पर पानी डाल दिया हो। केनिंग की इस उदार नीति से धीरे-धीरे व्यवस्था स्थापित होने लगी। पी. ई. राबर्ट्स ने लिखा है कि "उसकी नम्रता न केवल नैतिक रूप से विस्मयकारी थी, वरन् राजनैतिक रूप से औचित्यपूर्ण थी।"

(9) **ठोस लक्ष्य का अभाव**—विप्लवकारियों में जहाँ नेतृत्व का अभाव था, वहाँ ठोस लक्ष्य का भी अभाव था। भारतीय सैनिकों ने चरबी वाले कारतूसों से तथा अपनी असुविधाओं के कारण विद्रोह किया था और वह भी पूर्व निश्चित समय से पहले।

मुसलमान जहाँ मुगल सम्राट के प्राचीन गौरव को पुनर्जीवित करना चाहते थे, वहाँ हिन्दू नाना साहब और रानी लक्ष्मीबाई के नेतृत्व में हिन्दू सर्वोच्चता की पुनः स्थापना चाहते थे। फलस्वरूप हिन्दू-मुसलमानों में साम्य नहीं था। सम्पूर्ण विद्रोह काल में अँग्रेज विरोधी भावना के अतिरिक्त कोई सामान्य उद्देश्य या आदर्श नहीं था। अँग्रेजी शासन को समाप्त करने का अर्थ उन्होंने कुछ अँग्रेज अधिकारियों को समाप्त कर देना समझा। वे यह नहीं समझ सके कि कुछ अँग्रेजों को समाप्त कर देने से ही अँग्रेजी सत्ता समाप्त नहीं हो सकती। फलस्वरूप कुछ अँग्रेजों की हत्या करने में उन्होंने समस्त अँग्रेजों को भारत से खदेड़ने का लक्ष्य ही भुला दिया। यह तथ्य ही उनकी असफलता के लिए उत्तरदायी था।

(10) अँग्रेजों की अनुकूल परिस्थितियाँ—यदि 1857 का विप्लव कुछ समय पूर्व हुआ होता तो अँग्रेजों को भारत से भागना पड़ता। किन्तु जिस समय विद्रोह आरम्भ हुआ, तब तक परिस्थितियाँ अँग्रेजों के अनुकूल हो गयी थीं। क्रीमिया का युद्ध समाप्त हो चुका था। भारत के देशी नरेश, सामन्त तथा बुद्धिजीवी अँग्रेजों का समर्थन कर रहे थे। डलहौजी के सुधारों के परिणामस्वरूप सेना के पास रसद आदि भेजने हेतु यातायात का अच्छा प्रवन्ध हो चुका था और सैनिक-समाचार भेजने हेतु संचार-व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी। इन परिस्थितियों में अँग्रेजों के लिए विद्रोह का दमन करना सम्भव हो गया।

(11) सीमित साधन—विद्रोहियों के पास साधन अँग्रेजों की अपेक्षा अत्यन्त ही सीमित थे। विद्रोहियों के पास त्याग और बलिदान की भावना वाले सैनिक थे, किन्तु उनका रणकौशल अँग्रेजों जैसा नहीं था। अँग्रेजों के पास यूरोपीय ढँग से प्रशिक्षित सैनिक थे, जो रणनीति एवं कूटनीति में दक्ष थे, जवकि विद्रोही केवल मरना जानते थे, लड़ना नहीं। उन्हें तो आर्थिक असुविधाओं का भी सामना करना पड़ा, क्योंकि क्रान्तिकारियों को प्रारम्भ में तो कुछ सेठों ने सहायता दी तथा सरकारी खजाना लूटकर उन्होंने अपना काम चलाया, किन्तु आगे चलकर विद्रोहियों को धन, रसद और हथियारों की कमी का सामना करना पड़ा इसके विपरीत अँग्रेजों की सहायता के लिये अधिकांश भारतीय नरेश और पंजाब, बंगाल, मद्रास, बम्बई आदि का राजस्व उपलब्ध था। इंगलैण्ड से पर्याप्त सैन्य सामग्री भी उपलब्ध हो रही थी। इस प्रकार सीमित साधनों के कारण क्रान्ति अधिक समय तक नहीं चलायी जा सकी।

विप्लव के परिणाम

यद्यपि 1857 का विप्लव असफल रहा, किन्तु इसके परिणाम अभूतपूर्व, व्यापक और स्थायी सिद्ध हुए। इतिहासकार ग्रिफिन ने लिखा है, "भारत में सन् 1857 की क्रान्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण घटना कभी नहीं घटी।" रशब्रुक विलियम के अनुसार, "एक रक्त की नदी ने, कम से कम उत्तरी भारत में दो जातियों को अलग-अलग कर दिया तथा उस पर पुल बाँधना एक कठिन कार्य ही था।" डॉ. मजूमदार ने भी लिखा है कि, "सन् 1857 का महान् विस्फोट भारतीय शासन के स्वरूप और देश के भावी विकास में मौलिक परिवर्तन लाया।" अतः इन कथनों के आधार पर क्रान्ति के परिणामों पर विचार करना समीचीन होगा।

(1) कम्पनी शासन का अन्त—1600 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की गयी थी तथा अब तक हर बार 20 वर्ष बाद चार्टर एक्ट्स द्वारा उसकी अवधि में वृद्धि होती रही। विद्रोह का महत्त्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि 2 अगस्त,1858 को ब्रिटिश संसद ने एक अधिनियम पारित कर भारत में कम्पनी शासन का अन्त कर दिया तथा ब्रिटिश भारत का प्रशासन ब्रिटिश ताज ने ग्रहण कर लिया। पिट्स इण्डिया एक्ट द्वारा जो बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल स्थापित किया गया था,उसे तथा बोर्ड ऑफ़ डायरेक्टर्स समाप्त कर दिये गये। इनके स्थान पर भारत मन्त्री या भारत सचिव और उसकी सहायता के लिये 15 सदस्यों की एक इण्डिया कौंसिल बनायी गयी। कम्पनी द्वारा भारत में किये गये सभी समझौतों को मान्यता प्रदान की गई। इस अधिनियम के द्वारा गवर्नर-जनरल को ब्रिटिश भारत में गवर्नर-जनरल के नाम से तथा देशी राज्यों से सम्बन्ध स्थापित करते समय उसे वायसराय के नाम से पुकारने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार विद्रोह के फलस्वरूप जो परिवर्तन किये गये,उससे नये युग का सूत्रपात हुआ।

(2) महारानी का घोषणा-पत्र—विद्रोह के कारण जन-साधारण में एक अनिश्चितता उत्पन्न हो गयी थी। अतः विप्लव के बाद जनता के प्रति निश्चित नीति एवं सिद्धान्तों की घोषणा के लिये इलाहाबाद में बड़ी धूमधाम से एक दरबार का आयोजन किया गया,जिसमें लॉर्ड केनिंग ने महारानी के घोषणा-पत्र को पढ़कर सुनाया (1 नवम्बर, 1858)। इस घोषणा-पत्र की प्रमुख बातें निम्नलिखित थीं—

(1) भारत में जितना अँग्रेजों का राज्य है, उसके विस्तार की अब कोई इच्छा नहीं है। भविष्य में राज्य विस्तार नहीं किया जायेगा।

(2) देशी नरेशों व नवाबों के साथ जो समझौते और प्रबन्ध हुए हैं,उनका ब्रिटिश सरकार सदैव आदर करेगी तथा उनके अधिकारों की सुरक्षा करेगी।

(3) धार्मिक सहिष्णुता एवं स्वतन्त्रता की नीति का पालन किया जायेगा।

(4) भारतीयों के साथ समानता का व्यवहार किया जायेगा तथा उनके कल्याण के लिये कार्य किये जायेंगे।

(5) प्राचीन रीति-रिवाजों, सम्पत्ति आदि का संरक्षण किया जायेगा।

(6) सभी भारतीयों को निष्पक्ष रूप से कानून का संरक्षण प्राप्त होगा।

(7) बिना किसी पक्षपात के शिक्षा, सच्चरित्रता और योग्यतानुसार सरकारी नौकरियाँ प्रदान की जायेंगी।

(8) उन सभी विद्रोहियों को क्षमादान मिलेगा, जिन्होंने किसी अँग्रेज की हत्या नहीं की है।

महारानी की इस घोषणा को भारतीय स्वतन्त्रता का मेग्नाकार्टा कहा गया, यद्यपि इस घोषणा की बहुत-सी बातों को कभी लागू नहीं किया गया। किन्तु यह घोषणा 1919 तक भारतीय शासन की आधारशिला बनी रही। इस घोषणा ने भारत के देशी नरेशों के सन्देह को दूर कर दिया तथा भारतीय नरेशों को सनदें देकर उनके गोद लेने के अधिकार की पुनः स्थापना की गई।

सर जॉन स्टीफन ने लिखा है, "विक्टोरिया का घोषणा-पत्र केवल दरबार में सुनाये जाने के लिये था। यह कोई सन्धि नहीं थी, जिसके अनुसार कार्य करने के लिये अँग्रेजों पर किसी प्रकार का उत्तरदायित्व हो।" परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस उद्देश्य से यह घोषण-पत्र प्रकाशित किया गया था, उसकी पूर्ति अवश्य हुई। भारत की भोली-भाली जनता पर इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा।

(3) **सेना का पुनर्गठन**—1857 ई. के विप्लव का विस्फोट सैनिक विप्लव के रूप में हुआ था, अतः सेना का पुनर्गठन आवश्यक था। अँग्रेजों को अब भारतीय सेना पर बिल्कुल विश्वास नहीं रहा, अतः अँग्रेज सैनिकों की इतनी विशाल सेना रखने का निर्णय लिया गया कि भविष्य में होने वाले विद्रोहों का दमन कर सके। तोपखाना पूर्णतया यूरोपियन सैनिकों के हाथ में रखा गया। भारतीय सैनिकों की संख्या आधी कर दी गई तथा भारतीय सैनिकों के पुनर्गठन में जातीयता एवं साम्प्रदायिकता आदि के तत्त्वों को ध्यान में रखा गया। भारतीयों को गोरखे, पठान, डोगरे, राजपूत, सिक्ख, मराठे आदि में बाँट दिया गया। इन सैनिकों को अपने स्थानीय क्षेत्रों से हटाकर दूर-दूर क्षेत्रों में भेज दिया गया, ताकि स्थानीय लोगों के सहयोग से वे पुनः विद्रोह न कर सकें। भारतीय सैनिकों को घटिया किस्म के हथियार दिये गये। सैनिकों की भर्ती के लिए एक रॉयल कमीशन की नियुक्ति की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि अँग्रेज सैनिकों की संख्या 1859 में 45,322 से बढ़कर 1862 में 91,897 हो गयी। इसके अतिरिक्त भारतीय ख़र्चे पर इंगलैण्ड में 16,427 सैनिक रखे गये, जो संकट के समय काम आ सकें।

(4) **साम्प्रदायिकता एवं घृणा की उत्पत्ति**—1857 ई. के संघर्ष में हिन्दू-मुसलमानों ने संयुक्त रूप से भाग लिया था, किन्तु मुसलमानों ने हिन्दुओं से अधिक उत्साह दिखाया। अतः अब अँग्रेजों ने हिन्दुओं का पक्ष लेना आरम्भ कर दिया, जिससे हिन्दू और मुसलमानों में दरार उत्पन्न हो गयी। अँग्रेजों ने "फूट डालो और राज्य करो" की नीति का पालन जारी रखा, जिससे दोनों जातियों में वैमनस्य पैदा हो गया। यह वैमनस्यता भावी राष्ट्रीय आन्दोलन में बाधक सिद्ध हुई, जिसका अन्तिम परिणाम देश का विभाजन हुआ। आगे चलकर तो अँग्रेजों ने हिन्दुओं को अनुसूचित जातियों से भी पृथक् कर दिया। अँग्रेजों की इस नीति के कारण भारतीय-भारतीय के बीच खाई उत्पन्न हो गई।

विप्लव के बाद अँग्रेजों व भारतीयों के सम्बन्ध भी कटु हो गये और इस कटुता को अन्त तक नहीं मिटाया जा सका। दोनों के बीच कभी सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित न हो सके। फलस्वरूप शासक और शासितों के बीच खाई बनी रही। इस घृणा और अविश्वास का देश की राजनीति और शासन पर कुप्रभाव पड़ा।

(5) **प्रशासन के निम्न पदों पर भारतीय और उसके कुप्रभाव**—महारानी की घोषणा में यह आश्वासन दिया गया था कि बिना किसी पक्षपात के शिक्षा, सच्चरित्रता एवं योग्यतानुसार सरकारी नौकरियों में भारतीयों को स्थान दिया जायेगा। किन्तु इसका पालन कभी नहीं किया गया। कोई भी भारतीय सैनिक रॉयल कमीशन के सामने जाने के लिए उपयुक्त नहीं समझा जाता था और यदि वह वायसराय का कमीशन प्राप्त भी कर लेता तो उसे एक नये अँग्रेज़ रंगरूट

के मुकाबले अधिक योग्य नहीं समझा जाता था। अब भारतीयों को प्रशासन में क्लर्कों तथा सहायकों के निम्न पदों पर लिया जाने लगा। ये सरकारी कर्मचारी ब्रिटिश अधिकारियों तथा जनता के बीच एक प्रकार से बिचौलिये थे और ये चापलूस थे। अँग्रेज़ यही चाहते थे कि ये लोग उनकी चापलूसी करें ताकि वे उनके आज्ञाकारी बने रहें। इसका परिणाम यह हुआ कि ऐसे सरकारी कर्मचारियों की सेवा वास्तविक सैन्य शक्ति से अधिक प्रबल सिद्ध हुई। इस वर्ग ने अँग्रेजों के प्रति पूर्ण वफादारी रखी, जो देश के लिये बड़ी विश्वासघाती सिद्ध हुई।

(6) आर्थिक प्रभाव—आर्थिक दृष्टि से भी विप्लव के कुप्रभाव दृष्टिगोचर हुए। अँग्रेजों ने अब केवल ब्रिटिश पूँजीपतियों को भारत में पूँजी लगाने हेतु प्रोत्साहित किया तथा उन्हें सुरक्षा प्रदान की। अब चाय, कपास, जूट, कॉफी-तम्बाकू आदि के व्यापार को बहुत बढ़ावा दिया गया, जो अँग्रेजों के नियन्त्रण में थे। भारतीय उद्योगों को संरक्षण नहीं दिया गया। नई ईस्ट इण्डिया कॉटन कम्पनी स्थापित की गई जो भारत से रुई ले जाकर इंगलैण्ड से कपड़ा बनवाकर भारत भेजती थी। यातायात के साधनों का विकास भी अँग्रेजों के लिये लाभप्रद रहा। इसके अतिरिक्त कम्पनी भारत सरकार पर 3 करोड़ 60 लाख पौण्ड का कर्ज छोड़ गई थी, जिसकी पूर्ति भारत सरकार अब भारतीयों का शोषण करके ही कर रही थी। अँग्रेजों के इस आर्थिक शोषण से देश निरन्तर गरीब होता गया।

(7) भारतीयों को लाभ—यद्यपि विद्रोह पूरी तरह से असफल रहा तथा इसके अनेक दुष्परिणाम भी निकले, किन्तु इस विद्रोह के कारण भारतीयों को अनेक लाभ भी हुए। विद्रोह के पश्चात् सर्वप्रथम ब्रिटिश सरकार ने देश की आन्तरिक दशा ठीक करने का प्रयत्न किया तथा लोगों की भौतिक उन्नति के प्रयास आरम्भ हुए। विप्लव के बाद से ही भारत के संवैधानिक विकास की प्रक्रिया आरम्भ हुई, जिसका सूत्रपात 1858 के अधिनियम से हुआ था। इससे देश में प्रजातान्त्रिक शासन का बीजारोपण हुआ। धीरे-धीरे भारतीयों को शासन में भाग लेने का अवसर मिलने लगा। शासन में भाग लेने से अब उनमें एक नयी चेतना आने लगी। यद्यपि 1857 में विदेशी शासन को समाप्त करने के प्रयास का दमन कर दिया गया था, किन्तु इससे भारतीयों के मन में राष्ट्रीय भावना अत्यधिक तीव्र हो उठी, और इसी राष्ट्रीय भावना ने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनों का संचालन किया तथा 1947 में विदेशी सत्ता की इतिश्री करदी।

1857 का विप्लव भारतीय इतिहास की प्रेरणादायक घटना है, जिसने प्रथम प्रहार में ही ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को हिला दिया। भविष्य में भी यह विप्लव भारतीयों को प्रेरणा देता रहा और हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनों के काल में 1857 के शहीदों को बड़े गौरव से याद किया गया। वस्तुतः अनेक इतिहासकार विद्रोह के द्वारा मध्य युग का अन्त तथा आधुनिक युग का प्रारम्भ मानते हैं।

अध्याय-10

भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना

प्रत्येक देश में राष्ट्रीय राजनीतिक चेतना उन अनेक शक्तियों के पारस्परिक एवं सामूहिक प्रभाव का परिणाम होती है, जो दीर्घकाल से उस देश में कार्यरत रहती हैं। भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन की अग्रणी भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस थी, जिसका जन्म कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद को सबसे पहला धक्का 1857 ई. के स्वाधीनता संग्राम से लगा। 1857 ई. का भीषण संग्राम ब्रिटिश-सत्ता को सीधी चुनौती थी, जिसने ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ों को हिलाकर रख दिया। भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करके अँग्रेज सत्ता के नशे में चूर होकर चैन की बंशी बजा रहे थे। अँग्रेज इस बात से सर्वथा अनभिज्ञ थे कि भारतीयों में भी आत्म-सम्मान का भाव हो सकता है। स्वाभिमानी भारतीयों को ज्यों-ज्यों अँग्रेजों की प्रतिक्रियावादी नीतियों का ज्ञान होता गया, त्यों-त्यों उनके मन में विद्रोह की भावना उत्पन्न होना लगी। अँग्रेजों के विरुद्ध घृणा और असन्तोष जोर पकड़ते गये। 1857 ई. में इस असन्तोष और घृणा का विस्फोट हो गया। 1857 ई. की सशस्त्र क्रान्ति ने देश में ऐसी प्रवृत्तियों का बीजारोपण कर दिया, जो देश के अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने वाली थी। यद्यपि अँग्रेजों ने इस क्रान्ति को अपनी सैन्य-शक्ति से कुचल दिया, लेकिन इस क्रान्ति से देश भर में एक मानसिक और सामाजिक क्रान्ति के अंकुर उद्भूत हो गये, जो सैकड़ों बाधाओं के बावजूद निरन्तर पनपते हुए वृक्ष के रूप में परिणित हो गये। आधुनिक भारत के इतिहास में सन् 1857 ई. से लेकर सन् 1885 ई. तक के काल को राष्ट्रीय जागृति का ऊषा काल कह सकते हैं।

भारत में राष्ट्रीय जागृति का उद्भव किसी एक निश्चित कारण या किसी निश्चित नीति का परिणाम नहीं था, बल्कि उन असीमित आर्थिक तथा राजनैतिक असंन्तोष की अभिव्यक्ति थी, जो ब्रिटिश शासन की प्रतिक्रियावादी नीतियों के कारण भारतीयों में उत्पन्न हो रहा था। वस्तुतः राष्ट्रीय जागृति के उद्भव एवं विकास में आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक तत्त्वों का विशेष योगदान रहा है। विदेशी शासन और विदेशी सभ्यता के प्रगतिशील तत्त्वों ने देश में नई राष्ट्रीय चेतना और स्वाधीनता की भावना को जन्म दिया। अँग्रेजी शिक्षा के कारण अँग्रेजी साहित्य और विचारधारा का प्रचार व प्रसार बढ़ा तथा भारतीय समाज में एक नये शिक्षित मध्यम वर्ग का विकास हुआ। इस मध्यम वर्ग में कुछ लोग ऐसे थे, जो सरकारी नौकरी प्राप्त करने के इच्छुक थे और कुछ अपना स्वतन्त्र व्यवसाय जैसे—वकालात, पत्रकारिता आदि। इस मध्यम वर्ग में दो प्रकार की विचारधारा के लोग थे—एक वर्ग तो ब्रिटिश सरकार का गुणगान

करता रहता था तथा इंगलैण्ड में प्रचलित प्रजातन्त्र का उदाहरण देकर भारत में भी उसी प्रकार की सुविधाएँ चाहता था। वह अँग्रेजों की प्रशासकीय नीतियों से असन्तुष्ट होते हुए भी ब्रिटिश शासन के किसी अन्य विकल्प की कल्पना नहीं कर सकता था। वह अत्यन्त ही विनम्र भाव से अँग्रेजों को अपनी नीतियों में परिवर्तन करने का अनुरोध करता रहता था। दूसरा वर्ग अँग्रेजी सरकार की कृपा का आकांक्षी नहीं था तथा अपने व्यक्तिगत अधिकारों को प्राप्त करने के लिये सरकारी कृपा को आवश्यक नहीं मानता था। वह प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं आदर्शों में आस्था रखता था।

अँग्रेजों ने रंग एवं जाति का भेद किये बिना भारतीयों को सरकारी सेवा में लेने का बार-बार आश्वासन दिया था, किन्तु व्यावहारिक रूप से ऐसे प्रबन्ध किये कि भारतीयों के लिए सरकारी सेवाओं के द्वार बिल्कुल बन्द थे। अतः 1870 ई. के बाद शिक्षित वर्ग में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई और उन्होंने प्रशासकीय सुविधाओं तथा प्रशासन से सम्बद्ध होने हेतु माँग की। यह माँग किसी एक प्रान्त, विशिष्ट क्षेत्र, जाति अथवा गुट विशेष तक सीमित नहीं थी, बल्कि यह माँग अखिल भारतीय थी, जो भारतीयों में राष्ट्रीयता के उदय के परिणामस्वरूप उठी थी। अँग्रेज विद्वानों का यह दावा नितान्त गलत है कि भारतीय राष्ट्रवाद अँग्रेजों की देन है। ऐसी धारणा वस्तुतः साम्राज्यवादी समर्थकों की चाल थी। इस तथ्य को यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं कि अँग्रेजों ने भारत पर इसलिए शासन कायम किया था कि भारत को खूब लूटा-खसोटा जा सके, इसलिए नहीं कि भारत में राष्ट्रीयता की नींव डालकर खुद अपने पैर में कुल्हाड़ी मारी जाए। भारतीय राष्ट्रीयता के जन्मदाता होने का दावा केवल अन्तर्विरोधपूर्ण ही नहीं वरन् यह अँग्रेजों की ढकोसले बाजी का जीता-जागता उदाहरण है। भारत पर अँग्रेज अथवा अन्य किसी भी विदेशी शक्ति का शासन होता या नहीं, राष्ट्रीयता का जन्म निश्चय ही हुआ होता। क्योंकि 19वीं शताब्दी में राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र के विकास की प्रवृत्तियाँ कई और राष्ट्रों में भी फैल रही थीं, अतः यह निश्चय ही अकेले ब्रिटेन की देन नहीं है। यह कहना भी अनुचित होगा कि राष्ट्रीयता का विकास तब तक नहीं हो सकता जब तक विदेशी आधिपत्य कायम न हो जाय। इंगलैण्ड में राजा व संसद के बीच हुए समझौतों की तुलना में अमरीकी स्वतन्त्रता की घोषणा और विशेषकर फ्रांसीसी क्रान्ति के मूल मन्त्र (स्वाधीनता, समानता और भ्रातृत्व) ने 19वीं शताब्दी के लोकतान्त्रिक आन्दोलनों को कहीं ज्यादा प्रेरणा दी थी। 20वीं शताब्दी में 1905 ई. और 1917 ई. की रूसी क्रान्ति ने भी एशिया के पराधीन लोगों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बना दिया था। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि ब्रिटिश शासकों ने काफी हद तक उन सम्भावनाओं को बढ़ावा दिया था, जिनकी सहायता से राष्ट्रीयता की भावना जोर पकड़ती गई थी। किसी भी देश में राष्ट्रीयता का उद्भव एवं विकास आकस्मिक नहीं होता। उसके तत्त्व शनैः शनैः एकत्रित होते रहते हैं और फिर उन तत्त्वों से निर्मित ज्वालामुखी दिखाई देने लगता है, जैसाकि हम फ्रांस की राज्य क्रान्ति में देखते हैं। ठीक वैसे ही राष्ट्रवाद के प्रेरक तत्त्व भारत में निर्मित होते रहे। 19वीं शताब्दी में भारत में जो राष्ट्रीयता का विकास हुआ उसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(1) भारत का राजनीतिक एकीकरण—1707 के बाद भारत की राजनीतिक एकता का लोप हो चुका था। किन्तु अँग्रेजों ने सम्पूर्ण देश को एक दृढ़ केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत लाकर

भारत में राजनीतिक एकता स्थापित की। इससे भारतीयों में राष्ट्रीय भावना का अंकुरण हुआ और शनैः-शनैः समान विचारों वाले व्यक्तियों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना हुई। ब्रिटिश शासनकाल में जिस राजनीतिक एकता का प्रादुर्भाव हुआ वह उस राजनीतिक एकता से सर्वथा भिन्न थी, जो प्राचीन तथा मध्यकालीन शासकों द्वारा स्थापित हुई थी। इस एकता को महत्त्वपूर्ण बनाने का श्रेय पाश्चात्य शिक्षा, यातयात का विकास और संचार-साधनों के विकास को है। कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि, "कम्पनी के शासनकाल के कारण ही उस नींव की स्थापना हुई, जिसके कारण भारत में वैधानिक विकास और राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, अन्यथा वह भारत में एक कल्पना ही बनी रहती।" ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत विभिन्न भाषा-भाषी, धार्मिक तथा सामाजिक दल, एक दल में सम्मिलित हुए और उनमें राजनीतिक एकता की भावना जागृत हुई, जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त हुआ।

(2) धर्म-सुधार आन्दोलन—19वीं शताब्दी में भारतीय राष्ट्रवाद की प्रबल धारा को उस युग के सुधार आन्दोलनों ने अपूर्व बल प्रदान किया। भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ ही ईसाई धर्म का प्रचार भी बड़ी तेजी से होने लगा। पढ़े-लिखे भारतीयों में ईसाई धर्म के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो गया और वे ईसाई धर्म स्वीकार करने लगे। इस प्रक्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में भारत में विभिन्न धर्म-सुधार आन्दोलन हुए। राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना करके ईसाई धर्म की ओर आकर्षित होने की भावना को कम किया। राजा राममोहन राय ने जो कार्य किया वह केवल बंगाल में अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित रहा, किन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके आर्य समाज ने यह आन्दोलन जनसाधारण तक पहुँचा दिया। स्वामीजी एक महान् देशभक्त थे, जिन्होंने कहा था, "विदेशी राज्य चाहे वह कितना अच्छा क्यों न हो, स्वदेशी राज्य की तुलना में कभी अच्छा नहीं हो सकता।" स्वामीजी प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने कहा था 'भारत भारतीयों के लिए है।' दक्षिण भारत में थियोसॉफिकल सोसाइटी ने लोगों को जागृत किया। भारत में इस आन्दोलन को व्यापक बनाने का श्रेय श्रीमती एनीबीसेण्ट को है, जिसने राष्ट्रीय चेतना की प्रबल धारा को आगे बढ़ाया। स्वामी विवेकानन्द ने समस्त विश्व में हिन्दू धर्म और आध्यात्मवाद की श्रेष्ठता को स्थापित किया। उन्होंने कहा कि वेदान्त और आध्यात्मिकता के बल से समस्त विश्व पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त की जा सकती है, किन्तु जब तक भारत दासता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है, वह इस महत्त्वपूर्ण भूमिका को नहीं निभा सकता। महाराष्ट्र में सरदार गोपाल हरि देशमुख तथा ज्योतिबा फुले जैसे सुधारकों ने हिन्दू समाज के दलित वर्गों के उत्थान के लिये ब्रिटिश साम्राज्य को आवश्यक बताया, किन्तु विष्णुकृष्ण चिफलंकर तथा वासुदेव फड़के जैसे सुधारकों ने सामाजिक बुराइयों की अपेक्षा विदेशी नियन्त्रण को अधिक आपत्तिजनक बताया। इस प्रकार इन धर्म-सुधार आन्दोलनों ने भारतीयों में आत्म-विश्वास तथा अपनी प्राचीन गौरवमय परम्पराओं के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की, जिससे देश में राष्ट्रीय चेतना का संचार हुआ।

(3) पाश्चात्य शिक्षा का विकास—भारत में राष्ट्रीय चेतना के विकास में पाश्चात्य शिक्षा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। लॉर्ड मेकाले ने जिस शिक्षा-पद्धति को प्रचलित किया, उसके पीछे उद्देश्य तो यह था कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भारतीयों के हृदय में ब्रिटिश शासन के

प्रति अनुरक्ति का भाव उत्पन्न हो जायेगा, किन्तु इससे भारतीयों को लाभ अधिक हुआ। अँग्रेजी साहित्य स्वतन्त्रता की भावनाओं से परिपूर्ण था, अतः उसने भारतीयों के लिए स्वतन्त्र यूरोपीय विचारों के द्वार खोल दिये। पाश्चात्य शिक्षा ने भारतीय राष्ट्रीय चेतना को दो तरीकों से बल पहुँचाया। प्रथम तो इसके द्वारा हमें एक सम्पर्क भाषा प्राप्त हुई, जिसके परिणामस्वरूप विविध प्रदेशों के निवासियों में पारस्परिक विचार-विनिमय के लिए अवसर प्राप्त हो सका। इसके पूर्व ऐसी कोई भाषा नहीं थी जिसके माध्यम से सम्पर्क स्थापित हो सके। दूसरा, यह कि मिल, मिल्टन, बैन्थम, रूसो, वाल्टेयर आदि यूरोपीय लेखकों के स्वतन्त्र विचारों से भारतीय परिचित हुए। भारतीयों में स्वतन्त्रता और समानता की भावना उत्पन्न हुई। इस शिक्षा के प्रसार से विभिन्न देशों की राजनीतिक घटनाओं का ज्ञान सरलता से उपलब्ध होते लगा। इटली में हुए विदेशी सत्ता के विरुद्ध संघर्षों का वर्णन तथा स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व के सिद्धान्तों को लेकर हुई फ्रांस की क्रान्तियों का ज्ञान भारतीयों के लिए प्रेरणादायक सिद्ध होने से भारतीय नेताओं का दृष्टिकोण विकसित हुआ। जो भारतीय इंगलैण्ड गये, वे वहाँ के स्वतन्त्र वातावरण से अत्यधिक प्रभावित हुए और उनमें वहाँ की प्रजातान्त्रिक संस्थाओं के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया। जब वे पुनः भारत आये और दोनों की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन किया तो उनके मन में तीव्र असन्तोष उत्पन्न हुआ। इस असन्तोष ने राष्ट्रीय भावनाओं को बल प्रदान किया। इस प्रकार पाश्चात्य शिक्षा हमारे लिए वरदान सिद्ध हुई।

(4) प्रजातीय विभेद की नीति—विप्लव के बाद अँग्रेजों की प्रजातीय विभेद की नीति अधिक उग्र हो गई थी। यद्यपि 1858 में महारानी की घोषणा में भारतीयों को यह आश्वासन दिया गया था कि उन्हें, उनकी योग्यता के अनुसार सरकारी नौकरियों में स्थान दिया जायेगा, किन्तु ब्रिटिश प्रशासकों ने इस घोषणा पर कभी अमल नहीं किया। वस्तुतः विप्लव के बाद तो अँग्रेजों की भारतीयों के साथ पिछली सहानुभूति, घृणा की भावना में बदल गई थी। प्रशासकीय क्षेत्र में भारतीयों को उच्च पदों से वंचित करने, उन्हें अयोग्य घोषित करने तथा उनके प्रति रंगभेद की नीति पर अब अधिक बल दिया जाने लगा। 1869 में श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने इण्डियन सिविल सर्विसेज की परीक्षा उत्तीर्ण की, किन्तु किसी तकनीकी भूल के कारण उन्हें नौकरी से हटा दिया गया। इस घटना के सम्बन्ध में स्वयं श्री बनर्जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, "मेरे मामले ने भारतीयों के हृदय में भारी क्षोभ उत्पन्न कर दिया, उनमें यह विचार फैल गया कि यदि मैं भारतीय न होता तो मुझे इतनी कठिनाइयाँ उठानी नहीं पड़तीं।"

किसी भी भारतीय जज को अँग्रेजों के मुकदमे सुनने का अधिकार नहीं था। एक ही अपराध के लिये भारतीयों व अँग्रेजों के लिए दण्ड-विधान में भी अन्तर था। अँग्रेजों के निवास स्थान भारतीयों के निवास-स्थानों से बिलकुल अलग थे। वे भारतीयों के साथ बड़ा ही अशिष्ट व्यवहार करते थे। गैरट ने लिखा है कि अँग्रेज भारत में यह भावना लेकर आने लगे कि एक यूरोपियन का जीवन कितने ही भारतीयों के जीवन के बराबर है। भारतीय केवल भय को ही समझते हैं, अतः यदि उन पर शासन करना है तो केवल बल द्वारा ही हो सकता है। अँग्रेजों का कार्य भारत में आकर अपने त्याग के फलों का स्वाद लेना है। इसी भावना को लेकर अँग्रेजों ने भारतीयों से अपने जूतों के फीते खुलवाये, उन्हें अकारण ही मौत के मुँह में धकेला और अँग्रेज

सिपाहियों द्वारा भारतीय नारियों का सतीत्व नष्ट करवाया। ऐसे वातावरण में अँग्रेजों के विरुद्ध ज्वालामुखी का विस्फोट होना स्वाभाविक ही था। गैरट ने लिखा है कि, "भारतीय राष्ट्रीयता के उदय का प्रधान कारण प्रजातीय विभेद था।"

(5) **राजनीतिक संस्थाओं का योगदान**—भारतीय राष्ट्रीय चेतना में अँग्रेजों द्वारा गठित संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। वंगाल में अँग्रेज व्यापारियों,उत्पादकों द्वारा गठित संस्थाओं का सरकार पर दवाव वना रहता था। 1838 में बंगाल के जमींदारों ने एक 'भूमिधारकों की समिति (Landholders' Society) वनाई, जिसने कर-मुक्त भूमि के अपहरण का विरोध किया और कुछ अंशों तक उसे सफलता भी प्राप्त हुई। तत्पश्चात् अनेक संस्थाएँ वनीं, जो राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त करने हेतु सरकार को ज्ञापन देती रहती थी। 1851 में कलकत्ता में ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन, 1852 में वम्वई एसोसिएशन तथा मद्रास नेटिव एसोसिएशन की स्थापना हुई। इन संस्थाओं ने अपने-अपने प्रान्तों की राजनीतिक गतिविधियों में भाग लिया। इनमें ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन अधिक सक्रिय रही। इस संस्था ने अधिक नम्र भाषा में अपने सुझाव सरकार के समक्ष पेश किये। किन्तु 1870 तक यह संस्था प्रायः निष्क्रिय हो गई। 1876 में सुरेन्द्रनाथ वनर्जी व आनन्दमोहन वोस ने 'द इण्डिया एसोसिएशन' नामक संस्था की स्थापना की। इसी प्रकार 1861 में अवध में तथा 1866 में उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना हुई।

1870 में बम्वई प्रान्त के पूना नगर में एक सार्वजनिक सभा का गठन किया गया, जिसका प्रत्येक सदस्य कम से कम 50 व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करता था। पश्चिमी भारत में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने में इस संस्था ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। 1876 में महारानी विक्टोरिया द्वारा 'केसरे हिन्द' की उपाधि ग्रहण करने के अवसर पर महारानी को वधाई सन्देश भेजा, जिसमें भारतीयों को प्रशासन से सम्वद्ध करने तथा उन्हें उच्च पदों पर नियुक्त करने की माँग की। 1876 में लिटन द्वारा आयोजित दिल्ली दरवार के अवसर पर इसने भारतीय एकता के लिए प्रयत्न करने का सुझाव दिया। इंगलैण्ड में भी भारतीय समस्याओं से परिचित कराने तथा राजनीतिक प्रचार करने हेतु लन्दन में ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन की स्थापना हुई।

(6) **समाचार-पत्रों तथा साहित्य का विकास**—समाचार-पत्रों एवं साहित्य के विकास ने भी राष्ट्रीय भावनाओं को प्रोत्साहित किया। भारत में सवसे पहला समाचार-पत्र 1780 में 'बंगाल गजट' प्रकाशित हुआ, जो साप्ताहिक था। इसके वाद 'कलकत्ता गजट' और 'द इण्डियन वर्ड' आदि आरम्भ हुए। किन्तु विप्लव के पूर्व समाचार-पत्रों की संख्या कम थी और उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं था। विप्लव के वाद समाचार-पत्रों की संख्या, प्रसार और प्रभाव में अत्यधिक वृद्धि हुई। इन समाचार-पत्रों के माध्यम से राजनीतिक अधिकारों की वात जनता तक फैलायी जा सकी। इण्डियन मिरर, वम्वई समाचार, अमृत वाजार पत्रिका, द हिन्दू, दि केसरी आदि समाचार-पत्रों का प्रभाव वहुत ही महत्त्वपूर्ण था। 1877 में देशी भाषाओं में छपने वाले समाचार-पत्रों की संख्या लगभग 169 थी। इसमें सरकारी नीति की आलोचना वड़ी तीव्र होती थी। अतः सरकार का दृष्टिकोण इन समाचार-पत्रों के प्रति कठोर होता गया, क्योंकि वास्तव में ये समाचार-पत्र सामान्य जनता को राजनीतिक शिक्षा देने का काम कर रहे थे। इन समाचार-पत्रों में अँग्रेजी

प्रशासन की अन्यायपूर्ण नीतियाँ, प्रजातीय विभेद, आर्थिक शोषण और प्रशासकीय सेवाओं से भारतीयों को वंचित रखने सम्बन्धी विषयों पर पर्याप्त चर्चा होती थी। अँग्रेजी साम्राज्य पर अपना मत व्यक्त करते हुए देशी भाषा के समाचार-पत्रों ने लिखा था कि अँग्रेजी साम्राज्य भारतीय जनता को नैतिक, आर्थिक और मानसिक पतन की ओर ले जा रहा है। लॉर्ड लिटन की प्रतिक्रियावादी नीति का तो इन समाचार-पत्रों ने खुलकर विरोध किया। ब्रिटिश प्रशासक आलोचना सुनने के अभ्यस्त नहीं थे, अतः लिटन ने 1878 में वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट पास कर उन समाचार-पत्रों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस एक्ट का विरोध वैधानिक ढंग से किया गया। 1882 में लॉर्ड रिपन ने इस एक्ट को रद्द कर दिया। 1878 के बाद भारत में राष्ट्रीय चेतना फैलाने में इन समाचार-पत्रों का योगदान उल्लेखनीय रहा।

19वीं शताब्दी में क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य के विकास ने भी राष्ट्रीय चेतना का संचार किया। रवीन्द्रनाथ टैगोर की बंगला भाषी कविताएँ आज भी हृदय को झंकृत कर देती हैं। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के 'आनन्द मठ' को देशप्रेम का बाइबिल कहा जाय तो कुछ अनुपयुक्त न होगा। बंगला साहित्य के अतिरिक्त मराठी साहित्य में, शिवाजी का मुगलों के विरुद्ध संघर्ष विदेशी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष बताया गया। हिन्दी साहित्य में प्राचीन संस्कृत साहित्य की महानता, वेदों में वर्णित उपलब्धियों की व्याख्या तथा हमारी प्राचीन गौरवपूर्ण सभ्यता के वर्णन ने भारतीयों में देशप्रेम की भावना जागृत की।

(7) आर्थिक शोषण की नीति—भारतीय राष्ट्रीय चेतना का एक प्रमुख कारण आर्थिक था, जो दो रूपों में दृष्टिगत होता है—सरकार द्वारा आर्थिक शोषण और यातायात के साधनों का विकास। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आर्थिक नीति ने भारतीय उद्योगों को पहले ही नष्ट कर दिया था। विप्लव के बाद तो केवल ब्रिटिश हितों को ध्यान में रखकर ही आर्थिक नीति अपनाई जाती रही। उद्योग-धन्धों के साथ-साथ अँग्रेजों ने भारतीय दस्तकारी भी नष्ट कर दी। इंगलैण्ड से यन्त्र-निर्मित वस्त्र भारत आने लगे, जिससे सहस्रों व्यक्तियों को अपनी जीविका से वंचित होना पड़ा। उद्योगों एवं दस्तकारी के विनाश का स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि इनमें कार्यरत व्यक्तियों को कृषि की ओर आकर्षित होना पड़ा, किन्तु वहाँ वे अपनी जीविका नहीं चला पाये, क्योंकि जमींदारी-प्रथा, भू-लगान सम्बन्धी नियमों तथा कृषि की परम्परागत दुर्बलताओं के कारण कृषि का विनाश आरम्भ हो गया था। सरकार ने कृषि की उन्नति की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया और फिर दुर्भिक्ष एवं बाढ़ों ने तो किसानों की स्थिति को अत्यन्त ही शोचनीय बना दिया।

अँग्रेजों की मुक्त व्यापार नीति के कारण भारत में आयात होने वाले सामान पर कर नहीं लगता था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय उद्योगों द्वारा तैयार माल गोदामों में इकट्ठा होने लगा, क्योंकि वह विदेशी माल की अपेक्षा महँगा बिकता था। भारत से कच्चा माल इंगलैण्ड भेज दिया जाता था, जिससे भारतीय उद्योगों को कच्चा माल भी मिलना बन्द हो गया। भारतीय शिक्षित वर्ग को बेकारी का सामना करना पड़ा, जिससे उनके हृदय में अँग्रेजों के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी। डी. ई. वाचा ने लिखा है, "भारतीयों की आर्थिक स्थिति ब्रिटिश शासनकाल में अधिक बिगड़ी थी। चार करोड़ भारतीयों को दिन में केवल एक बार खाना खाकर सन्तुष्ट रहना पड़ता

था। इसका एकमात्र कारण यह था कि अँग्रेज भूखे किसानों से कर प्राप्त करते थे तथा इंगलैण्ड अपना माल भेजकर लाभ कमाते थे।"

अँग्रेजों की आर्थिक नीति ने जहाँ भारतीयों का शोषण किया, वहाँ उनके द्वारा विकसित यातायात के साधनों ने भारतीयों में एकता उत्पन्न कर दी। यातायात के साधनों में वृद्धि होने के कारण व्यक्तियों के बीच दूरी समाप्त हो गयी और उनमें पारस्परिक विचार-विनिमय सम्भव हो गया, जिससे सभी प्रान्तों के विचारवान व्यक्ति एक होकर राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करने लगे।

(8) लॉर्ड लिटन की नीति—लॉर्ड लिटन की प्रतिक्रियावादी नीति के कारण राष्ट्रीय असन्तोष की ज्वाला धधक उठी और इस ज्वाला ने राष्ट्रीय चेतना की मशाल जला दी। लॉर्ड लिटन ने भारतीय सिविल सर्विस में प्रवेश की आयु 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष कर दी, जिससे भारतीयों का प्रवेश बिल्कुल असम्भव हो गया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इसका घोर विरोध किया तथा राष्ट्र को सरकार के विरुद्ध संगठित किया। लिटन द्वारा पारित शस्त्र-अधिनियम ने तो भारतीयों को अत्यधिक उत्तेजित कर दिया, क्योंकि इस अधिनियम द्वारा भारतीय जनता को निहत्था कर दिया गया और वे अब आत्मरक्षा करने में भी असमर्थ हो गए। लिटन द्वारा पारित वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट की केवल भारतीयों ने ही नहीं बल्कि इंगलैण्ड की संसद में भी भारी आलोचना हुई। इस एक्ट ने भारतीयों को अपने राजनीतिक अस्तित्व के बारे में सजग कर दिया। लिटन द्वारा उस समय दिल्ली दरबार का आयोजन करना, जिस समय भारत के विभिन्न क्षेत्र अकाल की चपेट में आये हुए थे और चलते-फिरते प्राणी मौत के मुँह में जा रहे थे, भारतीयों के असन्तोष की आग में घी का काम किया। इस दिल्ली दरबार के सम्बन्ध में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा था, "यदि एक स्वेच्छाचारी वायसराय की प्रशंसा के लिए देश के राजा तथा अमीर उमरावों को एकत्रित होने के लिए बाध्य किया जा सकता है तो देशवासियों को न्यायसंगत ढँग से स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिए क्यों नहीं संगठित किया जा सकता।" लिटन की अग्रगामी अफगान नीति के कारण द्वितीय अफ़गान युद्ध हुआ जिसमें अपार जन-धन की हानि हुई, किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं हुआ। भारतीय जनता को युद्ध-व्यय का भार उठाना पड़ा, जिससे असन्तोष अधिक तीव्र हो उठा। लिटन की प्रतिक्रियावादी नीति का प्रबल विरोध किया गया तथा भारतीयों ने संगठन की आवश्यकता अनुभव की।

(9) इल्बर्ट बिल विवाद—प्रचलित न्याय प्रणाली के अनुसार प्रेसीडेन्सी नगरों को छोड़कर अन्य कहीं भी अँग्रेजों के विरुद्ध अभियोगों की सुनवाई केवल अँग्रेज न्यायाधीश ही कर सकते थे। भारतीय न्यायाधीश किसी अँग्रेज के विरुद्ध फौजदारी मुकदमा नहीं सुन सकता था। लॉर्ड रिपन के समय तक अनेक भारतीय जज सेशन-जज बन चुके थे किन्तु वे अँग्रेजों के विरुद्ध अभियोगों की सुनवाई नहीं कर सकते थे। न्याय की दृष्टि से भारतीयों एवं यूरोपियनों को समान स्तर पर लाने के उद्देश्य से लॉर्ड रिपन ने अपनी कौंसिल के विधि सदस्य सी. पी. इल्बर्ट को इस सम्बन्ध में एक विधेयक प्रस्तुत करने को कहा। अतः इल्बर्ट ने एक विधेयक प्रस्तुत किया, जिसमें भारत में रहने वाले यूरोपियनों के विरुद्ध अभियोगों की सुनवाई करने का अधिकार भारतीय मजिस्ट्रेटों को देने की व्यवस्था थी। इस विधेयक से समस्त यूरोपियनों में खलबली मच गई।

अँग्रेजों ने इसे 'काला कानून' कहा और भारत के अधिकांश गैर-सरकारी अँग्रेज इसके विरोध में सम्मिलित हो गए। उन्होंने इस विधेयक का संगठित विरोध करने के लिए एक 'एंग्लो-इण्डियन डिफेन्स एसोसिएशन' का गठन कर लिया। कलकत्ता में रिपन के विरुद्ध आन्दोलन भड़क उठा। अन्त में विवश होकर रिपन को विधेयक में संशोधन करना पड़ा, जिससे उसकी मूल भावना ही समाप्त हो गयी। रिपन को संगठित विरोध के सामने झुकना पड़ा। यूरोपियनों के संगठित विरोध ने भारतीयों की आँखें खोल दीं। भारतीयों ने अनुभव किया कि यदि राजनीतिक प्रगति वांछनीय है तो वह केवल एक राष्ट्रीय संस्था द्वारा ही सम्भव है। इसी भावना ने काँग्रेस की स्थापना का मार्ग प्रशस्त कर दिया। हेनरी कॉटन ने लिखा है कि इस बिल के विरोध में किए गए यूरोपियनों के आन्दोलन ने भारतीय राष्ट्रीय विचारधारा को जितनी एकता प्रदान की, उतनी तो बिल पारित होकर भी प्रदान नहीं कर सकता था।

निष्कर्षतः भारत में राजनीतिक चेतना की प्रेरणा सर्वप्रथम धर्म-सुधार आन्दोलनों ने दी। इन्हीं आन्दोलनों ने भारतीयों के हृदय में स्वाभिमान एवं देशभक्ति का बीजारोपण किया। अँग्रेजों की प्रतिक्रियावादी नीतियों ने उस बीज को प्रस्फुटित होने में सहयोग दिया। धीरे-धीरे भारतीयों के हृदय में राजनीतिक चेतना की भावना का विकास होने लगा। इन्हीं भावनाओं ने 1885 में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना में सहयोग दिया।

भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना

1885 ई. तक भारतीयों में राजनीतिक चेतना का उद्भव हो चुका था और अब राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने हेतु एक राष्ट्रीय संस्था की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे। 1876 में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 'इण्डियन एसोसिएशन' नामक संस्था की स्थापना की। 28 से 30 दिसम्बर, 1883 में कलकत्ता के इल्बर्ट हॉल में इस संस्था का राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ, जिसमें उन सभी प्रश्नों पर विचार किया गया जो आगे चलकर राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि बन गए। 1884 में कलकत्ता में एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी हुई, जहाँ एकत्र हुए भारतीय नेताओं ने एक अखिल राष्ट्रीय आन्दोलन ठोस आधार पर संगठित करने पर बल दिया। तत्पश्चात् विभिन्न प्रान्तों में क्षेत्रीय संस्थाओं का निर्माण हुआ। 1884 में बंगाल में नेशनल लीग की स्थापना हुई। इसी वर्ष मद्रास में मद्रास महाजन सभा की स्थापना हुई। जनवरी, 1885 में बम्बई प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन की स्थापना की गई। इन समस्त संस्थाओं का कार्यक्षेत्र प्रान्तों तक सीमित था, किन्तु इन संस्थाओं ने काँग्रेस की स्थापना की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। दिसम्बर, 1884 में अड्यार नगर में थियोसोफिकल सोसाइटी के वार्षिक अधिवेशन के उपरान्त 17 व्यक्ति, जो देश के विभिन्न भागों से आये थे, दीवान बहादुर रघुनाथ राव के निवास स्थान पर एकत्र हुए। इस बैठक में एक देशव्यापी संगठन स्थापित करने का निश्चय किया गया, जिसके फलस्वरूप 'इण्डियन नेशनल यूनियन' नामक एक संस्था की स्थापना हुई।

भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना का श्रेय एलन ओक्टोवियन ह्यूम को दिया जाता है। ह्यूम एक अँग्रेज सरकारी अधिकारी था। 1879 में नीति सम्बन्धी मतभेद होने के कारण लॉर्ड लिटन ने उसकी पदावनति कर दी थी। इस घटना ने उसे राजनीतिक आन्दोलनकारी बना दिया।

मार्च, 1883 में उसने कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों के नाम एक खुला पत्र लिखा, जिसमें उन्हें संगठित होकर भारतीय कल्याण के लिए कार्य करने की प्रेरणा दी। ह्यूम एक अनुभवी एवं दूरदर्शी व्यक्ति था। वह जानता था कि भारत में अँग्रेजों के विरुद्ध घोर असन्तोष है और इस असन्तोष का भयंकर विस्फोट हो सकता है। अतः वह भारतीयों की क्रान्तिकारी भावनाओं को वैधानिक प्रवाह में परिणित करने के लिए अखिल भारतीय संगठन की स्थापना चाहता था। 1884 के अन्त में ह्यूम बम्बई गया तथा महाराष्ट्र एवं मद्रास के नेताओं से विचार-विमर्श करने के बाद मार्च, 1885 में एक राष्ट्रीय संगठन की योजना तैयार की। मार्च व अप्रैल में उसने बंगाल व उत्तरी भारत का दौरा किया। मई, 1885 में उसने प्रस्तावित संगठन के बारे में लॉर्ड डफरिन से चर्चा की तथा बम्बई के गवर्नर को अध्यक्ष बनने का प्रस्ताव किया। लॉर्ड डफरिन ने राष्ट्रीय संगठन के बारे में अपनी सहमति प्रकट करते हुए कहा कि, "भारत में ऐसी कोई संस्था नहीं है, जो इंगलैण्ड के विरोधी दल की भाँति यहाँ भी कार्य कर सके और सरकार को यह बता सके कि शासन में क्या त्रुटियाँ हैं और उनको कैसे दूर किया जा सकता है।" बम्बई के गवर्नर को अध्यक्ष बनाने के सम्बन्ध में डफरिन ने कहा, "गवर्नर को ऐसी संस्थाओं की अध्यक्षता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि गवर्नर की उपस्थिति में लोग अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट नहीं कर सकेंगे।" इस विचार-विमर्श के बाद मई, 1885 में पहला परिपत्र जारी किया गया, जिसमें दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में देश के सभी भागों के प्रतिनिधियों की एक सभा पूना में बुलाई गई। इस परिपत्र में इस सभा के दो उद्देश्य बताये गये—(1) राष्ट्र की प्रगति के कार्य में लगे लोगों का एक-दूसरे से परिचय, (2) इस वर्ष के लिए कौन-कौन से कार्य किए जायें, उनकी चर्चा और निर्णय लेना।

पूना में प्लेग फैल जाने के कारण काँग्रेस का प्रथम अधिवेशन 28 दिसम्बर, 1885 को उमेशचन्द्र बनर्जी की अध्यक्षता में बम्बई के गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कॉलेज के भवन में हुआ। इसमें देश के विभिन्न भागों से आये 72 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस प्रकार भारत की महान् राजनीतिक संस्था काँग्रेस का जन्म हुआ। कूपलैण्ड ने लिखा है, "काँग्रेस का जन्म भारत में ब्रिटिश शासन के शत्रु के रूप में नहीं, अपितु मित्र के रूप में हुआ था। यह तो बाद के कटु अनुभवों का फल था कि राष्ट्रीय शक्तियों ने अहिंसात्मक आन्दोलन का संगठन करके ब्रिटिश शासकों को भारत छोड़ने के लिए विवश कर दिया।"

काँग्रेस का प्रथम अधिवेशन—काँग्रेस का प्रथम अधिवेशन बम्बई में 28 दिसम्बर, 1885 को आरम्भ हुआ। इस अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण देते हुए व्योमेश चन्द्र बनर्जी ने काँग्रेस के निम्नलिखित उद्देश्य बताये—

(i) सारे भारतवर्ष में देश हित में काम करने वाले लोगों का आपस में सम्पर्क बढ़ाना और उनमें मित्रता की भावना उत्पन्न करना।

(ii) व्यक्तिगत मित्रता और मेल-जोल के द्वारा देशप्रेमियों के बीच में जाति-पाँति के भेदभाव, वंश, धर्म और प्रान्तीयता की संकीर्ण भावनाओं का नाश करना। काँग्रेस राष्ट्रीय एकता की जन-भावनाओं का विकास करना चाहती है, जिसकी उत्पत्ति सर्वप्रिय लॉर्ड रिपन के काल में हुई थी।

(iii) पूरे वाद-विवाद के बाद भारत में शिक्षित लोगों की सामाजिक समस्याओं के बारे में सम्मतियाँ प्राप्त कर उनका प्रामाणिक संग्रह तैयार करना।

(iv) उन तरीकों पर विचार कर निर्णय करना, जिनके अनुसार आने वाले बारह महीनों में राजनीतिज्ञ देश हित के लिए कार्य करेंगे।

काँग्रेस के इस प्रथम अधिवेशन में नौ प्रस्ताव स्वीकृत हुए, जिनके द्वारा विभिन्न सुधारों की माँग की गई। प्रथम प्रस्ताव में भारतीय प्रशासन की जाँच के लिए एक रॉयल कमीशन नियुक्त करने तथा दूसरे प्रस्ताव में केन्द्रीय व प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के नामजद सदस्यों के स्थान पर निर्वाचित भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ाने की माँग की गई। अन्य प्रस्तावों में सैनिक खर्च में कमी, भारत और इंगलैण्ड में प्रतियोगिता परीक्षाओं को साथ-साथ कराने और आयात करों में वृद्धि करने आदि के बारे में माँग की गई। इन प्रस्तावों में ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं था, जिस पर पहले से ही विचार-विमर्श न हो रहा हो। विभिन्न प्रान्तीय राजनीतिक संस्थाओं में इन विषयों पर कई बार प्रस्ताव पास किये गये थे। अधिवेशन की समाप्ति पर ह्यूम ने 'महारानी विक्टोरिया की जय' के नारे लगवाये।

इस प्रकार काँग्रेस के जीवन का प्रारम्भ इंगलैण्ड के प्रति भक्ति-भाव रखते हुए आरम्भ हुआ। किन्तु इस घटना ने भारतीय राजनीतिक चेतना को एक नवीन और निश्चित मोड़ प्रदान कर दिया। यह राजनीतिक चेतना ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति भक्ति-भाव रखने तथा याचिकाओं तथा स्मरण-पत्रों द्वारा कुछ राजनीतिक अधिकार माँगने की ओर मोड़ दी गई। निःसन्देह काँग्रेस की स्थापना एक प्रबल और बढ़ती हुई शक्ति के निष्कासन के लिए एक रक्षा-नली (Safety-valve) के रूप में हुई थी। काँग्रेस के नेता भारत पर अँग्रेजी-नियन्त्रण को सौभाग्य की बात समझते थे। इसलिए ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा प्रथम आवश्यकता मानते थे और भारतीयों के लिए राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति गौण मानते थे।

काँग्रेस का स्वरूप—काँग्रेस के स्वरूप के सम्बन्ध में आरम्भ से ही मतभेद रहा। कुछ लोग इसे 'बंगाली काँग्रेस' कहते हैं, यद्यपि इसके निर्माण एवं विकास में मद्रासी, मराठी और पारसियों का भी उतना ही योगदान रहा है जितना बंगालियों का। कुछ लोगों ने इसे 'हिन्दू काँग्रेस' की संज्ञा दी तो कुछ लोगों ने इसे पढ़े-लिखे भारतीयों की संस्था कहा। किन्तु काँग्रेस के संगठन एवं उद्देश्यों का अध्ययन करने से यह प्रमाणित हो जाता है कि काँग्रेस का जन्म एक राष्ट्रीय संस्था के रूप में हुआ था। इसके प्रथम अधिवेशन में सम्मिलित होने वाले प्रतिनिधि विभिन्न धर्मों, वर्गों एवं सम्प्रदायों के थे। आरम्भ में यद्यपि मुस्लिम प्रतिनिधियों की संख्या कम थी, अर्थात् प्रथम अधिवेशन में केवल दो थे, किन्तु धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ती गई और छठे अधिवेशन तक मुस्लिम प्रतिनिधियों की संख्या एक सौ सात तक पहुँच गई। तत्कालीन मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खाँ काँग्रेस से दूर थे और उन्होंने राजभक्तों की एक संस्था भी बनाई थी। इन मुट्ठी-भर लोगों को छोड़कर काँग्रेस पूर्णतया एक लोक-प्रतिनिधि संस्था थी और इसके प्रतिनिधि राष्ट्रीय विचारों का प्रतिनिधित्व करते थे।

काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में, जो प्रायः दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में होते थे, प्रत्येक जाति के शिक्षित प्रतिनिधि स्नेह और विश्वास की भावना प्रकट करते थे। 1907 ई. तक लगभग

सभी भारतीय किसी न किसी रूप में काँग्रेस से जुड़ गये थे। ह्यूम, विलियम वेडर वर्न, सर हेनरी कॉटन, एण्ड्रिल यूल और नॉर्टन जैसे उदारवादी आंग्ल-भारतीय भी काँग्रेस में शामिल हो गये थे। इसके प्रतिवर्ष होने वाले अधिवेशनों की अध्यक्षता भारतीय, ईसाई, पारसी, मुसलमान तथा अँग्रेजों द्वारा की गई थी। समय के साथ-साथ काँग्रेस का राष्ट्रीय स्वरूप भी निखरता गया और शीघ्र ही इसने एक स्थायी राष्ट्रीय संस्था का रूप ग्रहण कर लिया। इस संस्था ने सम्पूर्ण देश की राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति के लिए संवैधानिक उपायों से प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया। दिन-प्रतिदिन इसकी लोकप्रियता में वृद्धि होने लगी। इसकी स्थापना के बाद भारतीयों में एक अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न हो गयी। काँग्रेस के दूसरे अधिवेशन में श्री मदनमोहन मालवीय ने कहा था कि, "इस महान् संस्था के द्वारा भारतीय जनता को अब एक जिह्वा मिल गई है, जिसके द्वारा हम इंगलैण्ड से कहते हैं कि वह हमारे राजनैतिक अधिकारों को स्वीकार करे।" काँग्रेस के प्रारम्भिक कार्यों का ही परिणाम था कि देश में प्रबल जनमत का विकास हुआ। सर हेनरी कॉटन ने लिखा है कि, "यद्यपि काँग्रेस के सदस्य किसी भी स्थिति में सरकारी नीति में परिवर्तन लाने में सफल नहीं हुए, किन्तु अपने देश के इतिहास के विकास में तथा देशवासियों के चरित्र-निर्माण में निश्चित रूप से उन्होंने सफलता प्राप्त की।" धीरे-धीरे काँग्रेस एक राजनैतिक शक्ति बन गई, जिसके फलस्वरूप देश में राष्ट्रीय-चेतना, राष्ट्रीय-एकता तथा जन-सेवा के उच्च आदर्शों का प्रतिपादन हुआ। उसके उच्च आदर्श, उसके राष्ट्रीय स्वरूप को प्रकट करते हैं।

प्रारम्भ में काँग्रेस की लोकप्रियता केवल शिक्षित वर्ग तक सीमित रही। देश हित में रुचि रखने वाले शिक्षित भारतीय इसके कार्य-कलापों में रुचि लेते थे। इसके द्वारा राजनैतिक अधिकारों की माँग किये जाने के कारण जनता का ध्यान इसकी ओर आकर्षित हुआ था। लेकिन इस काल में केवल शहरों में रहने वाले मध्यमवर्गीय शिक्षित भारतीय ही काँग्रेस से सम्बन्धित रहे। ग्रामीण जनता और किसान वर्ग का काँग्रेस से सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाया था। यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि काँग्रेस ने राष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण कर लिया था, फिर भी देशी रियासतों की जनता पर इसका कोई प्रभाव नहीं था। लेकिन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि काँग्रेस का प्रचार इंगलैण्ड में होने लगा। 1890 ई. में काँग्रेस ने एक प्रतिनिधिमण्डल इंगलैण्ड भेजा, जिसने इंगलैण्ड, वेल्स व स्कॉटलैण्ड के निवासियों में काँग्रेस के कार्यों का प्रचार किया। इसके परिणामस्वरूप इंगलैण्ड की लोकसभा के सदस्यों की एक समिति बनाई गई जिसका उद्देश्य भारतीय समस्याओं पर विचार करना था। जनमत को आकर्षित करने के लिए 'इण्डिया' नामक एक समाचार-पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया गया था। काँग्रेस की विचारधारा का प्रचार करने के लिये भाषणों, पुस्तिकाओं तथा पत्रिकाओं का सहारा लिया गया। इन प्रचार कार्यों के कारण इंगलैण्ड के लोग भी काँग्रेस के कार्यों में रुचि लेने लगे। 1890 ई. में स्वयं लॉर्ड लैन्सडाउन ने स्वीकार किया था कि काँग्रेस देश की एक शक्तिशाली उत्तरदायी राजनैतिक पार्टी है।

अध्याय-11

उदारवादी आन्दोलन और बंगाल का विभाजन

भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का इतिहास भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास है। यह संस्था प्रारम्भ में अत्यन्त नरम थी। आरम्भ से ही काँग्रेस का दृष्टिकोण एवं आदर्श विशुद्ध राष्ट्रीय रहा। इसने कभी वर्ग विशेष के हित का समर्थन नहीं किया वरन् सभी प्रश्नों पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाया। काँग्रेस के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आरम्भ में यह क्रान्तिकारी संगठन नहीं था। उस समय इसकी बागडोर पूरी तरह उदार अर्थात् नरम राष्ट्रवादियों के हाथ में थी। अतः 1905 ई. तक का राष्ट्रीय आन्दोलन का काल 'उदारवाद का युग' कहलाता है। इस युग में भारतीय राजनीति में ऐसे व्यक्तियों का प्रभाव था, जो ऐसे अँग्रेजों के प्रति श्रद्धा रखते थे जिनका उदारवादी विचारधारा में विश्वास था और जो बहिष्कार तथा सरकार से असहयोग जैसे क्रान्तिकारी विचारों के विरुद्ध थे। दादा भाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फीरोजशाह मेहता, लालमोहन घोष, रासबिहारी, गोपालकृष्ण गोखले आदि नेता उदारवादी युग के प्रमुख स्तम्भ थे। इसके अतिरिक्त कुछ उदार अँग्रेज भी इसके सदस्य थे जिनमें ह्यूम, विलियम वेडरवर्न, जॉर्ज यूल, मेक्विन, स्मिथ आदि प्रमुख थे। इन्हीं उदारवादी नेताओं ने 1885 ई. से 1905 ई. तक काँग्रेस का मार्गदर्शन किया। इसलिए भारत के राष्ट्रीय इतिहास में इस काल को 'उदारवादी युग' कहा जाता है।

उदारवाद का उदय और विकास मुख्यतः 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था। इसके विकास में प्रमुख रूप से दो बातों का योगदान रहा। प्रथम तो भारतीयों का ब्रिटिश जाति के संसर्ग में आना और दूसरा पाश्चात्य शिक्षा का भारतीयों पर प्रभाव। उदारयुगीन नेता उच्च शिक्षित वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। उनका दृष्टिकोण सर्वथा वैधानिक था। वे जिस वातावरण में पले थे उसमें सक्रिय राजनीतिक विचारधारा का स्थान नहीं था। अतः उदारवादी पूर्णतः राजभक्त थे। उनके हृदय में ब्रिटिश राज के प्रति कृतज्ञता के भाव थे। वे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को अभिशाप नहीं बल्कि वरदान समझते थे। इसलिये जी खोलकर ब्रिटिश शासन की सराहना करते थे। ब्रिटिश सरकार की न्यायप्रियता में उनकी अटल श्रद्धा थी। उनका यह भी विश्वास था कि अँग्रेज राज्य के कारण ही वे अपने अतीत का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और भविष्य में भी इसी के

सहारे अपने देश का उत्थान कर सकते हैं। इन नेताओं में अँग्रेजी साम्राज्य के प्रति अन्धभक्ति थी। उनका कहना था कि भारतीयों को अपने शासकों से अनुनय-विनय करके अपने देश के उत्थान में सहयोग देना चाहिए। डॉ. पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है कि, "राष्ट्रीय नेताओं का जोर इस बात पर होता था कि निश्चित रूप से अँग्रेज न्यायप्रिय और सच्चे होते हैं और यदि उन्हें भारत की समस्याओं का सही-सही ज्ञान हो जाय तो वे सच्चाई से कभी नहीं हटते।" 1893 ई. के काँग्रेस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष सरदार दयालसिंह मजीठिया ने कहा था कि, "ब्रिटिश शासन भारत के लिये कीर्ति कलश है।" उदारवादी नेता ब्रिटिश नौकरशाही की त्रुटियों से अच्छी तरह परिचित थे। फिर भी उनका विश्वास था कि यदि भारत की समस्या को प्रभावी ढँग से ब्रिटिश संसद में रख दिया जाय तो वह माँग करेगी कि भारत की परिस्थितियों में परिवर्तन किया जाय। फीरोजशाह मेहता ने कहा था कि, "मुझे इस बात में कोई सन्देह नहीं कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अन्त में हमारी पुकार पर अवश्य ध्यान देंगे।" सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का यह कथन उदारवादियों की मनोवृत्ति को स्पष्ट कर देता है, "अँग्रेजों के न्याय, बुद्धि और दयाभावना में हमारी दृढ़ आस्था है। विश्व की महानतम प्रतिनिधि संस्था, संसदों की जननी ब्रिटिश कॉमन सदन के प्रति हमारे हृदय में असीम श्रद्धा है। अँग्रेजों ने सर्वत्र प्रतिनिधि आदर्श पर ही शासन की रचना की है।" उदारयुगीन नेता भारत की पूर्ण स्वाधीनता की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। वे तो केवल भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं की स्थापना चाहते थे, जिनमें भारतीयों को भी भाग लेने का अधिकार प्राप्त हो। इन्होंने अँग्रेजों के मन में यही भाव उत्पन्न करने का प्रयास किया कि वे भारतीयों के प्रति सहानुभूति रखें और भारतीयों की आकांक्षाओं को पूरा करने में पूर्ण सहयोग दें। यदि उदारवादियों के उद्देश्यों का विश्लेषण किया जाय तो उनके निम्नलिखित सिद्धान्त स्पष्ट होते हैं—

(1) ब्रिटिश शासन के प्रति भक्ति-भावना—उदारवादी ब्रिटिश शासन के समर्थक एवं प्रशंसक थे। वे असहयोग या क्रान्तिकारी विचारों के विरोधी थे। उदारवादी काँग्रेसी नेता उच्च-मध्यवर्गीय घरानों के थे तथा अँग्रेजी शिक्षा से प्रभावित थे। दादाभाई नौरोजी, व्योमेश चन्द्र बनर्जी, फीरोजशाह मेहता आदि नेताओं के हृदय में ब्रिटिश शासन के प्रति कृतज्ञता की भावना थी। उनका कहना था कि ब्रिटिश शासन ने ही भारत को आधुनिक सभ्यता के मार्ग पर अग्रसर किया, स्वतन्त्रता की भावना उत्पन्न की, आदर्शवाद, तर्कवाद, शिक्षा और यातायात के साधनों द्वारा राष्ट्रीय चेतना को जन्म दिया और देश की बिखरी हुई जनता को एक सूत्र में बाँधने का काम किया। अतः काँग्रेस के उदारवादी नेता ब्रिटिश शासन के प्रति भक्ति-भावना रखते थे तथा राजनैतिक जागृति के लिए अपने को अँग्रेजों का कृतज्ञ मानते थे। इसलिये ब्रिटिश शासन की आलोचना या राजनीतिक आन्दोलन में उनका कोई विश्वास नहीं था।

(2) क्रमिक सुधारों में विश्वास—उदारवादी नेता रूढ़िवादी थे और वे देश की शासन-व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं करना चाहते थे। उनका मुख्य उद्देश्य परिषद्, नौकरी, स्थानीय संस्था, रक्षा-सेना आदि में सुधार करवाना था। वे क्रमिक सुधारों में विश्वास करते थे और क्रान्तिकारी परिवर्तनों के विरोधी थे। वे चाहते थे कि राजनीतिक व प्रशासकीय क्षेत्र में धीरे-धीरे सुधार लाया जाय। 1906 ई. में काँग्रेस अध्यक्ष के रूप में दादाभाई नौरोजी ने 'स्वशासन या स्वराज्य' की माँग की थी और वह स्वशासन या स्वराज्य भी ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया

में। चूँकि उदारवादी किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन के विरोधी थे, इसलिए उन्होंने केवल छोटे-मोटे प्रशासनिक सुधारों की माँग की। आर. जी. प्रधान ने लिखा है कि, "काँग्रेस के प्रारम्भिक दिनों के प्रस्तावों से पता चलता है कि उनकी माँगें अत्यन्त साधारण थीं। काँग्रेस के नेता आदर्शवादी नहीं थे, वे हवाई किला नहीं बनाते थे। वे व्यावहारिक सुधारक थे तथा आजादी, क्रमशः कदम-कदम करके हासिल करना चाहते थे।"

(3) **ब्रिटेन से स्थायी सम्बन्धों की स्थापना**—उदारवादी पाश्चात्य सभ्यता एवं विचारों के पोषक थे। उनकी मान्यता थी कि भारत का ब्रिटेन से सम्बन्ध भारतीयों के लिये वरदान है। ब्रिटेन से सम्बन्धों के कारण अँग्रेजी साहित्य, शिक्षा-पद्धति, यातायात के साधन, न्याय प्रणाली, स्थानीय स्वशासन आदि भारत के लिये अमूल्य वरदान सिद्ध हुए हैं। यूरोपीय विचार और दर्शन लोगों में स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के प्रति आदर उत्पन्न करता है। अतः भारत के हित में यही उचित होगा कि ब्रिटेन से उसका अटूट सम्बन्ध बना रहे। श्रीमती एनीबीसेण्ट ने कहा था कि, "इस काल के नेता अपने को ब्रिटिश प्रजा मानने में गौरव का अनुभव करते थे।" 1905 ई. में काँग्रेस अध्यक्ष गोखले ने कहा था कि हमारा भाग्य अँग्रेजों के साथ जुड़ा हुआ है, चाहे वह अच्छे के लिये हो या बुरे के लिये। काँग्रेस के छठे अधिवेशन में फीरोजशाह मेहता ने अध्यक्षीय भाषण देते हुए कहा था कि इंगलैण्ड और भारत का सम्बन्ध इन दोनों के लिये ही नहीं बल्कि समस्त विश्व की आने वाली पीढ़ियों के लिये वरदान होगा। इसी प्रकार दादाभाई नौरोजी ने भी कहा था कि काँग्रेस ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने वाली संस्था नहीं है, बल्कि वह तो ब्रिटिश सरकार की नींव को दृढ़ करना चाहती है। इन नेताओं का यह भी विश्वास था कि भारत के हितों और ब्रिटेन के हितों में विरोध नहीं हो सकता। यद्यपि उन्होंने अनुभव किया कि अँग्रेजों की मुक्त व्यापार नीति भारतीय उद्योगों के हित में नहीं है तथा भारत की गरीबी के लिए ब्रिटिश शासन उत्तरदायी है, फिर भी वे भारत और ब्रिटेन के आर्थिक हितों को एक-दूसरे का विरोधी नहीं मानते थे। बंगाल विभाजन के फलस्वरूप प्रारम्भ हुए स्वदेशी आन्दोलन का उदारवादियों ने केवल आर्थिक दृष्टि से समर्थन किया न कि राजनैतिक शस्त्र के रूप में। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा था कि स्वदेशी आन्दोलन का आधार देशप्रेम था, न कि विदेशियों के प्रति घृणा। स्वदेशी का उद्देश्य विदेशी आदर्श, विद्या, कला और उद्योगों को देश के बाहर निकालना नहीं है, बल्कि वह उन्हें राष्ट्रीय पद्धति में समाविष्ट करने पर जोर देता है।

(4) **अँग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास**—उदारवादी नेता ब्रिटिश सरकार की न्यायप्रियता में पूर्ण विश्वास रखते थे, जैसाकि उदारवादी नेताओं ने समय-समय पर अपने भाषणों में व्यक्त किया था। टी. माधवराव ने काँग्रेस के तीसरे अधिवेशन में स्वागत-समिति के अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए कहा था कि, "काँग्रेस ब्रिटिश शासन का यश शिखर है और ब्रिटिश जाति का कीर्ति मुन्ट है।" काँग्रेस के 12वें अधिवेशन में मुहम्मद रहीमतुल्ला ने कहा था कि, "अँग्रेजों से अधिक ईमानदार और शक्ति-सम्पन्न जाति सूर्य के नीचे कोई नहीं है।" इस प्रकार काँग्रेस के उदारवादी नेताओं के हृदय में अँग्रेजों के प्रति सद्भावना थी और वे उन्हें बड़े आदर एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उनकी मान्यता थी कि अँग्रेज स्वतन्त्रता-प्रेमी थे और यदि उन्हें भारतीयों की योग्यता पर विश्वास हो जायेगा तो वे बिना किसी हिचकिचाहट के भारतीयों को स्वशासन

का अधिकार प्रदान कर देंगे। यही कारण है कि काँग्रेस के उदारवादी नेता अँग्रेजी सरकार की सहानुभूति तथा ब्रिटिश जनमत के समर्थन को जीतने का प्रयास करते रहे।

(5) ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासन की माँग—काँग्रेस के उदारवादी नेता ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासन चाहते थे। काँग्रेस के दूसरे अधिवेशन में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने जोरदार शब्दों में कहा कि, "स्वशासन एक प्राकृतिक देन है, ईश्वरीय शक्ति की कामना है। प्रत्येक राष्ट्र को स्वयं अपने भाग्य का निर्णय करने का अधिकार होना चाहिये, यही प्रकृति का नियम है।" ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद की तो वे स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते थे। इसलिये पूर्ण स्वतन्त्रता की बात उनके मस्तिष्क में ही नहीं थी। उनके विचार में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारतीयों को स्वशासन का पर्याप्त प्रशिक्षण प्राप्त हो चुका था तथा भारत स्वशासन के लिये पूर्ण रूप से तैयार था। दादाभाई नौरोजी ने 1905 ई. में अपने अध्यक्षीय भाषण में उपनिवेशों के जैसे स्वशासन या स्वराज्य का जिक्र किया था। उन्होंने कहा था कि, "हमारा उद्देश्य संयुक्त राज्य के समान स्वराज्य प्राप्त करना है।" स्वशासन या स्वराज्य से उदारवादियों का आशय पूर्ण स्वतन्त्रता कदापि नहीं था। सम्भवतः उन्होंने कभी यह भी नहीं सोचा था कि औपनिवेशिक स्वराज्य किसे कहते हैं। वे तो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत प्रतिनिधि संस्थाओं की माँग कर रहे थे।

(6) वैधानिक उपायों में विश्वास—उदारवादी नेताओं को अँग्रेजों की न्यायप्रियता में अटूट विश्वास था। इसलिये वे क्रान्तिकारी उपायों को अपनाने के लिये तैयार नहीं थे। उन्होंने सरकार के साथ संघर्ष करने की बात कभी नहीं की। इसलिये वैधानिक संघर्ष में उनका पूर्ण विश्वास था। वे सरकार को बिल्कुल असन्तुष्ट करना नहीं चाहते थे। हिंसात्मक एवं क्रान्तिकारी उपाय तो उनके दिमाग में कभी आये ही नहीं। इसलिये उन्होंने प्रार्थनाओं, प्रार्थना-पत्रों, याचिकाओं, स्मरण-पत्रों और प्रतिनिधिमण्डलों द्वारा सरकार से अपनी न्यायोचित माँगों को मानने का आग्रह किया। अनेक विद्वानों का कहना है कि इस समय काँग्रेस की नीति प्रार्थना करने की थी, अपनी माँगों के लिये लड़ने की नहीं थी। इस रीति-नीति को कुछ लोगों ने "राजनीतिक भिक्षावृत्ति" कहकर सम्बोधित किया था। उदारवादी अपने अधिकारों की याचना सरकार से बड़े विनम्र शब्दों में करते थे। उन्होंने सदैव वैधानिक आन्दोलन द्वारा अपनी माँगों को मनवाने का प्रयास किया। उन्होंने ऐसे उपायों को कभी स्वीकार नहीं किया जो सरकार के लिए अहितकर हों। उन्होंने सरकारी दमन, अन्यायपूर्ण कार्यों और कानूनों का विरोध भी वैधानिक तरीकों से किया। उन्होंने केवल जनता की इच्छाओं और भावनाओं को अपने प्रस्तावों तथा अन्य वैधानिक उपायों द्वारा सरकार के सामने बड़े नम्र रूप में प्रस्तुत किया।

अतः आरम्भ में काँग्रेस क्रान्तिकारी संगठन नहीं था तथा उसकी बागडोर उदार राष्ट्रवादियों के हाथ में थी। इसने कभी भी वर्ग विशेष के हितों का समर्थन नहीं किया वरन् सभी प्रश्नों पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाया।

उदार युग की माँगें—प्रारम्भ के 20 वर्षों में काँग्रेस ने अपने वार्षिक अधिवेशनों में विभिन्न विषयों से सम्बन्धित प्रस्ताव पास किये तथा ब्रिटिश सरकार का ध्यान उन विषयों की

ओर आकर्षित कर प्रशासन में सुधार करने की माँग की। उन प्रस्तावों के आधार पर उस युग की मुख्य माँगें निम्नलिखित थीं—

(1) भारत सचिव की इण्डिया कौंसिल को समाप्त करना। इस माँग का मुख्य औचित्य यह था कि इस कौंसिल का समस्त खर्च भारत से दिया जाता था, जिससे भारत से धन का निष्कासन होता था।

(2) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय कौंसिलों का विस्तार, उनमें सरकारी नामजद सदस्यों की संख्या में कमी तथा निर्वाचित और गैर-सरकारी भारतीय सदस्यों की संख्या में वृद्धि करना ताकि भारत में प्रतिनिधि शासन स्थापित हो सके।

(3) उच्च सार्वजनिक पदों पर भारतीयों को अँग्रेज़ों के समान अवसर दिया जाय। भारतीय सिविल सर्विस की प्रतियोगिता परीक्षाएँ भारत में भी आयोजित की जायँ तथा इन सेवाओं में प्रवेश की आयु बढ़ाई जाय।

(4) कार्यकारिणी और न्याय सम्बन्धी प्रशासन पृथक् किये जायें तथा मुकदमों की सुनवाई में जूरी प्रथा को मान्यता दी जाय।

(5) अँग्रेजी साम्राज्य की सुरक्षा और विस्तार का खर्च केवल भारत पर ही न डाला जाय तथा भारत से धन निष्कासन रोका जाय।

(6) सैनिक अधिकारियों की शिक्षा के लिये भारत में सैनिक कॉलेज स्थापित किया जाय तथा शस्त्र कानून में संशोधन किया जाय।

(7) भारत सचिव की कौंसिल में तथा प्रिवी कौंसिल में भारतीयों को भी स्थान दिया जाय।

(8) भू-राजस्व कम किया जाय, नमक कर में कमी की जाय तथा किसानों की स्थिति सुधारने के लिए भू-राजस्व की दर स्थायी रूप से निर्धारित कर दी जाय और इसे 20 से 30 वर्षों तक न बढ़ाया जाय।

(9) भारत में कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाय और भारत में औद्योगिक एवं तकनीकी शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध कराई जायँ।

उपर्युक्त माँगों के अतिरिक्त सिंचाई की उचित व्यवस्था, कृषि बैंकों की स्थापना, पुलिस व्यवस्था में सुधार, विदेशों में रहने वाले भारतीयों की रक्षा, प्रेस की स्वतन्त्रता की रक्षा करने आदि के सम्बन्ध में भी प्रस्ताव पास किये गये। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने काँग्रेस के तृतीय अधिवेशन में कहा था, "हमारी माँगों का प्रमुख लक्ष्य, जिसे एक वाक्य में 'भारत में प्रतिनिधि संस्था की स्थापना' कहा जा सकता है।"

उदार युग की कार्यविधि—जिन नेताओं की ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति भक्ति भावना हो, उनके कार्य करने की विधि उसका अपवाद नहीं हो सकती थी। उदारवादी नेता पूर्णतया वैधानिक तरीकों पर आश्रित थे। प्रतिवर्ष काँग्रेस के अधिवेशनों में पारित माँगें समाचार-पत्रों और भाषणों द्वारा जनसाधारण में प्रसारित करते थे और बड़ी-बड़ी याचिकाएँ एवं स्मरण-पत्र भारत सरकार एवं

गृह-सरकार की सेवा में प्रस्तुत करते थे, जिनमें अत्यधिक विनम्र भाषा का प्रयोग किया जाता था। इन याचिकाओं एवं स्मरण-पत्रों में कहा जाता था—"हम हमारी प्यारी लोकप्रिय सरकार से प्रार्थना करते हैं कि उपर्युक्त सुधारों को लागू करने की कृपा कर हमें अनुगृहीत करें।" इतना ही नहीं, काँग्रेस अपने प्रस्तावों से इंगलैण्ड के अधिकारियों को अवगत कराने हेतु समय-समय पर अपने शिष्टमण्डल लन्दन भेजती थी, जहाँ भारत की राष्ट्रीय समस्याओं को वहाँ के समाचार-पत्रों द्वारा गृह-सरकार और जनता तक पहुँचाते थे। इस युग में हमें एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता, जबकि सरकार के विरुद्ध विष-वमन या हिंसात्मक प्रचार किया गया हो। किन्तु उनके ये तरीके उस समय की परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल थे और उस युग में इससे अधिक की आशा ही नहीं की जा सकती थी।

इंगलैण्ड में भारतीय सुधार समिति—काँग्रेस ने इस युग में अपनी माँगों को मजबूत बनाने के लिए इंगलैण्ड में भी अपनी संस्थाएँ स्थपित कीं। 1887 में दादाभाई नौराजी ने लन्दन में 'भारतीय सुधार समिति' (Indian Reform Association) की स्थापना की। उन्होंने इस समिति के उद्देश्यों के बारे में कहा, "क्योंकि शासन सत्ता का प्रमुख स्रोत इंगलैण्ड में है, इसलिए इंगलैण्ड में काँग्रेस द्वारा किये गये कोई भी वैधानिक प्रयत्न अधिक प्रभावशाली और लाभदायक होंगे।" 1888 में विलियम डिग्वी की सहायता से वहाँ "इण्डियन एजेन्सी" की स्थापना की गई, जो 1890 में "भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की ब्रिटिश समिति" बन गई, जिसकी अनेक प्रतिष्ठित अँग्रेजों ने सदस्यता ग्रहण कर ली। इस समिति ने 'इण्डिया' नामक समाचार-पत्र का सम्पादन आरम्भ किया, जिसे इंगलैण्ड में काफी लोकप्रियता प्राप्त हुई। इसी समय दादाभाई नौरोजी ब्रिटिश संसद के सदस्य निर्वाचित हुए। 1893 में 'भारतीय संसद समिति' बनी, जिसके प्रयत्नों से ब्रिटिश संसद ने भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षा भारत में भी आयोजित करने का प्रस्ताव पारित किया।

इस प्रकार उदारयुगीन नेताओं के नेतृत्व में अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन हुआ जो उस समय भारतीय राजनीति में घूम रहे थे। इस युग में मि. मेक्नील ने भारतीय राजनीति के विषय में संसद में अनेक प्रश्न पूछे और इस बात पर बल दिया कि काँग्रेस भारतीय जनता की सच्ची प्रतिनिधि संस्था है। सेमुअल स्मिथ ने काँग्रेस को 'वैधानिक एवं राजभक्त दल' कहकर सम्बोधित किया।

अँग्रेज सरकार की नीति—डॉ. आर. सी. मजूमदार का मत है कि काँग्रेस और इसके आन्दोलन के प्रति अँग्रेज सरकार का रुख प्रतिकूल रहा। नौकरशाही को भी इसके प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी और कुछ विशेष व्यक्तियों को छोड़कर सम्पूर्ण ब्रिटिश राष्ट्र इसके विरुद्ध था। डॉ. प्रसाद ने भी लिखा है कि नौकरशाही ने आरम्भ से ही काँग्रेस आन्दोलन का मजाक उड़ाया, फिर गाली-गलौच पर उतर आई और अन्त में सशक्त होकर इसके प्रति दमन-चक्र की नीति अपनाई। किन्तु इसे पूर्ण रूप से सत्य नहीं माना जा सकता। रेम्जे मेकडोनल्ड ने ठीक लिखा है कि, "राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति काफी सीमा तक सरकार की नीति पर निर्भर करती थी, जो आरम्भ में मैत्रीपूर्ण रही, किन्तु बाद में घोर विरोध की हो गई।"

1885 में काँग्रेस की स्थापना लॉर्ड डफरिन की स्वीकृति के बाद हुई थी। अतः 1886 में जब काँग्रेस का कलकत्ता में अधिवेशन हुआ, तब 406 प्रतिनिधियों को वायसराय की ओर से गार्डन पार्टी दी गई और अनेक प्रमुख सरकारी अधिकारियों ने इसमें भाग लिया। 1887 में मद्रास में हुए अधिवेशन के अवसर पर 600 प्रतिनिधियों का मद्रास के गवर्नर ने गवर्नर हाउस में शानदार स्वागत किया। किन्तु इसके उपरान्त अँग्रेजों की नीति में परिवर्तन आ गया। अब लॉर्ड डफरिन काँग्रेस का कट्टर आलोचक बन गया। इसका मूल कारण यह था कि 1885-86 ई. के मध्य ह्यूम और डफरिन के पारस्परिक व्यक्तिगत सम्बन्ध बिगड़ गये थे। इसके अतिरिक्त अँग्रेज प्रशासक भारतीयों के समानता के दावे को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। डफरिन ने 30 नवम्बर, 1888 को अपने भाषण में काँग्रेस द्वारा की गई संसदीय सरकार की माँग की खिल्ली उड़ायी और काँग्रेस को एक सीमित वर्ग की प्रतिनिधि संस्था कहकर सम्बोधित किया। उसके ये तर्क सर्वथा बे-बुनियाद थे। वास्तव में अँग्रेज काँग्रेस द्वारा माँगे गये अधिकार और सुविधाएँ देने को तैयार हो ही नहीं सकते थे, क्योंकि भारत को वे मात्र उपनिवेश रखना चाहते थे। अँग्रेज सरकार का यह विरोध काँग्रेस की माँगों को स्वीकार न करने तक ही सीमित नहीं था, बल्कि सरकार ने काँग्रेस के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित करना आरम्भ कर दिया। 1888 में हुए इलाहाबाद अधिवेशन में उत्तर प्रदेश सरकार ने अधिवेशन के लिए स्थान ही उपलब्ध न होने दिया। सरकारी अधिकारियों ने काँग्रेस में सम्मिलित न होने के लिए लोगों पर दबाव डाला। इतना ही नहीं, मुसलमानों और देशी नरेशों को काँग्रेस से दूर रखने का प्रयत्न किया गया और सरकारी अधिकारियों व कर्मचारियों पर काँग्रेस अधिवेशन में भाग लेने पर रोक लगा दी। लॉर्ड हैमिल्टन ने, जो भारत सचिव था, काँग्रेस को धन देने वालों पर निगरानी रखने का आदेश दे दिया। कुछ प्रान्तों के गवर्नरों ने तो यह भी सुझाव दिया कि काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों पर ही रोक लगा दी जाए, किन्तु यह सुझाव स्वीकृत नहीं हुआ। 1895 के बाद तो काँग्रेस के प्रति अँग्रेज सरकार का दृष्टिकोण दिनों-दिन कठोर होता गया।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जो काँग्रेस अँग्रेजी साम्राज्य के प्रति इतनी निष्ठा और भक्ति रखती थी, उसी के प्रति अँग्रेज सरकार का दृष्टिकोण क्यों कठोर होता गया ? इसका सहज उत्तर यह होगा कि नौकरशाही सरकार की नीतियों की आलोचना का परिणाम यह होता कि सामान्य जनता के हृदय में अँग्रेजी साम्राज्य के प्रति भक्ति भावना कम होना। क्योंकि अँग्रेज जानते थे कि किसी नियन्त्रण के विरुद्ध आन्दोलन सर्वप्रथम उसकी मुक्त आलोचना से ही आरम्भ होता है। इसलिये कोई व्यापक आन्दोलन उठने से पूर्व ही अँग्रेज उस आन्दोलन की जड़ें ही काट देना उचित समझते थे। किन्तु काँग्रेस का जितना दमन करने का प्रयत्न किया गया, वह उतनी ही लोकप्रिय होती गई और ब्रिटिश सरकार का दमन-चक्र भी उसे रोकने में असफल रहा, क्योंकि यह संस्था उस समय तक मध्यम वर्ग का सहयोग प्राप्त कर चुकी थी। अँग्रेज सरकार की नीति काँग्रेस को दुर्बल बनाकर समाप्त करने की रही और इसके लिए उन्होंने निम्न से निम्न हथकण्डे अपनाये।

उदारवादी आन्दोलन का मूल्यांकन—इस काल में काँग्रेस ने लोगों में राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। गुरुमुखनिहालसिंह ने लिखा है कि, "काँग्रेस ने आरम्भ

में लोगों में राष्ट्रीय जागृति, राजनीतिक शिक्षा तथा भारतीयों में संगठन की भावना उत्पन्न करने का कार्य किया और लोगों में सामान्य राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न की।" प्रतिवर्ष काँग्रेस के अधिवेशन में प्रस्ताव पास किये जाते थे। ये प्रस्ताव समाचार-पत्रों में विस्तार से छपते थे, जिससे लोगों में सार्वजनिक विषयों के प्रति चेतना उत्पन्न होती थी। काँग्रेस के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1892 में इण्डियन कौंसिल एक्ट पारित हुआ। यह बात अलग है कि इसने भारतीयों को कहाँ तक सन्तुष्ट किया। काँग्रेस में भाग लेने वालों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती चली गई और इसके कार्यों की प्रशंसा देश भर में होने लगी। काँग्रेस ने वह कार्य किया जिसका लाभ 30 वर्ष बाद उठाया गया, जैसा कि के. एम. मुंशी ने लिखा है, "यदि पिछले तीस वर्षों में काँग्रेस के रूप में एक अखिल भारतीय संस्था, राजनीतिक क्षेत्र में कार्यरत न रहती तो सम्भवतः गाँधीजी का कोई आन्दोलन सफल नहीं होता और न ही सरदार पटेल की अध्यक्षता में काँग्रेस इतनी कुशल यन्त्र प्रमाणित होती।" उदार युग के नेताओं ने उस समय की परिस्थितियों का अध्ययन करके ही उसके अनुरूप अपनी नीति निर्धारित की थी। उन्होंने नौकरशाही के क्रूर हाथों से इस संस्था को बचाकर भविष्य के लिए इसकी जड़ें इतनी गहरी कर दीं कि बाद में नौकरशाही तो क्या स्वयं इंगलैण्ड की सरकार भी नहीं हिला सकी। यही इस युग की महान् उपलब्धि रही।

दूसरी ओर इस युग में हुई काँग्रेस की प्रगति को सन्तोषजनक नहीं माना गया। आलोचकों का कहना है कि काँग्रेस के नेता यद्यपि अँग्रेज नौकरशाही के तो आलोचक थे, किन्तु इंगलैण्ड की सरकार के प्रति उनकी अन्ध भक्ति थी। लाला लाजपतराय ने ठीक ही लिखा है कि काँग्रेसी नेता उस वर्ग के लोगों के सहयोग से कार्य करना चाहते थे जिसके विरुद्ध वे आवाज उठाते थे। आलोचकों का यह भी कहना है कि इस युग में काँग्रेस का नेतृत्व कुछ ऐसे विशेष वर्ग के लोगों के हाथ में था, जो जनसाधारण, गरीब और अनपढ़ लोगों की वास्तविक माँगों से दूर थे। सबसे अधिक असन्तोष तो इससे था कि इस काल में जो कार्यविधि अपनाई गई, वह बहुत ही उपहासजनक थी और इसलिए देशभक्त नेताओं को 'राजनैतिक भिखारी' कहकर सम्बोधित किया गया, जो अपनी माँगों को याचिकाओं, प्रार्थना-पत्रों और स्मरण-पत्रों द्वारा सरकार के समक्ष प्रस्तुत करते थे। काँग्रेसी नेताओं को अँग्रेज प्रशासकों की ईमानदारी में अटूट विश्वास था जबकि अँग्रेज प्रशासक भारतीयों की वास्तविक भलाई नहीं चाहते थे।

इन उदारवादी नेताओं की असफलता ने राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात किया, जिसे उग्रवादी युग कहा गया। इस उग्रवादी युग में लाल, बाल और पाल का नेतृत्व देश के राजनीतिक रंगमंच पर आगे आया, जिसका वर्णन यथास्थान पर आगे किया जायेगा।

बंगाल का विभाजन

19वीं शताब्दी के अन्त में जनसंख्या व क्षेत्रफल की दृष्टि से बंगाल एक बहुत बड़ा प्रान्त था, जिसमें चार प्रदेश थे—बंगाल, बिहार, उड़ीसा और छोटा नागपुर। सन् 1901 ई. की जनगणना के अनुसार इसकी जनसंख्या आठ करोड़ थी, जिसमें एक तिहाई मुसलमान थे। सर्वाधिक बड़ा प्रान्त होने के कारण प्रशासन का भार इतना बढ़ गया था कि लेफ्टिनेंट गवर्नर द्वारा प्रशासन

चलाना कठिन हो रहा था। अतः बंगाल को दो भागों में बाँटने के प्रस्ताव आने लगे। 1892 ई. में दीवानी और सैनिक विभाग में विशेषज्ञों की एक समिति में इस प्रदेश के शासन पर उत्तर-पूर्वी सीमा-सुरक्षा के दृष्टिकोण से विचार किया गया था। शासन की सुविधा के लिये उनकी राय में लुसाई पहाड़ियों और चटगाँव कमिश्नरी को आसाम के साथ मिला देना आवश्यक था। सरकार ने उस समय कोई ध्यान नहीं दिया। तत्पश्चात् 1896 ई. में सर विलियम वार्ड ने सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था। वे चाहते थे कि ढाका और मैमनसिंह के जिले आसाम में मिला दिये जायें। किन्तु उनके बाद आने वाले गवर्नर सर विलियम कॉटन ने इस विषय की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। 1903 ई. में सर एन्ड्रयू फ्रेजर ने सरकार के समक्ष प्रस्ताव रखा कि पूर्वी बंगाल के कुछ भाग आसाम को दे दिये जाएँ। लॉर्ड कर्जन ने इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार कर एक सरकारी निर्णय से जन-साधारण को सूचित किया कि, "मेरे विचार में अच्छी सरकार वह है जो जनता को अधिकाधिक सन्तुष्ट रख सके और यदि बंगाल को दो भागों में विभाजित कर दिया जाय तो इन दोनों भागों में निश्चित रूप से प्रशासनिक कुशलता होगी जिसमें जनता अधिकाधिक मात्रा में सन्तुष्ट होगी।" विभाजन की योजना स्पष्ट करते हुए बताया गया कि ढाका, मैमनसिंह और चटगाँव को आसाम में मिला दिया जाएगा और उड़िया भाषी क्षेत्रों को बंगाल के अधीन कर दिया जायेगा। इस विभाजन के सम्बन्ध में कर्जन के मन में एक बात यह भी थी कि बंगाल विभाजन से बंगालियों का राष्ट्रीयता में योगदान कम हो जायेगा।

परन्तु बंगाल विभाजन की अन्तिम योजना को गुप्त रखा गया, जिससे यह प्रकट होता है कि बंगाल का विभाजन शासन की सुविधा की दृष्टि से नहीं किया जा रहा था, बल्कि इसका मूल उद्देश्य बंगाल में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भावना को समाप्त करना था तथा हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट पैदा करके प्रान्त बनाना था, जिसमें मुसलमानों की प्रधानता रही। बंगालियों के विचार में भी यह विभाजन प्रशासनिक सुविधा के लिये नहीं किया जा रहा था, क्योंकि प्रशासनिक सुविधा के कई विकल्प प्रस्तुत किये गये थे, किन्तु कर्जन ने किसी अन्य योजना को स्वीकार नहीं किया था। अतः बंगालियों की दृष्टि में यह विभाजन प्रान्त की राजनीतिक एकता को नष्ट करने के लिये किया जा रहा था तथा हिन्दुओं को मुसलमानों के विरुद्ध भड़काने का प्रयत्न किया जा रहा था। उस समय हिन्दुओं की ओर से गृह-शासन की आवाज सुनायी देने लगी थी और मुसलमान अपने नेता सैयद अहमद खाँ द्वारा स्वामिभक्ति की नीति का पालन कर रहे थे। ब्रिटिश सरकार के लिये गृह-शासन शब्द अपशकुन था, अतः इसका एक ही उपाय था कि भारतवासियों को एक दूसरे के विरुद्ध उभारा जाय। बंगाल का विभाजन भारत की राष्ट्रीयता को एक चुनौती थी। देश ने इस चुनौती को स्वीकार किया। परिणामस्वरूप विभाजन के विरुद्ध एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। कर्जन ने फरवरी, 1904 ई. में पूर्वी बंगाल का दौरा किया। इस दौरे के बाद उसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि बंगाली एकता को निश्चित रूप से भंग कर दिया जाये। अतः इन आन्दोलनों के समक्ष झुकना तो दूर रहा, कर्जन इसके प्रति और दृढ़ हो गया।

सितम्बर, 1904 में उसने विभाजन की योजना को अन्तिम रूप देकर 19 जुलाई, 1905 को कर्जन ने बंगाल विभाजन की घोषणा कर दी। विभाजन के अनुसार पूर्वी बंगाल और आसाम

के नये प्रदेशों का निर्माण किया गया तथा उनके लिए पृथक् लेफ्टिनेण्ट गवर्नर नियुक्त किया गया। नये प्रान्त में बंगाल के पूर्वी भाग ढाका, चटगाँव, राजशाही, माल्दा, दिनाजपुर और त्रिपुरा के राज्य ब्रह्मपुत्र और सुरमा घाटी के जिलों के साथ मिला दिये गये तथा इसकी राजधानी ढाका रखी गई। इस नये प्रान्त में विधानसभा तथा राजस्व मण्डल की स्थापना स्वीकार कर ली गई। शेष जिले बिहार और उड़ीसा के प्रान्तों के साथ मिलाकर उसे पश्चिमी बंगाल के नाम से पृथक् कर दिया। इसी बीच कर्जन इंगलैण्ड गया और इंगलैण्ड की सरकार से भी उसने अनौपचारिक स्वीकृति प्राप्त कर ली। इस विभाजन से पूर्वी बंगाल में बंगला भाषा की प्रभुता समाप्त हो गयी और कलकत्ता के उच्च न्यायालय का प्रभाव-क्षेत्र भी संकुचित हो गया। बंगाल विभाजन में कर्जन का राजनीतिक लक्ष्य बंगला भाषी हिन्दुओं को दोनों प्रान्तों में अल्पमत में कर देना था और पूर्वी बंगाल के मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करना था। बंगाल विभाजन की घोषणा से सम्पूर्ण देश की राष्ट्रीय भावनाओं को गहरी ठेस पहुँची। डॉ. जकरिया के अनुसार, "यह कार्य अपने उद्देश्य और प्रभाव से एक धूर्ततापूर्ण कार्य था।"

बंग-भंग आन्दोलन—बंगाल विभाजन ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध सर्वाधिक संगठित विरोध उत्पन्न कर दिया। भारतीयों के विचार में इस विभाजन की पृष्ठभूमि में साम्प्रदायिक तत्त्व छिपे हुए थे। वस्तुतः उनका विचार सही भी था, क्योंकि स्वयं लॉर्ड कर्जन ने पूर्वी बंगाल की एक सभा में भाषण देते हुए कहा था कि विभाजन का उद्देश्य एक मुस्लिम प्रान्त की रचना करना था, जहाँ केवल इस्लाम का प्रभुत्व हो। इससे जन-आन्दोलन और अधिक भड़क उठा। कलकत्ता में महाराजा जतीन्द्र मोहन ठाकुर की अध्यक्षता में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया जिसमें सरकार से बंगाल-विभाजन के सम्बन्ध में कुछ संशोधन तथा परिवर्तन करने की माँग की गई। लॉर्ड कर्जन ने इस प्रस्ताव को मानने से इन्कार कर दिया। 7 अगस्त को पुनः कलकत्ता में एक विशाल जनसभा का आयोजन किया गया। इसके अतिरिक्त समस्त बंगाल में जनसभाएँ हुईं। इन सभाओं में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का कार्यक्रम स्वीकार किया गया। इस जन-विरोध के बावजूद कर्जन की बंगाल-विभाजन की घोषणा को 16 अक्टूबर, 1905 को कार्यान्वित कर दिया गया, हालाँकि इससे पहले अगस्त, 1905 में कर्जन त्याग-पत्र देकर जा चुका था। बंगाली जनता ने 16 अक्टूबर शोक दिवस के रूप में मनाया। इस अवसर पर निम्नलिखित कार्यक्रमों को अपनाया गया—

(1) विभाजित प्रान्तों की एकता के प्रतीक-स्वरूप पुरुषों की कलाइयों में लाल धागे बाँधे गये।

(2) हड़ताल एवं उपवास किये गये।

(3) 'फेडरेशन हाल' का शिलान्यास किया गया जिसमें सभी जिलों की मूर्तियों को रखा गया और पृथक् किये गये जिलों की मूर्तियों को पुनः एकता होने तक ढक के रखा जाना था।

(4) बुनकर उद्योग की सहायता के उद्देश्य से सुरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा एक राष्ट्रीय निधि की स्थापना की जाय।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और विपिनचन्द्र पाल ने नये प्रान्त का दौरा किया तथा विभिन्न स्थानों पर सार्वजनिक सभाओं का आयोजन किया और जनता से विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग करने की अपील की। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने भी, जिसमें उदारवादियों का वर्चस्व था, अपने 1905 ई. व 1906 ई. के अधिवेशनों में बंगाल विभाजन की कटु आलोचना की। नवयुवकों और विद्यार्थियों ने इस आन्दोलन में बड़े सक्रिय रूप से भाग लिया। 'वन्देमातरम्' के गान से समस्त बंगाल गूँज उठा। सार्वजनिक सभाओं के आयोजन और उनमें बंगाल-विभाजन-विरोधी भाषणों ने एक नया वातावरण उत्पन्न कर दिया। डॉ. रघुवंशी और लालबहादुर ने तात्कालिक जन-भावना का बड़ा ही मार्मिक एवं सुन्दर चित्रण करते हुए लिखा है कि, "प्रातःकाल से ही शहरों की सड़कें वन्देमातरम् के गान से गूँज उठती थीं। समूह के समूह नदी के किनारे एकत्रित हो रहे थे और प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे की कलाई पर राखी बाँध रहा था। गान-मण्डलियों ने वीरता भरे गीत गाकर जनता में देशभक्ति की भावना जागृत की। तत्पश्चात् विदेशी माल के बहिष्कार का आन्दोलन आरम्भ हुआ। प्रान्त के कोने-कोने में तथा प्रान्त के बाहर सभाएँ आयोजित की गईं। सरकारी दमन ने आन्दोलन को और अधिक शक्तिशाली बना दिया। मन्दिर के पुजारियों तक ने इस आन्दोलन में साथ दिया। इस आन्दोलन में विद्यार्थियों ने बड़े उत्साहपूर्वक कार्य किया। उन्होंने विदेशी माल की होलियाँ जलाईं और विदेशी माल की दुकानों पर धरना दिया। वन्देमातरम् के गीत पर नियन्त्रण व आन्दोलनकारियों की गिरफ्तारी से आन्दोलन ने अधिक उग्र रूप धारण कर लिया।" इस आन्दोलन में विदेशी माल का जो बहिष्कार किया गया, उससे विदेशी माल का बहिष्कार एक धार्मिक प्रतिज्ञा बन गई और प्रत्येक बंगाली यह प्रतिज्ञा करने लगा कि, "ईश्वर को साक्षी करके हम प्रतिज्ञा करते हैं कि जहाँ तक सम्भव और व्यावहारिक हो सकेगा हम देश का बना हुआ माल की प्रयोग करेंगे और विदेशी माल का बहिष्कार करेंगे। ईश्वर हमारी सहायता करे।"

सरकार की दमन-नीति—ब्रिटिश सरकार ने आन्दोलन के प्रति दमन-नीति का सहारा लिया। हिन्दू जनता को दमन का शिकार बनाया गया। सार्वजनिक सभाओं को भंग किया गया, अध्यापकों को चेतावनियाँ दी गईं तथा देशभक्तों को अमानवीय सजाएँ दी गईं। मैमनसिंह जिले में दो लड़कों पर मात्र इसलिए जुर्माना कर दिया कि वे वन्देमातरम् का गान कर रहे थे। पूर्वी बंगाल के गवर्नर सर फुलर ने एक सार्वजनिक सभा में भाषण देते हुए कहा, "उनकी दो बीवियाँ हैं—एक हिन्दू, एक मुसलमान—किन्तु वह दूसरी को अधिक चाहता है।" इस प्रकार फुलर ने खुले आम मुसलमानों का पक्ष लेना आरम्भ कर दिया। ब्रिटिश अधिकारियों के प्रोत्साहन पर हिन्दुओं पर भीषण अत्याचार किये गये और मुसलमान अत्याचारियों को उनके निकृष्ट कार्यों के लिए कोई दण्ड नहीं दिया गया। एक स्थान पर तो मुसलमानों ने ढोल बजा-बजाकर यह घोषणा कर दी कि सरकार ने उन्हें हिन्दुओं को लूटने व हिन्दू विधवाओं के साथ विवाह करने की अनुमति दे दी है। एक मुसलमान ने अपने सहधर्मियों की भीड़ के सामने एक सूचना पढ़ते हुए कहा कि सरकार तथा ढाका के नवाब बहादुर की आज्ञाओं के अनुसार कोई भी व्यक्ति हिन्दुओं को लूटने और उन पर अत्याचार करने के लिये दण्डित नहीं किया जायेगा। इस घटना के तुरन्त बाद मुसलमानों ने एक मन्दिर में काली देवी की मूर्ति को तोड़ डाला व हिन्दू व्यापारियों की दुकानें

लूट लीं। 'मॉडर्न रिव्यू' नामक समाचार-पत्र ने लिखा कि "आन्दोलन काल की घटनाएँ सभी सम्वन्धित पक्षों के लिए निन्दनीय हैं·············हिन्दुओं के लिए उनकी भीरुता के कारण, क्योंकि उन्होंने मन्दिरों के अपवित्रीकरण, मूर्तियों के खण्डन तथा स्त्रियों के अपहरण के विरुद्ध बल प्रयोग नहीं किया, स्थानीय मुस्लिम जनता के लिए नीच व्यक्तियों के बाहुल्य के कारण और अँग्रेजी सरकार के लिये इस कारण कि उसके प्रशासन में इस प्रकार की घटनाएँ बिना रोक-टोक के बहुत दिनों तक होती रहीं।"

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी सहित समस्त उदारवादी नेताओं ने बंगाल विभाजन और सरकारी नीति की कटु आलोचना की। गोपालकृष्ण गोखले ब्रिटिश सरकार के सामने स्थिति स्पष्ट करने के लिए लन्दन गये और उन्होंने भारत सचिव से बंगाल का विभाजन रद्द करने के लिए प्रार्थना की। एक समाचार-पत्र 'स्टेट्समेन' ने लिखा कि, "ब्रिटिश भारत में ऐसा समय कभी नहीं देखा गया कि जब जन-विचारों की ओर केन्द्र सरकार ने इतना कम ध्यान दिया हो जितना वर्तमान प्रशासन दे रहा है।" विधायिका में गोखले ने कहा, "महोदय, बंगाल को शान्त कीजिए।" काँग्रेस ने इसे अखिल भारतीय प्रश्न बनाया और उदारवादियों ने इंगलैण्ड के उदारवादियों के एक समूह के समर्थन तथा सिविल सेवाओं के कुछ लोगों की सहायता से ब्रिटिश सरकार से अपील की कि इस योजना में चाहे जितने भी गुण क्यों न हो, जब यह पता चल गया कि यह राष्ट्रीय विचारधारा के साथ मेल नहीं खाता तो इसे तुरन्त त्याग दिया जाना चाहिए। किन्तु कर्जन के समर्थकों ने इसे उचित ठहराया। इतिहासकार पी.ई. राबर्ट्स के अनुसार, "कर्जन ने यह कदम प्रशासन की श्रेष्ठता के लिये उठाया था। उसकी दृष्टि में यह परिवर्तन प्रशासकीय सीमाओं का पुनर्गठन मात्र था, जन-भावना को ठेस पहुँचाना उसका लक्ष्य नहीं था। इस निर्णय को लेने से पूर्व कर्जन को क्या मालूम था कि उसके विरुद्ध इतना भयंकर आन्दोलन उठ खड़ा होगा और एक बार निर्णय करके पीछे हटना उसकी नीति के विरुद्ध था·············दृढ़ता के अभाव में प्रशासन का चक्र नहीं चलता। झुकने वाले प्रशासकों की साख खत्म हो जाती है और उन्हें जनसेवा से मुक्ति लेनी पड़ती है।" राबर्ट्स का यह कथन इतिहास का कोई भी विद्यार्थी स्वीकार नहीं कर सकता। यदि कर्जन जन-भावना को ठेस पहुँचाना नहीं चाहता था तो पूर्वी बंगाल की सभा में दिया गया उसका भाषण कि विभाजन का उद्देश्य एक मुस्लिम प्रान्त की रचना करना है, जहाँ केवल इस्लाम का प्रभुत्व हो, जन-भावना का आदर करने वाला कदापि नहीं था। राबर्ट्स का यह कथन कि, 'झुकने वाले प्रशासकों की साख खत्म हो जाती है' सर्वथा मिथ्या है। 1883 ई. में इल्बर्ट-बिल-विवाद के समय रिपन को झुकना पड़ा था। इससे रिपन की साख खत्म क्यों नहीं हुई ? इसलिये कि वह यूरोपियनों के समक्ष झुका था ? सत्य तो यह है कि जन-भावनाओं का सम्मान करते हुए यदि किसी प्रशासक को अपना निर्णय बदलना भी पड़े तो उसका हम जनतान्त्रिक प्रशासक के रूप में सम्मान कर सकते हैं।

आन्दोलन का महत्त्व एवं प्रभाव—बंग-भंग आन्दोलन भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास का एक स्वर्णिम अध्याय है। इस आन्दोलन के फलस्वरूप भारतीय राजनीति में स्वदेशी आन्दोलन का समावेश हुआ। इस आन्दोलन से सोयी हुई भारतीय जनता जागृत हो उठी। वस्तुतः वन्देमातरम् के नारों ने जनता की सुप्त भावनाओं को जागृत कर दिया। इस आन्दोलन

के फलस्वरूप जो राष्ट्रीय एकता की प्रबल भावना जागृत हुई उसने स्वतन्त्रता-प्राप्ति की इच्छा को अधिक दृढ़ बना दिया। भारत के राष्ट्रवादियों को यह विश्वास हो गया कि बंगाल की बढ़ती हुई राष्ट्रीयता को कुचलने का प्रयास किया गया है। इसलिए लोगों का उदारवादियों के प्रति विश्वास जाता रहा। स्वयं गोखले ने, जो उदारवादी नेता थे, कहा कि, "नवयुवक यह पूछने लगे हैं कि संवैधानिक उपायों का क्या लाभ है, यदि इनका परिणाम बंगाल का विभाजन ही होना था।" अतः बंगाल विभाजन की घटना ने भारतीय राजनीति में उग्रवादिता को प्रगति प्रदान की। भारतीयों का अँग्रेजों की न्यायप्रियता से विश्वास समाप्त हो गया तथा उदारवादी नेताओं की 'भिक्षावृत्ति' की नीति से लोग क्रुद्ध हो उठे। काँग्रेस के अन्दर उग्रवादियों की संख्या बढ़ गई और उन्होंने उग्रवादी उपायों को अपनाना ही श्रेयस्कर समझा। भारतीय राजनीति में उग्रवादियों की लोकप्रियता में वृद्धि हो गई। चूँकि ब्रिटिश सरकार भारत में बंगाल-विभाजन के विरुद्ध आन्दोलन करने वालों के साथ बहुत सख्ती का व्यवहार कर रही थी, इसलिए लोगों ने समझा कि सभाएँ करने से काम नहीं चलेगा, इसलिए किन्हीं अन्य प्रभावशाली उपायों को अपनाने की आवश्यकता है। जब ब्रिटिश सरकार ने उग्रवादियों पर भीषण अत्याचार करना आरम्भ कर दिया, तब कुछ देशभक्तों ने इन अत्याचारों का प्रत्युत्तर क्रान्तिकारी एवं आतंकवादी आन्दोलन चलाकर दिया।

इस आन्दोलन का महत्त्वपूर्ण परिणाम विदेशी माल का बहिष्कार, स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग तथा स्वदेशी संस्थाओं पर बल दिया जाना था। आगे चलकर महात्मा गाँधी ने 'स्वदेशी' को राष्ट्रीय आन्दोलन में एक प्रमुख अस्त्र के रूप में प्रयोग किया। उग्रवादी नेता लाला लाजपतराय ने कहा कि, "इस व्यापारी जाति के लिये व्यापार की हानि न्याय की नैतिकता के वाद-विवादों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली होगी।" बंग-भंग की अवधि में लॉर्ड कर्जन ने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति अपनाकर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एक खाई उत्पन्न कर दी, जो उत्तरोत्तर गहरी होती गई और साम्प्रदायिकता भारतीय राजनीति का नासूर बन गई। आन्दोलन के दौरान अनेक स्थानों पर दंगे हुए तथा हिन्दुओं के साथ घोर अन्याय किया गया। फलस्वरूप एक बार पुनः हिन्दू धर्म अपने सांस्कृतिक गौरव की प्रतिष्ठा को आँकने की तैयारी करने लगा। वस्तुतः यह आन्दोलन भारत के राष्ट्रीय रंगमंच पर किया गया एक सफल आन्दोलन था, जिसने सर्वसाधारण की धड़कनों के साथ तादात्म्य स्थापित कर हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नया मोड़ प्रदान किया।

यह महान् आन्दोलन दिसम्बर, 1911 ई. तक चलता रहा। इसके बाद भारतीयों के इस संगठित विरोध को शान्त करने के लिये भारत सरकार को विवश होकर 1911 ई. में बंगाल विभाजन रद्द करना पड़ा और सरकार की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली कर दी गई। पहली बार ब्रिटिश सरकार को भारतीय जनमत के समक्ष झुकना पड़ा।

अध्याय-12

उग्र राष्ट्रीयता और उग्रवादी आन्दोलन

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम चरण (1885-1905 ई.) में काँग्रेस पर उदारवादियों का प्रभुत्व था तथा दूसरे चरण की शुरूआत उग्रवादी राजनीति के उदय से होती है। काँग्रेस के आन्दोलन के प्रथम चरण में उदारवादी नेताओं को ब्रिटिश राजभक्ति और अँग्रेजों की न्यायप्रियता में असीम विश्वास था। वे वैधानिक तथा कानूनी साधनों द्वारा राजनीतिक एवं प्रशासकीय सुधारों की प्राप्ति चाहते थे। प्रारम्भिक वर्षों में काँग्रेस की सदस्य संख्या और लोकप्रियता में वृद्धि हुई थी। लेकिन इस युग में काँग्रेस का आन्दोलन केवल एक उच्चवर्गीय आन्दोलन ही रहा और सामान्य जनता पर इसका प्रभाव बहुत ही कम रहा। वर्ष में एक बार केवल तीन दिन के लिए इसके सदस्य एक जगह एकत्रित होकर कुछ प्रस्ताव पास कर देने से अधिक इसका कोई कार्य नहीं था। काँग्रेस पर उदारवादी विचारधारा का प्रभाव मुख्यतः 1905 ई. तक और उसके कुछ बाद भी बना रहा। 1905 ई. तक काँग्रेस, विधान सभाओं में निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि, भारत सचिव की कौंसिल में भारतीयों की नियुक्ति, सरकारी नौकरियों में भारतीयों को अँग्रेजों के समान अवसर देने आदि की माँग करती रही। लेकिन ब्रिटिश सरकार इन माँगों की अनदेखी करती रही। 1890 ई. के बाद तो सरकार स्पष्टतः काँग्रेस-विरोधी हो गई। काँग्रेस जिस मार्ग का अनुसरण कर रही थी उससे देश में तथा स्वयं काँग्रेस के अन्दर असन्तोष उत्पन्न हो गया। 1893 ई. में अरविन्द घोष ने अपना नाम दिये बिना बम्बई से प्रकाशित 'इन्दु प्रकाश' में कई लेख लिखकर काँग्रेस की नीति की कड़ी आलोचना की। इस प्रकार 1885-1905 ई. के मध्य कुछ घटनाएँ ऐसी घटित हुईं कि काँग्रेस आन्दोलन में एक नया मोड़ आ गया तथा इन घटनाओं ने अँग्रेज विरोधी भावनाओं को प्रोत्साहित किया।

काँग्रेस के प्रति सरकार की विरोधी नीति के कारण शिक्षित भारतीयों में एक नई राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई, क्योंकि बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के लिए उदारवादियों की आवेदन-निवेदन की कार्य-पद्धति सर्वथा अनुपयुक्त थी। काँग्रेस की इस कार्य-पद्धति की घोर प्रतिक्रिया हुई। सार्वजनिक क्रोध भड़क उठा और काँग्रेस के नवयुवक सदस्य क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए अधीर हो उठे। फलस्वरूप भारत के राजनीतिक क्षितिज पर दो विचारधाराएँ परिलक्षित होने लगीं। एक विचारधारा ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत सुधार चाहती थी तथा पश्चिमीकरण की समर्थक थी। दूसरी विचारधारा आवेदन-निवेदन की नीति तथा पश्चिमीकरण की घोर विरोधी

थी। पहली विचारधारा के लोगों का दल उदारवादी दल अथवा नरम दल कहलाया और दूसरी विचारधारा को अँग्रेज लेखकों ने उग्र राष्ट्रीयता या उग्रवादी या गरम दल कहकर सम्बोधित किया। जहाँ उदारवादियों को बुद्धिजीवी तथा शहरी मध्यम वर्ग से सहयोग प्राप्त था, वहाँ उग्रवादी नेता निम्न मध्यम वर्ग, विद्यार्थियों, यहाँ तक कि मजदूरों और किसानों के पास अपील लेकर गये। उदारवादी सामाजिक समानता की माँग इस आधार पर करते थे कि वे ब्रिटिश सरकार की प्रजा हैं, लेकिन उग्रवादियों का कहना था कि सामाजिक समानता और राजनैतिक स्वतन्त्रता उनका जन्मसिद्ध अधिकार है। उदारवादियों ने इंगलैण्ड के निवासियों से अपील की और अपने विश्वास का आधार ब्रिटिश इतिहास और ब्रिटिश राजनैतिक विचारधारा को बनाया। लेकिन उग्रवादियों को अँग्रेजों की न्यायप्रियता में तनिक भी विश्वास नहीं था तथा भारत की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति में दृढ़ विश्वास था। अतः उग्रवादियों ने भारतीय संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण की और धार्मिक देशभक्ति को प्रोत्साहित किया। उग्रवादियों की दृष्टि में आवेदन-निवेदन की नीति 'भिक्षावृत्ति' की नीति थी। वे राजनैतिक दासता से मुक्ति पाने के लिए आत्मनिर्भर और आत्मविश्वासी होना अत्यन्त आवश्यक समझते थे, जो स्वदेशी, बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध से प्राप्त किया जा सकता था। इस प्रकार काँग्रेस के अन्दर ही उग्र राष्ट्रवादियों के नये दल का उदय एवं विकास हुआ। उग्र राष्ट्रीयता के विकास में निम्नलिखित तत्त्वों का योगदान रहा—

(1) काँग्रेस की माँगों की उपेक्षा—1888 से 1905 तक ब्रिटेन में अनुदार दल का आधिपत्य रहा। यह दल भारत में किसी तरह के सुधार का पक्षपाती नहीं था, बल्कि उसने भारतीयों के प्रति प्रजातीय विभेद की नीति को व्यापक रूप से लागू किया। 1892 के सुधार सर्वथा अपर्याप्त थे, क्योंकि इस अधिनियम के द्वारा केवल भारतीय सदस्यों की संख्या में वृद्धि करदी गई, किन्तु प्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया गया। काँग्रेस की माँगों के बावजूद न तो अँग्रेजों की प्रतिक्रियावादी नीति में और न प्रजातीय विभेद की नीति में कमी आई। गोखले जैसे उदारवादी नेता ने भी कह दिया कि सरकार जिस प्रतिक्रियावादी नीति का अनुसरण कर रही है उसका परिणाम सरकार के लिये भयानक सिद्ध हो सकता है। फिर भी काँग्रेस ब्रिटिश-सरकार से विधान परिषदों के विस्तार, निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि और सरकारी नौकरियों में भारतीयों को अँग्रेजों के समान अवसर देने की माँग करती रही लेकिन ब्रिटिश सरकार इन माँगों की उपेक्षा करती रही। इससे काँग्रेस के नौजवान नेता बेचैन हो उठे। इन नेताओं में लोकमान्य तिलक, विपिन चन्द्र पाल और लाला लाजपतराय प्रमुख थे। लाला लाजपतराय ने कहा कि, "भारतीयों को अब भिखारी बने रहने में सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये और न अँग्रेजी सरकार के सामने गिड़गिड़ाना चाहिये।" उन्होंने यह भी कहा कि अँग्रेजों द्वारा काँग्रेस की माँगों की उपेक्षा का कारण यह था कि अधिकांश काँग्रेसी नेताओं में त्याग और बलिदान की भावना नहीं है। अपनी माँगों को स्वीकार कराने के लिए त्याग और बलिदान की आवश्यकता है।

(2) भारत का तीव्र आर्थिक शोषण—अँग्रेजों ने इंगलैण्ड को लाभ पहुँचाने के लिये भारत में सभी उद्योग समाप्त कर दिये और भारत को केवल कच्चे माल की मण्डी बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत से करोड़ों रुपया प्रतिवर्ष बाहर जाने लगा और भारत की जनता दिन-प्रतिदिन निर्धन होती गई। 1870 के बाद भारतीय नेताओं का ध्यान इन आर्थिक

परिणामों की ओर आकर्षित हुआ। भारतीय उद्योगों का विनाश, कपास की बनी चीजों पर आयात-कर में कमी और भारतीय मिलों में तैयार होने वाले कपड़े पर $7\frac{1}{2}$ प्रतिशत उत्पादन शुल्क, कृषि पर भू-राजस्व का अत्यधिक बोझ जिससे किसानों की बढ़ती हुई निर्धनता और शासन के उच्च पदों से भारतीयों की पदच्युति, ऐसी समस्याएँ थीं, जिनसे यह स्पष्ट हो गया कि अँग्रेज केवल भारत से धन लूटकर ले जाना ही अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे।

भारतीय नेताओं ने अपनी पुस्तकों द्वारा अँग्रेजों की आर्थिक शोषण की नीति स्पष्ट की। उन्होंने बताया कि भारत में महत्त्वपूर्ण व्यापारिक प्रतिष्ठान अँग्रेजों के नियन्त्रण में हैं और कपड़ा उद्योग भारतीयों के नियन्त्रण में है, किन्तु उसके विकास में अँग्रेजों ने अनेक बाधाएँ उपस्थित कर दी हैं और सरकार की आर्थिक नीति के फलस्वरूप देश में बेकारी और भुखमरी फैली हुई है। इससे भारतीयों में घोर असन्तोष फैलने लगा तथा काँग्रेस के नौजवान नेता यह समझने लगे कि जब तक भारत पराधीन रहेगा, तब तक उसका आर्थिक शोषण जारी रहेगा। अतः उनमें से बहुत से लोग भारत में ब्रिटिश सत्ता को पलटने के लिये कटिबद्ध हो गये।

(3) अकाल और महामारी—अँग्रेज सरकार की आर्थिक नीतियों के फलस्वरूप 1896-97 तथा 1899-1900 में देश में भयंकर दुर्भिक्ष और महामारी फैल गई। दुर्भिक्ष और प्लेग की महामारी ने करोड़ों लोगों की जानें ले लीं। इस अवसर पर प्रशासन का जनता के प्रति अमानवीय व्यवहार और अधिक स्पष्ट हो गया। अकाल से छुटकारा पाने के लिए सरकार ने जिस मन्द गति से कार्य किया वह लगभग नगण्य सिद्ध हुआ। बम्बई में प्लेग के प्रकोप की रोकथाम के लिए अँग्रेज अधिकारियों ने बड़े ही अमानवीय ढँग से लोगों को बलपूर्वक घरों से निकाल दिया। पूना में रोग का उपचार सेना को सौंप दिया गया और आज्ञा प्रसारित कर दी कि सिपाही घरों में जाकर व्यक्तियों की जाँच करेंगे। फलस्वरूप विदेशी सिपाही भारतीयों के घरों में घुस जाते थे और स्त्रियों की जाँच करने के बहाने उनके साथ अत्यन्त ही अशिष्ट व्यवहार करते थे। इससे जनता का क्रोध भड़क उठा और एक नौजवान दामोदर हरि चापेकर ने पूना के प्लेग कमिश्नर रैण्ड और उसके सहायक लेफ्टिनेण्ट एयर्स्ट की हत्या कर दी। उस नौजवान को फाँसी की सजा दे दी गई। लोकमान्य तिलक ने अपने समाचार-पत्र 'केसरी' में सरकार की कटु आलोचना की थी। अतः तिलक पर उस नवयुवक को भड़काने का आरोप लगाकर उन्हें 18 महीने की सख्त कैद की सजा दे दी गई और पूना में दण्ड देने वाली पुलिस तैनात कर दी गई। इन घटनाओं ने भारतीयों को झकझोर दिया। अँग्रेज भक्त काँग्रेस के नेताओं का भी अँग्रेजी न्यायप्रियता तथा ईमानदारी पर विश्वास डगमगाने लगा। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा, "हम पूना में दण्ड देने वाली पुलिस ठहराना गलत समझते हैं। तिलक और पूना के कुछ अन्य सम्पादकों को कैद में डालना और भी अधिक गलत समझते हैं। तिलक की कैद पर सारा राष्ट्र रो रहा है।" श्रीमती एनीबीसेण्ट की मान्यता थी कि इन्हीं घटनाओं ने भारत में उग्रवाद का विकास किया।

(4) सांस्कृतिक नवजागरण—अँग्रेजों ने भारतीयों को यह बताने की चेष्टा की कि भारत पर आक्रान्ता सदैव सफल रहे हैं और इसका कारण भारतीयों की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और सैनिक दुर्बलताएँ हैं। उन्होंने यह भी बताने का प्रयास किया कि पाश्चात्य संस्कृति, भारतीय संस्कृति से श्रेष्ठ है। अँग्रेजों ने जिस प्रकार की शिक्षा का विकास किया, उसमें भी उनका उद्देश्य

भारत में पाश्चात्य संस्कृति का प्रसार करना था। काँग्रेस के उदारवादी नेता भी ब्रिटिश सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठता में विश्वास रखते थे। इसलिए वे ब्रिटिश साम्राज्य को भारत के लिए आवश्यक मानते हुए ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत सुधार चाहते थे। किन्तु भारत की विभिन्न सामाजिक एवं धार्मिक सुधार संस्थाओं ने, जिनके प्रणेता स्वामी विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती तथा श्रीमती एनीबीसेण्ट थे, बताया कि किस प्रकार भारतीय सभ्यता और संस्कृति, पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से श्रेष्ठ है। श्रीमती एनीबीसेण्ट ने तो यहाँ तक कह दिया था कि विश्व का कोई धर्म इतना पूर्ण नहीं है जितना हिन्दू धर्म। फलस्वरूप भारतीयों को अपने प्राचीन गौरव का ज्ञान हुआ। काँग्रेस के नौजवान नेताओं में धार्मिक उत्साह अधिक था और वे पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के घोर विरोधी थे। अतः उन्होंने भी प्राचीन भारतीय धर्म और संस्कृति को श्रेष्ठ बताकर भारतीय युवकों में आत्मविश्वास उत्पन्न किया। इस आत्मविश्वास से भारतीयों को विदेशी शासन के प्रतिकार करने का, कष्ट सहने का तथा आवश्यकता पड़ने पर बलिदान करने का दृढ़ निश्चय प्रदान किया। विपिनचन्द्र पाल स्वराज्य भिक्षा या भेंट के रूप में नहीं चाहते थे, बल्कि जनता के त्याग और बलिदान से प्राप्त करना चाहते थे।

(5) लॉर्ड कर्जन एवं अन्य वायसरायों की नीतियाँ—जैसा कि ऊपर बताया गया है, 1885 से 1905 तक इंगलैण्ड में अनुदार दल की सरकार सत्ता में रही। इस काल में भारत में तीन वायसराय आये—लॉर्ड लैन्सडाउन, लॉर्ड एल्गिन और लॉर्ड कर्जन। ये तीनों भारतीयों से घोर घृणा करते थे। लॉर्ड लैन्सडाउन तथा एल्गिन के काल में अनेक दमनकारी कानून बनाये गये। लॉर्ड एल्गिन के समय भयंकर अकाल पड़ा। किन्तु उसने जनता के राहत कार्यों की ओर कोई ध्यान न देकर दिल्ली में एक शानदार दरबार आयोजित कर उस पर लाखों रुपया खर्च कर दिया। इसलिये लालमोहन घोष ने 1903 में मद्रास काँग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में इस दिल्ली दरबार की कटु आलोचना की। एल्गिन ने रिटायर होते समय शिमला के एक क्लब में भाषण देते हुए कहा कि, "हिन्दुस्तान तलवार की जोर पर जीता गया था और तलवार के ज़ोर से ही उसकी रक्षा की जायेगी।"

लॉर्ड कर्जन की दमनकारी नीतियों ने जले पर नमक छिड़कने का कार्य किया। 1899-1901 के बीच दो बार अकाल पड़ा। अकाल राहत कार्यों में अँग्रेज अधिकारियों का दृष्टिकोण अत्यन्त कठोर और अमानवीय था। कर्जन ने प्रजातीय विभेद नीति को अधिक उग्र कर दिया। 1899 में उसने कलकत्ता निगम अधिनियम पारित कर निगम की स्वायत्तता छीन ली। 1904 में विश्वविद्यालय अधिनियम पारित कर विश्वविद्यालयों का सरकारीकरण कर दिया। 1905 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण में बोलते हुए उसने कहा, "सत्य का उच्च आदर्श अधिकतर पश्चिमी विचार है। इस आदर्श ने पहले पश्चिमी नैतिक परम्परा में उच्च स्थान बना लिया। बाद में यह आदर्श पूर्व में भी आया, जहाँ पहले चालाकी और कुटिलता आदर पाती रही।" इससे जनता में क्रोध व्याप्त हो गया और भारतीयों के एक प्रतिनिधि मण्डल ने कर्जन से मिलने की अनुमति माँगी ताकि उसे भारतीयों के वास्तविक चरित्र का ज्ञान कराया जा सके, किन्तु कर्जन ने उनसे मिलने से इन्कार कर दिया। उसने तो यहाँ तक कह दिया कि, "केवल अँग्रेज ही भारत पर शासन करने के योग्य हैं तथा ईश्वर ने अँग्रेजों को ही भारत पर शासन करने के लिये

चुना है और भारत को स्वतन्त्रता प्रदान करना ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध है।" राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलने के लिये उसने बंगाल का विभाजन कर दिया। ये समस्त घटनाएँ ऐसीं थीं, जिनसे अँग्रेजों की ईमानदारी से अधिकांश शिक्षित वर्ग का विश्वास समाप्त हो गया।

(6) विदेशी घटनाएँ—ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीयों के साथ व्यवहार असन्तोष का एक मुख्य कारण था। दक्षिणी अफ्रीका में उन्हें नीच जाति का मनुष्य समझा जाता था। उनकी गतिविधियों पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाये गये थे। वे रेल के प्रथम श्रेणी के डिब्बे में यात्रा नहीं कर सकते थे और रात के नौ बजे के बाद घर से बाहर नहीं निकल सकते थे। अतः भारतीयों ने अनुभव किया कि इस दुर्व्यवहार का कारण भारत की पराधीनता है और इस अत्याचार को समाप्त करने का एकमात्र मार्ग भारत को स्वतन्त्र करवाना है। इसके अतिरिक्त 1896 में अबीसीनिया ने इटली को तथा 1904-5 में जापान ने रूस को जब पराजित कर दिया तो भारतीयों को विश्वास हो गया कि यूरोपीय शक्तियाँ अजेय नहीं हैं। कुछ भारतीय नेताओं ने जापान की प्रगति का अध्ययन आरम्भ किया और यह सोचने के लिए विवश हो गये कि जापान के तरीकों पर भारत को भी शक्तिशाली बनाया जाय ताकि वे भारत को अँग्रेजों से मुक्त करवा सकें।

(7) बंगाल विभाजन और स्वदेशी आन्दोलन—बंगाल की बढ़ती हुई राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलने के उद्देश्य से लॉर्ड कर्जन ने 1905 में बंगाल का विभाजन कर दिया। कर्जन का कहना तो यह था कि प्रशासनिक सुविधा के लिये ऐसा किया गया था, किन्तु उसका मूल उद्देश्य हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालकर उनकी राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलना था। पूर्वी बंगाल में जहाँ मुसलमानों का बहुमत था, वहाँ उसने मुसलमानों को हिन्दुओं के विरुद्ध भड़काया कि इस बँटवारे से पूर्वी बंगाल में इस्लाम का प्रभुत्व हो जायेगा और हिन्दुओं की प्रधानता समाप्त हो जायेगी। इस प्रकार बंगाल का विभाजन भारत की राष्ट्रीय एकता पर धूर्ततापूर्ण आक्रमण था। इस विभाजन ने सामान्य बंगालियों को उत्तेजित कर दिया और बंगाल में नई पीढ़ी के कुछ युवक अँग्रेजी सत्ता के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह की योजना बनाने लगे। लोगों का नरम दल में विश्वास समाप्त हो गया।

बंगाल विभाजन का विरोध करने के लिये अनेक सभाएँ आयोजित की गईं तथा वन्दे मातरम् का गान करती हुई अनेक टोलियाँ जुलूस के रूप में निकलीं। सरकार ने दमन-नीति का सहारा लिया। लोगों ने इसका प्रत्युत्तर विदेशी कपड़े का बहिष्कार करके और स्वदेशी आन्दोलन चलाकर दिया। अनेक स्थानों पर विदेशी कपड़ों की होलियाँ जलाई गईं। सरकार ने भी अपनी दमन-नीति तेज कर दी। गोखले ब्रिटिश सरकार के सामने स्थिति स्पष्ट करने के लिये लंदन गये तथा भारत सचिव लॉर्ड मार्ले को बंगाल विभाजन रद्द करने की प्रार्थना की, किन्तु लॉर्ड मार्ले ने इस बात को मानने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। इसलिये लोगों का नरम दल के प्रति विश्वास जाता रहा। स्वयं गोखले ने, जो नरम दल के नेता थे, कहा कि, "नवयुवक यह पूछने लगे हैं कि संवैधानिक उपायों का क्या लाभ है, यदि इनका परिणाम बंगाल का विभाजन हो जाना था।" चूँकि ब्रिटिश सरकार भारत में बंगाल के बँटवारे के विरुद्ध आन्दोलन करने वालों के साथ बहुत सख्ती का व्यवहार कर रही थी, इसलिये लोगों ने समझा कि सभाओं के करने से काम नहीं चलेगा,

इसलिये किन्हीं अन्य प्रभावशाली उपायों को अपनाने की आवश्यकता है। इससे उग्रवाद और आतंकवाद को काफी बल मिला।

उग्र दल का विकास तथा अन्तिम विस्फोट

काँग्रेस की सविनय प्रार्थना की नीति की असफलता के कारण उग्र दल के लोगों की लोकप्रियता बढ़ती जा रही थी। उदारवादियों और उग्रवादियों में पर्याप्त सैद्धान्तिक मतभेद थे। उदारवादी सरकार की न्यायप्रियता में विश्वास करते हुए अधिराज्य स्थिति (Dominion Status) अर्थात् ब्रिटिश सत्ता के अन्तर्गत स्वशासन चाहते थे, जबकि उग्रवादियों का लक्ष्य स्वराज्य प्राप्ति था। उदारवादी सविनय प्रार्थना की नीति में विश्वास रखते थे, क्योंकि उनकी मान्यता थी कि आवश्यक बोध हो जाने पर अँग्रेज अपनी नीति में परिवर्तन कर लेंगे। किन्तु उग्रवादी सविनय प्रार्थना की नीति के विरोधी थे, क्योंकि वे अँग्रेजों की न्यायप्रियता को धोखा समझते थे। उनका विश्वास था कि भिक्षावृत्ति से अँग्रेज कुछ भी देने वाले नहीं हैं, इसलिये हमें अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिये। उग्रवादी अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार व स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार पर जोर देते थे। किन्तु उदारवादी ऐसे किसी राजनीतिक आन्दोलन में विश्वास नहीं करते थे।

उदारवादियों व उग्रवादियों के सैद्धान्तिक मतभेद दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे थे। 1905 में काँग्रेस के बनारस अधिवेशन में सर्वप्रथम इन नेताओं ने अपने अनुयायियों के साथ अलग बैठक की। क्योंकि अधिवेशन में उग्रवादी गुट ने कुछ प्रस्ताव रखे थे, लेकिन नरम दल के विरोध के कारण वे प्रस्ताव पारित नहीं हो सके। अक्टूबर, 1905 में बंगाल का विभाजन कर दिया गया था। तत्पश्चात् 1906 में कलकत्ता में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ, जिसमें उग्रवादियों ने काँग्रेस के अध्यक्ष पद के लिये लोकमान्य तिलक का नाम प्रस्तावित किया, किन्तु नरम दल ने इसका विरोध किया। अन्त में वयोवृद्ध नेता दादाभाई नौरोजी को अध्यक्ष बनाने पर दोनों पक्ष सहमत हो गये। फिर भी उग्रवादियों ने स्वराज्य, स्वदेशी, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा सम्बन्धी प्रस्ताव पास करवा लिये। इसलिए इस अधिवेशन में उग्रवादियों की जीत हुई। इस अधिवेशन में भी दादाभाई नौरोजी ने काँग्रेस का लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य उपनिवेशों की भाँति ही भारत के लिए भी अधिराज्य स्थिति प्राप्त करना बताया।

यद्यपि कलकत्ता अधिवेशन में उग्रवादियों की सारी बातें मान ली गई थीं, किन्तु उदारवादी उन प्रस्तावों को कार्यान्वित करने को तैयार नहीं थे। दूसरी ओर लॉर्ड मिण्टो उग्रवादी दल को प्रभावशाली नहीं बनने देना चाहता था। अतः उसने भावी सुधारों के लिए उदारवादियों से विचार-विमर्श आरम्भ कर दिया। इंगलैण्ड में भारत सचिव लॉर्ड मार्ले और गोखले में एक प्रकार का समझौता भी हो चुका था। इधर उदारवादी काँग्रेस के संविधान में ऐसा संशोधन करना चाहते थे ताकि 1906 में स्वीकृत सभी प्रस्ताव समाप्त हो जायँ। इसलिये उग्रवादियों द्वारा उदारवादियों पर सन्देह करना स्वाभाविक ही था। फलस्वरूप काँग्रेस के दोनों गुटों में मतभेद की खाई चौड़ी होती गई। इन परिस्थितियों में 1907 में काँग्रेस का सूरत में अधिवेशन हुआ। यह अधिवेशन दोनों पक्षों के शक्ति-परीक्षण का स्थल बन गया। नरम दल ने अध्यक्ष पद के

लिए डॉ. रासविहारी घोष का नाम प्रस्तावित किया, किन्तु उग्र दल ने लाला लाजपतराय का नाम प्रस्तावित किया। नरम दल वालों का उस समय काँग्रेस में बहुमत था। ऐसी परिस्थितियों में लाला लाजपतराय ने अपना नाम वापस ले लिया। इसके बाद उग्रवादियों ने खुले चुनाव की माँग की तथा तिलक ने मंच पर आकर अध्यक्ष के निर्वाचन के सम्बन्ध में कुछ आपत्तियाँ उठानी चाहीं, किन्तु उन्हें वोलने की अनुमति नहीं दी गई। इसी समय श्रोताओं में से किसी ने एक जूता सुरेन्द्र नाथ बनर्जी पर फेंका और फिर पूरे पण्डाल में अव्यवस्था फैल गई। यहाँ तक कि मेजों और कुर्सियों को एक-दूसरे पर फेंका गया। काँग्रेस अधिवेशन स्थगित कर दिया गया। दूसरे दिन 25 दिसम्वर, 1907 को फिर शोरगुल मचा तथा आपस में जूते और लाठियाँ तक चल गईं। इसलिये पुलिस आ गयी और वलपूर्वक काँग्रेस भवन खाली कराया गया। इसके बाद नरम दल ने अपना सम्मेलन किया और अपना अलग विधान बनाया। उन्होंने उग्रवादियों को काँग्रेस से निकाल दिया। इस प्रकार गोखले और तिलक के अनुयायी अलग-अलग हो गये। सूरत में काँग्रेस की इस फूट का कारण यह बताया जाता है कि स्वयं अँग्रेज सरकार नरम दल को प्रोत्साहित कर रही थी ताकि उग्र दल काँग्रेस से अलग हो जाय। अँग्रेज सरकार को आखिर अपनी कुटिल नीति में सफलता मिल ही गई।

सूरत अधिवेशन के बाद तिलक ने अकेले ही संघर्ष आरम्भ किया और बम्बई के कोने-कोने में देशभक्ति की आग लगा दी। उन्होंने अपने तूफानी दौरों में बहुत-सा धन भी जमा कर लिया। उन्होंने लोगों से कहा, "स्वराज्य के लिए काम करो और कष्ट उठाने के लिए तैयार हो जाओ। हम स्वराज्य की माँग कर रहे हैं। स्वराज्य हमसे दूर नहीं है, वह उसी क्षण हमारे पास आ जायेगा, जिस क्षण हम अपने पाँवों पर खड़ा होना सीख लेंगे।" सभाओं में उनका नारा था, "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, मैं इसे लेकर रहूँगा।"

काँग्रेस की फूट का परिणाम—काँग्रेस की फूट का अँग्रेज सरकार ने लाभ उठाया तथा उग्रवादियों के विरुद्ध अपना दमन-चक्र छोड़ दिया। लाला लाजपतराय को बन्दी बनाकर माण्डले भेज दिया। 1908 में समाचार-पत्र अधिनियम द्वारा समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता समाप्त कर दी गई। 1908 में 'केसरी' समाचार-पत्र में सरकार के विरुद्ध लिखे गये लेख के आधार पर लोकमान्य तिलक को 6 वर्ष की सख्त कैद की सजा दी गई। 1911 में षड्यन्त्रकारी सभा अधिनियम पारित कर सार्वजनिक सभाओं पर पावन्दी लगा दी। अतः श्रीमती एनीवीसेण्ट ने कहा, "सूरत की फूट काँग्रेस के इतिहास में सबसे अधिक दुःखपूर्ण घटना है।" सरकार की इस दमनकारी नीति के कारण देश के नवयुवकों का खून खौल उठा और उन्होंने सरकार से बदला लेने के लिये गुप्त रूप से वम बनाने आरम्भ कर दिये। इस कारण देश में आतंकवादी और क्रान्तिकारी आन्दोलनों का विकास हुआ।

उग्र दल की कार्यविधि—उग्र दल का उद्भव एवं विकास नरम दल के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। अतः स्वाभाविक ही था कि वह नरम दल द्वारा प्रतिपादित सविनय प्रार्थना की नीति में विश्वास नहीं करता था। उस समय उदारवादी अँग्रेजी साम्राज्य से मुक्त भारत की कल्पना ही नहीं कर सकते थे, और इसीलिये वे भारत के लिये अधिराज्य स्थिति की माँग कर रहे थे। किन्तु उग्र दल के नेता अँग्रेजी साम्राज्य से सहयोग भारत के विकास में हानिकारक

समझते थे, क्योंकि उनको भारत की सभ्यता और संस्कृति में पूरा विश्वास था। इसलिये वे स्वराज्य की माँग कर रहे थे। नरम दल पूरे वर्ष में तीन या चार दिन का अधिवेशन कर प्रस्ताव पास करके उसके आधार पर अँग्रेजी सरकार को प्रार्थना-पत्र भेजकर अपने कार्य की इति श्री समझ लेते थे, जबकि उग्र दल का लक्ष्य ब्रिटिश सरकार को प्रभावित करने के लिये प्रभावशाली ढंग से आन्दोलन करना तथा लोगों में त्याग और बलिदान की ऐसी भावना उत्पन्न करना था कि शासकों को विवश होकर उनके समक्ष झुकना पड़े। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार और राष्ट्रीय शिक्षा पर अधिक बल देते थे। लाला लाजपतराय का कहना था कि, "इस व्यापारी जाति के लिये व्यापार की हानि कहीं अधिक प्रभावशाली होगी।

उग्रवादियों का कार्यक्रम केवल सत्याग्रह अथवा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तक ही सीमित नहीं था। वे राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति की स्थापना चाहते थे, ताकि इस प्रकार की शिक्षा से ऐसे देशभक्त, स्वयंसेवक निकल सकें जो आत्मनिर्भरता तथा स्वतन्त्र कार्यवाही में विश्वास करते हों ताकि सरकार पर निर्भरता कम हो सके।

उग्रवादी राष्ट्रीयता की विशेषताएँ—उग्रवादी स्वतन्त्रता के महान् उपासक थे। उनके लिये स्वराज्य केवल एक राजनीतिक ही नहीं बल्कि नैतिक और धार्मिक आवश्यकता थी। उग्रवादी राष्ट्रीयता की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं—

(1) उग्र राष्ट्रवादी पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति से घृणा करते थे और भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को श्रेष्ठ मानते थे। धर्म एवं समाज-सुधार आन्दोलनों से उन्हें विशेष प्रेरणा मिली थी।

(2) उग्र राष्ट्रवादियों का उद्देश्य 'स्वराज्य' की प्राप्ति था। इसके अतिरिक्त वे अपनी संस्कृति एवं परम्पराओं के अनुरूप देशवासियों का चरित्र-निर्माण करना चाहते थे।

(3) उग्रवादियों को ब्रिटिश जाति की सर्वशक्तिशालिता, न्यायप्रियता एवं परोपकारिता में तनिक भी विश्वास नहीं था।

(4) उग्रवादी देश-हित, आत्म-निर्भरता व ईश्वर में विश्वास करते थे।

(5) उग्रवादियों का विश्वास था कि भारत और ब्रिटेन के आर्थिक हितों में पारस्परिक विरोध है। अतः वे शीघ्रातिशीघ्र ब्रिटेन से आर्थिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध विच्छेद करने के पक्ष में थे।

(6) भारतीयों में नयी राष्ट्रीयता जागृत करना तथा त्याग और बलिदान के मार्ग को अपनाना उग्रवादियों के प्रमुख साधन थे।

(7) उग्रवादियों को उदारवादियों की भिक्षावृत्ति की नीति में विश्वास नहीं था। वे सक्रिय राजनैतिक आन्दोलन के पक्ष में थे। उनका विश्वास था कि राजनीतिक सत्ता प्रार्थना करने से प्राप्त नहीं हो सकती।

उदारवादियों और उग्रवादियों में अन्तर—उदारवादी तथा उग्रवादी काँग्रेस के दो पक्ष थे, जिन्हें क्रमश— दक्षिणपंथी और वामपंथी कहा जाता था। दोनों पक्षों के उद्देश्यों में बहुत कुछ

समानता थी, लेकिन दोनों की कार्यविधि में मौलिक अन्तर था। दोनों दलों में निम्नलिखित अन्तर बताये जा सकते हैं—

(1) उदारवादी स्वभाव से नरम थे तथा अँग्रेजों की नेकनीयति पर पूरा विश्वास करते थे। इसके विपरीत उग्रवादी क्रान्तिकारी विचारों के थे।

(2) उदारवादियों पर पाश्चात्य संस्कृति का व्यापक प्रभाव था और वे पश्चिमीकरण के समर्थक थे, जवकि उग्रवादी भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति में दृढ़ विश्वास करते थे और वे हिन्दू राष्ट्रवाद से अत्यधिक प्रभावित थे।

(3) उदारवादी ब्रिटिश साम्राज्य को भारत के लिए वरदान समझते थे और भारत में अँग्रेजों के रहने में ही भारत का कल्याण समझते थे, जवकि उग्रवादी ब्रिटिश साम्राज्य को भारत के लिये अभिशाप मानते थे और भारत की सर्वांगीण प्रगति के लिए शीघ्रातिशीघ्र इसको समाप्त करना आवश्यक मानते थे।

(4) उदारवादी क्रान्तिकारियों की गतिविधियों को देश के हितों के विरुद्ध समझते थे। इसके विपरीत उग्रवादी क्रान्तिकारियों एवं राष्ट्रवादी तत्त्वों की गतिविधियों को देश के लिये हितकर समझते थे, किन्तु उग्रवादी हिंसात्मक साधनों के विरुद्ध थे।

(5) उदारवादियों का लक्ष्य भारत के लिये अधिराज्य स्थिति (Dominion Status) प्राप्त करना था, जवकि उग्रवादी पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना चाहते थे। इसीलिये कहा जाता है कि उग्रवादी अपने समय से आगे चलते थे।

(6) उग्रवादियों के पास स्वदेशी, स्वावलम्बन, राष्ट्रीय शिक्षा, सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक आदि सभी दृष्टियों से ठोस कार्यक्रम था, जवकि उदारवादियों के पास संसदीय क्षेत्रों में सरकार की गतिविधियों का गुण-अवगुण के आधार पर समालोचना करने के अतिरिक्त और कोई कार्यक्रम नहीं था।

(7) उदारवादी केवल संवैधानिक उपायों का प्रयोग उचित समझते थे अर्थात् अपनी माँगों के वारे में सरकार से सविनय प्रार्थना करने, भाषण देने, लेख लिखने, शिष्टमण्डल भेजने आदि का प्रयोग प्रभावशाली मानते थे। किन्तु उग्रवादी इन उपायों को राजनीतिक भिक्षावृत्ति मानते थे। वे तो अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिये राजनीतिक संघर्ष में विश्वास करते थे। उदारवादी किसी भी स्थिति में ऐसे साधनों का सहारा नहीं लेना चाहते थे जिससे अँग्रेजों की कठिनाइयाँ वढ़ें या उनके कार्य में कोई वाधा उत्पन्न हो। इसके विपरीत उग्रवादी अँग्रेजों की किसी कमजोरी का लाभ उठाकर उन्हें अधिक कमजोर वनाने तथा उनके मार्ग में हर प्रकार की वाधाएँ उत्पन्न करने में जरा भी नहीं हिचकते थे।

(8) उदारवादियों का कार्यक्षेत्र काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशन और संसदीय गतिविधियों तक सीमित था, जवकि उग्रवादी प्रत्येक गाँव और प्रत्येक शहर को अपने कार्यक्षेत्र में शामिल करना चाहते थे। इसीलिए लाला लाजपतराय ने कहा था कि हम अपने चेहरे जनता की झोंपड़ियों की ओर करना चाहते हैं।

(9) उदारवादियों के विचार में ब्रिटेन तथा भारत के हितों में कोई विशेष विरोध नहीं था। उनकी मान्यता थी कि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भी भारत का हित सम्भव है जबकि उग्रवादियों के विचार में ब्रिटेन और भारत के हित एक-दूसरे के विरुद्ध हैं। अँग्रेजों का उद्देश्य मात्र निजी स्वार्थ है और वे भारत का हित बिल्कुल नहीं चाहते। अतः भारत के विकास के लिए अँग्रेजों से सहयोग पाने की आशा व्यर्थ है।

(10) उदारवादी आन्दोलन केवल उच्च शिक्षित वर्ग तक सीमित था, जबकि उग्रवादी आन्दोलन देश के मध्यम वर्ग तथा जन-साधारण तक पहुँच गया था।

(11) उदारवादी मात्र काँग्रेस अधिवेशनों में प्रस्ताव पास कर अपने कार्य की इतिश्री समझ लेते थे, जबकि उग्रवादी पुरुषार्थ की भावना संजोकर कोई प्रभावशाली कदम उठाना चाहते थे।

इस प्रकार एक बुद्धि-पक्ष था तो दूसरा भाव-पक्ष। पहला पक्ष जहाँ कुछ मानसिक सुविधाएँ चाहता था वहीं दूसरा राष्ट्र में मानसिक परिवर्तन चाहता था। एक पक्ष में विश्वास की कमी थी तो दूसरा पक्ष पूर्ण आत्म-विश्वास से कार्य करना चाहता था। एक पक्ष देश की भूमि के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में अधिक सफल नहीं हुआ, जबकि दूसरा पक्ष अपने आकर्षक कार्यक्रमों के कारण देश की जनता का विश्वास जीतने में पूर्ण सफल हुआ। एक पक्ष भारतीय संस्कारों के अधिक अनुकूल नहीं था जबकि दूसरा पक्ष अधिक अनुकूल था।

निष्कर्षतः उदारवादियों तथा उग्रवादियों में पर्याप्त अन्तर होते हुए भी दोनों में विरोध नहीं था। दोनों ही सच्चे देश-भक्त और देश-प्रेमी थे। उन्हें एक-दूसरे का पूरक कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। यदि उदारवादी वाणी के क्षेत्र में थे तो उग्रवादी कर्म के क्षेत्र में। उदारवादी केवल आलोचना और प्रार्थना-पत्रों से सरकार को प्रभावित करना चाहते थे, जबकि उग्रवादी सक्रिय आन्दोलन का मार्ग अपनाने के पक्ष में थे। रामनाथ सुमन ने ठीक ही लिखा है कि, "जब हम नरम व गरम दोनों दलों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण और अध्ययन करते हैं तो मालूम पड़ता है कि हमारी राष्ट्रीयता के विकास में दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं और दोनों हमारी राजनीति के स्वाभाविक उपकरण हैं। वस्तुतः वे एक ही आन्दोलन के दो पक्ष हैं। एक ही दीपक के दो परिणाम हैं। पहला प्रकाश का द्योतक है, दूसरा गर्मी का। पहला बुद्धि-पक्ष है, दूसरा भाव-पक्ष। पहला जहाँ कुछ सुविधाएँ प्राप्त करना चाहता था, वहाँ दूसरे का उद्देश्य राष्ट्र में मानसिक परिवर्तन करना था।" इस प्रकार दोनों का ही लक्ष्य स्वाभाविक रूप से देश में राष्ट्रीय शक्तियों को मजबूत बनाना था और दोनों ही पक्षों के नेता राष्ट्र-हित की भावना से प्रेरित होने के कारण उच्च कोटि के देशभक्त थे। दोनों ही पक्ष भारत की सर्वांगीण प्रगति चाहते थे। अन्तर केवल जन-हृदय के स्पन्दन को आँकने का था और इसी बात ने उन्हें अलग-अलग मार्ग का राही बनने के लिए विवश कर दिया था।

तिलक का राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान

बालगंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई, 1856 को महाराष्ट्र के रत्नागिरि में एक चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम गंगाधर रामचन्द्र तिलक था, जो संस्कृत के

विद्वान् थे। वालगंगाधर तिलक जब 17 वर्ष के थे तो उनके पिता का देहान्त हो गया। उन्होंने दक्खन कॉलेज से 1879 में कानून की डिग्री प्राप्त की। कॉलेज से निकलते समय उन्होंने जनहित के कार्यों में लगे रहने तथा सरकारी नौकरी न करने का निश्चय किया और अपने मित्र गोपाल गणेश आगरकर के साथ मिलकर एक अँग्रेजी स्कूल स्थापित किया। 1881 ई. में 'केसरी' मराठी भाषा में तथा 'मराठा' अँग्रेजी भाषा में समाचार-पत्र निकालना आरम्भ किया। 'केसरी' का सम्पादन आगरकर तथा 'मराठा' का सम्पादन स्वयं तिलक करते थे। 'केसरी' ने लोगों को राजनीतिक शिक्षा देने तथा 'मराठा' ने लोगों के विचारों को सरकार तक पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

तिलक और उनके समकालीन राजनीतिज्ञों में मौलिक मतभेद थे। उस समय पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति ने भारतीय नेताओं पर अपनी प्रधानता स्थापित कर दी थी। अतः भारतीय नेता पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति को श्रेष्ठ मानते थे और अपनी सभ्यता और संस्कृति में उनका विश्वास समाप्त होता जा रहा था। तिलक पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति की प्रधानता को समाप्त कर लोगों को भारत के प्राचीन गौरव का अनुभव कराना चाहते थे। उस समय लोगों पर अँग्रेजी नैतिक उच्चता की भी छाप थी और इसलिये वे अँग्रेजी साम्राज्य के प्रति सहयोग की नीति अपना रहे थे। लेकिन तिलक इस अँग्रेजी नैतिक उच्चता के मोहजाल को काटना चाहते थे, जो अँग्रेजी चिन्तन-प्रणाली से मुक्ति प्रदान करने में सहायक हो। उन्होंने शिवाजी के औरंगजेब के साथ संघर्ष को एक विदेशी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष वताया और महाराष्ट्र में उन्होंने 'शिवाजी उत्सव' मनाने की प्रथा आरम्भ की। इसी कारण अँग्रेज लेखकों ने उन पर मुस्लिम विरोधी होने का आरोप लगाया है। किन्तु वास्तव में उनका उद्देश्य साम्प्रदायिक नहीं था, वल्कि शिवाजी के जीवन से प्रेरणा देकर महाराष्ट्र के लोगों को जागृत करना था। इसी प्रकार उन्होंने 'गणपति उत्सव' को भी राष्ट्रीय जागृति में सहायक बनाया। गणपति उत्सव के अवसर पर अपने राजनीतिक भाषणों द्वारा लोगों को राजनीतिक शिक्षा देने का कार्य किया।

तिलक और महाराष्ट्र के समाज सुधारकों में भी मौलिक मतभेद थे। वे राजनीतिक स्वाधीनता के समक्ष सामाजिक सुधारों को गौण समझते थे। वे इस वात से सहमत नहीं थे कि हमारी सामाजिक रूढ़िवादिता के कारण राजनीतिक पराधीनता हुई है। उन्होंने श्रीलंका, वर्मा और आयरलैण्ड का उदाहरण देते हुए कहा कि वहाँ सामाजिक स्वतन्त्रता होते हुए भी राजनीतिक पराधीनता थी। तिलक ने यह भी कहा कि हमें सामाजिक सुधार की वात उसी समय करनी चाहिए, जब हम स्वयं उन सामाजिक सुधारों के सिद्धान्तों का पालन करें। उन्होंने किसी वाहरी संस्था या सरकार द्वारा समाज सुधार किये जाने का विरोध किया। सरकारी अधिनियमों द्वारा समाज सुधार को वे अनुचित मानते थे। इन विचारों के कारण ही अँग्रेज लेखकों ने तिलक को रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी कहा है। किन्तु ये आरोप निराधार हैं, क्योंकि उन्होंने इण्डियन स्पेशल कान्फ्रेंस के वार्षिक अधिवेशनों में बाल-विवाह के विरुद्ध तथा विधवा-विवाह के पक्ष में अपने प्रस्ताव रखे थे और यहाँ पर भी उन्होंने यही कहा कि समाज सुधार के समर्थकों को पहले स्वयं इसका पालन कर उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए, फिर उन्हें समाज पर लागू करना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि समाज सुधार में विदेशी सत्ता का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए, क्योंकि विदेशी सत्ता द्वारा अधिनियम वना देने मात्र से समाज सुधार सम्भव नहीं है। इसलिए ब्रिटिश

सरकार ने 1890-91 में जब सहवास-वय विधेयक प्रस्तुत किया तो तिलक ने इस विधेयक का घोर विरोध किया।

तिलक पर मुकदमा और सजा—तिलक की राजनीतिक विचारधारा अन्य समकालीन विचारकों से भिन्न थी। वे भारतीयों के लिये केवल प्रशासन से सम्बद्ध होने का अधिकर नहीं माँगते थे, बल्कि भारत के लिए स्वराज्य एक अधिकार के रूप में प्राप्त करना चाहते थे। 1897 में महाराष्ट्र में भीषण अकाल पड़ा और प्लेग फैल गया। सरकार ने इसकी रोकथाम के लिये बहुत ही धीमी कार्यवाही की। सरकार के रवैये से आतंकित होकर पूना के प्लेग कमिश्नर रैण्ड तथा एक अन्य अँग्रेज अधिकारी एर्यस्ट की हत्या करदी गई। अँग्रेज सरकार ने तिलक पर हिंसा भड़काने का आरोप लगाकर उन्हें 18 महीने की कड़ी सजा दे दी। तिलक को दी गई सजा की सर्वत्र निन्दा की गई। तिलक को सजा देने से उनकी कीर्ति शिखर पर पहुँच गई। तिलक की सजा भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के इतिहास में अत्यधिक महत्त्व रखती है, क्योंकि इससे पहले किसी पर राजद्रोह के आरोप में मुकदमा नहीं चला था। अँग्रेजी सरकार की इस चुनौती से आत्म-विश्वास, त्याग, बलिदान और कष्ट सहन करने के नये अध्याय का श्रीगणेश हुआ।

तिलक और काँग्रेस का विभाजन—काँग्रेस में प्रविष्ट होकर तिलक ने काँग्रेस के स्वरूप को ही बदलने का निश्चय किया। 1896 से ही वे काँग्रेस को इस बात के लिये प्रेरित करते रहे कि वह मजबूती दिखाए। किन्तु काँग्रेस के कुछ नेता वैधानिक आन्दोलनों तथा सविनय प्रार्थना की नीति का अवलम्बन कर सरकार के प्रति नरमी दिखा रहे थे। किन्तु तिलक ने कहा, "मैं मानता हूँ कि हमें अपने अधिकारों के लिये माँग करनी चाहिये, पर हमें यह अनुभव करते हुए माँग करनी चाहिये कि वह माँग अस्वीकार नहीं की जा सके। माँग प्रस्तुत करने तथा याचना करने में बहुत बड़ा अन्तर है। अगर आप अपनी माँग नामंजूर किये जाने पर लड़ने को तैयार हैं, तो निश्चित मानिये कि आपकी माँग नामंजूर नहीं की जायेगी।" तिलक गरम दल के नेता तथा उग्रवादी थे। उन्होंने कहा, "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।" वे उदारवादियों की भिक्षावृत्ति के कट्टर विरोधी थे। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि स्वराज्य अपने आप नहीं आयेगा वरन् अँग्रेज़ों से छीनना पड़ेगा। अतः नरम दल और गरम दल में मतभेद बढ़ता गया और 1907 में सूरत के काँग्रेस अधिवेशन में ये मतभेद चरम बिन्दु पर पहुँच गये। अतः विवश होकर उन्हें नरम दलीय काँग्रेस छोड़नी पड़ी। अँग्रेज सरकार ने काँग्रेस की इस फूट का लाभ उठाया तथा उग्रवादियों को कुचलने के लिये सख्त कानून बनाये। 1908 में तिलक पर पुनः राजद्रोह का आरोप लगाकर कैद कर लिया और छः वर्ष के कारावास की सजा दी गई। 1908 से 1914 तक वे बर्मा में माण्डले की जेल में रहे।

1914 में वे जेल से मुक्त होकर आये। उस समय विश्व युद्ध आरम्भ हो चुका था। इस अवसर पर उन्होंने अँग्रेज सरकार से सहयोग करने को कहा। 1914-15 में श्रीमती एनीबीसेण्ट के प्रयत्नों से काँग्रेस के दोनों दलों में मेल करवाया गया। 1915-16 में कुछ ऐसी परिस्थितियों का विकास हुआ कि लोग उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन करने को तैयार हो गये। अप्रैल, 1916 में तिलक ने एनीबीसेण्ट के सहयोग से होमरूल आन्दोलन चलाया। होमरूल का अर्थ

करना था। 1919 में उन्होंने विल्सन के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर भारत के लिये भी इसी अधिकार की माँग की।

तिलक का विचार था कि काँग्रेस, सत्ता को चुनौती देना सीखे और स्वराज्य हासिल करने के लिये हमें कुर्बानी के लिए तैयार रहना चाहिये। किन्तु वे यह भी नहीं चाहते थे कि स्वराज्य हासिल करने के लिए लोग हिंसक बनें, लेकिन शान्तिपूर्ण तरीके प्रभावशाली सिद्ध न होने पर हिंसात्मक तरीके अपनाने में भी कोई हानि नहीं है। यह सही है कि 1914 तक काँग्रेस पर नरम दल का प्रभाव रहा, किन्तु 1914 में जब तिलक कारावास से मुक्त होकर आए, तब तक गरम दल काफी लोकप्रिय हो चुका था। अतः नरम दल वाले तिलक व उनके गरम दल का मुकाबला न कर सके और नरम दल वालों को विवश होकर लिबरल फेडरेशन नामक संगठन के रूप में संगठित होना पड़ा और काँग्रेस पर गरम दल का प्रभाव स्थापित हो गया। तिलक ने काँग्रेस को ब्रिटिश सरकार की प्रशंसक से बदलकर ब्रिटिश साम्राज्य की विद्रोही बना दिया।

तिलक न केवल कुशल राजनेता एवं राष्ट्र धर्म के उपासक ही थे, बल्कि महान् विद्वान् भी थे। माण्डले जेल में उन्होंने 'गीता रहस्य' तथा 'आर्कटिक होम इन द वेदाज' नामक पुस्तकें लिखीं। वे पहले काँग्रेसी नेता थे, जिन्होंने सुझाव रखा कि देवनागरी लिपि में लिखी हुई हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा हो। तिलक ने कहा था, "सामान्य लिपि राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अविभाज्य अंग है। सारे भारत में एक ही राष्ट्र भाषा होनी चाहिए। यदि आप किसी राष्ट्र को एक रखना चाहते हैं, तो सबके लिए एक सामान्य भाषा से बढ़कर कोई बड़ा बल नहीं है।" तिलक के भाषणों में आग होती थी, क्योंकि वे सरकार की बेधड़क होकर आलोचना करते थे। इसलिए अँग्रेजों ने उन्हें "भारतीय अशान्ति का पिता" कहा। उन्हें अँग्रेज सरकार और अपने राजनैतिक विरोधियों दोनों से लड़ना पड़ा था। काँग्रेस के सूरत अधिवेशन के बाद कुछ लोगों ने उन्हें काँग्रेस को तोड़ने वाला कहा, किन्तु उस घटना से जितना दुःख तिलक हो हुआ, उतना किसी और को नहीं।

देश में जब ब्रिटिश सरकार से असहयोग करने की चर्चा चल रही थी, उस समय 1 अगस्त, 1920 को इस महान् विभूति का देहान्त हो गया। तिलक का नाम राष्ट्र-निर्माता के रूप में सदा अमर रहेगा और भारतवासी उन्हें तब तक कृतज्ञतापूर्वक याद करते रहेंगे, जब तक देश में अपने भूतकाल पर अभिमान और भविष्य के लिए आशा बनी रहेगी।

लाला लाजपतराय का राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान

पंजाब केसरी लाला लाजपतराय बड़े ओजस्वी वक्ता और उच्च कोटि के देशभक्त थे। उन्होंने देश की स्वतन्त्रता के लिये ब्रिटिश अधिकारियों के हाथों भीषण यातनाएँ भोगीं और अन्त में देश की स्वतन्त्रता के पावन यज्ञ में अपने जीवन की ही आहुति दे डाली। लाला लाजपतराय की गणना महान् देशभक्तों तथा स्वाधीनता संग्राम के अमर सेनानियों में की जाती है। 20वीं शताब्दी के आरम्भ में वे उग्र राष्ट्रीयता के प्रमुख प्रणेता थे। लालाजी का जन्म 28 फरवरी, 1865 ई. को लुधियाना जिले के दुधिके ग्राम में एक साधारण वैश्य परिवार में हुआ था। उनके पिता अध्यापक थे। उन्होंने गवर्नमेण्ट कॉलेज, लाहौर से स्नातक की परीक्षा पास की और 1885 ई. में वकालात पास कर हिसार में वकालात प्रारम्भ की, परन्तु बाद में 1892 ई. में लाहौर आकर वकालात करनी आरम्भ करदी। अपनी योग्यता एवं वाक्-शक्ति से उन्होंने वकालात के व्यवसाय में बड़ी

ख्याति और सम्पत्ति प्राप्त करली। उन दिनों पंजाब में आर्य समाज का आन्दोलन व्यापक रूप से फैल रहा था। लालाजी इस आन्दोलन से काफी प्रभावित हुए और वे स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिष्य बन गये। लालाजी ने अपना तन-मन-धन आर्य समाज के आन्दोलन को फैलाने में लगा दिया। उन्होंने डी.ए.वी. कॉलेज, लाहौर की उन्नति में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान दिया तथा फिरोजपुर (पंजाब) के अनाथालय की बड़ी सहायता की। स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके आर्य समाज के प्रभाव से उनमें उग्र राष्ट्रीयता की भावना जागृत हुई और उन्होंने पंजाब में वही स्थान प्राप्त किया जो तिलक ने महाराष्ट्र में प्राप्त किया था। उन्होंने अपना सारा जीवन देश और धर्म की रक्षा के लिये लगा दिया।

लालाजी का सक्रिय राजनीति में आना—लालाजी 1888 ई. में काँग्रेस में शामिल हो गये। उन्होंनें तिलक के साथ मिलकर 'राष्ट्रीय दल' की स्थापना की। 1901 ई. में उन्होंने अकाल-आयोग के समक्ष अपनी गवाही दी, जिसका सरकारी नीति पर व्यापक प्रभाव पड़ा। 1905 ई. से वे काँग्रेस के माध्यम से देश की राजनीति में सक्रिय हो गये। उन्होंने बंगाल के विभाजन का घोर विरोध किया। 1905 ई. में वे एक शिष्टमण्डल में गोखले के साथ इंगलैण्ड भेजे गये ताकि वे दोनों व्यक्ति-ब्रिटिश सरकार और जनता के सामने भारतीय दृष्टिकोण रख सकें। इंगलैण्ड में उन्होंने अनेक भाषण दिये और काँग्रेस के दृष्टिकोण को जनता के सामने रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। वे वहाँ के प्रमुख नेताओं से भी मिले और उन्हें भारतीय समस्याओं से अवगत कराया। इंगलैण्ड के लोग अपनी नागरिक स्वतन्त्रता तथा राजनैतिक अधिकारों पर अत्यधिक बल देते थे, उससे लालाजी काफी प्रभावित हुए। इंगलैण्ड से वापिस आने पर उन्होंने अपने देशवासियों को बताया कि वहाँ की जनता की रुचि भारतीय मामलों में बहुत अधिक नहीं है और भारतीयों को विदेशी सहायता की बजाय आत्मनिर्भर बनना चाहिये।

लालाजी और उग्र राष्ट्रीयता—काँग्रेस की सविनय प्रार्थना की नीति पूर्णतः असफल हो चुकी थी। क्योंकि काँग्रेस की माँगों के फलस्वरूप न तो अँग्रेजों की प्रतिक्रियावादी नीति में और न प्रजातीय विभेद की नीति में कमी आई। फिर भी काँग्रेस ब्रिटिश सरकार से विधान परिषदों के विस्तार, निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि और सरकारी नौकरियों में भारतीयों को अँग्रेजों के समान अवसर देने की माँग करती रही, लेकिन ब्रिटिश सरकार इन माँगों की उपेक्षा करती रही। इससे काँग्रेस के नौजवान नेता—तिलक, लालाजी और विपिनचन्द्र पाल बेचैन हो उठे। इंगलैण्ड के वातावरण का तो उन पर प्रभाव था ही और अँग्रेजों के प्रति उनका विश्वास नहीं था। अतः लालाजी ने कहा, "भारतीयों को अब भिखारी बने रहने में सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए और न अँग्रेजी सरकार के सामने गिड़गिड़ाना चाहिए।" उन्होंने यह भी कहा कि अँग्रेजों द्वारा काँग्रेस की माँगों की उपेक्षा का कारण यह था कि अधिकांश काँग्रेसी नेताओं में त्याग और बलिदान की भावना नहीं है। अपनी माँगों को स्वीकार कराने के लिए त्याग और बलिदान की आवश्यकता है। इस प्रकार लालाजी ने तिलक और विपिनचन्द्र पाल के साथ मिलकर काँग्रेस के उदारवादी नेताओं की सविनय प्रार्थना की नीति का कड़ा विरोध किया। 1905 ई. में काँग्रेस के बनारस अधिवेशन में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि, "भारत स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहता है तो उसको भिक्षावृत्ति की नीति का परित्याग कर स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिये।"

काँग्रेस से निष्कासित—ब्रिटिश सरकार द्वारा काँग्रेस की माँगों की लगातार उपेक्षा करने के कारण शिक्षित भारतीयों में एक नई राजनैतिक चेतना उत्पन्न हो चुकी थी। काँग्रेस के उदारवादी नेताओं की 'भिक्षावृत्ति की नीति' की घोर प्रतिक्रिया हुई। फलस्वरूप काँग्रेस के नौजवान नेताओं ने उदारवादियों की रीति-नीति का घोर विरोध किया और वे उग्रवादी कहलाए। लालाजी, तिलक और विपिनचन्द्र पाल की तरह उग्रवादी नेता थे। उदारवादियों व उग्रवादियों में सैद्धान्तिक मतभेद बढ़ते गये। 1905 ई. के बनारस अधिवेशन में लालाजी ने तिलक के साथ मिलकर कुछ प्रस्ताव रखे, लेकिन उदारवादियों के विरोध के कारण वे पारित नहीं हो सके। इसलिए लालाजी व तिलक के अनुयायियों ने अपनी अलग बैठक की। 1906 ई. में काँग्रेस का कलकत्ता में अधिवेशन हुआ, जिसमें लालाजी और उनके अनुयायियों ने काँग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए लोकमान्य तिलक का नाम प्रस्तावित किया, किन्तु उदारवादियों ने इसका विरोध किया और दादाभाई नौरोजी को अध्यक्ष निर्वाचित कर दिया। फिर भी उग्रवादी नेताओं ने स्वदेशी, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा सम्बन्धी प्रस्ताव पास करवा लिये। लेकिन उदारवादी इन प्रस्तावों को कार्यान्वित करना नहीं चाहते थे। वे काँग्रेस के संविधान में ऐसा संशोधन चाहते थे ताकि 1906 ई. में स्वीकृत सभी प्रस्ताव स्वतः ही समाप्त हो जाएँ। ऐसे बढ़ते हुए मतभेदों की परिस्थितियों में 1907 में लालाजी ने 'उपनिवेशन अधिनियम' के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। ब्रिटिश सरकार उग्र राष्ट्रीयता के कट्टर विरुद्ध थी अतः लालाजी को बिना मुकदमा चलाये 6 महीने के लिये देश-निर्वासन का दण्ड दे दिया।

इस बीच काँग्रेस में उदारवादियों व उग्रवादियों के बीच मतभेदों की खाई चौड़ी होती गई। 18 नवम्बर, 1907 को लालाजी जेल से छूटकर लाहौर पहुँचे, जहाँ उनका भव्य स्वागत किया गया। तत्पश्चात् 24 दिसम्बर, 1907 को काँग्रेस का अधिवेशन सूरत में हुआ। लालाजी इस अधिवेशन में भाग लेने सूरत पहुँचे। वहाँ पर लोकमान्य तिलक ने काँग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए लालाजी का नाम प्रस्तावित किया। किन्तु उदारवादी नेता गोखले व उसके अनुयायियों ने इसका विरोध किया और उन्होंने डॉ. रासबिहारी घोष का नाम प्रस्तावित किया। चूँकि उस समय काँग्रेस में उदारवादियों का बहुमत था, अतः लालाजी ने अपना नाम वापिस ले लिया। तिलक ने मंच पर आकर अध्यक्ष के निर्वाचन के सम्बन्ध में कुछ आपत्तियाँ उठानी चाहीं, किन्तु उन्हें बोलने की अनुमति नहीं दी गई। इसी समय किसी ने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी पर जूता फेंका, जिससे पण्डाल में अव्यवस्था छा गई। काँग्रेस अधिवेशन स्थगित कर दिया गया। दूसरे दिन भी शोर-गुल मचा और आपस में लाठियाँ व जूते तक चल गये। पुलिस ने वलपूर्वक काँग्रेस-भवन को खाली करवाया। इसके बाद उदारवादियों ने अलग से अपना सम्मेलन किया और अपना अलग विधान बनाया। नये विधान के अनुसार उदारवादियों ने उग्रवादियों को काँग्रेस से निष्कासित कर दिया। इस प्रकार लालाजी काँग्रेस से निष्कासित हो गये, फिर भी उन्होंने तिलक व अपने अनुयायियों के साथ अपना आन्दोलन जारी रखा।

लालाजी का विदेश में प्रवास—लालाजी समाजवादी थे और पूँजीवाद तथा आर्थिक शोषण के सख्त विरुद्ध थे। वे किसानों और मजदूरों की उन्नति चाहते थे। वे राष्ट्रीय शिक्षा, स्वदेशी के प्रचार, विदेशी माल के वहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance)

के महान् समर्थक थे। 1914 ई. में उन्होंने एक शिक्षा न्यास बनाकर जगराव (लुधियाना जिले में दूधिके ग्राम के पास) में राधाकृष्ण हाई स्कूल की नींव रखी। इसके बाद 1914 ई. में ही वे किसी काम से इंगलैण्ड चले गये। जब वे इंगलैण्ड में ही थे, तभी प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ गया। सरकार ने उन्हें भारत लौटने की अनुमति नहीं दी। अतः 1919 तक उन्हें विदेशों में ही प्रवास करना पड़ा। वे इंगलैण्ड से अमेरिका चले गये और अमेरिका से जापान चले गये। विदेश-प्रवास के दौरान उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता का प्रचार बड़े जोरों से जारी रखा। अमेरिका में उन्होंने 'यंग इण्डिया' नामक समाचार-पत्र का सम्पादन किया और 'तरुण भारत' नामक पुस्तक भी लिखी। इस पुस्तक को सरकार ने ज़ब्त कर लिया, किन्तु अमेरिका व इंगलैण्ड में यह पुस्तक बहुत प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय हुई। 1919 ई. में उन्हें भारत लौटने की अनुमति मिल गई।

भारतीय राजनीति में पुनः सक्रिय—जिस समय लालाजी विदेश-प्रवास कर रहे थे, तब भारत में श्रीमती एनीबीसेण्ट के प्रयत्नों से काँग्रेस के उदारवादियों व उग्रवादियों में मेल करवा दिया गया था। सरकार से अनुमति मिलने पर वे लौटकर भारत आ गये। यहाँ आकर उन्होंने पंजाब में मार्शल-ला तथा अमृतसर में जालियाँवाला बाग हत्याकाण्ड देखा। 1920 ई. में इन घटनाओं पर विचार करने के लिए तथा गाँधीजी के असहयोग कार्यक्रम पर विचार करने के लिए कलकत्ता में काँग्रेस का विशेष अधिवेशन बुलाया गया। लालाजी इस अधिवेशन में भाग लेने कलकत्ता गये। लालाजी को इस विशेष अधिवेशन का सभापति बनाया गया। यद्यपि अनेक कारणों से वे असहयोग आन्दोलन के पक्ष में नहीं थे, परन्तु जब काँग्रेस ने असहयोग आन्दोलन चलाने का निर्णय ले लिया, तो काँग्रेस के अनुशासित सिपाही की तरह लालाजी ने पूरे जोरों से इसका प्रचार करना शुरू कर दिया। असहयोग आन्दोलन के दौरान उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और कुछ समय तक जेल में रखा गया। आन्दोलन के दौरान लालाजी ने कहा, "हम अपने चेहरे सरकारी भवनों की ओर से मोड़कर जनता के झोपड़ों की ओर करना चाहते हैं।" जेल से छूटने के बाद वे पण्डित मोतीलाल नेहरू व देशबन्धु चितरंजन दास के स्वराज्य-दल का समर्थन करने लगे। 1923 ई. में वे केन्द्रीय व्यवस्थापिका के लिए चुने गये और कुछ समय तक व्यवस्थापिका में वे स्वराज्य-दल के उप-नेता भी रहे। लेकिन जब उन्होंने देखा कि स्वराज्य-दल मुसलमानों की अनुचित माँगों को मानने और हिन्दू हितों की उपेक्षा करने को तैयार है तो उन्होंने स्वराज्य-दल से अलग होकर 'राष्ट्रीय दल' का गठन किया। उन्होंने मदनमोहन मालवीय द्वारा गठित हिन्दू महासभा को भी अपना समर्थन दिया। वे कट्टर राष्ट्रवादी होते हुए भी किसी कीमत पर हिन्दू-हितों का बलिदान करने को तैयार नहीं थे। वे भारतीय संस्कृति और धर्म को पाश्चात्य संस्कृति व धर्म से श्रेष्ठ मानते थे और इसकी रक्षा के लिये वे कोई भी बलिदान करने को तैयार रहते थे। उनकी महान् सेवाओं के कारण 1925 ई. में उन्हें कलकत्ता में हिन्दू महासभा का अध्यक्ष चुना गया।

लालाजी की मृत्यु—भारत में किये जाने वाले संवैधानिक सुधारों के बारे में सुझाव देने के लिये 1927 ई. में ब्रिटिश सरकार ने एक साइमन कमीशन नियुक्त किया। चूँकि साइमन कमीशन में एक भी भारतीय को नहीं लिया गया था, अतः काँग्रेस ने इसका बहिष्कार करने का निश्चय किया। भारत में जहाँ भी साइमन कमीशन गया, वहाँ उसे काले झण्डे दिखाये गये और

'साइमन कमीशन वापिस जाओ' के नारे लगाये गये। 20 अक्टूबर, 1928 को साइमन कमीशन का वहिष्कार करने के लिए लाहौर में एक विशाल जुलूस निकाला गया, जिसका नेतृत्व लालाजी ने किया। पुलिस के एक अँग्रेज अधिकारी साण्डर्स ने लालाजी पर खूब लाठियाँ बरसाईं, जिसके कारण उन्हें बड़ी सख्त चोटें आईं। उसी दिन शाम को एक विराट आमसभा में लालाजी ने दहाड़ते हुए कहा, "मेरे ऊपर की गई एक-एक चोट ब्रिटिश साम्राज्य के कफन की कील सिद्ध होगी।" उन पर लगी चोटों के कारण 17 नवम्बर, 1928 को लालाजी का देहान्त हो गया। ऐसे महान् देशभक्त, शिक्षाशास्त्री, ओजस्वी वक्ता और उच्च कोटि के साहित्यकार की मृत्यु से सारे देश में शोक छा गया। एक अँग्रेज अधिकारी की लाठियों की चोटों से उनकी मृत्यु को राष्ट्रीय अपमान समझा गया। उनकी मृत्यु के बाद देशबन्धु चितरंजनदास की धर्मपत्नी वासन्ती देवी ने एक आम सभा में कहा, "मैं जब यह सोचती हूँ कि किसके हिंसक हाथों ने उस व्यक्ति को स्पर्श करने का साहस किया था, जो इतना वृद्ध, इतना आदरणीय और भारतमाता के तीस करोड़ नर-नारियों को प्यारा था, तो मैं अपमान के भावों से उत्तेजित होकर काँपने लगती हूँ। क्या देश का यौवन और मनुष्यत्व आज जीवित है ? मैं भारतभूमि की एक अवला हूँ। मैं इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर चाहती हूँ। अतः युवक समाज आगे आकर उत्तर दे।" इस राष्ट्रीय अपमान का बदला क्रान्तिकारी सरदार भगतसिंह और उनके साथियों ने साण्डर्स को मारकर लिया।

लालाजी का मूल्यांकन—लाला लाजपतराय एक महान् आर्यसमाजी थे। वे स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनन्य भक्तों में से थे। वे प्राचीन हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू धर्म के कट्टर पोषक थे। उन्होंने भारत की प्राचीन परम्परा, स्वराज्य तथा स्वदेशी आन्दोलन पर विशेष बल दिया। उन्होंने 'पंजावी', 'उर्दू दैनिक', 'वन्दे मातरम्' और अँग्रेजी साप्ताहिक 'प्युपिल' नामक समाचार-पत्र निकाले। उन्होंने मैजिनी, गैरीवाल्डी, शिवाजी, श्रीकृष्ण और स्वामी दयानन्द की जीवनियाँ लिखीं। उन्होंने 'भगवद् गीता का संदेश', 'ब्रिटेन का भारत के प्रति ऋण', 'दुःखी भारत', 'हिन्दू एकता' और 'तरुण भारत' आदि महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का प्रणयन किया। वे राजनीति से धर्म को पूर्णतया पृथक् रखने के पक्ष में थे। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक थे, किन्तु मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए वे हिन्दुओं के हितों का वलिदान नहीं चाहते थे। जब मुसलमानों में राष्ट्रीय भावना के स्थान पर साम्प्रदायिक भावना प्रवल हो उठी और काँग्रेस इस साम्प्रदायिकता के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकी तो वे हिन्दू महासभा की ओर आकर्षित हुए और हिन्दू राष्ट्रीयता के समर्थक बन गये। लालाजी उच्च कोटि के सार्वजनिक वक्ता थे। उनके भाषणों में एक अभूतपूर्व जोश और ओज होता था। सी.वाई. चिन्तामणि ने तो यहाँ तक कह दिया था कि, "मैं सार्वजनिक वक्ता के रूप में लॉयड जार्ज और लाजपतराय का एक साथ स्मरण करता हूँ।" लालाजी एक महान् समाज सुधारक भी थे। उन्होंने दलितोद्धार तथा अछूतोद्धार के लिए सराहनीय कार्य किया। उन्होंने लोक सेवक मण्डल (Servants of Indian Society) की स्थापना की थी तथा अनाथ बच्चों व वीमार स्त्रियों के लिए कई औषधालयों का निर्माण भी करवाया। जनता ने उन्हें 'पंजाव केसरी' और 'शेरे पंजाव' की उपाधियों से सुशोभित किया था। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के इतिहास में लालाजी का नाम सदा अमर रहेगा।

अध्याय-13

लखनऊ समझौता और होम रूल आन्दोलन

काँग्रेस का सूरत में विभाजन के बाद काँग्रेस का नेतृत्व उदारवादियों के हाथ में था, जिनका संवैधानिक उपायों में पूर्ण विश्वास था। उग्रवादी नेतृत्वविहीन थे। बाल गंगाधर तिलक जेल में थे और अरविन्द घोष ने राजनीतिक जीवन से संन्यास ले लिया था। भारत के वायसराय लॉर्ड हार्डिग्ज ने शासन में सुधार करने की नीति अपनाई। बंगाल-विभाजन रद्द किया गया, दिल्ली को राजधानी बनाया गया तथा प्रान्तीय स्वायत्तता का समर्थन किया गया। 1914 ई. में प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हो गया। अमेरिका और ब्रिटेन के नेतृत्व में 32 राष्ट्रों का, चार धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा स्थापित हुआ। मित्र राष्ट्रों ने प्रथम विश्व युद्ध का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रों में आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को मान्यता देना और लोकतन्त्र की रक्षा करना बताया। युद्ध प्रारम्भ होने से कुछ समय पूर्व तिलक जेल से मुक्त होकर आये थे। तिलक सम्पूर्ण राजनीतिक स्थिति का गहन अध्ययन करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचे कि काँग्रेस के दोनों अंगों (उदारवादी और उग्रवादी) को मिलाकर संगठन को प्रभावशाली बनाया जाय, मुस्लिम लीग को काँग्रेस-परिवार में लाया जाय तथा स्वराज्य एवं संवैधानिक प्रजातन्त्र के लिए पुनः संगठित आन्दोलन आरम्भ किया जाय। इस प्रकार अतीत के उग्रवादी तिलक अब काँग्रेस के दोनों गुटों में एकता स्थापित करने का प्रयास करने लगे। किन्तु उदारवादियों, विशेषकर श्री गोखले एवं फिरोजशाह मेहता ने इसका विरोध किया। फरवरी, 1915 ई. में श्री गोखले और नवम्बर, 1915 ई. में श्री मेहता का देहान्त हो जाने के बाद श्रीमती एनीबीसेण्ट के प्रयत्नों से दिसम्बर, 1915 ई. के बम्बई अधिवेशन में काँग्रेस के संविधान में संशोधन कर उग्रवादियों के लिए काँग्रेस का प्रवेश-द्वार खोल दिया गया। इस प्रकार काँग्रेस के दोनों गुटों में पुनः एकता स्थापित हुईं, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन को नई दिशा प्राप्त हुई। इस नई राजनैतिक गतिविधि का दूसरा पक्ष था—काँग्रेस और मुस्लिम लीग का एक मंच पर एकत्रित होकर संयुक्त कार्यक्रम प्रस्तुत करना।

पृष्ठभूमि—अँग्रेजों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के फलस्वरूप दिसम्बर, 1904 ई. में अखिल भारतीय मुस्लीम लीग की स्थापना हुई थी, जो निश्चित रूप से एक साम्प्रदायिक संस्था थी। इसका मुख्य उद्देश्य मुसलमानों में, ब्रिटिश सरकार के प्रति राज भक्ति में वृद्धि करना तथा काँग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रवाह को रोकना था। अतः स्पष्ट है कि

मुस्लिम लीग, काँग्रेस-विरोधी संगठन था। मुस्लिम लीग अपनी स्थापना के समय से ही काँग्रेस की स्वशासन की माँग का विरोध करती आ रही थी और मुस्लिम सम्प्रदाय के लोगों में यही प्रचार करती रही कि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ही मुसलमानों का कल्याण सम्भव है, अतः मुसलमान अपने आपको अँग्रेजों की एक ऐसी फौज समझें जो ब्रिटिश राज के लिए अपना खून बहाने और बलिदान करने को तैयार है। मुस्लिम लीग का मुख्य कर्त्तव्य मुस्लिम समुदाय को काँग्रेस संगठन में मिलने से रोकना था। क्योंकि काँग्रेस औपनिवेशिक ढँग का स्वायत्त शासन चाहती थी, जबकि लीग केवल सुधारों की माँग से सन्तुष्ट थी। ब्रिटिश सरकार ने भी 1909 ई. का सुधार अधिनियम पारित करके व्यवस्थापिकाओं में मुसलमानों को पृथक् प्रतिनिधित्व देकर मुसलमानों को काँग्रेस से पृथक् रखने का प्रयास किया। लेकिन 1909 ई. के सुधार अधिनियम के बाद मुस्लिम लीग के दृष्टिकोण में अचानक परिवर्तन आया। शिक्षित और देशभक्त मुसलमानों का मुस्लिम लीग में प्रवेश के कारण उसके साम्प्रदायिक स्वरूप में कुछ कमी आई। अतः अब मुस्लिम लीग पृथकता की नीति से दूर होने लगी और उसमें प्रगतिशील एवं राष्ट्रवादी नीतियों का समावेश होने लगा। फलतः वह देश की प्रमुख राजनीतिक संस्था, काँग्रेस के अधिक निकट आने लगी, जिससे वह अब तक अछूत का-सा व्यवहार करने के पक्ष में थी। अब उसने काँग्रेस से सहयोग करने का निश्चय किया।

मुस्लिम लीग की विचारधारा में परिवर्तन के कारण—जिस मुस्लिम लीग ने अब तक अपने आपको काँग्रेस से पृथक् रखा, जिसे अँग्रेजों की न्यायप्रियता में पूरा विश्वास था और जो ब्रिटिश राज को मुस्लिम समुदाय के लिये कल्याणकारी मानती थी, उसकी नीति में अचानक परिवर्तन कैसे आ गया ? एक साम्प्रदायिक संस्था, प्रगतिशील एवं राष्ट्रीय संस्था और उनकी नीतियों के अचानक सम्पर्क में कैसे आ गई ? इसके निम्नलिखित कारण थे—

(1) अलीगढ़ कॉलेज की घटना—मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा का प्रसार करने के लिये सर सैयद अहमद खाँ ने 'मोहम्मडन एंग्लो-ओरियण्टल कॉलेज' की स्थापना की थी। आरम्भ से ही इस कॉलेज पर अँग्रेजों की कृपादृष्टि रही। मुस्लिम लीग के नेता धर्म और राजनीति में भेद नहीं समझते थे। उनकी दृष्टि में अलीगढ़ कॉलेज की स्थापना एक ऐसी इस्लामी घटना थी जो इस्लाम का ह्रास रोकने वाली थी। 1909 ई. में अलीगढ़ के नेताओं का संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) के गवर्नर से विवाद उठ खड़ा हुआ। 22 जनवरी, 1909 को संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर जॉन हीविट, जो अलीगढ़ कॉलेज के संरक्षक थे, अलीगढ़ आये तथा कॉलेज के ट्रस्टियों ने उनका स्वागत किया। हीविट ने अपने स्वागत के उत्तर में भाषण देते हुए कहा कि किसी कक्षा में 60 से अधिक विद्यार्थी नहीं होने चाहिये तथा प्रत्येक अध्यापक पर चार घण्टे से अधिक पढ़ाने का भार नहीं होना चाहिये। तत्पश्चात् कॉलेज के सचिव नवाब वकार-उल-मुल्क ने कॉलेज के प्राचार्य से (जो अँग्रेज था) नई समय-सारिणी बनाने को कहा। प्राचार्य ने इसे अपने कार्य में हस्तक्षेप समझा, अतः उन्होंने अपना त्याग-पत्र दे दिया। प्राचार्य, स्वयं लखनऊ गये और गवर्नर को अपना स्पष्टीकरण दिया। गवर्नर ने कॉलेज के सचिव नवाब साहब को भी लखनऊ बुलाया तथा प्राचार्य की शिकायतों के बारे में पूछताछ की। दोनों पक्षों को सुनने के बाद गवर्नर ने प्राचार्य के मत को ठीक बताया और इस निर्णय पर नवाब साहब को हस्ताक्षर करने को कहा। इससे मुसलमानों के सम्मान को ठेस पहुँची। कॉलेज के ट्रस्टियों की बैठक में यह मत व्यक्त किया

गया कि कॉलेज के संरक्षक होने के नाते गवर्नर को कॉलेज के कार्यकलापों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। भारत के अनेक शहरों में मुसलमानों की सार्वजनिक सभाएँ हुईं, जिनमें गवर्नर का विरोध किया गया। तत्पश्चात् हीविट के अनुरोध पर ही मुसलमानों का एक शिष्टमण्डल उनसे मिला और उन्होंने अपना आदेश वापिस ले लिया।

इस घटना से मुस्लिम राजनीति में अच्छे परिवर्तन दिखाई देने लगे। अब मुस्लिम नेता अँग्रेजों की दासता छोड़कर काँग्रेस की विचारधारा की ओर झुकने लगे। 1909 ई. में मुस्लिम लीग का अधिवेशन नागपुर में हुआ। इस अधिवेशन में मुस्लिम लीग के कार्यकारी अध्यक्ष सैयद नबी उल्ला ने ब्रिटिश नौकरशाही की कटु आलोचना की। मुस्लिम लीग ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये हाथ बढ़ाया और लीग के ही अनुरोध पर दोनों सम्प्रदायों के नेताओं का जनवरी, 1911 ई. में इलाहाबाद में अधिवेशन हुआ। यद्यपि यह सम्मेलन विशेष सफल तो नहीं हुआ, लेकिन भावी समझौते के लिये आधार तैयार हो गया।

(2) बंगाल-विभाजन का रद्द किया जाना—जैसाकि 11वें अध्याय में बताया जा चुका है कि लॉर्ड कर्जन ने बंगाल में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता को समाप्त करने के लिये 1905 ई. में बंगाल का विभाजन कर दिया था। बंग-भंग के विरुद्ध एक जबरदस्त आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। अन्त में विवश होकर ब्रिटिश सरकार ने बंगाल-विभाजन रद्द कर दिया। बंगाल-विभाजन रद्द होने से मुस्लिम राजनीति में वैसी ही उत्तेजना आयी जैसी बंगाल-विभाजन के समय हिन्दुओं में आयी थी। बंगाल-विभाजन के रद्द होने से मुसलमान भला कैसे खुश हो सकते थे जबकि लॉर्ड कर्जन ने उन्हें बार-बार समझाया था कि पूर्वी बंगाल मुसलमानों की भलाई के लिये बनाया गया है। वे यह बात भी कैसे भूल सकते थे कि इस नये प्रान्त के निर्माण में हिन्दुओं और मुसलमानों का रक्त बहा है। यद्यपि मुस्लिम नेता आगाखाँ यह कहते रहे कि बंगाल-विभाजन रद्द करके जो नये प्रान्त बनाये गये हैं उनमें मुसलमानों की भलाई है। किन्तु अधिकतर मुसलमान इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। मार्च, 1912 ई. में लीग का कलकत्ता में अधिवेशन हुआ, उसमें अध्यक्ष पद से बोलते हुए नवाब सलीम उल्ला ने कहा कि नये प्रान्त से मुसलमानों को कोई अतिरिक्त लाभ नहीं हुआ; हाँ, हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच खाई अवश्य पैदा कर दी गई है। उन्होंने जोर देकर कहा कि विभाजन हिन्दुओं और मुसलमानों के विभेद का परिणाम नहीं है, विभेद तो तब पैदा हुआ, जब अँग्रेजों के विरुद्ध किये जाने वाले क्रान्तिकारी अभियानों में मुसलमानों ने हिन्दुओं का साथ नहीं दिया। अध्यक्षीय भाषण में हिन्दू-मुसलमानों के बीच खाई पाटने की उत्कट इच्छा व्यक्त की गई। इस प्रकार मुस्लीम लीग पर से अलीगढ़ी साम्प्रदायिक नेतृत्व समाप्त हो गया। राष्ट्रवादी मुसलमानों ने ब्रिटिश सरकार की स्वार्थपूर्ण नीति के कुटिल इरादों को भाँपकर अपनी भावी रणनीति तय करने में अपना हित समझा।

(3) अँग्रेजों द्वारा ख़लीफा का विरोध—तुर्की साम्राज्य के सुल्तान को विश्व के अधिकांश मुसलमान अपना खलीफा (धर्मगुरु) मानते थे। ऐसे मुसलमान खलीफा के प्रति निष्ठावान होते थे न कि उस राष्ट्र के प्रति जिसके वे नागरिक होते थे। लेकिन अपने देश में खलीफा की प्रतिष्ठा दिनों-दिन घटती जा रही थी। 1908 ई. में तरुण तुर्की क्रान्ति के फलस्वरूप सत्ता क्रान्तिकारियों के हाथों में आ गई, लेकिन तुर्की साम्राज्य की गैर-तुर्क जातियों में असन्तोष बना रहा। बाल्कन राज्यों की गैर-तर्क जातियों में असन्तोष बढ़ता जा रहा था। 1911 ई. में इटली ने ट्रिपोली पर

आक्रमण कर दिया और अब तुर्की साम्राज्य का विघटन निश्चित रूप से आरम्भ हो गया। जिस समय ट्रिपोली में युद्ध चल रहा था उस समय बाल्कन राज्यों ने परस्पर मन्त्रणा की कि हमें मिलकर तुर्की का सामना करना चाहिये। अक्टूबर, 1912 ई. में माण्टिनीग्रो, सर्बिया, बल्गेरिया और यूनान ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इसमें अँग्रेजों की सहानुभूति तुर्की और तुर्की के सुल्तान के प्रति बिलकुल नहीं थी, क्योंकि बाल्कन राज्यों में तुर्की द्वारा ईसाइयों का संहार किया जा रहा था। किन्तु भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति तुर्की के साथ थी। अतः भारतीय मुसलमानों में अँग्रेजों के विरुद्ध भावना उत्पन्न होना स्वाभाविक था। भारतीय मुसलमानों ने अनुभव किया कि अँग्रेजों की विदेश नीति इस्लाम विरोधी है। इसके अतिरिक्त मिस्र पर अँग्रेजों का कब्जा, फारस के सम्बन्ध में आंग्ल-फ्रांसीसी समझौता तथा ट्रिपोली पर इटली के आक्रमण के पीछे मुसलमानों को ईसाइयों की उस सुनियोजित योजना का आभास मिला जो मुसलमानों के हाथों से शासन-सत्ता हड़पना चाहते थे। अँग्रेजों की तुर्की और खलीफा-विरोधी नीति से भारतीय मुसलमान बड़े क्षुब्ध हुए और उनमें अँग्रेज-विरोधी भावना उत्पन्न हो गयी।

(4) समाचार-पत्रों का योगदान—तुर्की काण्ड के कारण मौलाना मुहम्मद अली के मन में तुर्की के प्रति महान् आदर और अँग्रेजों के प्रति घोर घृणा उत्पन्न हो गयी। 1912 ई. में उन्होंने 'कामरेड' नामक एक अँग्रेजी साप्ताहिक समाचार-पत्र निकाला। वे अपने समाचार-पत्र में तुर्की के समर्थन में खूब जोरों से लिखने लगे। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान 'कामरेड' में 'तुर्कों को क्या करना चाहिये ?' शीर्षक से लेख निकला। सरकार ने समाचार-पत्र बन्द करने का आदेश दे दिया। कुछ समय बाद उन्हें पकड़ लिया गया और जब तक युद्ध चलता रहा वे जेल में रहे। युद्ध समाप्ति के बाद उन्हें रिहा किया गया। उन दिनों अनेक मुस्लिम नेता साप्ताहिक-पत्र निकालने लगे थे, जिनमें विशेष रूप से तुर्की का समर्थन किया जाता था। इनमें सर्वप्रमुख मौलाना अबुल कलाम आजाद थे, जिन्होंने 'अलहिलाल' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। प्रेस अधिनियम के अनुसार सरकार ने उनसे जमानत माँगी और अन्ततोगत्वा 1914 ई. में उनके प्रेस पर कब्जा कर लिया। मौलाना आजाद ने दूसरा पत्र निकाला, लेकिन 1916 ई. में वह भी बन्द हो गया और उन्हें 4 वर्ष की सजा भुगतनी पड़ी। सरकार के इस दमन-चक्र के बावजूद 'कामरेड' और 'अलहिलाल' ने मुसलमानों में नवचेतना का संचार किया और अब उनमें साम्प्रदायिकता के स्थान पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित होने लगा।

(5) मुसलमानों में क्रान्तिकारी भावना—प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान दिसम्बर, 1914 ई. के अन्तिम सप्ताह में एक गुजराती मुसलमान कासिम मंसूर ने अपने पुत्र को रंगून में एक पत्र भेजा, जिसके साथ तुर्की दूत दाऊद के नाम सिंगापुर की दो रेजीमेण्टों में से एक मलाया स्टेट्स गाइड का पत्र भी संलग्न था। इस पत्र में कहा गया था कि रेजीमेण्ट अँग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह करने को तैयार है। अँग्रेज अधिकारियों ने इस पत्र को रास्ते में ही रोक लिया तथा मलाया स्टेट्स गाइड को किसी अन्य स्थान पर स्थानान्तरित कर दिया। मलाया स्टेट्स गाइड ने तो विद्रोह नहीं किया, किन्तु सिंगापुर की पाँचवीं लाइट इन्फेन्ट्री ने योजना के अनुसार विद्रोह कर दिया। इस इन्फेन्ट्री के अधिकांश सैनिक भारतीय मुसलमान थे। इस विद्रोह में अनेक अँग्रेज और कुछ जर्मन अधिकारी मारे गये। बम्बई की बलूचियों की तेरहवीं रेजीमेण्ट भी विद्रोह करने वाली थी। अतः 200 बलूची सैनिकों पर फौजी न्यायालय में मुकदमा चलाया गया। अक्टूबर, 1915 ई. में

रंगून के मुस्लिम क्रान्तिकारी दल ने बकरीद के दिन विद्रोह की योजना बनाई तथा उस दिन बकरे और गायों के बदले अँग्रेजों का वध करने का निश्चय किया। बाद में यह तिथि बदल दी गई। इसी प्रकार फरवरी, 1915 ई. में लाहौर के 15 मुस्लिम विद्यार्थियों ने कॉलेज की पढ़ाई छोड़ दी और उन मुजाहिदों में जा मिले जो किसी समय वहाबियों के सीमावर्ती उपनिवेश में रहते थे। इस प्रकार युद्धकाल में मुसलमान भी क्रान्तिकारी कार्यों में हिन्दुओं के साथ हो गये।

(6) काँग्रेस और लीग का विचार-दर्शन—मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति असन्तोष बढ़ता जा रहा था। अतः काँग्रेस का विचार था कि मुसलमानों के असन्तोष को ध्यान में रखते हुए मुस्लिम भावनाओं के साथ सामंजस्य स्थापित कर, उसके साथ सहयोग की नीति अपनाकर ब्रिटिश सरकार के प्रतिरोध के लिये संयुक्त मोर्चा स्थापित किया जा सकता है। काँग्रेस यह भी अनुभव कर रही थी कि लीग अपना साम्प्रदायिक स्वरूप बदलने की दिशा में अग्रसर है, इसलिये लीग के साथ सहयोग करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होगी। तत्कालीन काँग्रेसी नेताओं की मान्यता थी कि अँग्रेजों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए यदि अपने सिद्धान्तों की सीमित मात्रा में बलि देनी पड़े तो ऐसा किया जाना चाहिये। इसलिये उन्होंने व्यवस्थापिकाओं में मुसलमानों के पृथक् प्रतिनिधित्व की व्यवस्था को स्वीकार कर लिया, जो उसकी नीतियों के विरुद्ध था। काँग्रेस इस अवसर का लाभ उठाकर लीग के साम्प्रदायिक तत्त्वों को अलग-अलग कर उनके अस्तित्व को समाप्त करना चाहती थी। मुसलमानों में व्याप्त ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध असन्तोष को काँग्रेस स्वर्णिम अवसर मान रही थी और वह इस स्वर्णिम अवसर को हाथ से जाने देना नहीं चाहती थी, इसलिये काँग्रेस ने मुस्लिम लीग से हाथ मिलाना आवश्यक समझा।

1911 ई. के बाद ब्रिटिश सरकार मुस्लिम लीग के प्रति कुछ उदासीन हो गयी थी। अतः लीग का विचार था कि वर्तमान परिस्थितियों में अब ब्रिटिश सरकार पर अधिक गहरा विश्वास नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में काँग्रेस के साथ सहयोग करने के अलावा लीग के पास कोई दूसरा विकल्प नहीं रहा। किन्तु लीग का यह विचार स्वार्थों से प्रेरित था। धर्म-निरपेक्षता, अन्य संगठनों से सहयोग आदि दृष्टिकोण, जो लीग को राष्ट्रवादी स्वरूप प्रदान कर रहे थे, केवल भ्रम था। वह तो कुछ समय के लिए तत्कालीन परिस्थितियों से विवश होकर, साम्प्रदायिकता का त्याग कर काँग्रेस का सहयोग प्राप्त करना चाहती थी। काँग्रेस से सहयोग प्राप्त करने के लिये लीग की आन्तरिक राजनीति भी कार्य कर रही थी। मुस्लिम लीग में उस समय सत्ता के लिये संघर्ष चल रहा था। जिन्ना मुस्लिम लीग की बागडोर अपने हाथ में लेकर अपने विरोधियों को शान्त करना चाहता था। अतः जिन्ना ने समझौते की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

लखनऊ समझौते का अस्तित्व में आना—उपर्युक्त कारणों से मुस्लिम लीग के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गये। 1913 ई. के अधिवेशन में मुस्लिम लीग एक राष्ट्रीय राजनीतिक दल में परिणित हो गयी। इस अधिवेशन के मुख्य प्रस्ताव में राष्ट्रीय प्रगति के लिये हिन्दुओं के साथ मिलकर काम करने पर जोर दिया गया। काँग्रेस ने इसका उत्साहपूर्वक स्वागत किया और काँग्रेस के कुछ नेता लीग के अधिवेशन में सम्मिलित भी हुए। 1914 ई. में लीग का अधिवेशन नहीं हुआ, किन्तु अगले वर्ष वह फिर सक्रिय हुई और मुहम्मद अली जिन्ना के प्रस्ताव पर एक समिति गठित की गई, जिसे अन्य समुदायों से विचार-विमर्श कर राजनीतिक सुधारों की योजना

बनाने को कहा गया। अब से काँग्रेस और लीग अपने अधिवेशन एक ही समय और एक ही स्थान पर करने लगी। एक दल के प्रतिनिधि दूसरे दल की बैठकों में बराबर सम्मिलित होने लगे। 1913 ई. के अधिवेशन में लीग ने एक प्रस्ताव द्वारा अपना लक्ष्य औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करना घोषित कर दिया था। इससे लीग और काँग्रेस के उद्देश्य काफी सीमा तक समान हो गये थे, जिससे दोनों के सहयोग का मार्ग प्रशस्त हो गया।

मुहम्मद अली जिन्ना के प्रयत्नों से 1915 ई. में काँग्रेस और लीग के अधिवेशन एक ही दिनों में बम्बई में बुलाये गये। महात्मा गाँधी, मदनमोहन मालवीय और सरोजिनी नायडू जैसे प्रसिद्ध काँग्रेसी नेता मुस्लिम लीग के अधिवेशन में आमन्त्रित किये गये और उन्होंने वहाँ पर हिन्दू-मुस्लिम एकता के बारे में भाषण दिये। काँग्रेस और लीग ने एक संयुक्त समिति नियुक्त की, जिसे दोनों दलों में मेल कराने हेतु तथा युद्धोपरान्त होने वाले सुधारों की एक योजना तैयार करने को कहा गया। 1916 ई. में काँग्रेस और लीग के प्रतिनिधियों में कलकत्ता में विचार-विमर्श हुआ। विधानमण्डलों में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व तथा प्रतिनिधि सरकार के स्वरूप की माँग के सम्बन्ध में दोनों में व्यावहारिक समझौता हुआ तथा भावी सुधारों की एक योजना तैयार हुई। इस योजना को 'काँग्रेस-लीग योजना' कहा जाता है। दिसम्बर,1916 ई. में इन दोनों का अधिवेशन लखनऊ में हुआ और वहाँ दोनों ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। इसलिये इसे 1916 ई. का लखनऊ समझौता (Lucknow Pact) भी कहा जाता है। इस समझौते की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(1) ब्रिटिश सरकार शीघ्र से शीघ्र यह घोषणा करे कि भारतीयों को स्वशासन देना है। भारत को एक पराधीन देश न समझा जाय वरन् इसे दूसरे अधिराज्यों की तरह ब्रिटिश साम्राज्य में समान स्तर प्रदान किया जाय।

(2) प्रान्तीय धारा सभाओं में 80 प्रतिशत सदस्य निर्वाचित हुए होने चाहिए, जो सीधे जनता द्वारा, वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने जायँ। बड़े प्रान्तों की विधान परिषदों में कम से कम 125 सदस्य हों और छोटे प्रान्तों में 50 और 75 के बीच हो। अल्पसंख्यकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व, पृथक् निर्वाचन द्वारा दिया जाय। अल्पसंख्यकों को पंजाब में निर्वाचित होने वाले स्थानों में से 50 प्रतिशत, बम्बई में 33 प्रतिशत, बंगाल में 40 प्रतिशत, बिहार में 25 प्रतिशत, मध्य प्रान्त में 15 प्रतिशत, मद्रास में 15 प्रतिशत और संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) में 30 प्रतिशत स्थान दिये जायँ। मुसलमान किसी अन्य चुनाव क्षेत्र में भाग नहीं लेंगे।

(3) कानून निर्माण पर साम्प्रदायिक निषेधाधिकार नहीं लगाया जायेगा। यदि किसी प्रान्तीय या इम्पीरियल कौंसिल में कोई गैर-सरकारी सदस्य कोई ऐसा विधेयक, प्रस्ताव या धारा प्रस्तुत करता है जिसका प्रभाव दोनों में से किसी सम्प्रदाय पर पड़ता हो और यदि उक्त कौंसिल में उस सम्प्रदाय वाले तीन-चौथाई सदस्य उसका विरोध करें, तो उस पर कोई कार्यवाही नहीं की जायेगी अर्थात् वह विधेयक, प्रस्ताव या धारा रद्द समझी जायेगी। किसी सम्प्रदाय पर प्रभाव पड़ता है या नहीं, इसका निर्णय उक्त कौंसिल के सम्बन्धित सम्प्रदाय वाले सदस्य ही करेंगे।

(4) यदि सपरिषद् राज्यपाल किसी प्रस्ताव का विरोध न करें तो वह पारित प्रस्ताव कार्यपालिका के लिये अनिवार्य रूप से मान्य होगा। एक वर्ष की अवधि के उपरान्त यदि वह प्रस्ताव पुनः पास कर दिया जाय तो उसका निषेध (Veto) नहीं किया जा सकेगा।

(5) प्रान्तीय सरकार का अध्यक्ष एक राज्यपाल होगा और उसकी सहायता के लिये कार्यकारिणी में जो सदस्य होंगे वे साधारणतया प्रशासनिक सेवाओं (I.C.S.) में से नहीं होंगे। राज्यपाल की कार्यकारिणी में कम से कम आधे सदस्य ऐसे भारतीय होंगे जिनका चयन प्रान्तीय धारा सभा ने किया हो। सदस्यों की कार्यावधि 5 वर्ष की होगी।

(6) केन्द्रीय विधान परिषद् के सदस्यों की कुल संख्या 150 होगी, जिसमें 80 प्रतिशत सदस्य निर्वाचित होने चाहिये। निर्वाचित सदस्यों में से 1/3 सदस्य मुसलमान होंगे जो मुस्लिम मतदाताओं द्वारा चुने जायेंगे।

(7) सभी पारित बिलों पर गवर्नर-जनरल की स्वीकृति अनिवार्य होगी। यदि किसी प्रस्ताव पर सपरिषद् गवर्नर-जनरल निषेध (Veto) कर दे तो वह कानून नहीं बनेगा। किन्तु यदि विधान परिषद् एक वर्ष के उपरान्त उसे पुनः पारित कर दे तो वह कानून बन जायेगा। सैनिक, विदेशी तथा राजनैतिक मामलों के सम्बन्ध में परिषद् को कोई अधिकार नहीं होंगे।

(8) गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में कम से कम आधे सदस्य ऐसे होने चाहिये जो केन्द्र की विधान परिषद् द्वारा चुने जायेंगे। इस चुनाव में केन्द्रीय विधान परिषद् के निर्वाचित सदस्यों को ही मत देने का अधिकार होगा।

(9) लन्दन स्थित इण्डिया कौंसिल को समाप्त किया जाय तथा भारत सचिव का वेतन भारतीय कोष से न दिया जाय। भारत सरकार, जहाँ तक सम्भव हो भारत सचिव से स्वतन्त्र होगी।

(10) भारत की जल और थल सेना में सभी सेवाएँ भारतीयों के लिये खुली रहेंगी। भारतीयों को वे ही अधिकार और वे ही स्थान प्राप्त होने चाहिये जो नागरिकता के सम्बन्ध में सम्राट की अन्य जनता को प्राप्त हैं।

(11) कार्यपालिका और न्यायपालिका को अलग रखा जाय।

लखनऊ समझौते की समालोचना—लखनऊ समझौते का अध्ययन करने पर यह सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि इस समझौते या 'काँग्रेस-लीग योजना' के फलस्वरूप दोनों सम्प्रदायों में सौहार्द्र उत्पन्न होने लगा और राष्ट्रीयता को एक नई गति प्राप्त हुई। किन्तु काँग्रेस ने साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति को स्वीकार करके अपने सिद्धान्तों की आहुति दे दी थी। इस समझौते द्वारा मुसलमानों को उन प्रदेशों के प्रान्तीय विधान मण्डलों में अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ, जहाँ वे अल्पमत में थे। इसलिये अनेक विद्वानों ने तो यहाँ तक कह दिया कि यहीं से काँग्रेस की मुसलमानों को सन्तुष्ट और प्रसन्न करने की नीति आरम्भ हुई। इस नीति का भारतीय राजनीति पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। कुछ मुस्लिम नेताओं का कहना था कि मुस्लिम बहुल प्रदेश बंगाल में उन्हें 14 प्रतिशत कम प्रतिनिधित्व दिया गया था। अतः मुसलमानों तथा अँग्रेज अधिकारियों ने इसे बंगाल के मुसलमानों के प्रति घोर अन्याय कहा। इसलिये भारत सरकार ने लखनऊ समझौते के अनुपात को तो स्वीकार कर लिया, किन्तु लन्दन से विचार-विमर्श

कर बंगाल के विधान मण्डल में मुसलमानों के लिये कुछ स्थान और बढ़ा दिये। जिन प्रदेशों में मुसलमानों को अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया, उससे हिन्दुओं का क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था और इसलिये उन्होंने हिन्दू महासभा के मंच से अपना रोष प्रकट किया। इस समझौते की सबसे कटु आलोचना यह कहकर की गई कि इसने उत्तरदायी शासन की माँग नहीं की। काँग्रेस ने साम्प्रदायिकता को स्वीकार कर 1916 ई. में ही पाकिस्तान का बीजारोपण कर दिया। काँग्रेस ने मुस्लिम लीग को मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था स्वीकार कर लिया, फिर भी वह अपने आपको धर्म-निरपेक्ष संस्था घोषित करती रही। किन्तु लखनऊ समझौते के बाद जो स्थिति उत्पन्न हुई उसके परिणामस्वरूप यह एक साम्प्रदायिक संस्था रह गई, क्योंकि अधिकतर हिन्दू वर्गों का प्रतिनिधित्व काँग्रेस ही करती रही।

काँग्रेसी नेताओं ने इस समझौते को अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण बताया। तिलक और श्रीमती एनीबीसेण्ट ने इस समझौते का समर्थन किया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के अनुसार यह दिन भारतीय इतिहास का सबसे सुनहला दिन था। वे अपनी सफलता इस बात में समझ रहे थे कि उन्होंने मुसलमानों की प्रमुख राजनैतिक संस्था से कुछ माँगों पर सहमति प्राप्त कर ली थी, जिनका मुस्लिम लीग अब तक विरोध करती आ रही थी। किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि काँग्रेसियों ने या तो इसके दूरगामी परिणामों को ठीक से नहीं समझा या फिर उनकी उपेक्षा की। काँग्रेस ने अब अपने राष्ट्रीय होने का दावा दुर्बल बना लिया और साम्प्रदायिकता के सामने घुटने टेक दिये। इससे मुसलमानों की साम्प्रदायिक भावनाएँ अधिक तीव्र हुईं जिसका अन्तिम परिणाम देश का विभाजन हुआ।

फिर भी लखनऊ समझौता हिन्दू-मुस्लिम एकता का सुन्दर प्रयास था, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत सचिव ने 20 अगस्त, 1917 को यह घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार की यह नीति है कि प्रशासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का अधिक से अधिक सहयोग प्राप्त किया जाय और भारत में धीरे-धीरे स्वायत्त संस्थाओं का विकास किया जाय, जिससे उत्तरदायी शासन की स्थापना हो सके। एक वर्ष बाद मॉण्ट-फोर्ड रिपोर्ट के नाम से एक सुधार योजना की घोषणा की गई, जिसमें लखनऊ समझौते के प्रस्ताव में कुछ हेर-फेर करके साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति अपनाई गई। 1916 ई. के बाद लीग के अधिवेशन में मुसलमानों के रुख में परिवर्तन आया और स्व-निर्णय या आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को भारत में अपनाने की बात कही गई। यह बात काँग्रेस के प्रस्ताव के अनुरूप थी, जिसमें शीघ्र उत्तरदायी शासन स्थापित करने पर जोर दिया गया था। 1919 ई. में अनेक स्थानों पर जो विरोधी प्रदर्शन हुए उनमें हिन्दू-मुस्लिम एकता के दर्शन हुए। सैकड़ों लोग—गरम दल वाले हिन्दू तथा तुर्की-परस्त मुसलमान कारावास में थे और भारत सरकार उन्हें मुक्त करना उचित नहीं समझती थी। रॉलेट एक्ट के विरोध में हुए आन्दोलन में भी हिन्दू और मुसलमान एक होकर सामने आये तथा पुलिस ने हिन्दू और मुसलमानों को साथ-साथ हथकड़ियाँ लगाईं। मुस्लिम लीग की लन्दन शाखा का मत था कि मुसलमानों को काँग्रेस और हिन्दुओं के साथ मिलकर अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहिये। मौलाना मुहम्मदअली, जिन्होंने पहले हिन्दू-मुस्लिम एकता की खिल्ली उड़ाई थी, वे भी 1919 ई. में हुए अमृतसर के काँग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित हुए। गाँधीजी अब हिन्दुओं, मुसलमानों और सभी जातियों के नेता थे।

मुसलमानों का उनमें पूर्ण विश्वास था और उन्हीं के नेतृत्व में वे खिलाफत आन्दोलन चलाने के लिए राजी भी हुए थे। अँग्रेजों के विरुद्ध चलाये जाने वाले अपने असहयोग आन्दोलन और खिलाफत आन्दोलन को एक में जोड़कर अस्थिर चित्त वाले मुसलमानों को भी गाँधीजी राजनीति में ले आये थे। किन्तु इस समझौते द्वारा स्थापित हिन्दू-मुस्लिम एकता अस्थायी सिद्ध हुई।

होम रूल आन्दोलन

मॉर्ले-मिण्टो सुधारों (1909 ई.) के पश्चात् तथा प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व के वर्ष भारतीय राजनीति में शान्ति के वर्ष थे। इन वर्षों में राजनीतिक गतिविधियाँ नहीं के बराबर थीं। इसका मुख्य कारण यह था कि 'सूरत की फूट' के बाद काँग्रेस का नेतृत्व उदारवादियों के हाथों में आ गया था, जो संवैधानिक उपायों में विश्वास करते थे। उग्रवादी नेतृत्वविहीन थे। बाल गंगाधर तिलक जेल में थे तथा अरविन्द घोष ने राजनीतिक जीवन से संन्यास ले लिया था। इसके अतिरिक्त लॉर्ड हार्डिंग्ज की शासन में सुधार करने की नीति—बंगाल-विभाजन रद्द किया जाना, दिल्ली को राजधानी बनाना और प्रान्तीय स्वायत्तता का समर्थन करना—आदि के फलस्वरूप देश में निष्प्राण उदासीनता का वातावरण छाया हुआ था तथा सम्पूर्ण राष्ट्र निराशा के गहन अन्धकार में डूबा हुआ था। किन्तु राष्ट्र के भाग्य-क्षितिज पर ऊषा की किरण दिखाई दी। छः वर्षों की नजरबन्दी काटकर गंगाधर तिलक 1914 ई. में पूना वापिस आ गये, जिन्होंने निष्प्राण उदासीनता के वातावरण में प्राण फूँक दिये।

1914 ई. में प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध के दौरान क्रान्तिकारियों की गतिविधियाँ अत्यधिक बढ़ गईं। इन क्रान्तिकारी गतिविधियों का दमन करने के लिये भारत सरकार ने 'भारत रक्षा अधिनियम' पारित किया और प्रेस पर भी अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये। इस युद्ध में उदारवादी, उग्रवादी और मुस्लिम लीग सरकार के साथ सहयोग कर रहे थे। अतः इन तीनों में स्थायी एकता के प्रयास आरम्भ किये गये। यह एकता उदारवादियों और उग्रवादियों में तथा काँग्रेस और मुस्लिम लीग में स्थापित करनी थी। तिलक कारावास से मुक्त होकर आये ही थे, अतः तिलक और उदारवादियों के बीच समझौते की बातचीत आरम्भ हुई। किन्तु गोखले व फीरोजशाह मेहता उग्रवादियों से समझौता करने को तैयार नहीं थे। फरवरी, 1915 ई. में गोखले तथा नवम्बर, 1915 में फीरोजशाह मेहता का देहान्त हो गया, तब दिसम्बर, 1915 ई. में श्रीमती एनीबीसेण्ट के प्रयत्नों से उदारवादियों और उग्रवादियों में मेल करवा दिया गया। तत्पश्चात् भारतीय नेताओं ने माँग की कि सरकार यह घोषणा करे कि युद्ध की समाप्ति के बाद भारत में वैसी ही सरकार स्थापित कर दी जायेगी जैसी अन्य उपनिवेशों में है। किन्तु ब्रिटिश सरकार इस बारे में चुप रही। अतः भारतीय नेताओं को इस चुप्पी पर कुछ सन्देह हुआ। इसलिये विवश होकर भारतीयों ने होम रूल आन्दोलन चलाया।

होम रूल आन्दोलन के कारण—अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब ब्रिटिश सरकार उदारवादी नीतियों का अवलम्बन कर रही थी, बंगाल-विभाजन रद्द कर दिया गया था और वह प्रान्तीय स्वायत्तता के विचारों का समर्थन कर रही थी, तब फिर ऐसे कौन-से कारण थे, जिन्होंने

भारतीय नेताओं को आन्दोलन चलाने के लिये विवश कर दिया। होम रूल आन्दोलन के निम्नलिखित कारण बताये जा सकते हैं—

(1) अपर्याप्त सुधार—भारत सचिव लॉर्ड मॉर्ले भारत में संसदात्मक प्रणाली स्थापित करना नहीं चाहता था। किन्तु उग्रवादियों व क्रान्तिकारियों की गतिविधियों को रोकने के लिए उदारवादियों को सरकार की ओर मिलाये रखना चाहता था। भारत का तात्कालिक वायसराय लॉर्ड मिण्टो, लॉर्ड मार्ले से भी अधिक प्रतिक्रियावादी था। किन्तु भारत में राजनैतिक आन्दोलन जोर पकड़ता जा रहा था तथा बंगाल-विभाजन के विरुद्ध आन्दोलन ने क्रान्तिकारी रूप धारण कर लिया था। ऐसी परिस्थितियों में भारत में कुछ सुधार करना आवश्यक हो गया था। अतः लॉर्ड मॉर्ले ने लॉर्ड मिण्टो से बातचीत करके 1909 ई. में एक सुधार अधिनियम पारित करवाया, जिसे 'मॉर्ले-मिण्टो सुधार' कहते हैं। इस अधिनियम द्वारा केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारासभाओं की सदस्य संख्या तथा उसके अधिकारों में भी कुछ वृद्धि की गई और निर्वाचन का सिद्धान्त भी एक सीमा तक स्वीकार किया गया। किन्तु इस अधिनियम द्वारा पहली बार साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली की स्थापना कर दी गई। निर्वाचन क्षेत्रों को चार भागों में बाँटा गया—सामान्य, जमींदारों, चेम्बर ऑफ कॉमर्स तथा मुसलमानों के लिये। इस प्रकार मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार देकर साम्राज्यवादियों ने पाकिस्तान का बीजारोपण कर दिया। इन अपर्याप्त एवं साम्प्रदायिकता से दूषित सुधारों से कोई भी प्रसन्न नहीं हुआ। हाँ, अलीगढ़ विचारधारा के मुसलमान, जिनके आग्रह पर ऐसा किया गया था, वे अवश्य प्रसन्न हुए होंगे। इससे तो काँग्रेस के उदारवादियों को भी बड़ी निराशा हुई। अतः राष्ट्रवादी नेता कोई प्रभावशाली कदम उठाने की सोचने लगे।

(2) सरकारी दमन के विरुद्ध प्रतिक्रिया—1909 ई. के सुधारों से उग्रवादी सर्वाधिक असन्तुष्ट हुए तथा उनकी गतिविधियाँ बढ़ने लगीं। दूसरी ओर क्रान्तिकारियों की गतिविधियाँ भी तेज हो गयीं। सरकार ने उग्रवादियों व क्रान्तिकारियों का दमन करने के लिये 1911 ई. में 'राजद्रोह सभा अधिनियम' (Seditious Meetings Act) पास किया तथा सार्वजनिक सभाओं पर पाबन्दी लगा दी। लाला लाजपतराय व सरदार अजीतसिंह को कैद करके बर्मा भेज दिया। बंगाल में बंग-भंग आन्दोलन जोरों पर था। अतः वायसराय लॉर्ड हार्डिंग्ज ने कलकत्ता की बजाय दिल्ली को ब्रिटिश भारत की राजधानी बनाने का निश्चय किया, क्योंकि अँग्रेजी सरकार के लिये कलकत्ता खतरनाक जगह थी। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने 1911 ई. में बंगाल-विभाजन रद्द कर दिया, किन्तु सरकारी दमन के कारण जनता में उत्तेजना फैली हुई थी। इस जन-उत्तेजना की परिणति होम रूल आन्दोलन के रूप में हुई।

(3) प्रथम विश्वयुद्ध का प्रभाव—प्रथम विश्वयुद्ध में शामिल होते समय ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की थी कि यह युद्ध जर्मनी के विरुद्ध लोकतन्त्र की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा है। लोकतन्त्र की रक्षा के लिए भारत से भी सहयोग माँगा गया। काँग्रेसी नेताओं ने ब्रिटिश सरकार की हर सम्भव तरीके से सहायता की। वे अँग्रेजी साम्राज्य की कठिनाइयों से लाभ उठाना नहीं चाहते थे। भारत के सारे नेता यह सोचते थे कि जब अँग्रेज लोकतन्त्र की रक्षा के लिये लड़ रहे हैं तो भारतीयों को लोकतन्त्र देने से कैसे इन्कार कर सकते हैं ? इंगलैण्ड ने तुर्की के विरुद्ध भी युद्ध की घोषणा करदी थी। तुर्की का सुल्तान विश्व के मुसलमानों का खलीफा (धर्मगुरु) था, फिर

भी भारतीय मुसलमानों ने अँग्रेजों की सहायता की, क्योंकि ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने भारत के मुसलमानों को विश्वास दिलाया था कि तुर्की के सुल्तान के सम्मान की रक्षा की जायेगी। काँग्रेस और मुस्लिम लीग द्वारा सरकार को पूर्ण सहयोग दिये जाने के बावजूद ब्रिटिश सरकार ने भारत को लोकतन्त्र देने या औपनिवेशिक स्वराज्य देने के बारे में कुछ भी नहीं कहा। अतः औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करने के लिए आन्दोलन करना अनिवार्य हो गया था।

(4) उदारवादियों एवं उग्रवादियों में एकता—जैसाकि पूर्व में बताया जा चुका है कि 1914 ई. में जब तिलक कारावास से मुक्त होकर आये तब उदारवादियों व उग्रवादियों में समझौते की बातचीत आरम्भ हुई। गोखले और फीरोजशाह मेहता की मृत्यु के बाद दिसम्बर, 1915 ई. में श्रीमती एनीबीसेण्ट के प्रयत्नों से काँग्रेस के संविधान में कुछ संशोधन करके उदारवादियों व उग्रवादियों में पुनः मेल करवाया गया। इस प्रकार अब काँग्रेस पहले से अधिक संगठित एवं शक्तिशाली हो गयी थी। इन परिस्थितियों में काँग्रेसी नेताओं ने ब्रिटिश सरकार से माँग की कि सरकार यह घोषणा करे कि युद्धोपरान्त भारत में वैसी ही सरकार स्थापित कर दी जायेगी जैसी अन्य उपनिवेशों में है। ब्रिटिश सरकार ने इस माँग की उपेक्षा करते हुए चुप्पी साध ली। अतः काँग्रेसी नेताओं को ब्रिटिश सरकार की नेक-नीयति पर सन्देह हुआ। इसलिये उन्होंने होम रूल आन्दोलन चलाया।

होम रूल लीग की स्थापना—भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक ऐसा भी अवसर आया था, जबकि देश को राजनीतिक नेतृत्व देने वाला कोई नहीं था। यह अवसर उस समय आया जबकि यूरोप के अधिकांश देश विश्व युद्ध के महायज्ञ में आहुतियाँ दे रहे थे। इस समय गोखले व फीरोजशाह मेहता का देहान्त हो चुका था। दादाभाई नौरोजी तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि नेता वृद्ध हो चुके थे और उनमें अब इतनी क्षमता नहीं रही कि वे देश को कुशल नेतृत्व दे सकें। अतः नेतृत्वहीन और दिशाहीन भारतीय जनता किसी उपयुक्त नेता की तलाश में थी, जैसाकि पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है, "यह थी दशा 1911 ई. में भारत की, जिसकी पुकार पर कोई ध्यान नहीं देता था और जिसे अपने लिये एक नेता ढूँढने की आवश्यकता थी। ठीक ऐसे समय में देश का नेतृत्व करने के लिए श्रीमती एनीबीसेण्ट आगे आईं।"

श्रीमती एनीबीसेण्ट आयरलैण्ड की रहने वाली थी। वह एक उत्कृष्ट वक्ता थी तथा भारत में थियोसोफिकल सोसायटी के अध्यक्ष की हैसियत से काफी प्रसिद्ध हो चुकी थी। वह भारत की सभ्यता और संस्कृति में अगाध विश्वास रखती थी तथा भारत के जन-जीवन के मार्मिक पहलू को संस्पर्श करने में पूरी तरह सफल हुई थी। एक विदेशी महिला होते हुए भी उसकी भावनाओं ने उसे इस रंग में रंग दिया कि उसे इस देश की मिट्टी के साथ आत्मसात् होना है। वह देश की उच्च्व आध्यात्मिक, नैतिक और गौरवपूर्ण मानवीय परम्पराओं से अत्यधिक प्रभावित हुई और भारत को अपनी मातृभूमि समझने लगी। इसलिये आयरलैण्ड को छोड़कर वह भारत में ही बस गई थी। 1913 ई. में वह इंगलैण्ड गई। इस समय उसके देश आयरलैण्ड में स्वतन्त्रता के लिये उग्र आन्दोलन चल रहा था। आयरिश नेता रेडमॉण्ड के नेतृत्व में आयरलैण्ड में 'होम रूल लीग' की स्थापना हुई थी जो वैधानिक तथा शान्तिपूर्ण तरीके से गृह-शासन (Home-Rule) या स्वराज्य प्राप्त करना चाहती थी। श्रीमती एनीबीसेण्ट ने इस विचारधारा का अध्ययन करके

अपना मार्ग निश्चित कर लिया। इस समय देश में क्रान्तिकारी सक्रिय थे और उग्रवादी काँग्रेस से अलग हो गये थे। इसलिये श्रीमती एनीबीसेण्ट उग्रवादियों को पुनः काँग्रेस में शामिल करके आयरलैण्ड की भाँति गृह-शासन आन्दोलन या होम रूल आन्दोलन का सूत्रपात करना चाहती थी। वह 1908 ई. से 1914 ई. के बीच कई बार इंगलैण्ड गई और अपने लक्ष्यों का प्रचार किया, किन्तु इंगलैण्ड में उसे कोई सफलता नहीं मिली। भारत लौटकर 1914 ई. में वह काँग्रेस में शामिल हो गई। श्रीमती एनीबीसेण्ट का राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रवेश पुरानी खिलाड़ी की भाँति हुआ। वह भारत को वैसा ही स्वराज्य अथवा होम रूल दिलाना चाहती थी, जैसाकि ब्रिटिश साम्राज्य के दूसरे उपनिवेशों को प्राप्त है। उसका कहना था कि बुद्धि और दूरदर्शिता का तकाजा है कि ब्रिटिश सरकार भारत को होम रूल देकर सन्तुष्ट करे। डॉ. जकरिया के अनुसार, "उसकी योजना उग्रवादी राष्ट्रीय शक्तियों को क्रान्तिकारियों के साथ इकट्ठा होने से रोकने की थी। वह भारतीयों को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य दिलाकर सन्तुष्ट रखना चाहती थी।"

इसलिये श्रीमती एनीबीसेण्ट ने एक ओर तो काँग्रेस के दोनों दलों में मेल करवाने का प्रयत्न किया तो दूसरी ओर एक ऐसा संवैधानिक आन्दोलन आरम्भ किया जिससे कि भारतीय राजनीति में क्रान्तिकारियों का प्रभाव न बढ़ सके। अपने उद्देश्यों का प्रचार करने के लिये उसने 2 जनवरी, 1914 से 'कॉमन व्हील' नामक एक साप्ताहिक समाचार-पत्र अँग्रेजी में निकालना आरम्भ किया। इसके छः महीने बाद उसने 'मद्रास स्टैण्डर्ड' नामक अँग्रेजी दैनिक को लेकर उसका नाम 'न्यू इण्डिया' रख दिया और इन समाचार-पत्रों के द्वारा वह सरकार और जनता दोनों को जागृत करने लगी। अपने उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए श्रीमती एनीबीसेण्ट ने 'कॉमन व्हील' के प्रथम अंक में लिखा कि, "राजनीतिक सुधारों से हमारा अभिप्राय ग्राम पंचायतों से लेकर जिला बोर्डों और नगरपालिकाओं, प्रान्तीय विधानसभाओं और राष्ट्रीय संसद तक स्वराज्य कायम करना है। इन सब संस्थाओं को वैसा ही स्वराज्य मिलना चाहिये जैसा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य उपनिवेशों को मिला हुआ है। यदि ब्रिटिश संसद में अन्य स्वशासित उपनिवेशों के प्रतिनिधि लिये जायँ तो भारत को भी वहाँ पर प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया जाय।" 1914 ई. में काँग्रेस के मद्रास अधिवेशन में उसने कहा, "भारत अब साम्राज्यवाद के शिशु-गृह में एक शिशु की भाँति बन्द नहीं रहना चाहता। भारत को स्वराज्य देना आवश्यक है।" श्रीमती एनीबीसेण्ट ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि, "भारत में राजभक्ति के बदले में पुरस्कार की बहुत बात हो रही है, लेकिन भारत स्वतन्त्रता या कुछ अधिकारों के लिए अपने पुत्रों के रक्त और पुत्रियों के आँसुओं से अँग्रेजों के साथ सौदेबाजी नहीं करता है। भारत राष्ट्र के रूप में अपना न्याय-अधिकार ब्रिटिश सरकार से माँगता है। भारत इसको युद्ध से पूर्व माँगता था, भारत इसको युद्ध के बीच माँगता है और युद्ध के बाद भी माँगेगा, परन्तु वह इस न्याय को एक पुरस्कार के रूप में नहीं बल्कि अधिकार के रूप में माँगता है, इसके बारे में किसी को कोई गलत धारणा नहीं होनी चाहिये।"

1914 ई. में लोकमान्य तिलक के पूना वापिस आ जाने से लोगों में प्रसन्नता की लहर उत्पन्न हो गयी। इससे राष्ट्रीय विचारधारा में भी नवजीवन आ गया। दिसम्बर, 1915 ई. में श्रीमती एनीबीसेण्ट ने काँग्रेस से होम रूल के सम्बन्ध में एक योजना बनाने को कहा, किन्तु 1 सितम्बर, 1916 ई. तक कोई योजना न बन सकी। इधर कारावास से बाहर आकर तिलक भी आराम से नहीं बैठे। यद्यपि तिलक वृद्ध हो चुके थे, परन्तु उनके हृदय में स्वराज्य की भावना

अभी भी प्रवल थी और वे स्वराज्य के लिए जन-आन्दोलन का नेतृत्व करने के इच्छुक थे। उन्होंने दिसम्बर, 1915 ई. में पूना में मध्य प्रान्त और बम्बई के राष्ट्रवादियों की एक सभा बुलाई और इसकी एक समिति ने अप्रैल, 1916 में बेलगाँव प्रान्तीय कांफ्रेंस के अवसर पर 'इण्डियन होम रूल लीग' की स्थापना की। श्रीमती एनीबीसेण्ट तिलक के जीवन-दर्शन से अत्यधिक प्रभावित थी और भारतीय संस्कृति के इस महान् सेवक के साथ काम कर उसके समान लक्ष्य को प्राप्त करना चाहती थी। अतः जब काँग्रेस ने होम रूल के सम्बन्ध में कोई योजना नहीं बनाई, तब स्वयं श्रीमती एनीबीसेण्ट ने सितम्बर, 1916 ई. में मद्रास के गोखले हॉल में 'होम रूल लीग' की स्थापना की। इस प्रकार तिलक ने 'इण्डियन होमरूल लीग' की स्थापना पहले की थी तथा श्रीमती एनीबीसेण्ट ने बाद में। किन्तु दोनों नेताओं में पर्याप्त सहयोग था। अतः भारत में होम रूल आन्दोलन चलाने का श्रेय श्रीमती एनीबीसेण्ट और तिलक, दोनों को दिया जाता है। तिलक का कार्यक्षेत्र महाराष्ट्र तथा मध्य भारत था और शेष भारत में आन्दोलन संचालित करने का दायित्व श्रीमती एनीबीसेण्ट का था। भारत में थियोसोफिकल सोसाइटी की शाखाएँ प्रायः प्रत्येक प्रान्त और जिले में थीं। अतः देश में थियोसोफिकल सोसाइटी की जितनी भी शाखाएँ थी, वे सब 'होम रूल लीग' के कार्यालयों का काम देने लगीं।

होम रूल आन्दोलन के उद्देश्य—होम रूल आन्दोलन हिन्दू राष्ट्रवाद से प्रभावित था तथा वैधानिक एवं शान्तिपूर्ण आन्दोलन था। श्रीमती एनीबीसेण्ट वैधानिक एवं शान्तिपूर्ण तरीकों से भारत में स्वशासन की स्थापना करना चाहती थी। होम रूल आन्दोलन के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे—

(1) भारत को शीघ्रातिशीघ्र स्वशासन प्रदान किया जाय। इसलिए नहीं कि युद्ध चल रहा है, बल्कि इसलिये कि यह उनका नैतिक अधिकार है और यह उनका देश है, वे इसके स्वामी हैं। स्वशासित भारत युद्ध में अँग्रेजों के लिये अधिक सहायक सिद्ध होगा। स्वशासन प्रदान करने पर भारतीय पूर्ण निष्ठा के साथ अँग्रेजों का साथ देंगे। अतः ब्रिटिश साम्राज्य के हित में होगा कि वह भारतीयों को स्वशासन प्रदान करके सन्तुष्ट रखे।

(2) भारत में चली आ रही शिक्षा पद्धति में परिवर्तन किया जाए और देश के लिये एक राष्ट्रीय शिक्षा नीति का निर्माण किया जाय, जिसके अन्तर्गत एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय स्थापित किया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्रीमती एनीबीसेण्ट ने बनारस में हिन्दू सेण्ट्रल कॉलेज की स्थापना की, जो बाद में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय बन गया।

(3) देश में किये गये सामाजिक सुधार अपर्याप्त हैं। अतः सामाजिक सुधारों का नवीन सूत्रपात किया जाय, जिससे भारत में नवजागरण और नैतिक उन्नति हो सके। युद्ध के दौरान जो भारतीय राजनीति शिथिल पड़ गई थी उसे सक्रिय कार्यक्रम एवं प्रभावशाली नेतृत्व द्वारा प्राणवान बनाया जाय तथा भारतीय जनता में नवचेतना उत्पन्न की जाय।

(4) आर्थिक उन्नति के लिये भी प्रयत्न किया जाय। ब्रिटेन द्वारा निरन्तर आर्थिक शोषण से भारत दरिद्र हो गया है। सर्वत्र भुखमरी और बेकारी के कारण आर्थिक असन्तोष है। अतः इस असन्तोष को दूर करने हेतु देश की आर्थिक स्थिति में सुधार किया जाय।

इन्हीं उद्देश्यों को लेकर भारत में इतिहास प्रसिद्ध 'होम रूल आन्दोलन' आरम्भ हुआ था।

आन्दोलन का आरम्भ एवं प्रगति—होम रूल आन्दोलन की शुरूआत सर्वप्रथम लोकमान्य तिलक ने की। यद्यपि इस समय तक वे काँग्रेस में शामिल हो गये थे, फिर भी उन्होंने अनुभव किया कि काँग्रेस के तत्त्वावधान में व्यापक राजनीतिक आन्दोलन का संचालन करना सम्भव नहीं है। अतः लखनऊ अधिवेशन के बाद तिलक और श्रीमती एनीबीसेण्ट ने इस आन्दोलन को संयुक्त रूप से चलाने का निश्चय किया। दोनों नेताओं ने सारे देश का दौरा करके, इस आन्दोलन को सफल बनाने हेतु जनमत जागृत किया। इस आन्दोलन को उदारवादियों का समर्थन प्राप्त नहीं था, जैसाकि चिन्तामणि ने लिखा है कि, "उदारवादियों को श्रीमती एनीबीसेण्ट से घृणा थी, क्योंकि वह उग्रवादी विचारों से प्रभावित थी। उसकी कार्यप्रणाली भी उग्रवादी कार्यप्रणाली के समान थी, क्योंकि जब इंगलैण्ड एक ओर आपत्तियों में फँसा था, उस पर जर्मनी का संकट था, ऐसे समय में उसे तंग करना धुरी राष्ट्रों की सहायता करना था।" इस समय महात्मा गाँधी ने भी देशवासियों से इंगलैण्ड से सहयोग करने को कहा और कहा कि, "इंगलैण्ड की कठिनाइयों का समय हमारे लिये अवसर नहीं होना चाहिये।" इसी प्रकार सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा कि, "हमें ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिये लड़ना चाहिये।" जबकि श्रीमती एनीबीसेण्ट और तिलक युद्धकाल में भारतीयों के लिये होम रूल की माँग कर रहे थे। श्रीमती एनीबीसेण्ट ने गाँधीजी के वक्तव्य का प्रत्युत्तर देते हुए कहा कि, "स्वयं इंगलैण्ड में, युद्धकाल में राजनीतिक गतिविधियाँ हो सकती हैं, जहाँ युद्ध के दौरान चुनाव हो सकते हैं तथा जनमत के समक्ष सरकार झुक सकती है तो भारत को भी यह अधिकार है कि वह भी युद्धकाल में अपने देश में राजनीतिक गतिविधियाँ कर सकता है।" श्रीमती एनीबीसेण्ट ने अपने दोनों समाचार-पत्रों द्वारा होम रूल आन्दोलन का प्रचार कर इसे जन-जन तक पहुँचा दिया और शीघ्र ही वह भारत में एक प्रसिद्ध नेता बन गई। उसने अपने कई अनुयायी बना लिये।

बाल गंगाधर तिलक ने भी देश के कोने-कोने में इस आन्दोलन के उद्देश्यों और लक्षणों का प्रचार किया। उन्होंने जनता को बताया कि होम रूल आन्दोलन का उद्देश्य देश में नौकरशाही के स्थान पर एक ऐसी शासन प्रणाली की व्यवस्था करना है जो जनता के प्रति उत्तरदायी हो। तिलक ओजस्वी वक्ता थे और जनता को आकर्षित करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। उनके प्रचार से होम रूल आन्दोलन अत्यधिक लोकप्रिय हो गया और तिलक शीघ्र ही 'लोकमान्य' बन गये। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने लिखा है कि, "उन्होंने लोकमान्य का विशेष नाम अर्जित किया और वे भगवान् की तरह पूजे जाने लगे। वे जहाँ भी गये उनका लोगों ने शाही तरीके से स्वागत किया।" इस प्रकार तिलक व श्रीमती एनीबीसेण्ट के नेतृत्व में भारत में होम रूल आन्दोलन बड़ी तेजी से चला। यद्यपि इस समय भारत में एक ही नाम से दो आन्दोलन देश के भिन्न-भिन्न भागों में चल रहे थे, किन्तु दोनों में पूर्ण सहयोग था। अतः जब दोनों ने संयुक्त रूप से कार्य करना आरम्भ किया तो आन्दोलन में और अधिक तेजी आ गई और सम्पूर्ण भारत में यह आन्दोलन लोकप्रिय बन गया। इसके लगभग 14,000 सदस्य बन गये तथा 16,000 रुपये सहायता के रूप में प्राप्त हुए। बुद्धिजीवी वर्ग ने इसमें अत्यधिक सहयोग दिया। भारत के घर-घर में होम रूल आन्दोलन की गूँज सुनाई देने लगी।

आन्दोलन का दमन—1917 ई. तक होम रूल आन्दोलन अपनी लोकप्रियता की चरम सीमा पर पहुँच गया था। ब्रिटिश सरकार युद्ध के दौरान ऐसे आन्दोलन को सहन करने वाली नहीं थी। अतः सरकारी दमनचक्र पूर्ण वेग से चलना आरम्भ हो गया। सरकार ने श्रीमती एनीबीसेण्ट के समाचार-पत्र 'न्यू इण्डिया' के लिये 20,000 रुपये की जमानत माँगी, इसे न देने पर समाचार-पत्र को जब्त कर लिया गया। सरकार ने तिलक को भी दो, दस-दस हजार की जमानत और 20 हजार रुपये का बॉण्ड भरने के लिये कहा। तिलक पर अनेक पाबन्दियाँ लगा दी गईं तथा उनके पंजाब व दिल्ली में प्रवेश करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। सरकार इससे भी सन्तुष्ट नहीं हुई। उसने आन्दोलनकारियों के साथ अमानुषिकता का व्यवहार किया। मद्रास सरकार के दवाव पर वायसराय लॉर्ड चेम्सफोर्ड ने श्रीमती एनीबीसेण्ट और उसके दो सहयोगियों को गिरफ्तार कर नजरबन्द कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में श्रीमती एनीबीसेण्ट तथा होम रूल आन्दोलन की लोकप्रियता अत्यधिक बढ़ गई। अब श्रीमती एनीबीसेण्ट को मुक्त कराने के लिये स्थान-स्थान पर सभाएँ होने लगीं और देश में बड़े प्रभावशाली ढंग से यह आन्दोलन चला। सरकार ने विद्यार्थियों को इस आन्दोलन में सम्मिलित होने से रोक दिया तथा जनता को होम रूल लीग की सभाओं में जाना वर्जित कर दिया। सरकार के इस दमन से देश में रोष और विरोध का मानो बाँध टूट गया। इस सम्बन्ध में पण्डित नेहरू ने लिखा है कि, "हम नौजवान एक अजीब उत्साह और स्फूर्ति का अनुभव कर रहे थे और आशा में थे कि भविष्य में कुछ होगा।" श्रीमती एनीबीसेण्ट को नजरबन्द किये जाने के बाद मुस्लिम लीग के नेता जिन्ना ने भी होम रूल आन्दोलन को सहयोग देना आरम्भ कर दिया। अतः सरकार पर जब चारों ओर से दबाव पड़ने लगा तो विवश होकर सरकार ने श्रीमती एनीबीसेण्ट को छोड़ दिया। श्रीमती एनीबीसेण्ट की लोकप्रियता के कारण 1917 ई. में वह काँग्रेस की अध्यक्ष चुनी गई। तिलक ने इस आन्दोलन को और अधिक बढ़ाया।

आन्दोलन की समाप्ति—भारत सरकार इस आन्दोलन के प्रभाव से भयभीत हो गयी थी। सरकार ने भारतीय व्यापारियों को संरक्षण प्रदान किया, जिससे पूँजीपति वर्ग इस आन्दोलन से दूर हट गया। इस आन्दोलन को अपने उद्देश्यों में कोई विशेष सफलता नहीं मिली, क्योंकि युद्ध के दौरान ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत के विषय में की गई घोषणाओं के कारण होम रूल आन्दोलन से जनता का सम्पर्क टूट गया। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एस्क्विथ ने भारत के लिये 'एक नये दृष्टिकोण' की घोषणा की। सबसे महत्त्वपूर्ण घटना यह हुई कि इंगलैण्ड में चेम्बरलेन के स्थान पर एडविन मॉण्टेग्यू भारत सचिव बना और उसने भारतीयों के प्रति बड़ी सहानुभूति प्रदर्शित की। उसने 20 अगस्त, 1917 को घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार की नीति धीरे-धीरे भारत में स्वायत्त शासन स्थापित करने की है। उसने अपनी घोषणा में यह भी कहा कि शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों को शामिल किया जायेगा। मॉण्टेग्यू की इस घोषणा ने भारतीय राजनीति में एक नवीन युग का सूत्रपात किया तथा इस घोषणा को 1858 ई. की महारानी विक्टोरिया की घोषणा के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण घोषणा कहा गया। इस घोषणा के बाद श्रीमती एनीबीसेण्ट ने अपना आन्दोलन समाप्त कर दिया। श्रीमती एनीबीसेण्ट द्वारा आन्दोलन समाप्त करने पर तिलक का आन्दोलन भी क्षीण हो गया और धीरे-धीरे समाप्त हो गया। क्योंकि मॉण्टेग्यू की घोषणा में

होम रूल लीग की माँग अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करली गई थी, हालाँकि इस घोषणा में ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य भारतीयों को शव्द-जाल से मोहित करके असन्तोष की धारा को दूसरी तरफ मोड़ना था।

मॉण्टेग्यू की घोषणा द्वारा लखनऊ समझौते में भी दरार पैदा करने का प्रयास किया गया। शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों को शामिल करने के उद्देश्य को, भले ही वह एक पवित्र शुरूआत की संज्ञा के रूप में स्वीकार किया जाता रहा हो, परन्तु इसके साम्प्रदायिक पहलू को भी अछूता नहीं छोड़ा जा सकता। क्योंकि ब्रिटेन की यह चिर-परिचित नीति 'फूट डालो और राज्य करो' का ही एक सर्वमान्य सिद्धान्त था। सरकार को विश्वास था कि इस प्रश्न के माध्यम से वह हिन्दू-मुस्लिम एकता में एक बार पुनः द्वेष की लहर फैला सकेगी, क्योंकि जब शासन में भारतीयों को शामिल करने का प्रश्न आयेगा तब दोनों ही वर्ग अपने-अपने हितों के संरक्षण के लिये अपने-अपने समर्थकों को शामिल करने की माँग करेंगे, जिससे उन्हें टकराव के बिन्दु पर लाकर खड़ा किया जा सकेगा। मुस्लिम लीग ने वाद में जो कदम उठाये उससे इस बात की पुष्टि होती है। यद्यपि उदारवादियों ने इसे मेग्नाकार्टा कहकर इसका स्वागत किया था, किन्तु उग्रवादियों ने इसे शब्दों का वाग्जाल कहकर राष्ट्रीयता की धारा को अवरुद्ध करने का षड्यन्त्र बताया था।

आन्दोलन का महत्त्व—यद्यपि होम रूल आन्दोलन को कोई विशेष सफलता नहीं मिली, तथापि भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में इस आन्दोलन का असाधारण महत्त्व है। श्रीमती एनीबीसेण्ट ने अपने देश आयरलैण्ड में रेडमॉण्ड द्वारा स्थापित होम रूल लीग की प्रेरणा की अमर ज्योति भारतवासियों को लाकर दी। मुख्य रूप से इस आन्दोलन का महत्त्व निम्नलिखित था—

(1) इस आन्दोलन ने एक बार पुनः प्रदर्शन के शस्त्र को कसौटी पर कस कर यह सिद्ध कर दिया कि माँगों तथा प्रार्थना-पत्रों से कोई भी राजनैतिक सुधार या माँगों की पूर्ति सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण शक्ति से अपने स्वार्थों को त्याग कर ही देश के लिये कार्य किया जा सकता है और देश का नेतृत्व ऐसे व्यक्ति के हाथ में होना चाहिये जो पूर्ण रूप से मातृभूमि की सेवा में संलग्न हो और जिसमें त्याग एवं वलिदान करने की भावना हो।

(2) इस आन्दोलन ने यह भी सिद्ध कर दिया कि स्वाधीनता-संघर्ष में देश के सम्पूर्ण साधनों का योगदान होना चाहिये। देश का केवल एक भाग या कोई एक राजनैतिक दल देश को स्वतन्त्रता नहीं दिला सकता।

(3) इस आन्दोलन ने काँग्रेस के उदारवादियों को राष्ट्रीय रंगमंच के पार्श्व में फेंक दिया। फलस्वरूप सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 1918 ई. में 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय उदार संघ' नामक एक पृथक् संस्था का गठन किया। श्रीमती एनीबीसेण्ट के सहयोग से तिलक एक वार पुनः राजनैतिक रंगमंच पर अधिकार स्थापित करने में सफल रहे।

(4) इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार को अपनी चली आ रही नीति में परिवर्तन करना पड़ा, जिसका प्रमाण इंगलैण्ड में सरकार परिवर्तन तथा मॉण्टेग्यू की घोषणा है।

(5) इस आन्दोलन का प्रभाव केवल भारत में ही नहीं, बल्कि विदेशों में भी पड़ा। इंगलैण्ड और अमेरिका के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों ने भी इस आन्दोलन की प्रशंसा की तथा भारत को गृह-शासन देने के लिये आवाज उठायी। इंगलैण्ड के मजदूर दल ने अपने बंकिंघम अधिवेशन में भारत के होम रूल आन्दोलन का समर्थन किया।

(6) इस आन्दोलन का सर्वाधिक महत्त्व इस बात में है कि सरकार के दमन-चक्र को भी इस आन्दोलन के समक्ष झुकना पड़ा। सरकारी और पुलिस रिपोर्टों में लिखा हुआ है कि, "होम रूल आन्दोलन के नेताओं की प्रचार-यात्राएँ विजय-यात्राओं से कम नहीं हैं।" श्रीमती एनीबीसेण्ट को नजरबन्दी से मुक्त करना तथा ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एस्क्विथ की 'एक नये दृष्टिकोण' की घोषणा से स्पष्ट है कि सरकार को इस प्रभावपूर्ण आन्दोलन के समक्ष झुकना पड़ा।

(7) इस आन्दोलन द्वारा श्रीमती एनीबीसेण्ट, जो एक आयरिश जाति की थी, भारत के लिये एक भारतीय नारी बन गई, जिसके कार्यों और उसकी प्रणाली का सभी ने समर्थन किया। उसे भारत में, लोकप्रियता के क्षेत्र में, वही स्थान प्राप्त हुआ जो किसी अन्य देशभक्त राष्ट्रीय नेता को प्राप्त हो सकता था। इसीलिये वह तीन वर्षों तक काँग्रेस की प्रधान और मुख्य कार्यकर्त्री रही।

(8) इस आन्दोलन ने भारतीयों को उस समय नवीन दिशा और नवीन नेतृत्व प्रदान किया, जिस समय भारत में उचित नेतृत्व का अभाव था तथा भारतीय जनता दिशाविहीन अन्धकार में डूबी हुई थी। श्रीमती एनीबीसेण्ट और तिलक ने समय की माँग को पहचानकर इस आन्दोलन द्वारा भारतीयों को झकझोर दिया। इससे स्वशासन या स्वराज्य की माँग प्रबल हो उठी।

इस आन्दोलन के बाद श्रीमती एनीबीसेण्ट भारतीय राजनीति से अलग-थलग पड़ गई, क्योंकि 1919 ई. के सुधारों के बाद उसने प्रत्येक मामले में अँग्रेजी सरकार का समर्थन करना आरम्भ कर दिया। अप्रैल, 1919 ई. में पुलिस द्वारा भारतीयों पर गोली चलाना तथा रॉलेट एक्ट पारित करना उसने उचित बताया। 1919 ई. के मॉण्ट-फोर्ड सुधारों से कोई भी भारतीय सन्तुष्ट नहीं था। अतः इन सुधारों में कुछ परिवर्तन कराने हेतु एक शिष्टमण्डल इंगलैण्ड भेजा गया, किन्तु श्रीमती एनीबीसेण्ट ने सुधारों का समर्थन करते हुए शिष्टमण्डल भेजने का विरोध किया। इतना ही नहीं, उसने गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन का भी विरोध किया। अतः उसकी भारतीय राजनीति में केवल चार वर्ष (1914-17) तक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। सम्भवतः उसका विचार था कि ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध बढ़ते हुए असन्तोष को वैधानिक सीमाओं में बाँध दिया जाय ताकि बढ़ता हुआ जन-असन्तोष विस्फोटक न बन सके। लेकिन लोकमान्य तिलक इस आन्दोलन के बाद भारतीय राजनैतिक रंगमंच पर छा गये। रोम्या रोला ने उन्हें 'कर्म का पुजारी' कहा। किन्तु वेलेंटाइन शिरोल ने उन्हें 'भारतीय अशान्ति का जन्मदाता' कहा। शिरोल के अनुसार तिलक सरकार के प्रति जनता में द्वेष फैलाने वाले सबसे खतरनाक अग्रदूत थे। भारतीयों ने उन्हें लोकमान्य की उपाधि से विभूषित किया। ऐसे महान् देशभक्त का 24 जुलाई, 1920 ई. को स्वर्गवास हो गया।

अध्याय-14

असहयोग, खिलाफत और सविनय अवज्ञा आन्दोलन

प्रथम विश्व युद्ध का भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन पर अत्यधिक गहरा प्रभाव पड़ा। इस युद्ध के बाद भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के स्वरूप तथा कार्य-प्रणाली में आमूल परिवर्तन हुआ। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तक काँग्रेस का नेतृत्व नरम दल के हाथ में रहा, अतः काँग्रेस के आन्दोलन का प्रभाव मध्यम शिक्षित वर्ग तक ही सीमित रहा। केवल तिलक ही ऐसे नेता थे जिन्होंने महाराष्ट्र में एक व्यापक जन-आन्दोलन किया था। बंगाल-विभाजन के बाद बंगाल में भी एक जन-आन्दोलन हुआ था किन्तु 1911 ई. में बंगाल-विभाजन रद्द करने के बाद वहाँ भी जन-आन्दोलन समाप्त हो गया था। सरकार ने क्रान्तिकारी आन्दोलन और होम रूल आन्दोलन का भी कठोरता से दमन कर दिया था। अतः देश में अँग्रेजों के विरुद्ध असन्तोष, द्वेष एवं तनाव बढ़ रहा था। उस समय सम्पूर्ण भारत आर्थिक संकट और राजनीतिक निराशा में डूबा हुआ था। ऐसे समय में 1920 ई. में काँग्रेस का नेतृत्व महात्मा गाँधी के हाथों में चला गया, जिन्होंने देश के राजनीतिक जीवन में एक नई जान फूँक दी। उनके नेतृत्व में काँग्रेस के आन्दोलन ने एक नया रूप ग्रहण कर लिया, जिसे हम जन-आन्दोलन कह सकते हैं। वास्तव में भारत में राष्ट्रीय स्वाधीनता का संघर्ष 1920 ई. से ही आरम्भ हुआ था। इसलिए प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारतीय राजनीति का इतिहास 'गाँधी युग' के नाम से प्रसिद्ध है।

महात्मा गाँधी जनवरी, 1915 ई. में दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे थे। भारत वापस आने से पूर्व महात्मा गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों को सुविधाएँ दिलाने के लिए वहाँ सत्याग्रह आन्दोलन चलाया था, जिसमें उन्हें काफी सफलता प्राप्त हुई थी। प्रारम्भ में गाँधीजी ने अपने को राजनीतिक आन्दोलन से दूर रखा, लेकिन देश में घटित होने वाली कुछ घटनाओं ने उन्हें आन्दोलनकारी बना दिया। उनका ध्यान सर्वप्रथम चम्पारण जिले के किसानों की ओर गया जिन पर अँग्रेजों द्वारा तरह-तरह के अत्याचार किये जा रहे थे। चम्पारण में निलहे गोरों की बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ थीं, जो अपने किसानों पर मनमाने अत्याचार करते थे। जब गाँधीजी वास्तविकता की जाँच करने चम्पारण गये, तो वहाँ के अँग्रेज कमिश्नर ने उन्हें चम्पारण छोड़ने की आज्ञा दी। लेकिन लेफ्टिनेण्ट गवर्नर के बीच-बचाव करने पर उन्हें परीक्षण करने की आज्ञा मिल गई।

गाँधीजी वहाँ किसानों की हालत देखकर बहुत दुःखी हुए और उन्होंने सत्याग्रह करके किसानों की दयनीय स्थिति को उजागर किया। गाँधीजी के सत्याग्रह के समक्ष सरकार को झुकना पड़ा तथा किसानों की स्थिति में सुधार लाया गया। 1917 ई. में उन्होंने पुनः सत्याग्रह करके भारतीयों को वलपूर्वक ब्रिटिश उपनिवेशों में मजदूरी करने के लिए ले जाने की पद्धति बन्द करवाई। इन सफलताओं से गाँधीजी को विश्वास हो गया कि भारत में जनता के कष्टों के निवारण हेतु सत्याग्रह का सफल प्रयोग किया जा सकता है। 1918 ई. में खेड़ा में अनावृष्टि के कारण फसल खराब हो गयी थी। अतः गाँधीजी ने किसानों को लगान में छूट दिलवाने के लिए 'कर नहीं आन्दोलन' (No Tax Campaign) चलाया और यहाँ भी उन्हें सफलता प्राप्त हुई। उसी वर्ष मिल-मजदूरों की प्रार्थना पर गाँधीजी ने अहमदाबाद में आन्दोलन शुरू किया। उन्होंने मिल-मालिकों से मजदूरों की वेतन-वृद्धि करने के लिए कहा। जब मिल मालिकों ने गाँधीजी के आग्रह पर कोई ध्यान नहीं दिया तो गाँधीजी ने मिल-मजदूरों की माँगों के समर्थन में आमरण अनशन आरम्भ कर दिया। अनशन के चौथे दिन मिल-मालिकों ने गाँधीजी की शर्तें स्वीकार करते हुए मजदूरों का वेतन बढ़ा दिया।

महात्मा गाँधी ने भारतीय राजनीति में सक्रिय भाग लेना आरम्भ कर दिया था। गाँधीजी पर श्री गोपाल कृष्ण गोखले के विचारों का बहुत प्रभाव था और वे उनको अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। गोखले के विचारों से प्रभावित होने के कारण संवैधानिक सुधारों और सरकार को इस हेतु पूर्ण सहयोग देने के पक्ष में थे। गाँधीजी प्रारम्भ में पक्के राजभक्त थे और अपने को ब्रिटिश साम्राज्य का नागरिक कहने में गर्व का अनुभव करते थे। जिस समय वे दक्षिण अफ्रीका से लौटकर आये उस समय प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हो चुका था। अतः भारत पहुँचते ही उन्होंने युद्ध में बिना किसी शर्त के ब्रिटिश सरकार को पूर्ण सहयोग प्रदान किया। उनका कहना था कि, "साम्राज्य का हिस्सेदार होना हमारा निश्चित लक्ष्य है। हमें योग्यतानुसार अधिक से अधिक कष्ट उठाना चाहिए और साम्राज्य की रक्षा में अपनी जान तक दे देनी चाहिए। साम्राज्य नष्ट हो जाय तो उसके साथ हमारी अभिलाषाएँ भी नष्ट हो जायेंगी। अतः साम्राज्य की रक्षा के कार्य में सहयोग देना स्वराज्य-प्राप्ति का सरलतम और सीधा मार्ग है।" उन्हें अँग्रेजों की सद्‌भावना और न्यायप्रियता में पूर्ण विश्वास था। इसीलिए उन्होंने भारत सरकार को रंगरूटों की भर्ती तथा घायल व्यक्तियों की देखभाल के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। प्रथम विश्व युद्ध में की गई सेवाओं के कारण सरकार ने उन्हें पदक भी दिया। इस प्रकार गाँधीजी ब्रिटिश सरकार के पूर्ण सहयोगी थे। इसके बावजूद युद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत को स्वराज्य नहीं दिया। इससे गाँधीजी को बड़ी निराशा हुई, लेकिन गाँधीजी ने अपनी सहयोगी नीति को नहीं छोड़ा। 1919 के सुधार अधिनियम से सभी राष्ट्रवादी असन्तुष्ट थे, लेकिन गाँधीजी परीक्षण के तौर पर उसे कार्यान्वित करने के पक्ष में थे। उन्हीं के प्रयास से काँग्रेस के अमृतसर अधिवेशन में इस सुधार योजना को काँग्रेस की स्वीकृति मिल सकी। 31 दिसम्बर, 1919 को उन्होंने 'यंग इण्डिया' में लिखा कि, "मॉण्ट-फोर्ड योजना और उनके साथ की गई उद्‌घोषणा से स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों के साथ न्याय करना चाहती है और भारतीय जनता को अपने समस्त सन्देह को समाप्त कर देना चाहिए। अतः अब हमारा कर्त्तव्य यह नहीं है कि हम उनकी आलोचना करें वरन् अब हमको उन्हें

सफल बनाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।" इस प्रकार शुरू में गाँधीजी ब्रिटिश सरकार के सहयोगी बने रहे। किन्तु इसके बाद कुछ घटनाएँ ऐसी घटित हुईं, जिससे गाँधीजी असहयोगी बन गये। वे प्रमुख घटनाएँ निम्नलिखित थीं—

रोलेट एक्ट—प्रथम विश्व युद्ध के दौरान क्रान्तिकारी दल अत्यधिक सक्रिय हो गये थे और वे देश में क्रान्ति लाकर ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकना चाहते थे। इनको कुचलने के लिये सरकार ने 'भारत रक्षा अधिनियम' पारित किया था। युद्ध समाप्त हो चुका था और इस अधिनियम की अवधि भी समाप्त होने वाली थी। किन्तु अँग्रेज नौकरशाही क्रान्तिकारियों तथा उग्र विचारों के राष्ट्रीय नेताओं को दबाने के लिये इस कानून को किसी न किसी रूप में रखना चाहती थी। अतः अँग्रेज सरकार ने 1918 में न्यायाधीश रोलेट की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की, जिसे क्रान्तिकारी गतिविधियों की रोकथाम के लिये उपाय बताने को कहा गया। इस समिति की रिपोर्ट के आधार पर फरवरी, 1919 में भारत सरकार ने दो विधेयक प्रस्तावित किये, जो पारित होने के बाद रोलेट एक्ट के नाम से विख्यात हुआ। इसके अनुसार किसी भी व्यक्ति पर सन्देह मात्र होने पर उसे बन्दी बनाया जा सकता था और बिना मुकदमा चलाये उसे चाहे जितने समय तक जेल में रखा जा सकता था अथवा गुप्त रूप से मुकदमा चलाकर उसे दण्डित किया जा सकता था। इस समय प्रथम विश्व युद्ध समाप्त हो चुका था और देश में कोई विशेष क्रान्तिकारी आन्दोलन भी नहीं चल रहा था, अतः इस प्रकार के कानून की कोई आवश्यकता नहीं थी। विधेयक प्रस्तावित होते ही गाँधीजी ने घोषणा की कि यदि ये कानून पास कर दिये गये तो इन कानूनों का विरोध करने के लिये वे सत्याग्रह करेंगे। सरकार अपनी तानाशाही कब छोड़ने वाली थी ? सरकार ने भारतीय नेताओं के विरोध की उपेक्षा करके 21 मार्च, 1919 को इस कानून को लागू कर दिया।

महात्मा गाँधी ने अपनी पूर्व घोषणा के अनुसार इस कानून का विरोध करने का निश्चय किया। महात्मा गाँधी ने लोगों को 6 अप्रैल, 1919 को देशव्यापी हड़ताल करने का आह्वान किया। 6 अप्रैल को सारे देश में हड़ताल रखी गई तथा जुलूस निकाले गये। दिल्ली में जुलूस का नेतृत्व स्वामी श्रद्धानन्द ने किया। यूरोपियन सैनिकों ने उन पर गोली चलाने की धमकी दी। स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी नंगी छाती उनके सामने कर दी। किन्तु उस समय जुलूस पर गोली नहीं चलाई गयी। जब जुलूस दिल्ली के रेलवे स्टेशन के पास पहुँचा, तब उन पर गोली चला दी गई। इससे 5 व्यक्तियों की मृत्यु हो गई, कुछ अन्य लोगों के सख्त चोटें आईं। लाहौर में भी गोली चली और पंजाब में उपद्रव हुए। पंजाब के उपद्रव का समाचार सुनकर तथा स्वामी श्रद्धानन्द एवं पंजाब के लोकप्रिय नेता डॉ. सत्यपाल का निमन्त्रण मिलने पर गाँधीजी 8 अप्रैल, 1919 को दिल्ली की तरफ रवाना हुए। मार्ग में गाँधीजी को सरकार का नोटिस मिला कि वह दिल्ली और पंजाब में प्रविष्ट न हों। गाँधीजी ने इस आदेश को मानने से इन्कार कर दिया। अतः पलवल (हरियाणा) में गाँधीजी को गिरफ्तार करके उन्हें वापिस भेज दिया गया।

जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड—महात्मा गाँधी की गिरफ्तारी की खबर सारे देश में बिजली की तरह फैल गई। अमृतसर में भी उत्तेजना फैल गई। जनता के असन्तोष को व्यक्त न होने देने के लिए 9 अप्रैल, 1919 को अमृतसर के दो लोकप्रिय नेताओं—डॉ. सत्यपाल और किचलू को गिरफ्तार कर अज्ञात स्थान पर भेज दिया गया। इससे अमृतसर में बहुत उत्तेजना

फैल गई और भीड़ ने अपने नेताओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए जिला मजिस्ट्रेट की कोठी की तरफ बढ़ना शुरू किया। सैनिक अधिकारियों ने भीड़ को रोकने का प्रयास किया और न रुकने पर गोली चला दी। फलस्वरूप दो व्यक्ति मारे गये। भीड़ ने मरे हुए व्यक्तियों को कन्धों पर डालकर जुलूस निकाला। मार्ग में भीड़ ने नेशनल बैंक के भवन में आग लगा दी और एक यूरोपियन मैनेजर की हत्या कर दी। भीड़ ने कुल पाँच अँग्रेजों की हत्या कर दी और कुछ अन्य भवनों में आग लगा दी। 10 अप्रैल, 1919 को अमृतसर नगर का शासन सैनिक अधिकारियों को सौंप दिया गया। 11 अप्रैल, 1919 को ब्रिगेडियर जनरल डायर उपद्रवों पर नियन्त्रण करने के लिए अमृतसर पहुँचा तथा 12 अप्रैल से लोगों को धड़ाधड़ बन्दी बनाने लगा।

13 अप्रैल, 1919 को बैशाखी के दिन अमृतसर के जलियाँवाला बाग में एक आमसभा का आयोजन किया गया। जनरल डायर ने इस सभा को गैर-कानूनी घोषित कर दिया, किन्तु सभा पर प्रतिबन्ध लगाने का नोटिस नगर में अच्छी तरह नहीं घुमाया गया और हजारों लोगों को इकट्ठा होने दिया गया। जब लोग इकट्ठा हो गये, तब जनरल डायर 100 भारतीय और 50 अँग्रेज सैनिकों को लेकर जलियाँवाला बाग में पहुँचा। वह अपने साथ मशीनगन भी ले गया था, किन्तु वह इस मशीनगन को अन्दर नहीं ले जा सका, क्योंकि जलियाँवाला बाग में एक ही रास्ता था और वह भी इतना तंग कि मशीनगन अन्दर नहीं जा सकती थी। सभा में लगभग आठ-दस हजार व्यक्ति उपस्थित थे और सभा की कार्यवाही पूर्णतः शान्तिपूर्वक हो रही थी। इसमें केवल डॉ. सत्यपाल, डॉ. किचलू और गाँधीजी की रिहाई की माँग की जा रही थी और रोलेट एक्ट का भी विरोध हो रहा था। जनरल डायर ने बिना चेतावनी दिए भीड़ पर 1650 गोलियाँ चलाईं और उसने गोली चलाना तभी बन्द किया, जब उसका गोला बारूद समाप्त हो गया। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार इस गोलीकाण्ड में 400 व्यक्ति मारे गये व एक और दो हजार के बीच व्यक्ति घायल हुए। इसमें सन्देह नहीं कि घायल और मरने वालों की संख्या निश्चित रूप से अधिक थी। इस हत्याकाण्ड से समस्त देश में असन्तोष और घृणा फैल गई। सरकार और काँग्रेस ने पृथक्-पृथक् इस काण्ड की जाँच के लिए समितियाँ नियुक्त कीं। सरकार की ओर से हण्टर समिति नियुक्त की गई। हण्टर कमेटी के सामने बयान देते हुए डायर ने स्वीकार किया कि उसने लोगों को तितर-बितर होने का आदेश दिया, किन्तु उस आदेश को देने के बाद में दो या तीन मिनट में गोली चला दी। स्पष्ट है कि दो या तीन मिनट में आठ-दस हजार की भीड़ तितर-बितर नहीं हो सकती थी। हण्टर समिति के एक सदस्य न्यायाधीश रैंकिन ने जब डायर से पूछा, "जनरल, क्षमा करना, क्या यह आतंक का एक रूप नहीं था ?" जनरल डायर ने उत्तर दिया, "नहीं, यह बड़ा भयानक कर्त्तव्य था जो मुझे पूरा करना पड़ा। मैंने सोचा कि मुझे गोलियाँ अच्छी तरह और खूब चलानी चाहिये, ताकि मुझे और किसी अन्य व्यक्ति पर दुबारा गोली चलाने की आवश्यकता न पड़े।

अँग्रेज सरकार के ये अत्याचार अमृतसर नगर तक ही सीमित नहीं थे। लाहौर, गुजरांवाला, कसूर तथा अन्य स्थानों पर भी ऐसे अत्याचार किये गये जो खून को जमाने वाले थे। जहाँ भीड़ देखते ही उस पर गोली चला दी जाती, हवाई जहाज से बम गिराकर लोगों को मारा गया और भागते हुये लोगों के पीछे मशीनगनें छोड़ी गईं। पंजाब में मार्शल-लॉ लागू कर दिया गया तथा मार्शल-लॉ के उल्लंघन के आरोप में 300 व्यक्तियों को बन्दी बनाया गया, इनमें से 15 व्यक्तियों

को मृत्यु-दण्ड तथा 46 को जीवन भर का देश-निर्वासन और कैद की सजा दी गई। मार्च, 1920 में हण्टर समिति ने अपनी रिपोर्ट दे दी। इसमें सरकारी अधिकारियों के दृष्टिकोण को ठीक सिद्ध किया गया। जनरल डायर को केवल इतना दण्ड दिया गया कि उसे नौकरी से अलग कर दिया गया। परन्तु इंगलैण्ड के समाचार-पत्रों ने उसे ब्रिटिश साम्राज्य का रक्षक घोषित किया। जनता ने उसके गुजारे के लिये चन्दा इकट्ठा किया। इंगलैण्ड की सरकार ने साम्राज्य की सुरक्षा के लिए की गई सेवाओं के लिए जनरल डायर को 'मान की तलवार' (Sword of Honour) तथा 2,000 पौण्ड भेंट किए। इन सब बातों ने राष्ट्रवादियों के जले हुए हृदय पर नमक का काम किया। काँग्रेस ने पंजाब के अत्याचारों के लिये उत्तरदायी अधिकारियों को उचित दण्ड देने तथा मृत व्यक्तियों के परिवारों को आर्थिक सहायता देने की माँग की। सरकार ने इस माँग की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

खिलाफत आन्दोलन—प्रथम विश्व युद्ध में तुर्की जर्मनी का साथ देते हुए इंगलैण्ड के विरुद्ध लड़ा। अतः भारतीय मुसलमानों के सामने समस्या यह उत्पन्न हुई कि युद्ध में अँग्रेजों की सहायता करें अथवा नहीं। भारतीय मुसलमानों को यह आशंका थी कि यदि तुर्की हार गया तो तुर्की साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायेंगे तथा तुर्की का सुल्तान, जो विश्व के मुसलमानों का खलीफा था, की समस्त शक्तियाँ समाप्त कर दी जायेंगी। 5 जनवरी, 1918 ई. को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री लॉयड जार्ज ने भारतीय मुसलमानों को आश्वासन दिया कि तुर्की साम्राज्य भंग नहीं किया जायेगा तथा खलीफा की प्रतिष्ठा को क्षति नहीं पहुँचाई जायेगी। अतः युद्धकाल में भारतीय मुसलमानों ने अँग्रेजों को भरपूर सहयोग दिया। युद्ध में तुर्की पराजित हो गया। इसलिये 1919 ई. के प्रारम्भ के महीनों में भारतीय मुसलमान युद्ध में पराजित तुर्की के भविष्य को लेकर बहुत ही उद्वेलित हो उठे। ब्रिटिश सरकार पर तुर्की के साथ की जाने वाली सन्धियों में न्यायोचित व्यवहार सुनिश्चित करने के लिये पर्याप्त दवाव डालने के उद्देश्य से भारतीय मुसलमानों के एक बहुसंख्यक वर्ग ने राष्ट्रीय स्तर पर जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया, वह खिलाफत आन्दोलन के नाम से जाना जाता है।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि खिलाफत के प्रश्न ने मुस्लिम समुदाय को इतनी व्यापकता से क्यों प्रभावित किया ? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने के लिये हमें भारतीय मुसलमानों की अन्तर्निहित धार्मिक मान्यताओं को समझना होगा। भारत में इस्लाम के अनुयायी देश की सीमा के बाहर रहने वाले सहधर्मियों से एक सहज भावनात्मक साम्य रखते थे। वे सदैव मध्ययुगीन इतिहास के उन अध्यायों से प्रेरणा लेते रहे, जब इस्लाम के अनुयायी शासकों ने अपना सांस्कृतिक गौरव स्थापित किया था। उदाहरणार्थ, उम्मैया और अब्बासी खलीफाओं का काल, तुर्की और ईरान में राजनैतिक उत्कर्ष का काल और भारत में मुगल शासन का चरम विन्दु, भारत में पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त मुस्लिम वर्ग को भावनात्मक प्रेरणा देता रहा। मुस्लिम विद्वानों ने अपनी रचनाओं में इस्लामी सभ्यता के मुख्य केन्द्रों—दिल्ली, बगदाद, मदीना, दमिश्क और कुस्तुन्तुनिया की प्रशंसा की है। वर्तमान काल में तुर्की के प्रति भारतीय मुसलमानों की एक विशेष आस्था थी। तुर्की का सुल्तान न केवल प्रभावशाली अतीत का प्रतीक था, वह विश्व के मुसलमानों का खलीफा भी था। सामान्य मुसलमान के लिये वह पैगम्बर मुहम्मद साहब का उत्तराधिकारी था, जिसे वे अपना आध्यात्मिक

नेता 'अमीर अल मुमीनिन' मानते थे। इसके अतिरिक्त वह अरब प्रदेश में स्थित 'जजीरात अल अरब' या पवित्र स्थानों का संरक्षक था। ये पवित्र स्थान मक्का, मदीना, यरूशलम और स्वयं कुस्तुन्तुनिया थे। तुर्की साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर इन स्थानों का गैर-इस्लामी हाथों में पड़ने की कल्पना ने भारत के मुसलमानों को शासन के विरुद्ध एक सूत्र में बाँध दिया।

युद्ध काल में अँग्रेजों ने यह घोषणा की थी कि वे आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की स्थापना के लिये युद्ध कर रहे हैं। अतः भारतीयों को यह आशा हुई कि अब भारत में भी स्वशासन स्थापित हो जायेगा। किन्तु रोलेट एक्ट की प्रस्तुति, अपर्याप्त सुधार तथा पंजाब में भीषण नृशंसता ने भारतीयों की आशाओं पर पानी फेर दिया। भारत सरकार द्वारा अत्याचारी अधिकारियों को दण्डित न करने से काँग्रेसी नेता वैसे ही दुःखी और उत्तेजित हुए जैसे तुर्की की अवमानना से मुसलमान हुए थे। अतः 1919 ई. में भारतीय राजनैतिक क्षितिज पर एक विचित्र दृश्य उपस्थित हुआ। एक ओर तो नागरिक अधिकारों के निलम्बन और नृशंसताओं से आहत और अवमानित भारतीय राष्ट्रवाद था और दूसरी ओर तुर्की के कारण मुसलमानों का आक्रोश था। ऐसे राजनीतिक वातावरण में बम्बई के प्रमुख मुस्लिम व्यवसायियों ने 19 मार्च, 1919 ई. को एक खिलाफत समिति का निर्माण किया। 21 सितम्बर, 1919 ई. को अखिल भारतीय खिलाफत कान्फ्रेंस की एक बैठक लखनऊ में बुलाई गई जहाँ 27 अक्टूबर, 1919 ई. को 'खिलाफत दिवस' के रूप में मनाने का निश्चय किया गया। 23 नवम्बर, 1919 को हिन्दुओं और मुसलमानों की एक संयुक्त बैठक दिल्ली में खिलाफत के प्रश्न पर विचार करने के लिये बुलाई गई। युद्ध काल में हिन्दुओं और मुसलमानों ने पूर्ण एकता प्रदर्शित की थी, जो युद्ध के बाद उत्तरोत्तर बढ़ती गई। यदि हिन्दू खिलाफत के प्रश्न पर मुसलमानों का साथ देने को तैयार थे तो मुसलमान काँग्रेस को स्वराज्य की प्राप्ति के लिये सहयोग देने को तैयार थे।

गाँधीजी इस बात को अच्छी तरह समझ रहे थे कि खिलाफत ने मुसलमानों में अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न की है, जिसे वे ऐसे संघर्ष में लगाने को तैयार हैं जो आगे चलकर स्वतन्त्रता आन्दोलन में परिणत हो जायेगा। यदि खिलाफत सम्बन्धी समस्या को अराजनैतिक या धार्मिक कहकर अस्वीकार कर दिया जाता और अँग्रेज-विरोधी संघर्ष में, जिसका अन्तिम उद्देश्य स्वशासन प्राप्त करना था, सहयोग न लिया जाता तो जो फूट पहले थी वह और भी अधिक विकराल रूप धारण कर लेती। इस प्रकार 1919 ई. में जो राजनैतिक स्थिति उत्पन्न हुई थी उससे गाँधीजी को अपने जीवन का उद्देश्य सिद्ध होता दिखाई दे रहा था। उन्होंने भारत के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा, जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलकर ब्रिटिश सत्ता पर प्रहार किया था। अब गाँधीजी ने 'खिलाफत दिवस' को सफल बनाने की जोरदार अपील की। मुस्लिम समुदाय में खिलाफत के सन्देश को पहुँचाने के लिये शुक्रवार की नमाज के अवसर पर एकत्रित भीड़ का भी प्रयोग किया गया। उर्दू भाषा के सभी समाचार-पत्रों ने खिलाफत आन्दोलन का प्रचार किया। 'खिलाफत दिवस' का प्रभाव बम्बई, मद्रास, बंगलौर जैसे नगरों और बंगाल तथा संयुक्त प्रान्त के उपनगरों और कस्बों पर व्यापक रूप से पड़ा, लेकिन यह भी स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। इसलिये आन्दोलन को और अधिक तेज करने की आवश्यकता अनुभव की गई। 11 नवम्बर, 1919 को बम्बई की खिलाफत समिति ने अपना नाम

'सेन्ट्रल खिलाफत कमीटी ऑफ इण्डिया' कर लिया। दिसम्बर, 1919 ई. में मौलाना आजाद, अली वन्धुओं—शौकत अली, मुहम्मद अली—को जेल से रिहा कर दिया गया। उनके आते ही खिलाफ़त आन्दोलन का दूसरा तीव्रतर अध्याय आरम्भ होता है। नेतृत्व की दृष्टि से भी अव आन्दोलन वम्वई के व्यापारी वर्ग के स्थान पर पत्रकारों, शिक्षकों और मुल्लाओं के हाथ में चला गया, जिससे आन्दोलन का सन्देश गाँव-गाँव में पहुँच गया।

दिसम्वर, 1919 ई. में काँग्रेस, मुस्लिम लीग और खिलाफत कान्फ्रेंस व जमीयत-उल-उल्मा के अधिवेशन एक ही समय अमृतसर में हुए। ब्रिटिश शासकों से संघर्ष वचाने की दृष्टि से 19 जनवरी, 1928 को खिलाफत कान्फ्रेंस का एक प्रतिनिधिमण्डल गवर्नर-जनरल से मिला, किन्तु वह असन्तुष्ट होकर लौटा। तत्पश्चात् खिलाफत कान्फ्रेंस का एक प्रतिनिधिमण्डल भारत सचिव और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री से मिलने लन्दन भेजा गया, लेकिन वह भी निराश ही हुआ। 14 मई, 1920 को तुर्की के साथ शान्ति समझौते की शर्तें प्रकाशित हुईं। जैसी कि आशंका थी, न केवल तुर्की साम्राज्य को खण्डित कर दिया गया वल्कि इस्लाम से सम्वन्धित पवित्र स्थानों को गैर-इस्लामी देशों के संरक्षण में दे दिया गया। इससे मुसलमान पूर्णतः निराश हुए। वम्वई में खिलाफत समिति की वैठक बुलाई गई। इसमें गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम अपनाया गया। 2 जून को इलाहावाद में सर्वदलीय सम्मेलन हुआ, जिसमें एक उप-समिति गठित की गई। इसी बीच मुस्लिम नेताओं ने वायसराय के पास इस आशय का पत्र भेजा कि यदि शान्ति समझौते की शर्तों में संशोधन नहीं किया गया तो वे 1 अगस्त से सरकार से असहयोग करने लग जायेंगे। 1920 ई. में काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में दो उद्देश्य प्राप्त करने के लिये—भारत के लिये स्वराज्य की प्राप्ति और खिलाफत के उद्देश्यों की प्राप्ति—1 जनवरी, 1921 से अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया गया। गाँधीजी तथा अली बन्धुओं के महीने भर के दौरे के साथ आन्दोलन शुरू हो गया। इन लोगों ने स्थानीय लोगों से सम्पर्क स्थापित किया, सार्वजनिक सभाओं में भाषण दिये और श्रोताओं से खिलाफत की लड़ाई लड़ने का आह्वान किया। खिलाफत के प्रश्न पर मुसलमानों को वहुत वड़ी संख्या में इस आन्दोलन में सम्मिलित कराने में उलेमा वर्ग की भूमिका वहुत महत्त्वपूर्ण रही। किन्तु धर्मान्ध व रूढ़वादी इस वर्ग द्वारा नेतृत्व प्रदान करने के दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम भी निकले। ये परिणाम हिजरत और मोप्पला विद्रोह की घटनाओं में दिखाई देते हैं।

1920 ई. में मौलाना आजाद ने एक फतवे से ब्रिटिश शासन को काफिरों का शासन मानते हुए भारत को दारूल हर्व (युद्ध का स्थान) घोषित कर दिया। धार्मिक दृष्टि से मुसलमानों के पास ऐसी स्थिति में या तो जिहाद या किसी अन्य इस्लामी देश में हिजरत (प्रयाण) का विकल्प था। हिजरत आन्दोलन का प्रभाव सवसे अधिक सिन्ध और पश्चिम सीमा के निम्न वर्ग पर विशेष रूप से पड़ा और उन्होंने अपने निकट के इस्लामी देश अफगानिस्तान जाने का निर्णय लिया। हिजरत के लिये यात्रा-व्यय जुटाने के लिए वहुत से गरीव किसानों ने अपनी पैतृक सम्पत्ति वेच दी। अगस्त, 1920 तक लगभग 18,000 मुसलमानों ने अफगानिस्तान के लिये प्रयाण किया, जवकि हिजरत करने वाले मुसलमानों की संख्या पाँच लाख से वीस लाख मुसलमानों की वताई जाती है। अपनी इस यात्रा के दौरान उन्हें अत्यधिक कष्ट उठाने पड़े तथा खैवर दर्रे को पार करते

समय अनेकों की मृत्यु हो गयी। जब मुहाजिरिन की इतनी बड़ी संख्या अफगानिस्तान पहुँची तो अफगान अधिकारियों ने उन्हें अपने भू-भाग में घुसने नहीं दिया और बलपूर्वक वापिस भेज दिया। ये लोग जब लौटे तो इतनी लम्बी यात्रा से थके और अपनी सम्पत्ति से वंचित थे, इनकी बड़ी दुर्दशा हुई।

खिलाफत आन्दोलन द्वारा धर्मान्धता उभारे जाने के कारण दक्षिण भारत में मलाबार के पश्चिमी किनारे पर भीषण हत्याकाण्ड हुआ, जिसे मोप्पला विद्रोह कहा जाता है। मोप्पला इस क्षेत्र के निम्न हिन्दू जातियों के वंशज थे, जिन्होंने अरबों से सम्पर्क होने के बाद इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। आर्थिक दृष्टि से वे काफी गरीब थे तथा नम्बूदिरी जमींदार व नायर साहूकारों के शोषण से त्रस्त थे। 1873 ई. और 1885 ई. में अपनी दयनीय स्थिति के विरुद्ध वें विद्रोह कर चुके थे तथा शासन की ओर से वहाँ एक विशेष पुलिस दस्ता रखा गया था। फिर भी वहाँ 1894 ई. व 1896 ई. में विद्रोह हुए। 1921 ई. के आरम्भ में खिलाफत समर्थक मलाबार पहुँचे। मोप्पलाओं की दृष्टि में ब्रिटिश शासन और हिन्दू शोषण वर्ग में कोई अन्तर नहीं था। अतः खिलाफत समर्थकों द्वारा भड़काने पर वे भड़क उठे। उन्होंने प्रारम्भ में तो पुलिस व सेना पर हमला किया, फिर वे हिन्दुओं पर टूट पड़े। बहुत-से हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बना दिया गया तथा उनके मन्दिरों व दुकानों को लूट लिया गया। हिन्दू महिलाओं पर विशेष अत्याचार हुए। नवम्बर, 1921 ई. तक सेना की सहायता से विद्रोह को कुचल दिया गया। लगभग तीन हजार मोप्पला किसानों ने अपने प्राण त्याग दिये। हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना पर आगे चलकर इस विद्रोह का प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

इस प्रकार गाँधीजी का असहयोग आन्दोलन और मुसलमानों का खिलाफत आन्दोलन साथ-साथ चले। काँग्रेसी नेताओं ने मुसलमानों का पूरा साथ दिया तथा मुसलमानों ने गाँधीजी के असहयोग के कार्यक्रम को अपनाकर काँग्रेस का साथ दिया। इससे खिलाफत आन्दोलन और असहयोग आन्दोलन एक दूसरे में मिल गए। डॉ. पट्टाभि सीतारमैया के शब्दों में, "खिलाफत, पंजाब की भूलें और अपर्याप्त सुधारों की त्रिवेणी से असन्तोष का पानी किनारे के ऊपर बह चला और उसके संगम ने राष्ट्रीय असन्तोष की धारा को एक नवीन रूप में व्यापक एवं गतिशील बना दिया।"

असहयोग आन्दोलन और उसकी प्रगति

सरकार ने रोलेट एक्ट व पंजाब की गलतियों को ठीक नहीं किया और मुसलमानों को दिये गये वचनों का पालन नहीं किया तो महात्मा गाँधी एक सहयोगी से असहयोगी बन गये। जब असहयोग आन्दोलन के कारण गाँधीजी को गिरफ्तार कर उन पर मुकदमा चलाया गया, तब उन्होंने न्यायालय में उन कारणों का उल्लेख किया जिससे वे असहयोगी बने। उन्होंने कहा, "मुझे सर्वप्रथम आघात रोलेट एक्ट से लगा, जिसका निर्माण जनता की स्वाधीनता का अपहरण करने के लिए किया गया था। मुझे अपनी अन्तर्आत्मा की ओर से प्रेरणा मिली कि इसके विरुद्ध मुझे आन्दोलन करना चाहिये। तदनन्तर मेरे समक्ष पंजाब के अत्याचारों का नग्न ताण्डव उपस्थित हुआ। जलियाँवाला बाग का कत्लेआम, निर्दोष व्यक्तियों को पेट के बल चलने का आदेश, खुलेआम कोड़े लगाना तथा इस प्रकार के अन्य अपमानजनक एवं तिरस्कृत अत्याचारों ने मेरे

हृदय में एक विद्रोह की ज्वाला उत्पन्न करदी।" गाँधीजी ने आगे कहा, "मुझे मोण्ट-फोर्ड सुधार भी भारत में आर्थिक शोषण तथा दासता को स्थायी रखने के साधन एवं उपाय मात्र प्रतीत हुए।" गाँधीजी के इन कथनों में स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि वे इस प्रकार असहयोगी बने।

जब महात्मा गाँधी को अँग्रेजों के धृष्टतापूर्ण रवैये का पूरी तरह ज्ञान हो गया, तब उन्होंने अँग्रेज सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन चलाने का निश्चय किया। भारतीय मुसलमान भी गाँधीजी के साथ हो गये थे। अतः दिसम्बर, 1920 में कलकत्ता में काँग्रेस का विशेष अधिवेशन बुलाया गया। इस अधिवेशन में महात्मा गाँधी ने असहयोग आन्दोलन का निम्नलिखित कार्यक्रम प्रस्तुत किया—

(1) सरकारी उपाधियाँ व अवैतनिक पदों को छोड़ दिया जाय तथा जिन संस्थाओं में जो लोग नामजद हुए हैं, वे इस्तीफा दे दें।

(2) सरकारी स्वागत समारोहों तथा सरकारी अधिकारियों द्वारा उनके सम्मान में किए जाने वाले अन्य सरकारी व अर्द्ध-सरकारी उत्सवों में भाग न लें।

(3) सरकारी तथा सरकारी मान्यता प्राप्त स्कूलों व कॉलेजों का बहिष्कार किया जाय तथा भारतीय छात्रों को शिक्षा देने के लिये राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना की जाय।

(4) वकीलों व मुवक्किलों द्वारा ब्रिटिश अदालतों का बहिष्कार किया जाय तथा आपसी झगड़ों के लिये पंचायती अदालतें स्थापित की जायँ।

(5) कौंसिल के चुनाव में खड़े उम्मीदवार अपने नाम वापिस लें। यदि कोई उम्मीदवार चुनाव लड़े तो मतदाता उसे वोट न दें।

(6) सैनिकों, क्लर्कों तथा मजदूरों द्वारा मेसोपोटामिया के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित करने से इन्कार कर दे।

(7) विदेशी माल एवं शराब का बहिष्कार किया जाय।

गाँधीजी के इस प्रस्ताव का देशबन्धु चितरंजनदास, मदनमोहन मालवीय तथा श्रीमती एनीबीसेण्ट ने विरोध किया और आरोप लगाया कि कार्यक्रम का सारा झुकाव एकतन्त्र और व्यक्तिगत सत्ता की ओर है। लेकिन महात्मा गाँधी ने मोतीलाल नेहरू और अली बन्धुओं के समर्थन से प्रस्ताव पास करवा लिया। महात्मा गाँधी तथा अली बन्धुओं ने सारे देश का दौरा करके असहयोग आन्दोलन के पक्ष में वातावरण तैयार कर दिया था। अतः अधिकांश प्रतिनिधियों ने प्रस्ताव का समर्थन किया। दिसम्बर, 1920 में काँग्रेस का वार्षिक अधिवेशन नागपुर में हुआ, जिसमें असहयोग के प्रस्ताव की पुष्टि कर दी गई तथा असहयोग कार्यक्रम में तीन बातें और जोड़ दीं—(1) सरकार को कर की अदायगी न की जाय, (2) विदेशी व्यापार का परित्याग किया जाय और (3) हाथ की कताई व बुनाई को प्रोत्साहित किया जाय। इस अधिवेशन में महात्मा गाँधी ने कहा कि, "यदि सम्भव हो तो स्वराज्य ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत प्राप्त किया जाय, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर इसको ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर भी प्राप्त किया जा सकता है।"

असहयोग का प्रस्ताव पास होने के बाद गाँधीजी ने सारे देश का दौरा किया तथा लोगों को इस आन्दोलन में भाग लेने हेतु प्रोत्साहित किया। गाँधीजी का ऐसा जादू चला कि हजारों लोग गाँधीजी के साथ हो गये। लोगों ने सरकारी उपाधियाँ लौटा दीं, वकीलों ने अदालत का बहिष्कार किया और विद्यार्थियों ने स्कूल व कॉलेज छोड़ दिये। इस हेतु कई राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाएँ खोली गईं, जैसे गुजरात विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, बंगाल नेशनल विद्यापीठ, नेशनल मुस्लिम युनिवर्सिटी अलीगढ़, दिल्ली का जामिया मिलिया इत्यादि। सेठ जमनालाल बजाज ने उन वकीलों के गुजारे के लिये एक लाख रुपया दिया, जिन्होंने अपनी वकालत छोड़कर आन्दोलन में भाग लिया था। जब ड्यूक ऑफ कनाट 1919 के सुधारों का उद्घाटन करने आया, तो हड़तालों से उसका स्वागत किया गया। विदेशी कपड़ों की जगह-जगह होलियाँ जलाई गईं और हजारों चर्खे चालू हो गये। गाँधीजी ने 'केसरे हिन्द' की उपाधि लौटा दी। 17 नवम्बर, 1921 को प्रिन्स ऑफ वेल्स बम्बई आये। कुछ वफादार लोगों ने उनका स्वागत करना चाहा, इसलिये वहाँ झगड़ा हो गया और दोनों तरफ से हिंसात्मक साधनों का प्रयोग किया गया। महात्मा गाँधी ने हिंसात्मक साधनों की घोर निन्दा की।

दिसम्बर, 1921 में अहमदाबाद में काँग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ, जिसमें आन्दोलन अधिक तेज करने का निर्णय लिया गया और इस सम्बन्ध में सारे अधिकार गाँधीजी को सौंप दिये गये। फरवरी, 1922 में महात्मा गाँधी ने वायसराय लॉर्ड रीडिंग को एक पत्र लिखा कि यदि एक सप्ताह में सरकार ने अपना रवैया न बदला तो कर न देने का आन्दोलन चलाया जायेगा। किन्तु 5 फरवरी, 1922 को गोरखपुर जिले में 'चौरी चौरा' नामक स्थान पर पुलिस ने अहिंसात्मक आन्दोलनकारियों पर गोली चला दी। जब उनकी गोलियाँ समाप्त हो गयीं, तब वे भागकर थाने में छिप गये। उत्तेजित भीड़ ने थाने को आग लगा दी, जिससे एक पुलिस सब-इन्सपेक्टर, 21 पुलिस के सिपाही और भवन जलकर राख हो गये। गाँधीजी हिंसा के पक्ष में नहीं थे। अतः गाँधीजी ने तुरन्त आन्दोलन स्थगित करने की घोषणा करदी। अचानक आन्दोलन स्थगित करने के कारण अनेक नेताओं ने गाँधीजी की तीव्र आलोचना की और कुछ समय के लिये गाँधीजी अलोकप्रिय हो गये। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए अँग्रेज सरकार ने 10 मार्च, 1922 को गाँधीजी को गिरफ्तार कर लिया और राजद्रोह फैलाने के अपराध में उन्हें 6 वर्ष की सादी कैद की सजा दी। किन्तु 3 फरवरी, 1924 को बीमारी के कारण गाँधीजी को छोड़ दिया।

आन्दोलन की असफलता—गाँधीजी की गिरफ्तारी से आन्दोलन स्वतः ही समाप्त हो गया। डॉ. एम. एस. जैन के अनुसार गाँधीजी द्वारा आन्दोलन स्थगित किये जाने का अभिप्राय उसकी असफलता स्वीकार करना था। वस्तुतः यह आन्दोलन पूर्णतः सफल नहीं रहा। इसका कारण आन्दोलन में कुछ कमियाँ (Defects) थीं, जो मुख्य रूप से निम्नलिखित थीं—

(1) 1920-21 में होने वाले विधानमण्डलों के चुनाव का बहिष्कार किया गया। काँग्रेसी सदस्यों ने निर्वाचन में भाग न लिया, किन्तु वफादार व उदारवादी लोगों को निर्वाचन में भाग लेने से नहीं रोका जा सका। फलस्वरूप वफादार व उदारवादी चुनाव जीत गये और काँग्रेसी नेता विधानमण्डलों में नहीं जा सके। अतः विधानमण्डलों के बहिष्कार से काँग्रेस को कोई लाभ नहीं मिला।

(2) गाँधीजी ने अपने सहयोगियों से परामर्श किये बिना ही अचानक आन्दोलन स्थगित कर दिया। देशवन्धु चितरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, सुभाषचन्द्र बोस आदि नेताओं ने जेल में रहते हुए भी इस कार्य की आलोचना की। वस्तुतः आन्दोलन समाप्त उस समय किया गया, जबकि वह सफलता के निकट पहुँच चुका था। यह सही है कि आन्दोलन पूर्णतः अहिंसात्मक नहीं रह सका। किन्तु हिंसा के लिये केवल आन्दोलनकारी ही उत्तरदायी नहीं थे। ब्रिटिश सरकार ने शान्तिपूर्ण सत्याग्रहियों पर अमानवीय अत्याचार किये, अतः आन्दोलनकारियों का हिंसात्मक होना स्वाभाविक ही था। यदि आन्दोलन कुछ दिन और चलता तो अँग्रेज सरकार को कुछ समझौता करने के लिये विवश होना पड़ता। किन्तु चरमोत्कर्ष पर आन्दोलन समाप्त कर देने से कुछ भी प्राप्त नहीं हो सका।

(3) गाँधीजी ने अँग्रेज सरकार के विरुद्ध मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के लिए खिलाफत का प्रश्न भी अपना प्रश्न बना लिया था। खिलाफत का प्रश्न मुसलमानों का धार्मिक प्रश्न था। यह प्रश्न ऐसा था, जिसमें स्वयं तुर्की के मुसलमान भी रुचि नहीं रखते थे। राष्ट्रीय आन्दोलन में धार्मिक प्रश्नों को गौण माना जाता है, क्योंकि धार्मिक प्रवृत्तियाँ राष्ट्रीय आन्दोलन को संकीर्णता की ओर ले जाकर सदैव राष्ट्रीय आन्दोलन को क्षति पहुँचाती हैं।

(4) मुसलमानों ने आन्दोलन के अहिंसात्मक स्वरूप को समझा नहीं था। अतः अचानक आन्दोलन समाप्त करने पर मुसलमानों ने यह प्रचार करना आरम्भ किया कि गाँधीजी ने अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए मुसलमानों को बेवकूफ बनाया था। इससे देश में उत्तेजना फैल गई और साम्प्रदायिक दंगे आरम्भ हो गये।

(5) अँग्रेज सरकार का दमन-चक्र इतना तेज था कि उसके द्वारा दी जाने वाली अमानवीय यातनाएँ सहन करना कठिन था। अतः तीव्र दमनचक्र के घेरे में आन्दोलन का गतिशील रहना असम्भव था।

आन्दोलन का महत्त्व—यद्यपि असहयोग आन्दोलन असफल रहा, किन्तु आन्दोलन को निष्फल कहना भी अनुचित होगा। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में इसका असाधारण महत्त्व है। इसकी विभिन्न सफलताओं का उल्लेख निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

(1) इस आन्दोलन ने राष्ट्रीय आन्दोलन को नया मोड़ प्रदान किया। लोगों में राजनैतिक जागरूकता उत्पन्न हुई तथा स्वराज्य की माँग प्रबल हुई।

(2) प्रथम बार काँग्रेस ने सविनय-प्रार्थना-पत्र भेजने की नीति का परित्याग कर ब्रिटिश साम्राज्य से सीधी टक्कर ली। अतः प्रत्येक व्यक्ति में राष्ट्रीय आन्दोलन में सहयोग देने तथा देश के प्रति वलिदान की भावना जागृत हुई। इससे पूर्व काँग्रेस का आन्दोलन केवल शिक्षित वर्ग तक सीमित था, किन्तु अब काँग्रेस का आन्दोलन आम जनता में प्रवेश कर गया।

(3) इससे पूर्व जनता, सरकार की आलोचना करने से डरती थी। किन्तु अब जनता निर्भीक हो गयी। अब जेल जाना देशभक्ति का चिह्न समझा जाने लगा। 'स्वराज्य' शव्द वच्चे-वच्चे की जुवान से सुनाई देने लगा।

(4) महात्मा गाँधी ने स्वराज्य प्राप्ति के लिए अहिंसात्मक सत्याग्रह का जो हथियार हाथ में लिया, उसका अँग्रेज सरकार के पास कोई उत्तर नहीं था। शान्त सत्याग्रहियों पर गोली चलाना अथवा लाठियाँ बरसाना घृणित समझा जाने लगा। इससे सरकार के विरुद्ध जनमत प्रबल हो गया। वस्तुतः अहिंसात्मक सत्याग्रह के हथियार ने सरकार के दमन-चक्र को कुण्ठित कर दिया। अतः भविष्य में होने वाले राष्ट्रीय आन्दोलनों के लिये यह हथियार महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

(5) आन्दोलन के दौरान काँग्रेस ने अनेक रचनात्मक कार्य किये, जैसे—राष्ट्रीय शिक्षा संस्थानों की स्थापना, चर्खा चलाना व खादी तैयार करना, स्वदेशी माल को अपनाना आदि। विदेशी माल के बहिष्कार से आर्थिक शोषण की नीति में रुकावट पैदा हो गयी। राष्ट्रीय विद्यापीठ से देशभक्त निकलने लगे और स्वदेशी माल को अपनाने से हजारों बेरोजगार जुलाहों को काम मिल गया।

सुभाषचन्द्र बोस ने इस आन्दोलन की सफलताओं का उल्लेख करते हुए कहा था, "1921 के वर्ष ने देश को निःसन्देह एक सुव्यवस्थित पार्टी संगठन प्रदान किया। इससे पूर्व काँग्रेस एक वैधानिक दल और वह भी मुख्य रूप से बातचीत करने वाली संस्था थी। महात्माजी ने इसे नया विधान दिया और इसे देशव्यापी बनाया। उन्होंने इसे एक क्रान्तिकारी संगठन में परिवर्तित कर दिया। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक एक जैसे नारे लगाये जाने लगे, एक जैसी नीति और एक जैसी विचारधारा हर जगह दिखाई देने लगी। अँग्रेजी भाषा का महत्त्व जाता रहा और काँग्रेस ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया। खादी सभी काँग्रेसियों की नियमित पोशाक बन गई।"

स्वराज्य दल—जेल से छूटने के बाद चितरंजनदास तथा मोतीलाल नेहरू का विचार था कि विधान मण्डलों के चुनाव लड़ने के लिए काँग्रेसियों के ऊपर से सारे प्रतिबन्ध हटा दिये जायँ। उनका विचार था कि विधान मण्डलों में प्रवेश करने से सरकार के वफादार व उदारवादियों को विधान मण्डलों में जाने का अवसर नहीं मिलेगा तथा असहयोग का कार्यक्रम कौंसिलों में ले जाया जा सकेगा। ये भारतीय नेता यह भी चाहते थे कि विधान मण्डलों में जाकर 1919 के सुधारों को अव्यावहारिक एवं असफल सिद्ध किया जाय। दिसम्बर, 1922 में गया में काँग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ, जिसके अध्यक्ष स्वयं चितरंजनदास थे। चितरंजनदास ने अपने कार्यक्रम का प्रस्ताव रखा, लेकिन राजगोपालाचारी, डॉ. अन्सारी आदि के विरोध के कारण उन्हें बहुमत प्राप्त नहीं हुआ, अतः चितरंजनदास ने काँग्रेस से त्याग-पत्र दे दिया तथा मोतीलाल नेहरू से मिलकर इलाहाबाद में मार्च, 1923 में स्वराज्य पार्टी स्थापित की। सितम्बर, 1923 में दिल्ली में काँग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया, जिसमें काँग्रेस ने दल के सदस्यों को आगामी निर्वाचन में मतदान करने तथा चुनाव लड़ने की स्वतन्त्रता प्रदान करके स्वराज्य दल के गठन को स्वीकार कर लिया। 1924 में जब गाँधीजी जेल से छूट कर आये, तब गाँधीजी ने भी स्वराज्य दल के कार्यक्रम का समर्थन किया।

स्वराज्य दल का मुख्य उद्देश्य था विधान मण्डलों में प्रवेश करके बाधा नीति अपनाई जाय तथा विधान मण्डलों के भीतर जाकर अँग्रेज नौकरशाही के दुर्ग को ध्वस्त किया जाय। 1923 के चुनाव में स्वराज्य दल को अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई। केन्द्रीय विधान मण्डल में

स्वराज्य दल के नेता मोतीलाल नेहरू थे। उन्होंने 8 फरवरी, 1924 को भारत के लिये उत्तरदायी सरकार स्थापित करने, गोलमेज सम्मेलन बुलाने तथा भारत के लिये नए संविधान का प्रस्ताव पास करवा लिया। वार्षिक बजट की माँगों को अस्वीकार कर दिया, जिससे गवर्नर-जनरल को अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग करना पड़ा। सरकार के कड़े विरोध के बावजूद 1918 के दमनकारी कानूनों के विरुद्ध तथा राजनैतिक नेताओं की रिहाई के लिये भी प्रस्ताव पास किये। फरवरी, 1924 के प्रस्ताव के कारण सरकार ने 1919 के द्वैध शासन की जाँच के लिये अलेक्जेण्डर मुडिमैन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की, जिसने द्वैध शासन को मौलिक रूप से ठीक बताया। मुडिमैन समिति की रिपोर्ट केन्द्रीय विधान मण्डल के समक्ष प्रस्तुत की गई। मोतीलाल नेहरू ने सरकार के कड़े विरोध के बावजूद उस रिपोर्ट के विरुद्ध प्रस्ताव पास करवाया।

1925 में देशबन्धु चितरंजनदास का देहान्त हो गया जिससे स्वराज्य दल कमजोर हो गया। मार्च, 1926 में काँग्रेस के आदेशानुसार विधान मण्डलों का बहिष्कार किया गया। मोतीलाल नेहरू ने घोषणा की कि अँग्रेज सरकार ने भारतीय सहयोग का मूल्य नहीं समझा। बार-बार विरोध करने पर भी सरकार ने अपनी दमनकारी नीति नहीं छोड़ी। इसलिये विधान मण्डलों में प्रवेश का कार्यक्रम स्थगित किया गया। स्वराज्य दल की बाधा नीति से सरकार को यह भलीभाँति विदित हो गया कि 1919 के सुधारों से जनता सन्तुष्ट नहीं है, अतः उन्होंने समय से पूर्व ही साइमन कमीशन नियुक्त किया। सरकार का यह थोथा दावा भी समाप्त हो गया कि भारत में शासन जनता की इच्छाओं से चलाया जा रहा है। केन्द्रीय विधान मण्डल में सरकार की बार-बार पराजय से विदेशों में जनता को पता चल गया कि भारतीय अँग्रेज सरकार के सख्त विरुद्ध हैं और स्वतन्त्रता चाहते हैं।

साइमन कमीशन—1919 के अधिनियम के अनुसार दस वर्ष बाद भारत में उत्तरदायी सरकार की प्रगति की जाँच के लिये एक आयोग नियुक्त करने की व्यवस्था थी। चूँकि ये सुधार 1921 में लागू किये गये थे, इसलिये कमीशन की नियुक्ति 1931 में होनी चाहिये थी अथवा जल्दी से जल्दी 1929 में होनी चाहिये थी। किन्तु अचानक 8 नवम्बर, 1927 को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने एक कमीशन की नियुक्ति की घोषणा कर दी। समय से पूर्व कमीशन की नियुक्ति का प्रमुख कारण यह था कि 1929 में इंगलैण्ड में चुनाव होने वाले थे और उसमें मजदूर दल की जीत की पूरी आशा थी, इसलिये सत्तारूढ़ दल (अनुदार दल) भारत का भविष्य मजदूर दल के हाथों में सौंपना नहीं चाहता था, क्योंकि उसे भय था कि कहीं मजदूर दल भारत को पूर्ण स्वराज्य न दे दे। यह कमीशन सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया, जिसमें साइमन के अतिरिक्त 6 सदस्य और थे। इसके सभी सदस्य अँग्रेज थे तथा ब्रिटिश संसद के सदस्य थे। इसलिये भारत के सभी राजनीतिक दलों ने इसका बहिष्कार किया। जब 3 फरवरी, 1928 को कमीशन बम्बई पहुँचा तो उसके विरुद्ध अनेक प्रदर्शन किये गये! जहाँ भी साइमन कमीशन गया, वहाँ काले झण्डों, हड़तालों, प्रदर्शनों और 'साइमन कमीशन वापस जाओ' के नारों से उसका स्वागत किया। जब कमीशन लाहौर पहुँचा तो लाला लाजपतराय के नेतृत्व में बड़ा विशाल जुलूस निकाला गया। पुलिस अधिकारी साण्डर्स ने लाला लाजपतराय पर लाठी का सख्त प्रहार किया, जिससे लालाजी को सख्त चोटें आईं और कुछ दिनों बाद इसी कारण उनका देहान्त हो

गया। बाद में सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आदि क्रान्तिकारियों ने मिलकर साण्डर्स की हत्या करके इस राष्ट्रीय अपमान का बदला लिया। जब कमीशन लखनऊ पहुँचा तो उसके विरुद्ध पण्डित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में प्रदर्शन हुए। पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर अनेक अत्याचार किये। दो वर्ष के कठिन परिश्रम के बाद मई, 1930 में साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट दी और 7 जून, 1930 को रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(1) भारत सचिव को परामर्श देने के लिये भारत परिषद् कायम रखी जाय, किन्तु इसकी शक्ति को कम किया जाय।

(2) भारत में संघ व्यवस्था लागू की जाय, जिसमें ब्रिटिश प्रान्तों और देशी रियासतों के प्रतिनिधि शामिल हों।

(3) प्रान्तों ने द्वैध शासन समाप्त कर प्रान्तों को स्वायत्तता दे दी जाय, सारा प्रान्तीय शासन मन्त्रियों को सौंप दिया जाय, जो विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी हों। प्रान्तों में गवर्नर को विशेष शक्तियाँ दी जायँ, ताकि वह विशेष परिस्थितियों में मन्त्रियों की सलाह की उपेक्षा कर सके।

(4) कम से कम 10 या 15 प्रतिशत आबादी को वोट देने का अधिकार होना चाहिये। साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को कायम रखा जाय।

(5) प्रान्तीय विधान मण्डलों का विस्तार किया जाय, जिनमें सरकारी अधिकारी बिलकुल न रहें और नामजद और सरकारी अधिकारियों की संख्या विधान मण्डल की समस्त संख्या के दसवें भाग से अधिक न हो।

(6) बर्मा को भारत से तथा सिन्ध को बम्बई से अलग कर दिया जाय। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त को प्रान्तीय स्वायत्तता न दी जाय।

(7) उच्च न्यायालयों को भारत सरकार के अधीन कर दिया जाय।

(8) हर दस वर्ष बाद भारत की संवैधानिक प्रगति की जाँच की पद्धति समाप्त कर दी जाय और नया संविधान ऐसा लचीला तैयार किया जाय कि वह स्वयं ही विकसित हो सके।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट में औपनिवेशिक स्वराज्य का कहीं उल्लेख नहीं था और केन्द्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिये भी कुछ नहीं कहा गया था। प्रतिरक्षा को भारतीयों के हाथों में नहीं सौंपा गया था। प्रान्तों को भी स्वायत्तता देकर गवर्नर की विशीष शक्तियों द्वारा सीमित कर दिया गया था। इस लिये भारतीयों ने इसकी निन्दा की। सर शिवस्वामी आयर ने इसे रद्दी की टोकरी में रखने लायक बताया तथा कूपलैण्ड के विचार में इसे राजनीति शास्त्र के पुस्तकालय को एक और उच्च कोटि की रचना प्रदान करने वाला बताया। किन्तु बाद में 1935 ई. के अधिनियम में इसकी अनेक बातें अपना ली गई।

नेहरू रिपोर्ट—जब भारतीय साइमन कमीशन का वहिष्कार कर रहे थे, तो उस समय भारत सचिव ने भारतीय नेताओं को यह चुनौती दी थी कि यदि वे विभिन्न सम्प्रदायों की सहमति से एक संविधान तैयार कर सकें तो इंगलैण्ड की सरकार उस पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने को तैयार रहेगी। काँग्रेस ने इस चुनौती को स्वीकार किया और 28 फरवरी, 1928 को दिल्ली में

एक सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में कुछ मौलिक बातों को तय करने के बाद 10 मई, 1928 को बम्बई में इसकी दुबारा बैठक हुई, जहाँ पर भारत के संविधान का मसविदा तैयार करने के लिए मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में 8 व्यक्तियों की एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने जो रिपोर्ट तैयार की, उसे नेहरू रिपोर्ट कहते हैं। नेहरू रिपोर्ट की बातें निम्नलिखित थीं—

(1) तात्कालिक लक्ष्य के रूप में भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान किया जाय। केन्द्र व प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित किया जाय तथा कार्यकारिणी को विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी बनाया जाय।

(2) भारत में संघीय व्यवस्था लागू की जाय और संघीय आधार पर शक्तियों का बँटवारा किया जाय। अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र के पास रखी जायँ।

(3) साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति तथा अधिप्रतिनिधित्व (आबादी से अधिक स्थान) को अस्वीकृत कर दिया गया। किन्तु अल्प मतों को सांस्कृतिक स्वायत्तता, रक्षा आदि गारण्टियों द्वारा सुरक्षा प्रदान करने की सिफारिश की गई।

(4) सिन्ध को बम्बई से अलग किया जाय तथा उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त को दूसरे सीमा प्रान्तों के समान दर्जा दिया जाय।

(5) भारत सरकार की कानूनी शक्तियाँ संसद के पास रहेंगी जो सम्राट, सीनेट और प्रतिनिधि सभा से मिलकर बनेगी। प्रतिनिधि सभा तथा प्रान्तीय विधान परिषदों के चुनाव में 22 वर्ष या अधिक आयु वाले उस व्यक्ति को भाग लेने का अधिकार होगा, जो कानून द्वारा अयोग्य घोषित न किया गया हो।

(6) भारत की कार्यकारिणी शक्ति सम्राट के पास रहेगी और वह शक्ति गवर्नर-जनरल द्वारा सम्राट के प्रतिनिधि की हैसियत से, कानूनों और संविधान के अनुसार प्रयोग की जायेगी। गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में प्रधानमन्त्री और छः अन्य मन्त्री होंगे। प्रधानमन्त्री की नियुक्ति गवर्नर-जनरल द्वारा होगी और प्रधानमन्त्री की सलाह से अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति होगी। कार्यकारिणी परिषद् सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी होगी।

(7) एक प्रतिरक्षा समिति बनाई जायेगी। प्रतिरक्षा सम्बन्धी व्यय की स्वीकृति प्रतिनिधि सभा से लेनी होगी, किन्तु भारत पर विदेशी आक्रमण होने या इसकी सम्भावना होने पर केन्द्रीय कार्यकारिणी को किसी भी धनराशि के खर्च करने का अधिकार होगा।

(8) प्रिवी कौंसिल की तमाम अपीलें बन्द करके भारत में एक उच्चतम न्यायालय स्थापित किया जाय, जो संविधान की व्याख्या करेगा तथा प्रान्तीय झगड़ों पर निर्णय देगा।

जब यह रिपोर्ट विभिन्न दलों की अलग-अलग बैठकों में सामने आई, तब अनेक दलों ने इस पर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से विचार करना आरम्भ कर दिया। मुस्लिम लीग में इस रिपोर्ट पर काफी मतभेद था। अली बन्धुओं ने नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकार करने के लिये विभिन्न प्रान्तीय मुसलमान संगठनों को प्रोत्साहित किया। मोहम्मद अली जिन्ना इसमें कुछ ऐसे मौलिक परिवर्तन

चाहते थे, जिससे इसका स्वरूप ही बदल जाय। जिन्ना ने नेहरू रिपोर्ट के मुकाबले में अपनी चौदह शर्तें पेश कीं। स्वयं काँग्रेस में भी काफी मतभेद उत्पन्न हो गया। दिसम्बर, 1928 में कलकत्ता काँग्रेस के अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू व सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में युवक दल इस रिपोर्ट को केवल पूर्ण स्वतन्त्रता के आधार पर स्वीकार करना चाहता था। किन्तु गाँधीजी के बीच-बचाव करने पर रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया गया। इस अधिवेशन में यह भी तय किया गया कि यदि ब्रिटिश संसद 31 दिसम्बर, 1929 तक या इससे पहले इस रिपोर्ट को स्वीकार नहीं करती है तो पूर्ण स्वतन्त्रता राष्ट्रीय लक्ष्य हो जायेगा तथा अँग्रेज सरकार द्वारा नेहरू रिपोर्ट अस्वीकृत हो जाने पर सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ किया जायेगा।

पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव—नेहरू रिपोर्ट काफी अच्छी थी। किन्तु अँग्रेज सरकार ने इसे 1929 तक स्वीकार नहीं किया। मई, 1929 में इंगलैण्ड के चुनाव में अनुदार दल की पराजय के बाद रेम्जे मेक्डोनल्ड के नेतृत्व में मजदूर दल की सरकार बनी। चुनाव के बाद राष्ट्रमण्डल देशों के श्रमिक दलों के सम्मेलन में मेक्डोनल्ड ने भारत को अधिराज्य स्थिति देने की घोषणा की और अक्टूबर, 1929 में भारत के गवर्नर-जनरल लॉर्ड इरविन को विचार-विमर्श के लिये इंगलैण्ड बुलाया। इंगलैण्ड से लौटकर लॉर्ड इरविन ने 31 अक्टूबर, 1929 को घोषणा की कि 1917 की घोषणा से यह अभिप्राय स्पष्ट होता है कि भारत को अधिराज्य स्थिति का दर्जा मिले। इरविन ने यह भी कहा कि साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर विचार करने के लिये ब्रिटिश सरकार एक गोलमेज सम्मेलन बुलायेगी। यद्यपि इरविन की घोषणा में यह नहीं कहा गया कि भारत को कब स्वराज्य प्राप्त होगा, लेकिन इंगलैण्ड के अनुदार दल ने अधिराज्य स्थिति की चर्चा तक का विरोध किया। ऐसे भ्रान्तिमय वातावरण के कारण स्थिति स्पष्ट करने के लिये दिसम्बर, 1929 में गाँधीजी ने लॉर्ड इरविन से भेंट की, किन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। इससे काँग्रेसी नेताओं को बड़ी निराशा हुई। इसी बीच ब्रिटिश सरकार ने नेहरू रिपोर्ट को भी अस्वीकार कर दिया था।

दिसम्बर, 1929 ई. में काँग्रेस का अधिवेशन लाहौर में हुआ, जिसमें पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव स्वीकार किया गया और काँग्रेसी कमेटी को यह अधिकार दिया गया कि उपयुक्त समय पर वह सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ कर दे। यह भी निश्चित किया गया कि प्रत्येक वर्ष 26 जनवरी का दिन 'स्वाधीनता दिवस' के रूप में मनाया जाय। एक प्रतिज्ञा बनाई गई, जो इस दिन प्रत्येक काँग्रेसी द्वारा ग्रहण की जाती थी। 26 जनवरी, 1930 को लाहौर में रावी नदी के किनारे सभी काँग्रेस के सदस्यों ने पूर्ण स्वाधीनता की प्रतिज्ञा ग्रहण की। इसलिए 26 जनवरी का दिन भारतीय इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। भारत का नया संविधान 26 जनवरी को ही लागू किया गया और अब 26 जनवरी का दिन गणतन्त्र दिवस के रूप में मनाया जाता है।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन

आन्दोलन के कारण—सविनय अवज्ञा आन्दोलन के मूल में अनेक कारण विद्यमान थे। जब भारतीय नेताओं ने साइमन कमीशन की चुनौती को स्वीकार करके अथक परिश्रम से नेहरू रिपोर्ट को तैयार किया तो ब्रिटिश राजनीतिज्ञ आश्चर्यचकित रह गये। फिर भी ब्रिटिश सरकार

अपनी पराजय स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। उन्होंने नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकार कर दिया। नेहरू रिपोर्ट की अस्वीकृति के बाद राष्ट्रीय नेताओं के सामने संघर्ष के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प शेष नहीं रह गया था। 1929 ई. में देश की आर्थिक स्थिति अत्यन्त ही शोचनीय हो गई थी। विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। दैनिक उपयोग की वस्तुओं की कीमतों में भारी वृद्धि हो जाने से मध्यम वर्ग में तीव्र असन्तोष फैल गया। ब्रिटिश नौकरशाही की नीतियों के कारण औद्योगिक एवं व्यावसायिक वर्ग में भी तीव्र असन्तोष था। सरकार द्वारा अँग्रेजों को लाभ पहुँचाने के लिये रुपये के मूल्य में परिवर्तन कर दिया, जिससे देश का व्यावसायिक वर्ग पूरी तरह से असन्तुष्ट हो गया। मजदूरों की दशा भी काफी शोचनीय थी। जूट, कपड़ा और इस्पात उद्योगों के मजदूर अर्धनग्न अवस्था में आधे पेट खाकर जीवन निर्वाह कर रहे थे। फिर भी उन पर अत्याचारों का सिलसिला जारी था। मेरठ-षड्यन्त्र काण्ड के मुकदमे में 36 मजदूर नेताओं को लम्बी अवधि की सजा दिये जाने के कारण मजदूर-वर्ग में सनसनी फैल गई थी। उनमें संगठन की भावना और नव-चेतना का संचार हुआ। किसान और मजदूर संगठित हो गये। देश में बड़ी-बड़ी हड़तालों का ताँता बँध गया तथा उनका आन्दोलन हिंसात्मक रूप धारण करने लगा। नवयुवकों में भी हिंसात्मक प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। देश को हिंसात्मक रास्ते पर आगे बढ़ते हुए देखकर गाँधीजी ने उन प्रवृत्तियों को दूसरी तरफ मोड़ना ही उचित समझा।

दिसम्बर, 1928 ई. में काँग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में यह तय किया गया कि यदि ब्रिटिश संसद 31 दिसम्बर, 1929 ई. तक या इससे पहले नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार नहीं करती है तो काँग्रेस का राष्ट्रीय लक्ष्य पूर्ण स्वतन्त्रता हो जायेगा तथा ब्रिटिश सरकार द्वारा नेहरू रिपोर्ट अस्वीकृत हो जाने पर सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ किया जायेगा। तत्पश्चात् दिसम्बर, 1929 ई. में काँग्रेस के लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव स्वीकार किया गया तथा काँग्रेस कमेटी को यह अधिकार दिया गया कि उपयुक्त समय पर सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ कर दे। गाँधीजी ने कोई काम जल्दी में नहीं किया। उन्होंने वायसराय को एक पत्र लिखा जिसमें देश के हिंसात्मक वातावरण को स्पष्ट करते हुए लिखा कि, "हिंसात्मक दल अपनी जड़ें जमा रहा है और उसका प्रभाव बढ़ रहा है। काँग्रेस द्वारा आयोजित अहिंसात्मक आन्दोलन न केवल ब्रिटिश सरकार की हिंसात्मक शक्ति बल्कि बढ़ते हुए हिंसात्मक दल का भी सामना करेगा।" किन्तु वायसराय पर इसकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने गाँधीजी पर आरोप लगाया कि वे अपने कार्यों से देश में अशान्ति उत्पन्न कर रहे हैं। वायसराय का उत्तर मिलने पर गाँधीजी ने कहा, "मैंने रोटी माँगी थी, किन्तु मुझे उत्तर में पत्थर मिले। अँग्रेज जाति केवल शक्ति के द्वारा दब सकती है। इसलिए मुझे वायसराय के इस उत्तर पर कोई आश्चर्य नहीं है। हमारे राष्ट्र के भाग्य में तो जेलखाने की शान्ति ही एकमात्र शान्ति है। सारा भारत एक विशाल कारागृह है। मैं यह अँग्रेजी कानून मानने से इंन्कार करता हूँ और मौजूदा जबरदस्ती की शान्ति की मनहूस एकरसता को भंग करना मैं अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता हूँ। इस शान्ति से राष्ट्र का गला रुँधा हुआ है। अब उसके हृदय का चीत्कार प्रकट होना ही चाहिये।"

फरवरी, 1930 में काँग्रेस कार्य समिति ने पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने के लिये सविनय अवज्ञा आन्दोलन करने का अधिकार महात्मा गाँधी को दे दिया। इससे पूर्व सरकार के विरुद्ध

1928 के मध्य सरदार पटेल के नेतृत्व में किसानों ने बारडोली (सूरत जिला) में एक सफल सत्याग्रह किया था और सरकार को भूमि कर देने से इन्कार कर दिया था। इसलिए काँग्रेस को यह तरीका काफी प्रभावशाली प्रतीत हुआ। किन्तु आन्दोलन आरम्भ करने से पूर्व महात्मा गाँधी ने एक बार फिर सरकार से समझौते का प्रयत्न किया और इस हेतु लॉर्ड इरविन को 2 मार्च, 1930 को एक पत्र लिखा, जिसमें उन 11 माँगों का उल्लेख किया गया, जो जनवरी, 1930 में सरकार के समक्ष प्रस्तुत की गई थी। उन्होंने यह भी कहा कि यदि अँग्रेज सरकार ने उन माँगों को पूरा नहीं किया तो वे 12 मार्च, 1930 को नमक कानून का उल्लंघन करेंगे। इरविन ने इस पत्र का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया। गाँधीजी ने अपना पक्ष स्पष्ट करने के लिये वायसराय से भेंट करना भी चाहा, किन्तु इरविन ने गाँधीजी से मिलने से ही इन्कार कर दिया।

दाण्डी कूच—गाँधीजी ने कोई कार्य जल्दी में नहीं किया। लाहौर अधिवेशन के बाद गाँधीजी ने अपने कार्यकर्त्ताओं को सत्याग्रह का प्रशिक्षण दिया। 12 मार्च, 1930 को गाँधीजी ने अपने 79 कार्यकर्त्ताओं के साथ साबरमती आश्रम से समुद्र तट पर स्थित दाण्डी की ओर कूच किया। दो सौ मील की यात्रा पैदल चलकर 24 दिन में पूरी की गई। सरदार पटेल ने आगे-आगे चल कर लोगों को गाँधीजी के स्वागत के लिये तैयार किया। मार्ग में गाँधीजी ने लोगों को बलिदान और अहिंसा का उपदेश दिया। लोगों में देशभक्ति का असीम उत्साह दिखाई दे रहा था। 6 अप्रैल, 1930 को प्रातःकाल प्रार्थना के बाद महात्मा गाँधी ने समुद्र तट पर नमक बनाकर नमक कानून भंग किया।

आन्दोलन का कार्यक्रम—महात्मा गाँधी द्वारा नमक कानून भंग करना सारे देश के लिए सविनय अवज्ञा के प्रारम्भ का संकेत था। अतः जगह-जगह लोगों ने सरकारी कानूनों को तोड़ना शुरू कर दिया। महात्मा गाँधी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन में निम्नलिखित कार्यक्रम सम्मिलित किये—

(1) गाँव-गाँव में नमक कानून तोड़ा जाय।

(2) छात्र सरकारी स्कूलों और कर्मचारी सरकारी दफ्तरों को छोड़ दें।

(3) स्त्रियाँ शराब, अफीम और विदेशी कपड़े की दुकानों पर धरना दें।

(4) विदेशी कपड़ों को जलाया जाय।

(5) लोग सरकार को टैक्स न दें।

आन्दोलन की प्रगति—गाँधीजी द्वारा कानून तोड़ने से आन्दोलन आरम्भ हो गया और दिन-प्रतिदिन इसका प्रभाव बढ़ता गया। बम्बई, बंगाल, उत्तरप्रदेश, मध्य प्रान्त और मद्रास में गैर-कानूनी तरीके से नमक बनाना शुरू हो गया। दिल्ली में 1,600 नारियों ने शराब की दुकानों पर धरना दिया और बहुत-सी दुकानें बन्द हो गयीं। नारियों ने पर्दा त्याग कर इस सत्याग्रह में जो भाग लिया, वह सदा इतिहास में स्मरणीय बन गया। इन सभी नारियों को कैद में डाल दिया गया। विदेशी कपड़े का बहिष्कार आशा से भी अधिक सफल रहा। बम्बई में अँग्रेज व्यापारियों की सोलह मिलें बन्द हो गयीं तथा भारतीय व्यापारियों की मिलें दुगनी तेजी से काम करने लगीं। धरासना में 2,500 सत्याग्रहियों ने नमक के गोदाम पर चढ़ाई कर दी। पुलिस ने उनकी निर्ममता

से पिटाई की, जिससे अनेक व्यक्ति बुरी तरह से घायल हो गये। किसानों ने कर न अदा करने का आन्दोलन चलाया।

इस आन्दोलन में अधिकांश मुसलमानों ने भाग नहीं लिया। मोहम्मद अली जिन्ना ने कहा, "हम गाँधी के साथ शामिल होने से इन्कार करते हैं, क्योंकि उनका आन्दोलन भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये नहीं, वल्कि भारत के 7 करोड़ मुसलमानों को हिन्दू महासभा के आश्रित वना देने के लिये है।" यद्यपि जिन्ना के नेतृत्व में अधिकतर मुसलमान इस आन्दोलन से अलग रहे, लेकिन उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के पठानों ने खान अब्दुल गफ्फार खाँ के नेतृत्व में इस आन्दोलन में भाग लिया और पुलिस की लाठियाँ और गोलियों को सहन किया।

जून, 1930 तक यह आन्दोलन पूरे जोर पर पहुँच गया। अनेक स्थानों पर ब्रिटिश शासन ठप्प हो गया। पुलिस तथा सेना की गोलियों से भयभीत होने के स्थान पर सत्याग्रहियों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती गई। 16 अप्रैल, 1930 को जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य महत्त्वपूर्ण काँग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया और 5 मई को महात्मा गाँधी को जेल में डाल दिया गया। कुल 60 हजार लोगों को जेल में ठूँस दिया गया। इससे लोगों में उत्तेजना फैल गई। शोलापुर में एक उत्तेजित भीड़ ने छः थाने जला दिये। पुलिस ने अनेक व्यक्तियों को गोली से भून दिया। जिस समय आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था, इंगलैण्ड की सरकार ने साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए इंगलैण्ड में गोलमेज सम्मेलन बुलाया। काँग्रेस के अधिकांश कार्यकर्त्ता जेल में थे, अतः उनका कोई प्रतिनिधि गोलमेज सम्मेलन में भाग नहीं ले सका। प्रथम गोलमेज सम्मेलन में जिन्ना और डॉ. अम्बेडकर में तीव्र मतभेद हो जाने के कारण कोई निर्णय नहीं हो सका।

गाँधी-इरविन पैक्ट—इरविन ने यह अनुभव कर लिया कि आन्दोलन को शक्ति से नहीं दवाया जा सकता तथा काँग्रेस के सहयोग के विना कोई समस्या का समाधान नहीं हो सकता। अतः देश में अच्छा वातावरण बनाने के लिये 26 जनवरी, 1931 को गाँधीजी को जेल से रिहा कर दिया। तेज बहादुर सप्रू और श्री जयकर के प्रयत्नों से 17 फरवरी, 1931 को दिल्ली में गाँधीजी व इरविन के बीच वातचीत आरम्भ हुई और मार्च, 1931 को दोनों में एक समझौता हो गया। समझौते की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—

(1) सरकार सभी अध्यादेशों और चालू मुकदमों को वापस ले लेगी।

(2) सरकार उन सभी राजनीतिक वन्दियों को मुक्त कर देगी, जिन्होंने हिंसा का मार्ग नहीं अपनाया।

(3) समुद्र के पास रहने वाले लोगों को सरकार विना टैक्स के नमक बनाने और इकट्ठा करने की अनुमति देगी।

(4) विदेशी कपड़ों, शराव और अफीम की दुकानों पर सरकार शान्तिपूर्वक धरना रखने देगी और उसमें रुकावट उत्पन्न नहीं करेगी।

(5) सरकार सत्याग्रहियों की जब्त की हुई सम्पत्ति वापस कर देगी।

कॉंग्रेस की ओर से गाँधीजी ने निम्न बातें स्वीकार कीं—

(1) कॉंग्रेस सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित कर देगी।

(2) पुलिस द्वारा किये गये अत्याचारों के बारे में निष्पक्ष जाँच की माँग छोड़ दी जायेगी।

(3) कॉंग्रेस दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेगी। कॉंग्रेस उत्तरदायी शासन को, अल्पसंख्यकों, प्रतिरक्षा, विदेशी मामले तथा कुछ वित्तीय शक्तियों को अँग्रेजों के हाथ में रखते हुए स्वीकार कर लेगी।

(4) कॉंग्रेस सब बहिष्कारों को बन्द कर देगी, लेकिन स्वदेशी का प्रचार जारी रखेगी।

गाँधी-इरविन पैक्ट की मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। गाँधीजी ने इसे उचित बताया, क्योंकि पहली बार सरकार ने भारतीय नेताओं के साथ समानता के स्तर पर बातचीत की थी। किन्तु जवाहरलाल नेहरू व सुभाषचन्द्र बोस गाँधीजी के इस मूल्यांकन से सहमत नहीं थे, क्योंकि एक तरफ कॉंग्रेस के सामने पूर्ण स्वाधीनता का लक्ष्य था और दूसरी ओर गाँधीजी ने महत्त्वपूर्ण विषयों को अँग्रेजों के हाथों में रखना स्वीकार कर लिया था। कॉंग्रेस के वामपक्षी लोगों ने इसे सरकार के सामने आत्मसमर्पण बताया। कॉंग्रेस का युवा वर्ग इससे बहुत असन्तुष्ट हुआ, क्योंकि गाँधीजी तीन प्रसिद्ध क्रान्तिकारियों—सरदार भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को न तो कैद से छुड़वा सके और न उनकी फाँसी की सजा को आजन्म कारावास में बदलवा सके। 25 मार्च, 1931 को कराँची में कॉंग्रेस का अधिवेशन हुआ, उस समय सरदार भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फाँसी हो चुकी थी, इसलिये नवयुवकों ने महात्मा गाँधी के विरुद्ध काले झण्डों का प्रदर्शन किया। महात्मा गाँधी बड़ी कठिनता से इस समझौते को कॉंग्रेस से स्वीकार करा सके।

गाँधी-इरविन समझौते को ब्रिटिश सरकार अपनी पराजय मान रही थी। अतः इरविन के जाने के बाद उसके उत्तराधिकारी विलिंगडन ने हर सम्भव तरीके से समझौते का उल्लंघन किया। कई बार तो गाँधीजी को चेतावनी देनी पड़ी कि सरकारी दमन बन्द नहीं किया गया तो वे लन्दन नहीं जायेंगे। गाँधीजी व विलिंगडन में समझौता होने के बाद ही गाँधीजी दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने लन्दन गये। दूसरा गोलमेज सम्मेलन 7 सितम्बर, 1931 को आरम्भ हुआ, लेकिन ब्रिटिश सरकार के विरोधी रुख, डॉ. अम्बेडकर द्वारा दलित वर्गों के लिये कुछ स्थान आरक्षित करने की जिद तथा साम्प्रदायिक समस्या के कारण 1 दिसम्बर, 1931 को सम्मेलन किसी समस्या को हल किये बिना समाप्त हो गया। गाँधीजी निराश होकर खाली हाथ भारत लौट आये।

महात्मा गाँधी की अनुपस्थिति में लॉर्ड विलिंगडन ने अपना दमनकारी चक्र तेज कर दिया था। जब महात्मा गाँधी भारत लौटे तो उत्तर प्रदेश के कृषि सम्बन्धी झगड़ों के कारण जवाहरलाल नेहरू को गिरफ्तार कर लिया गया था। खान अब्दुल गफ्फार खाँ तथा उनके भाई को गिरफ्तार कर लिया था। बंगाल में सैनिक शासन लागू कर दिया गया था तथा उत्तरप्रदेश व उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में अध्यादेशों द्वारा शासन चलाया जा रहा था। ऐसी गम्भीर परिस्थितियों को हल करने के लिये महात्मा गाँधी ने लॉर्ड विलिंगडन से मुलाकात करनी चाही, लेकिन विलिंगडन ने मिलने से इन्कार कर दिया। अतः विवश होकर महात्मा गाँधी ने 3 जनवरी, 1932 को सविनय अवज्ञा आन्दोलन पुनः आरम्भ करने की घोषणा कर दी। ब्रिटिश सरकार तो अवसर

ढूँढ रही थी, अतः 4 जनवरी, 1932 को महात्मा गाँधी तथा काँग्रेस अध्यक्ष सरदार पटेल को गिरफ्तार कर लिया गया और काँग्रेस को गैर-कानूनी संस्था घोषित कर दिया गया। हजारों व्यक्ति जिन पर काँग्रेसी होने या काँग्रेस से सहानुभूति रखने का सन्देह किया गया, उनको गिरफ्तार कर लिया गया।

1930 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन और 1932 के आन्दोलन में अन्तर था। 1930 में काँग्रेस ने पूरी तैयारी के साथ आन्दोलन शुरू किया था, जबकि इस बार सरकार ने काँग्रेस को तंग करके आन्दोलन को भड़काया था। विलिंगडन ने कहा था कि वह काँग्रेस को छः सप्ताह में विल्कुल कुचल देगा। लेकिन उसकी यह मनोकामना पूरी नहीं हो सकी, यद्यपि हजारों कार्यकर्त्ताओं की गिरफ्तारी के कारण आन्दोलन की शक्ति घट गई थी, फिर भी आन्दोलन चलता रहा।

हरिजनों पर हिन्दुओं द्वारा किये गये अन्यायों पर पश्चाताप करने के लिए 8 मई, 1933 को गाँधीजी ने 21 दिन का उपवास शुरू किया। सरकार ने उसी दिन गाँधीजी को जेल से छोड़ दिया। गाँधीने ने अपने आपको हरिजन कल्याण के लिये लगाया, क्योंकि रेम्जे मेकडोनाल्ड के साम्प्रदायिक पंचाट के कारण सवर्ण हिन्दुओं व शूद्रों में एक खाई पैदा हो गई थी। 8 मई, 1933 को महात्मा गाँधी ने जन-आन्दोलन रोक दिया, किन्तु व्यक्तिगत सत्याग्रह चलता रहा। जनता का उत्साह भी अब कम हो गया था और आन्दोलन में कमजोरी आ गई थी। इसलिये 7 अप्रैल, 1934 को महात्मा गाँधी ने सविनय आन्दोलन पूरी तरह से समाप्त कर दिया। गाँधीजी द्वारा आन्दोलन समाप्त किया जाना वहुत से नेताओं को वड़ा अप्रिय लगा और गाँधीजी की नीति उन्हें वड़ी ढिलमिल दिखाई दी।

गोलमेज सम्मेलन—जिस समय सविनय आन्दोलन पूरे जोरों पर था, तब लॉर्ड इरविन ने इंगलैण्ड की सरकार पर दवाव डाला कि भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया जाय, जो भारत की संवैधानिक समस्याओं पर विचार-विमर्श करे। इंगलैण्ड की सरकार ने गोलमेज सम्मेलन की योजना स्वीकार कर ली। सम्मेलन में सभी विचारधाराओं के व्यक्तियों को आमन्त्रित किया गया। मुसलमानों, हिन्दू महासभा, सिक्ख, ईसाई, जमींदारों, उद्योगपतियों, हरिजनों, यूरोपियनों, भारतीय नरेशों, इंगलैण्ड के विभिन्न राजनीतिक दलों तथा भारतीय उदारपंथियों के प्रतिनिधियों को आमन्त्रित किया गया। प्रतिनिधि सदस्यों का चयन इस प्रकार किया गया था कि भारतीय प्रतिनिधियों में मतभेद स्पष्ट हो जाय। प्रथम गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर काँग्रेस सविनय अवज्ञा आन्दोलन चला रही थी, अतः काँग्रेस ने प्रथम गोलमेज सम्मेलन में भाग नहीं लिया।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन का उद्घाटन 12 नवम्बर, 1930 को सम्राट जार्ज पंचम ने तथा अध्यक्षता इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री रेम्जे मेकडोनाल्ड ने की। सम्मेलन के आरम्भ में ही इंगलैण्ड के अनुदार दल व लिवरल दल के प्रतिनिधियों में तथा भारतीय प्रतिनिधियों में मतभेद स्पष्ट हो गये। भारतीय प्रतिनिधि भारत में एक संघीय व्यवस्था चाहते थे, जिसमें सारे अधिकार भारतीयों को सौंप दिये जायँ, किन्तु इंगलैण्ड के प्रतिनिधि भारत को अधिराज्य स्थिति भी देने को तैयार नहीं थे। रेम्जे मेकडोनाल्ड ने सुझाव दिया कि प्रान्तों को पूर्ण स्वायत्तता दे दी जाय, किन्तु अल्पमतों के हितों की रक्षा के लिये गवर्नर के पास विशेष शक्तियाँ रहें। केन्द्र में संघ स्थापित किया जाय,

जिसमें ब्रिटिश प्रान्तों व देशी रियासतों के प्रतिनिधि शामिल हों और केन्द्र में दोहरा शासन स्थापित कर दिया जाय। इन सभी बातों पर लगभग सारे प्रतिनिधि सहमत थे, किन्तु साम्प्रदायिक समस्या पर समझौता नहीं हो सका। मुसलमानों ने अलग प्रतिनिधित्व की माँग की तथा जिन्ना अपनी चौदह शर्तों को मनवाने के लिये अड़ा रहा। डॉ. अम्बेडकर ने हरिजनों के लिये अलग प्रतिनिधित्व की माँग की। हिन्दुओं के प्रतिनिधि संयुक्त चुनाव पद्धति के पक्ष में थे। इस प्रकार प्रत्येक जाति के प्रतिनिधि ने अपने-अपने हितों को सुरक्षित करने के लिए माँगें पेश कीं। अतः सम्मेलन में कोई निर्णय नहीं हो सका।

दूसरे गोलमेज सम्मेलन के समय तक इंगलैण्ड में सर्वदलीय मन्त्रिमण्डल बन चुका था, जिसमें अनुदार दल का बहुमत था। सम्मेलन के अधिवेशन के दौरान अक्टूबर, 1931 के चुनावों के बाद इंगलैण्ड में अनुदार दल का मन्त्रिमण्डल बना। दूसरे सम्मेलन में काँग्रेस ने गाँधीजी को अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा। दूसरा गोलमेज सम्मेलन 7 सितम्बर, 1931 को आरम्भ हो गया। महात्मा गाँधी 12 सितम्बर, 1931 को लन्दन पहुँचे। इस सम्मेलन में डॉ. अम्बेडकर ने दलित वर्गों के लिये कुछ स्थान आरक्षित करने की माँग की, किन्तु गाँधीजी ने इसे अस्वीकार कर दिया और काँग्रेस को 85 प्रतिशत जनसंख्या का प्रतिनिधि बताया। महात्मा गाँधी ने भारत के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग की। साम्प्रदायिक समस्या भी अत्यधिक जटिल बन गई। महात्मा गाँधी ने कहा कि यदि भारतीय प्रतिनिधि आपस में साम्प्रदायिक समस्या का हल नहीं निकाल सके तो उन्हें इसका निर्णय अँग्रेजी सरकार पर छोड़ देना चाहिये। सम्मेलन में अधिकांश प्रतिनिधियों ने मेकडोनाल्ड के निर्णय के प्रति आस्था प्रकट की। गाँधीजी ने केवल मुसलमानों और सिक्खों के लिये मेकडोनाल्ड की अध्यक्षता स्वीकार की थी, दलित वर्गों के लिए नहीं। लेकिन वहाँ प्रत्येक जाति के प्रतिनिधियों ने अपनी माँगें बढ़ा-चढ़ाकर पेश कीं। ब्रिटिश सरकार ने प्रत्येक जाति के प्रतिनिधि ऐसे ही चुने थे, जिनमें कोई समझौता न हो सके। अतः साम्प्रदायिक समस्या का यहाँ कोई समाधान नहीं हो सका। महात्मा गाँधी के सभी प्रयत्न विफल हुए और उन्हें निराश लौटना पड़ा।

आन्दोलन का महत्त्व एवं प्रभाव—इस आन्दोलन से सारे देश में एकता और जागृति की एक नई लहर उत्पन्न हुई, जिससे लोग स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए आतुर हो उठे। देश में भावात्मक एकता का एक अपूर्व वातावरण उत्पन्न हुआ, जिसके निम्नलिखित परिणाम दृष्टिगोचर हुए—

(1) इस आन्दोलन से राष्ट्रीयता की भावना को असीम बल प्राप्त हुआ और भारतीयों में नव-चेतना का संचार हुआ। ज्यों-ज्यों सरकार का दमन-चक्र प्रबल होता गया, त्यों-त्यों जनता में असीम विश्वास की अभिवृद्धि हुई। अब उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि वे अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त कर सकते हैं बशर्ते कि उनमें पूर्ण आत्म-विश्वास और अटल संकल्प हो। लोगों को विश्वास हो गया कि अब उनकी स्वतन्त्रता अत्यधिक निकट है।

(2) इस आन्दोलन ने जन-जीवन के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी पक्षों पर अनुकूल प्रभाव डाला। स्वदेशी का प्रचार होने से आत्मनिर्भरता के कार्यक्रम को बल मिला। चूँकि यह एक जन-आन्दोलन था अतः देश के सभी वर्गों ने इस आन्दोलन का समर्थन किया, जिससे स्वराज्य की माँग को समर्थन प्राप्त हुआ।

(3) इस आन्दोलन ने क्रान्तिकारियों की गतिविधियों को भी प्रभावित किया। यद्यपि क्रान्तिकारियों की गतिविधियाँ वन्द तो नहीं हुईं लेकिन शिथिल अवश्य पड़ गईं, क्योंकि जनता का उन्हें पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं हो सका। देश में व्याप्त हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ भी अब शिथिल पड़ गईं।

(4) इस आन्दोलन से छुआछूत, हीनता, फिरकापरस्ती और पर्दा-प्रथा जैसी सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार हुआ, जिससे लोगों में इन सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने की भावना उत्पन्न हुई। राष्ट्रीय शिक्षा को भी वल प्राप्त हुआ।

(5) इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप विदेशों में भी भारत के प्रति नैतिक सहानुभूति उत्पन्न हुई। व्रिटेन के उदारवादियों ने सरकार पर दवाव डाला कि वह भारत की समस्याओं पर ध्यान दे तथा उसे शीघ्रातिशीघ्र स्वतन्त्रता प्रदान करे।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में अत्यन्त क्रान्तिकारी घटना थी, जिसने देश में अपूर्व उत्साह और गौरवपूर्ण राष्ट्रीयता का संचार कर दिया। सरकार के तीव्रतर दमन-चक्र के समक्ष जिस तरह कार्यकर्त्ताओं और स्वयंसेवकों ने तथा उनके नियन्त्रण में जनसमूहों ने अहिंसा का कम से कम नीति के रूप में पालन किया उसकी वहुत से विदेशी पर्यवेक्षकों ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की। इसमें कोई सन्देह नहीं कि निहत्थी भीड़ पर जिस तरह लाठियों का प्रहार किया गया उसे किसी भी स्थिति में न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। धरासना में सत्याग्रहियों के अहिंसात्मक व्यवहार तथा पुलिस की क्रूरता ने सरकार की निरंकुशता को वेनकाव कर दिया और यह सिद्ध कर दिया कि निरंकुशता ही विदेशी सरकार का वास्तविक लक्षण और स्वरूप है तथा आतंक ही उसका अस्त्र है। सरकार की निरंकुशता, क्रूरता और आतंक के कारण लोगों में व्रिटिश सरकार के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी। इस आन्दोलन की ठोस उपलब्धि यह रही कि इसका आधार जन-मानस होने से यह देश की नब्ज को पहली वार सार्थक रूप से पहचान सका। इस आन्दोलन ने विश्व जनमत का नैतिक समर्थन प्राप्त किया और अँग्रेजों पर इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का रहस्योद्‌घाटन किया कि वे अधिक समय तक स्वतन्त्रता की माँग की उपेक्षा नहीं कर सकते। निःसन्देह सविनय अवज्ञा आन्दोलन भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास का गौरवपूर्ण अध्याय है। यद्यपि यह अपने पूर्ण स्वतन्त्रता के लक्ष्य को तुरन्त प्राप्त करने में असफल रहा, लेकिन अव स्वतन्त्रता की माँग पहले की अपेक्षा अधिक प्रवल हुई और लोगों को स्वाधीनता अधिक निकट दिखाई देने लगी।

अध्याय-15

मुस्लिम-लीग की स्थापना और 1937 ई. के बाद उसकी भूमिका

आधुनिक भारत के इतिहास में मुस्लिम साम्प्रदायिकता का उदय एवं विकास तथा भारतीय राजनीति में उसकी भूमिका एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है, जिसके अध्ययन के बिना हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास अधूरा रह जाता है। भारतीय उप-महाद्वीप में एक विशाल मुस्लिम अल्पसंख्यक जनसंख्या का होना कोई विचित्र बात नहीं है। पश्चिम में भी बहुत से देश अल्पसंख्यकों द्वारा उत्पन्न राजनैतिक समस्याओं से परिचित हैं। किन्तु भारत में अल्पसंख्यकों की समस्या का वास्तविक स्वरूप साम्प्रदायिक है। भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिकता का उदय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भिक चरण में हुआ था। धीरे-धीरे यह अधिक दृढ़ और विकसित होती गई। इसको विकसित एवं जटिल बनाने में एक तीसरी शक्ति—ब्रिटिश राज की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को अत्यधिक प्रोत्साहित कर हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति को अवरुद्ध करने का प्रयास किया। अतः ब्रिटिश शासनकाल के अन्तिम तीन दशकों में मुस्लिम साम्प्रदायिकता का अत्यन्त विकसित रूप दिखाई देता है, जिसकी अन्तिम परिणति द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त के जन्म में होती है। इसी द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त के फलस्वरूप धर्म के आधार पर भारतीय उप-महाद्वीप का विभाजन हुआ। भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिकता के उदय के निम्नलिखित कारण थे—

(1) मुसलमानों की अधोगति—भारत में रहने वाले मुसलमानों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम वर्ग में वे लोग जो विदेशों से आने वाले व्यापारियों और आक्रामकों की सन्तान हैं और दूसरे वर्ग में वे लोग जो धर्म-परिवर्तन कर मुसलमान बन गये थे अथवा ऐसे लोगों की सन्तान थे। प्रथम वर्ग के लोग शासन सूत्र सम्भालते थे तथा सरकारी नौकरियों पर उनका एकाधिकार था। दूसरे वर्ग के अधिकतर लोग खेती-बाड़ी या अन्य छोटे-मोटे काम करते थे। धर्म-परिवर्तन के बाद भी उनके सामाजिक जीवन-स्तर में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ था। उच्च अभिजात वर्ग का, जो कभी राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त था, 19वीं शताब्दी में राजनीतिक प्रभुत्व समाप्त हो चुका था। यह वर्ग राजनीतिक प्रभुत्व का इतना अभ्यस्त हो गया था कि इसने कभी व्यापार या व्यवसाय की ओर ध्यान ही नहीं दिया। सरलता से धन प्राप्त हो जाने से इस वर्ग में अकर्मण्यता प्रवेश कर चुकी थी। लेकिन यह वर्ग दिखावे के रूप में अपनी

प्रतिष्ठा बनाये रखने का प्रयत्न करने लगा, जिससे यह वर्ग खोखला हो गया था। उनकी यह अधोगति भारत में अँग्रेजों के आने के बाद हुई थी। कल के शासक अब जन-सामान्य की श्रेणी में आकर अँग्रेजों के गुलाम बन गये। भूमि के स्थायी बन्दोबस्त के कारण अभिजात वर्ग के मुसलमानों की आर्थिक स्थिति भी दयनीय हो चुकी थी। अँग्रेजी शिक्षा पद्धति ने भी मुसलमानों की सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रगति को अवरुद्ध कर दिया था, क्योंकि मुसलमान अपनी परम्परागत शिक्षा पद्धति से ही चिपके हुए थे। विलियम हण्टर ने लिखा है कि, "एक अमीर, गर्वपूर्ण तथा वीर जाति को निर्धन तथा निरक्षर जन-समूह में बदल दिया गया और उसके उत्साह तथा गर्व को मिट्टी में मिला दिया गया।" मुसलमानों ने अपनी गिरती हुई स्थिति को महसूस किया और उनमें असन्तोष की भावना भर गई। फलतः उनमें राजनीतिक जागरूकता और विद्रोह की भावना उत्पन्न होने लगी।

(2) 1857 का विप्लव और मुस्लिम समुदाय—यह लगभग सर्वमान्य-सा तथ्य है कि ब्रिटिश अधिकारियों की दृष्टि में 1857 ई. की परिस्थितियों में भारत का प्रत्येक मुसलमान एक विद्रोही था। आधुनिक भारत के एक विदेशी इतिहासकार प्रोफेसर टॉमस मेटकॉफ ने इतिहासकारों के बहुमत के दृष्टिकोण को यह कहते हुए प्रस्तुत किया है कि शासकों की दृष्टि में मुस्लिम नेतृत्व और षड्यन्त्र के कारण 1857 का विद्रोह, जो प्रारम्भ में सैनिक विद्रोह था, राजनैतिक संघर्ष में परिवर्तित हो गया। अधिकतर समकालीन पर्यवेक्षकों ने इस मत की पुष्टि की है। इस मत की पुष्टि में अनेक तथ्य सहायक थे, जैसे—बहादुरशाह द्वितीय को 21 तोपों की सलामी के द्वारा अकबर और औरंगजेब की ही परम्परा में हिन्दुस्तान का बादशाह घोषित किया जाना, अवध के विद्रोह का नेतृत्व वाजिदअली शाह की बेगम हजरत महल और पुत्र बिजरिस कादिर के हाथों में होना, रोहिला सरदार खान बहादुर खान द्वारा दिल्ली के बादशाह के अधीन नवाब-ए-नाजिम का पद ग्रहण करना आदि। ये तथ्य विप्लव काल में मुस्लिम नेतृत्व का पर्याप्त संकेत देते हैं। इसीलिये विप्लव की समाप्ति के बाद हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान ब्रिटिश दण्ड-नीति के अधिक भुक्तभोगी बने। ब्रिटिश प्रतिशोध का हृदयविदारक उदाहरण दिल्ली में विशेष रूप से दिखाई देता है। दिल्ली में न केवल वृद्ध बहादुरशाह को बन्दी बनाकर रंगून भेजा गया बल्कि उसके तीन लड़कों को भी कत्ल कर दिया गया तथा अन्य 23 शाहजादों को प्राणदण्ड दिया गया। किन्तु ब्रिटिश अधिकारियों का एक वर्ग किसी एक निश्चित समुदाय पर इस विद्रोह का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व थोपने के विरुद्ध था। केम्पबेल के अनुसार भारतीय समाज का प्रभुतासम्पन्न वर्ग, जिसका ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत अहित हुआ था, विद्रोह के लिये जिम्मेदार था। यदि इसका नेतृत्व धार्मिक दृष्टि से कट्टर मुस्लिम धार्मिक नेताओं द्वारा हुआ होता तो बंगाल के फेराजी मत के अनुयायी या दक्षिण भारत के मोप्पलाओं ने इसमें भाग क्यों नहीं लिया ? इसके अतिरिक्त हैदराबाद के निजाम, रामपुर, ढाका और करनाल के नवाबों ने विद्रोह को कुचलने में ब्रिटिश शासन की भरपूर सहायता की थी। स्वयं रुहेलखण्ड में सर सैयद अहमदखाँ ने बिजनौर के सदर अमीन के रूप में, अपने एक मुस्लिम तहसीलदार सहयोगी के साथ विद्रोह को दबाने में ब्रिटिश सत्ता से सहयोग किया था। फिर भी विप्लव की असफलता के कारण उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के

(3) **अलीगढ़ आन्दोलन**—लगभग छः शताब्दियों के दीर्घ शासन के उपरान्त 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुस्लिम शासक वर्ग के हाथों से राजनीतिक सत्ता छिन गई। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित होने के साथ ही शासन के क्षेत्र में नई संस्थाओं का जन्म हुआ। प्रशासनिक व्यवस्था में हुए व्यापक परिवर्तन का सर्वाधिक घातक प्रभाव मुस्लिम शासक वर्ग पर पड़ा। 19वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक उनकी स्थिति शोचनीय हो गई। नये शासन तन्त्र के सामंजस्य के प्रश्न पर मुस्लिम समाज में दो वर्ग उभर कर आये। एक वर्ग तो वह था जो किसी भी कीमत पर ब्रिटिश सत्ता से समझौते के पक्ष में नहीं था तथा हिंसात्मक साधनों से (जिहाद द्वारा) उसे उखाड़ फेंकना चाहता था। इसके विपरीत दूसरा वर्ग ब्रिटिश सत्ता की स्थिरता चाहता था तथा मुस्लिम समुदाय के विकास के लिए पश्चिमी शिक्षा और अँग्रेजी भाषा को महत्त्वपूर्ण मानता था। पहले वर्ग का प्रतिनिधित्व वहाबी आन्दोलन के प्रवर्तक सैयद अहमद बरेलवी ने किया, जबकि दूसरे वर्ग की विचारधारा ने अलीगढ़ आन्दोलन को जन्म दिया, जिसका नेतृत्व सर सैयद अहमदखाँ ने किया।

वहाबी आन्दोलन मुसलमानों के पुनरुत्थान के लिए अरब में आरम्भ हुआ था। भारत में यह आन्दोलन धीरे-धीरे फैलने लगा। 1820 ई. में सैयद अहमद बरेलवी ने मक्का से लौटकर भारत में इस आन्दोलन का प्रचार किया। इस आन्दोलन का उद्देश्य मुस्लिम समाज से उन गैर-इस्लामी नियमों और प्रथाओं को निकाल देना था, जिनके कारण समाज में कुरीतियाँ प्रवेश कर गई थीं। पंजाब के सिक्ख राज्यों में मुस्लिम जनता के प्रति दुर्व्यवहार के प्रश्न को लेकर सैयद अहमद बरेलवी ने जिहाद की घोषणा की। बाद में इस आन्दोलन का केन्द्र पटना बना। इस आन्दोलन और जिहाद की घोषणा के कारण ब्रिटिश शासकों को पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में कई बार सैनिक अभियान करने पड़े तथा वहाबी आन्दोलन के समर्थकों पर मुकदमे चलाये गये। 1871 ई. के मुकदमों के दौरान ब्रिटिश सत्ता के प्रति मुस्लिम कटुता अपने चरम शिखर पर थी। इसी कटुता के कारण 1871 ई. में एक वहाबी ने कलकत्ता न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की हत्या कर दी। 1872 ई. में एक वहाबी ने अण्डमान में भारत के वायसराय लॉर्ड मेयो की हत्या कर दी। यद्यपि भारत के अनेक वायसरायों ने मुसलमानों में शिक्षा का प्रसार करने का प्रयास किया, लेकिन उच्च शिक्षा के क्षेत्र में मुस्लिम समुदाय की उपलब्धि शोचनीय ही रही। ऐसा प्रतीत होता था कि उच्च शिक्षा के प्रति मुसलमानों में एक धार्मिक और सांस्कृतिक उदासीनता थी। वहाबी आन्दोलन द्वारा मुसलमानों में पुनः धार्मिक कट्टरता की लहर फैल गई।

मुसलमानों में उच्च शिक्षा के प्रति मानसिक उदासीनता समाप्त करने में जिस मुस्लिम नेता का सर्वाधिक योगदान रहा, वह थे सर सैयद अहमदखाँ। 1857 ई. के विप्लव के समय उन्होंने अँग्रेजों की विशेष सेवा करके अँग्रेजों की सद्भावना प्राप्त करली थी। इस सद्भावना का उपयोग उन्होंने भारतीय मुसलमानों के हित में किया। उस समय भारतीय मुसलमान अपने अतीत में खोये हुए थे और अँग्रेजों से भी उनके सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। अतः सर सैयद अहमदखाँ ने अपने जीवन के प्रमुख दो उद्देश्य बनाये—प्रथम तो अँग्रेजों व मुसलमानों के सम्बन्ध ठीक करना और दूसरा मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा का प्रसार करना। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उन्होंने मुसलमानों को समझाया कि सरकार के प्रति वफादार रहने से ही उनके हितों की पूर्ति हो सकती है तथा उन्होंने अँग्रेजों को समझाया कि मुसलमान हृदय से अँग्रेजी शासन के विरुद्ध नहीं

है और अँग्रेजों की थोड़ी-सी सहानुभूति से वे सरकार के प्रति वफादार हो जायेंगे। अँग्रेजों ने भी 'फूट डालो और राज्य करो" की नीति का अवलम्बन करते हुए मुसलमानों के प्रति सद्भावना प्रकट करना उचित समझा, क्योंकि हिन्दुओं में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के विरुद्ध वे मुस्लिम साम्प्रदायिकता का प्रयोग कर सकते थे। अतः सर सैयद अहमदखाँ को अपने प्रथम उद्देश्य में शीघ्र ही सफलता मिल गई। दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने अपने विचारों और कार्यक्रमों का केन्द्र अलीगढ़ को बनाया और यहाँ से किये गये सभी प्रयासों का सामूहिक नाम 'अलीगढ़ आन्दोलन' है। अलीगढ़ आन्दोलन ने मुसलमानों की शिक्षा के लिये महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 1875 ई. में उन्होंने अलीगढ़ में 'मोहम्मडन एंग्लो ओरियण्टल कॉलेज' की स्थापना की। जनवरी, 1877 ई. में लॉर्ड लिटन ने इस कॉलेज का विधिवत् उद्घाटन किया तथा उत्तर प्रदेश के गवर्नर म्यूर ने इस कॉलेज के लिये भूमि प्रदान की। इस प्रकार आरम्भ से ही इस संस्था पर अँग्रेजों की कृपादृष्टि रही। लॉर्ड लिटन को दिये गये स्मृति-पत्र के अनुसार इस कॉलेज के माध्यम से ब्रिटिश ताज के प्रति स्वामिभक्त मुसलमान तैयार करना ही इस संस्था का उद्देश्य था। इस कॉलेज ने मुसलमानों में नवचेतना लाने और उन्हें संगठित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। अलीगढ़ आन्दोलन के विचारों को प्रचारित करने के लिये उन्होंने 1886 ई. में ऑल इण्डिया मुहम्मडन एजुकेशनल काँग्रेस की स्थापना की। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस से इसका अन्तर स्पष्ट करने के लिऐ 1890 ई. में इसका नाम 'ऑल इण्डिया मुहम्मडन एजुकेशन कान्फ्रेंस' कर दिया गया। अलीगढ़ कॉलेज का मुख्य उद्देश्य तो पाश्चात्य शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित करना था, किन्तु वहाँ का मुख्य काम राष्ट्र-विरोधी और देशभक्ति-विरोधी वातावरण तैयार करना हो गया। 'अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गजट' शैक्षणिक विषयों पर ध्यान केन्द्रित न करके राजनीतिक क्रिया-कलापों की खिल्ली उड़ाने और गाली-गलौज करने में नाम कमा रहा था।

यद्यपि काँग्रेस की स्थापना ब्रिटिश अधिकारियों के प्रोत्साहन से हुई थी, किन्तु जब काँग्रेस ने ब्रिटिश अधिकारियों की आशाओं के विपरीत भारतीयों को विधान परिषदों में अधिक प्रतिनिधित्व देने, सिविल सर्विसेज की प्रतियोगी परीक्षा इंगलैण्ड और भारत में एक साथ आयोजित करने और सैनिक व्यय में कटौती करने जैसी माँगें प्रस्तुत करनी आरम्भ कर दीं तब ब्रिटिश नौकरशाही का रुख काँग्रेस-विरोधी हो गया। सर सैयद अहमदखाँ ने प्रारम्भ में तो काँग्रेस की गतिविधियों पर ध्यान नहीं दिया, लेकिन कुछ ही दिनों बाद काँग्रेस के विरुद्ध विष-वमन आरम्भ कर दिया। उनके काँग्रेस-विरोधी विचार साम्प्रदायिकता से प्रेरित नहीं थे बल्कि उनके सामन्तवादी दृष्टिकोण से प्रभावित थे। काँग्रेस की प्रतिनिधित्व प्रणाली की माँग को वे निम्न वर्ग के हाथ में सत्ता हस्तान्तरण समझते थे। अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गजट के लेख में उन्होंने प्रतियोगी परीक्षाओं के सम-कालिक करने की काँग्रेस की माँग को मुसलमानों के हितों के विरुद्ध बताया, क्योंकि शिक्षा के क्षेत्र में मुस्लिम समुदाय काफी पिछड़ा हुआ था। ब्रिटिश राज के प्रति अटूट स्वामिभक्ति और अपनी 'कौम' की पृथक् हित-साधना सर सैयद अहमदखाँ का राजनैतिक दृष्टिकोण बनता जा रहा था। काँग्रेस-विरोधी अभियान में अलीगढ़ कॉलेज के प्रिन्सिपल थियोडर बेक ने उन्हें महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। बेक ने अलीगढ़ के छात्रों को काँग्रेस से दूर रखने के लिये छात्रावासों में जाकर तथा स्वयं अपने घर पर बुलाकर उनको मानसिक रूप से इसके लिए तैयार किया।

काँग्रेस-विरोधी राजनैतिक विचारों को इंगलैण्ड में प्रचारित करने के लिये बेक की सहायता से अगस्त, 1888 ई. में 'यूनाइटेड इण्डियन पैट्रियाटिक एसोसियेशन' की स्थापना की गई। काँग्रेस की नीतियों के विरोध का एकमात्र लक्ष्य यह था कि ब्रिटिश सरकार काँग्रेस की माँगों को स्वीकार न करे। फिर भी 1892 ई. में भारतीय परिषद् अधिनियम पारित हो गया। अतः पुनः मुस्लिम हितों की रक्षा के लिये बेक ने सर अहमदखाँ के सहयोग से दिसम्बर, 1893 ई. में 'मुहम्मडन एंग्लो ओरियण्टल डिफेन्स एसोसियेशन' की स्थापना की गई। डिफेन्स एसोसियेशन के उद्घाटन भाषण में बेक ने यह घोषणा की कि देश में दो आन्दोलन चल रहे हैं—पहला राष्ट्रीय काँग्रेस का और दूसरा गो-हत्या विरोधी। बेक ने जोर देकर कहा कि पहला आन्दोलन ब्रिटिश विरोधी है और दूसरा मुस्लिम विरोधी। बेक ने अपने एक लेख में गृह-सरकार की इस बात के लिए निन्दा की कि वह देशद्रोही आन्दोलनकारियों के दबाव में आकर उनकी माँगें स्वीकार करती जा रही है। 1898 ई. में सर सैयद अहमदखाँ का तथा अगले वर्ष बेक का देहान्त हो गया। उनके देहान्त के बाद उनकी नीति और राजनीति को जीवित रखा बेक के उत्तराधिकारी थियोडर मॉरिसन ने। मॉरिसन ने घोषणा की कि यदि भारत में प्रजातन्त्र की स्थापना होती है तो यहाँ अल्पसंख्यकों की स्थिति लकड़हारों व भिश्तियों जैसी हो जायेगी। इस प्रकार अलीगढ़ आन्दोलन ने भारत में साम्प्रदायिकता का विकास करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। आगामी वर्षों में अलीगढ़ एक नये आन्दोलन का केन्द्र बन गया।

(4) उग्र हिन्दू धार्मिक आन्दोलन—अलीगढ़ आन्दोलन ने जिस बौद्धिक जागरूकता का विकास किया उससे भारतीय मुसलमानों को अपनी पहचान स्थापित करने में सहायता मिली। इसी जागरूकता से आगे चलकर उन्हें राजनैतिक रूप से संगठित होने का अवसर मिला। किन्तु इस स्थिति को उत्पन्न किया उग्र हिन्दू धार्मिक आन्दोलन ने, जिससे मुस्लिम-सामुदायिक-भावनाएँ मुस्लिम-साम्प्रदायिक-भावनाओं में परिवर्तित हो गईं। यद्यपि राजा राममोहन राय ने बंगाल में ब्रह्म समाज की स्थापना करके हिन्दू धार्मिक पुनरुत्थान का सूत्रपात किया था, किन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती के आर्य समाज ने कट्टर हिन्दू धार्मिकता का परिचय देते हुए गो-हत्या के विरुद्ध एक आन्दोलन छेड़ दिया। 1882 ई. में स्वामीजी ने गोरक्षिणी सभा की स्थापना की, जिसके फलस्वरूप सारे देश में गो-हत्या के विरोध में दंगे हुए। इन दंगों में मन्दिर, मस्जिद और दुकानें नष्ट कर दी गईं। हिन्दू धार्मिक आन्दोलनों की यह आक्रामक प्रवृत्ति महाराष्ट्र में अधिक दिखाई दी, जिसका नेतृत्व बालगंगाधर तिलक कर रहे थे। यद्यपि स्वयं तिलक साम्प्रदायिकतावादी नहीं थे, किन्तु विदेशी सत्ता के विरुद्ध जनमत तैयार करने के लिये उन्होंने जिन प्रतीकों का प्रयोग किया, उससे हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष में वृद्धि हुई। इसी समय उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों में उर्दू भाषा को लेकर एक विवाद उत्पन्न हो गया। इस प्रान्त के न्यायालयों एवं शासन के निम्न स्तरों पर उर्दू भाषा का प्रयोग लम्बे समय से किया जा रहा था, किन्तु 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उर्दू के बदले हिन्दी को शासन की भाषा के रूप में प्रयोग करने की माँग की जाने लगी। लेकिन मुसलमानों के रुष्ट हो जाने के भय से इस माँग को स्वीकार नहीं किया गया। फिर भी 1900 ई. में प्रान्त के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर एन्थोनी मेक्डोनेल ने बिना किसी पूर्व-मन्त्रणा के हिन्दी को न्यायालयों की वैकल्पिक भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया, जो हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों के लिए घातक सिद्ध हुई।

(5) **ब्रिटिश नौकरशाही की भूमिका**—लॉर्ड कर्जन ने 1905 में बंगाल का विभाजन कर दिया जिसका हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन पर तो प्रभाव पड़ा ही, साथ ही मुस्लिम साम्प्रदायिकता के विकास में भी इसका महान् योगदान रहा। लॉर्ड कर्जन ने पूर्वी बंगाल के मुसलमानों को यह आश्वासन दिया था कि नये सूबे में उनकी वही प्रधानता स्थापित होगी जो कभी मुस्लिम सूबेदारों के युग में थी। लॉर्ड कर्जन व नये प्रान्त के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर फुलर का प्रयास ढाका के नवाब के संरक्षण में एक सरकार-भक्त व विभाजन-समर्थकों का एक वर्ग तैयार करना था।

इसी समय इंगलैण्ड में उदारवादी दल की सरकार में भारत सचिव लॉर्ड मार्ले ने भारत के संवैधानिक सुधारों के सम्बन्ध में घोषणा की। इस घोषणा में उन्होंने भारत के प्रतिनिधि-शासन-प्रणाली के विस्तार का समर्थन किया। 1893 ई. से 1907 ई. के बीच विभिन्न विधान सभाओं में केवल 12 प्रतिशत स्थान मुसलमानों को प्राप्त हुए थे जबकि कुल जनसंख्या के वे 23 प्रतिशत थे। 1904 ई. में किये गये एक सरकारी सर्वेक्षण के अनुसार 75 रुपये या इससे अधिक वेतन पर काम करने वाले हिन्दुओं की संख्या 1427 थी और मुसलमानों की मात्र 213 थी। अतः लॉर्ड मार्ले की घोषणा ने मुसलमानों को अपने भविष्य के प्रति उद्वेलित कर दिया। इस अवसर पर वायसराय के निजी सचिव स्मिथ ने अलीगढ़ कॉलेज के प्रिन्सिपल आर्किबाल्ड को लिखा कि, "यदि आगामी सुधारों के बारे में मुसलमानों का एक प्रतिनिधि मण्डल मुसलमानों के लिए अलग अधिकारों की माँग करे और इसके लिये वायसराय से मिले तो वायसराय को उनसे मिलने में प्रसन्नता होगी।" इस पर आर्किबाल्ड ने अलीगढ़ कॉलेज के सचिव नवाब मोहसिन-उल-मुल्क को इस सम्बन्ध में एक पत्र लिखा। मोहसिन-उल-मुल्क को इस प्रस्ताव में मुसलमानों का हित दिखाई दिया और उन्होंने एक प्रार्थना-पत्र तैयार करके उस पर 4,000 मुसलमानों के हस्ताक्षर करवाये। तत्पश्चात् वे देश के विभन्न भागों के 35 प्रमुख मुसलमानों को साथ लेकर आगाखाँ के नेतृत्व में 1 अक्टूबर, 1906 को वायसराय से मिले। उनके प्रार्थनापत्र में मुख्य रूप से निम्नलिखित माँगें थीं—

(1) मुसलमानों को सरकारी सेवाओं में उचित अनुपात में स्थान मिले।

(2) नौकरियों में प्रतियोगी तत्त्व की समाप्ति हो।

(3) प्रत्येक उच्च न्यायालय और मुख्य न्यायालय में मुसलमानों को भी न्यायाधीश का पद मिले।

(4) नगरपालिकाओं में दोनों समुदायों को अपने-अपने प्रतिनिधि भेजने की वैसी ही सुविधा मिले, जैसी पंजाब के कुछ नगरों में है।

(5) विधान परिषदों के चुनाव के लिए मुख्य मुस्लिम जमींदारों, वकीलों, व्यापारियों, अन्य महत्त्वपूर्ण हितों के प्रतिनिधियों, जिला परिषदों और नगरपालिकाओं के मुसलमान सदस्यों तथा पाँच वर्षों अथवा किसी ऐसी ही अवधि के पुराने मुसलमान स्नातकों के निर्वाचक मण्डल बनाये जायँ।

इस प्रार्थना-पत्र में इस तथ्य पर विशेष जोर दिया गया कि भविष्य में किये जाने वाले किसी संवैधानिक परिवर्तन में न केवल मुसलमानों की संख्या, वरन् उनके राजनैतिक और

ऐतिहासिक महत्त्व को भी ध्यान में रखा जाय। वायसराय लॉर्ड मिण्टो ने अपने उत्तर में मुसलमानों के भूतकाल, सर सैयद अहमदखाँ की सेवाओं और अलीगढ़ आन्दोलन की विशेष चर्चा करते हुए कहा, "मैं यह नहीं जानता कि किन साधनों से समुदायों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सकता है, परन्तु आपकी तरह मेरा भी यह दृढ़ विश्वास है कि यदि इस महाद्वीप की जनता के घटक समुदायों को उनके विश्वासों तथा परम्पराओं को बिना ध्यान में रखे मत देने का अधिकार दिया गया तो भारत में निर्वाचित प्रतिनिधित्व प्रणाली का बहुत दुःखद अन्त होगा। मुस्लिम समुदाय को इस बात से पूर्णतः निश्चित रहना चाहिये कि मेरे द्वारा प्रशासनिक पुनर्गठन का जो कार्य होगा उसमें उनके अधिकार और हित सुरक्षित रहेंगे।" लॉर्ड मिण्टो द्वारा दिया गया यह आश्वासन नए संवैधानिक परिवर्तन का आधार माना गया। 1909 ई. के भारतीय परिषद् अधिनियम के अन्तर्गत ब्रिटिश भारत की प्रत्येक विधान सभा के लिए मुसलमानों को अपने समुदाय पर आधारित चुनाव मण्डलों से अपने प्रतिनिधियों को, अपनी जनसंख्या के अनुपात से कहीं अधिक अनुपात में चुनने का अधिकार मिला।

मुस्लिम-लीग का अस्तित्व में आना—अक्टूबर, 1906 के मुस्लिम शिष्टमण्डल का संगठन, एक राजनैतिक दल के गठन का पूर्वाभिनय था। भारत की राजनीति में इसे सुखद विकास समझा गया और ब्रिटिश नौकरशाही वर्ग में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। उसी दिन शाम को एक ब्रिटिश अधिकारी ने वायसराय की पत्नी मेरी मिण्टो को अपने पत्र में लिखा, "मैं आपको संक्षेप में सूचित करता हूँ कि आज एक बहुत बड़ी बात हुई है। आज राजनीतिज्ञतापूर्ण एक ऐसा कार्य हुआ जिसका प्रभाव भारत तथा उसकी राजनीति पर चिरकाल तक पड़ता रहेगा। छः करोड़ बीस लाख लोगों को हमने विद्रोही पक्ष में सम्मिलित होने से रोक लिया है।" इंगलैण्ड के समाचार-पत्रों ने भी इसे एक बहुत बड़ी विजय बताया और मुसलमानों की बुद्धिमत्ता की प्रशंसा की।

यह प्रथम अवसर था जबकि वायसराय के निमन्त्रण पर भारत के विभिन्न भागों के मुसलमान शिमला में एकत्र हुए थे और जब वे वापिस अपने-अपने घर लौटे तब वे पूरे राजनीतिज्ञ बन चुके थे तथा अलीगढ़ की राजनीति को सारे देश में फैलाने का जिम्मा लेकर लौटे थे। ढाका के नवाब सलीम उल्लाखाँ का औपचारिक प्रस्ताव था कि, "मुस्लिम ऑल इण्डिया कान्फेडरेसी" के नाम से एक राजनीतिक संगठन बनाया जाय और इसके लिए 30 दिसम्बर, 1906 को ढाका में एक सभा अयोजित की गई। नवाब वकार-उल-मुल्क इस सभा के सभापति चुने गये। ठीक उसी दिन अखिल भारतीय मुस्लिम संगठन का जन्म हुआ। नामकरण सम्बन्धी जो पहला प्रस्ताव स्वीकृत हुआ उसमें उसका नाम 'ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग' रखा गया। यह राजनीतिक संगठन का प्रारम्भ मात्र था। लीग के अध्यक्ष नवाब वकार-उल-मुल्क ने अलीगढ़ में विद्यार्थियों की सभा में लीग के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा, "खुदा खैर करे, यदि कहीं ब्रिटिश सरकार का अन्त हुआ तो हिन्दू राज्य करने लगेंगे और हमारा जीवन, सम्पत्ति तथा सम्मान सदा संकट में रहेगा। इसलिए मुसलमानों को ब्रिटिश शासन बनाये रखने में सहायक होना चाहिये। अच्छा यही होगा कि मुसलमान अपने आपको अँग्रेजों की एक ऐसी फौज समझें जो ब्रिटिश राज के लिए अपना खून बहाने और बलिदान करने को तैयार है।" उन्होंने यह भी कहा कि लीग, काँग्रेस

सीधी सरकार के पास आदरपूर्वक रखेगी। उन्होंने विद्यार्थियों का आह्वान किया कि, "आपको ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा करनी चाहिये और जो लोग इस साम्राज्य के शत्रु हैं उनसे आपको लोहा लेना है। यदि आप यह बात ध्यान में रखेंगे और इसके अनुसार आचरण करेंगे तो आप ऐसा काम करेंगे जिससे आपका नाम ब्रिटिश भारत के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखा जायेगा। भावी पीढ़ियाँ आपके प्रति आभार प्रकट करेंगी।"

1907 ई. में लीग का वार्षिक अधिवेशन कराची में हुआ, जिसमें लीग का संविधान स्वीकृत हुआ। इस संविधान में लीग के निम्नलिखित उद्देश्य रखे गये—

(1) ब्रिटिश सरकार के प्रति भारतीय मुसलमानों में निष्ठा की भावना पैदा करना और किसी भी योजना के सम्बन्ध में मुसलमानों के प्रति होने वाली सरकारी कुधारणाओं को दूर करना।

(2) भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक तथा अन्य अधिकारों की रक्षा करना और उनकी आवश्यकताएँ तथा उच्च आकांक्षाओं को संयत भाषा में सरकार के सामने रखना।

(3) जहाँ तक हो सके, उक्त उद्देश्यों को यथासम्भव बिना हानि पहुँचाए मुसलमानों तथा भारत के अन्य सम्प्रदायों में मित्रतापूर्ण भावना उत्पन्न करना।

मुस्लिम लीग के संविधान में स्थायी अध्यक्ष की व्यवस्था की गई और खोजा सम्प्रदाय के धार्मिक नेता आगाखाँ को अध्यक्ष बनाया गया। आगाखाँ के पास पहले से ही इतने काम थे कि उन्हें लीग के अध्यक्ष के नाते कार्यालय का दैनिक कार्य देखने का समय ही नहीं मिल पाता था। इसलिये लीग के हर वार्षिक अधिवेशन में एक कार्यकारी अध्यक्ष चुना जाता था। 1908 ई. में बिहार के सर अली इमाम लीग के कार्यकारी अध्यक्ष हुए। इस अधिवेशन में उन्होंने काँग्रेस की कटु आलोचना की और कहा कि, "जब तक काँग्रेस के नेता इस तरह की व्यावहारिक नीति नहीं अपनाते तब तक आल इण्डिया मुस्लिम लीग को अपना पवित्र कर्त्तव्य निभाना है। वह कर्त्तव्य है मुस्लिम समुदाय को राजनीतिक भूल करने से रोकना अर्थात् ऐसे संगठन में मिलने से रोकना जो लॉर्ड मार्ले के शब्दों में 'चन्द्रमा को पकड़ने के लिए चिल्ला रहा है'।" उसी वर्ष अलीगढ़ के अधिवेशन में चालीस सदस्यों की एक केन्द्रीय समिति की स्थापना की गई। प्रान्तों में भी उसकी शाखाएँ स्थापित की गईं। 1912 ई. के पूर्व, जब बंगाल के विभाजन को रद्द किया गया, लीग अपने अधिवेशनों में जो प्रमुख माँगें रखती थी उनमें पृथक् निर्वाचन प्रणाली को बनाये रखने की माँग, राष्ट्रीय काँग्रेस के स्वदेशी और बहिष्कार के कार्यक्रम का विरोध और बंगाल-विभाजन का समर्थन करना जैसी माँगें शामिल थीं। लीग का नेतृत्व नवाबों और जमींदारों के हाथ में था। किन्तु 1911 ई. के बाद अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रभाव के कारण, जिनमें बाल्कन युद्ध और तुर्की में युवा तुर्क आन्दोलन सम्मिलित थे, भारतीय मुसलमानों में सर्व-इस्लामवाद की विचारधारा की लोकप्रियता बढ़ी, फलस्वरूप ब्रिटिश शासन के प्रति राजभक्ति के दृष्टिकोण में परिवर्तन आने लगा। मुस्लिम समुदाय का एक युवा वर्ग, काँग्रेस के उद्देश्यों के प्रति सहानुभूति रखने लगा। 1913 ई. में मुस्लिम लीग ने अपने संविधान में संशोधन करके अपना उद्देश्य भारत में औपनिवेशिक स्वशासन की माँग करना निश्चित किया।

लखनऊ समझौता और खिलाफत आन्दोलन—1912 ई. के बाद मुस्लिम लीग के दृष्टिकोण में परिवर्तन आने लगा। काँग्रेस भी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मुसलमानों का सहयोग चाहती थी। फलस्वरूप 1916 ई. में काँग्रेस व लीग के मध्य समझौता हो गया, जिसे लखनऊ समझौता कहते हैं। इस समझौते से देश में साम्प्रदायिक एकता स्थापित हुई। तत्पश्चात् प्रथम विश्व युद्ध में तुर्की के विरुद्ध ब्रिटेन ने युद्ध की घोषणा कर दी। भारतीय मुसलमानों को आशंका थी कि यदि तुर्की युद्ध में हार गया तो तुर्की साम्राज्य का विघटन कर दिया जायेगा तथा खलीफा की शक्तियाँ समाप्त करदी जायेंगी। अतः भारतीय मुसलमानों ने खिलाफत आन्दोलन चलाया। गाँधीजी ने मुसलमानों को सरकार से असहयोग का कार्यक्रम अपनाने की अपील की। मुसलमानों ने गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन में सहयोग दिया। फलस्वरूप खिलाफत आन्दोलन और असहयोग आन्दोलन मिलकर एक हो गया। किन्तु जब गाँधीजी ने चौरी-चौरा काण्ड के कारण 1922 ई. में अचानक आन्दोलन स्थगित कर दिया, तब मुसलमानों ने गाँधीजी की कटु आलोचना की और लखनऊ समझौते से स्थापित साम्प्रदायिक एकता पुनः नष्ट हो गई। देश में साम्प्रदायिक दंगे आरम्भ हो गये।

नेहरू रिपोर्ट और मुस्लिम राजनैतिक दृष्टिकोण—ब्रिटिश सरकार ने 1927 ई. में भारत में किये गये संवैधानिक सुधारों की जाँच के लिए एक साइमन कमीशन नियुक्त किया। चूँकि इस कमीशन में सभी सदस्य अँग्रेज थे, इसलिए भारतीयों ने इसका बहिष्कार किया। जिस समय भारतीय साइमन कमीशन का विरोध और बहिष्कार कर रहे थे तब भारत सचिव बर्कन हेड ने भारतीय नेताओं को एक सर्वमान्य संविधान बनाने की चुनौती दी । फरवरी, 1928 और मई, 1928 में सर्वदलीय बैठक बुलाई गई तथा मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई। नेहरू समिति ने जो रिपोर्ट तैयार की उसमें भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना, अल्पसंख्यकों के धार्मिक-सांस्कृतिक हितों की रक्षा के लिए 'अधिकारों की घोषणा', वयस्क मताधिकार आदि बातें सम्मिलित की गईं। दिसम्बर, 1928 में सर्वदलीय बैठक में जिन्ना ने नेहरू कमेटी के प्रस्तावों पर तीन संशोधन रखे, लेकिन वे स्वीकार नहीं किये गये। उधर मुहम्मद शफी के नेतृत्व वाली लीग ने प्रारम्भ से ही नेहरू समिति का बहिष्कार किया। 31 दिसम्बर, 1928 और 1 जनवरी, 1929 को आगाखाँ की अध्यक्षता में दिल्ली में ऑल पार्टीज मुस्लिम कान्फ्रेंस की बैठक बुलाई गई। इसमें नेहरू रिपोर्ट के सभी प्रस्तावों के विरुद्ध प्रस्ताव पारित किये गये। जिन्ना ने इस कान्फ्रेंस में भाग नहीं लिया। किन्तु मार्च, 1929 ई. में मुस्लिम लीग के अधिवेशन में जिन्ना ने नेहरू रिपोर्ट के मुकाबले अपनी चौदह शर्तें रखीं, जिसमें संघीय संविधान, प्रान्तीय स्वायत्तता, पंजाब और बंगाल में मुस्लिम बहुमत की स्थापना, केन्द्रीय विधान सभा और प्रान्तीय विधानमण्डलों में मुसलमानों के लिए एक तिहाई स्थान सुरक्षित करने की माँगें शामिल थीं।

1937 ई. के बाद मुस्लिम-लीग की भूमिका

1937 ई. के बाद भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में मुस्लिम-लीग की भूमिका को अध्ययन की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम 1937 ई. से 1940 ई. तक जिसमें पाकिस्तान की माँग का उद्भव हुआ तथा दूसरा 1940 ई. से 1947 ई. तक, जिसमें मुस्लिम-लीग ने पाकिस्तान प्राप्त करने के लिये जिद्दोजहद की थी।

1937 से 1940 तक लीग की भूमिका—मुस्लिम-लीग एक सुसंगठित राजनैतिक दल नहीं था। इसमें अनेक परस्पर विरोधी गुट बन गये थे। लेकिन 1932 ई. के बाद ब्रिटिश सरकार की नीतियों के प्रभाव के कारण मुसलमानों को संगठित होने में सहायता मिली। ब्रिटिश नीतियों में 1932 ई. का साम्प्रदायिक पंचाट महत्त्वपूर्ण है, जिसके अन्तर्गत मुसलमानों, यूरोपियनों, सिख, भारतीय ईसाइयों और एंग्लो-इण्डियनों को विभिन्न प्रान्तीय विधानसभाओं में अपने समुदाय के प्रतिनिधियों को पृथक् निर्वाचन प्रणाली द्वारा चुनने का अधिकार दिया गया। इतना ही नहीं, हिन्दू जाति व्यवस्था के उस अंग को, जिसे दलित वर्ग कहा जाता था, डॉ. अम्बेडकर के प्रयत्नों के कारण, अपने प्रतिनिधियों को पृथक् निर्वाचन प्रणाली द्वारा चुनने की सुविधा दे दी गई। गाँधीजी ने इस व्यवस्था के विरुद्ध आमरण अनशन किया, तब उनके जीवन की रक्षा के लिये 'पूना समझौते' के द्वारा साम्प्रदायिक पंचाट के आपत्तिजनक भाग को हटाया गया। दिसम्बर, 1932 ई. में ब्रिटिश सरकार ने केन्द्रीय विधान सभा में मुसलमानों के लिए एक-तिहाई स्थान सुरक्षित करने की घोषणा कर दी, जबकि मुसलमान कुल जनसंख्या के एक-चौथाई थे।

1935 ई. के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वायत्तता का मुस्लिम-लीग ने स्वागत किया, परन्तु उसके संघीय भाग का विरोध किया। पंजाब और बंगाल जैसे मुस्लिम बहुल प्रान्तों में मुस्लिम-लीग की कोई साख नहीं थी। पंजाब में धनी जमींदारों की यूनियनिस्ट पार्टी सर्वाधिक शक्तिशाली थी, जिसमें हिन्दू, मुस्लिम और सिक्ख सभी का प्रतिनिधित्व था। 1937 ई. के चुनाव में पंजाब विधानसभा में मुस्लिम लीग को केवल दो स्थान मिले और सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत में मुस्लिम मतों के केवल 4.6 प्रतिशत ही मत मिल पाये। इसी बीच पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपने समाजवादी कार्यक्रम में मुसलमानों से सहयोग करने की अपील की। किन्तु डॉ. इकबाल ने इसे मुसलमानों की सांस्कृतिक एकता को नष्ट करने की योजना बताया। उन्हीं की मध्यस्थता में 'जिन्ना-सिकन्दर समझौता' हुआ, जिसके अनुसार पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी के मुस्लिम सदस्य मुस्लिम-लीग के भी सदस्य बन गये। इसके तुरन्त बाद बंगाल में फजलुल हक के नेतृत्व में और सिन्ध में सादुल्लाखाँ के नेतृत्व में इन विधानसभाओं के मुस्लिम सदस्यों ने मुस्लिम लीग की सदस्यता स्वीकार करली। इस प्रकार मुस्लिम-लीग की प्रमुखता और महत्त्व बढ़ने लगा। इसी दौरान संयुक्त प्रान्त में मन्त्रिमण्डल निर्माण सम्बन्धी विवाद ने मुस्लिम-लीग की लोकप्रियता बढ़ाने में योगदान दिया। 1937 ई. के चुनावों से पूर्व प्रकाशित चुनाव घोषणा-पत्रों में कुछ ऐसे विषय थे, जिन पर लीग और काँग्रेस के दृष्टिकोण में पर्याप्त समानता थी। ऐसी परिस्थितियों में यह एक सर्वमान्य भावना थी कि चुनावों के बाद संयुक्त प्रान्त के मन्त्रिमण्डल में मुस्लिम-लीग के दो सदस्य शामिल किये जायेंगे। जुलाई, 1937 ई. में जब काँग्रेस को मन्त्रिमण्डल बनाने का अवसर मिला तो मौलाना आजाद ने संयुक्त प्रान्त में मुस्लिम लीग के अध्यक्ष खलीकउज्जमा को निम्नलिखित शर्तों पर मन्त्रिमण्डल में शामिल होने का निमन्त्रण दिया—

(1) मुस्लिम-लीग को एक दल के रूप में समाप्त कर दिया जाय तथा उसके सदस्य काँग्रेस में शामिल हो जाएँ।

(2) मुस्लिम-लीग संसदीय दल को भी समाप्त कर दिया जाय।

(3) भविष्य में काँग्रेस द्वारा त्यागपत्र दिये जाने की स्थिति में लीग के सदस्य भी त्यागपत्र दें।

मुस्लिम-लीग द्वारा इन शर्तों को स्वीकार करने का अर्थ मुस्लिम-लीग के अस्तित्व को ही समाप्त करना था। अतः जिन्ना और खलीकउज्जमा ने इन शर्तों को अस्वीकार कर दिया। दोनों पक्षों के बीच अविश्वास की वृद्धि के कारण ऊपरी तौर पर गौण लगने वाले मसले भी अब हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक तनाव को बढ़ाने में सहायक हुए, जैसे—काँग्रेस के झण्डे को फहराना, वन्देमातरम् को राष्ट्रीय गीत के रूप में गाया जाना, उर्दू के स्थान पर हिन्दी का प्रयोग आदि। इससे साम्प्रदायिक वैमनस्य में वृद्धि हुई और यही वैमनस्य राजनैतिक प्रतिस्पर्द्धा में परिवर्तित हो गया। जिन्ना ने इस अवसर का प्रयोग अपने नेतृत्व और मुस्लिम-लीग की लोकप्रियता को बढ़ाने में किया। फलस्वरूप 1927 ई. में मुस्लिम-लीग की सदस्य संख्या जो मात्र 1330 थी, 1938 ई. में एक लाख हो गयी और 1944 ई. में यह संख्या 20 लाख बताई गई थी। जिन्ना मुस्लिम-लीग को भारत के समस्त मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था स्वीकार कराने हेतु दृढ़ संकल्प था, जबकि काँग्रेस उसके इस दावे को स्वीकार करने का अर्थ अपनी राष्ट्रीयता और धर्म-निरपेक्षता के आदर्शों का हनन मानती थी। काँग्रेस के शीर्षस्थ नेता, विशेषकर पण्डित नेहरू, जिन्ना के नेतृत्व और मुस्लिम-लीग के प्रतिनिधिस्वरूप का उपहास करते थे।

सितम्बर, 1939 ई. में द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ होने पर ब्रिटिश सरकार ने भारत को भी युद्ध में सम्मिलित करने की घोषणा करदी। काँग्रेस ने इसकी तीव्र आलोचना की और कहा कि जब तक भारत को एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता, तब तक उसे युद्ध-रत नहीं बनाया जा सकता। 4 सितम्बर, 1939 को वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो ने, भावी युद्ध को ध्यान में रखते हुए, भारतीय संघ की स्थापना के प्रयासों को समाप्त करने की घोषणा करदी। मुस्लिम-लीग, जो संघ की स्थापना में हिन्दू प्रभुत्व की सम्भावना देखती थी, इस घोषणा का स्वागत किया। वस्तुतः युद्ध नीति और भारत के संवैधानिक भविष्य को लेकर काँग्रेस और ब्रिटिश सरकार के बीच जितनी दूरी बढ़ती गई, उतना ही मुस्लिम-लीग और सरकार नजदीक आती गई। लीग ने सम्पूर्ण संविधान पर पुनर्विचार करने की माँग की, क्योंकि उसका आरोप था कि प्रान्तीय स्वायत्तता ने हिन्दू आधिपत्य की उनकी आशंका को सत्य सिद्ध कर दिया है। मुस्लिम-लीग ने काँग्रेस शासित प्रान्तों में मुसलमानों पर अत्याचार का भी आरोप लगाया और जब काँग्रेस के प्रमुख नेताओं ने जिन्ना को काँग्रेस मन्त्रिमण्डलों द्वारा की गई तथाकथित ज्यादतियों के सम्बन्ध में बातचीत करने को आमन्त्रित किया, तो जिन्ना ने बातचीत करने से इन्कार कर दिया। 17 अक्टूबर, 1939 को वायसराय ने एक वक्तव्य दिया जिसमें युद्ध के बाद भारत को डोमिनियन स्टेट्स का दर्जा देने का आश्वासन दिया। काँग्रेस ने इस घोषणा को अपर्याप्त बताया तथा इस नीति के विरोध में काँग्रेस कार्यकारिणी ने प्रान्तों के काँग्रेस मन्त्रिमण्डलों को त्यागपत्र देने का निर्देश दे दिया। मुस्लिम लीग ने काँग्रेस मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र का, 22 दिसम्बर, 1939 को 'मुक्ति दिवस' के रूप में आयोजन करके, स्वागत किया।

भारत का राजनैतिक भविष्य अनिश्चितता की ओर बढ़ता जा रहा था। ऐसी स्थिति में नवम्बर, 1939 ई. में वायसराय ने जिन्ना, गाँधीजी और राजेन्द्र प्रसाद से आपस में विचार-विमर्श कर केन्द्रीय और प्रान्तीय प्रशासन में सहयोग देने के सम्बन्ध में प्रस्ताव माँगा। जिन्ना ने हर प्रान्त

में संयुक्त मन्त्रिमण्डल की स्थापना का प्रस्ताव रखा, जिसमें मुस्लिम मन्त्रियों को अपनी विधानसभा के मुस्लिम सदस्यों का विश्वास प्राप्त हो। किन्तु काँग्रेस ने संयुक्त मन्त्रिमण्डल का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। स्वयं जिन्ना ने वायसराय से भेंट करके, संयुक्त मन्त्रिमण्डल की स्थापना, दो तिहाई मुस्लिम सदस्यों द्वारा विरोध किये जाने पर विधानसभा में उस विधेयक को रद्द समझना, काँग्रेस झण्डों का सार्वजनिक भवनों पर न फहराया जाना और वन्देमातरम् को राष्ट्रीय गीत के रूप में मान्यता न देने के आश्वासन पर काँग्रेस से सहयोग करने की बात कही किन्तु इस बार वायसराय ने जिन्ना के प्रस्ताव में कोई रुचि नहीं दिखाई, क्योंकि वह ऐसे किसी प्रस्ताव को प्रोत्साहन देने के पक्ष में नहीं था जिससे काँग्रेस और लीग की दूरी घटती हो।

काँग्रेस-मुस्लिम-लीग सहयोग के अभाव तथा सरकार की काँग्रेस के प्रति शत्रुतापूर्ण नीति ने उन परिस्थितियों को जन्म दिया जिनमें साम्प्रदायिकता के आधार पर इस उपमहाद्वीप के विभाजन के अनेक प्रस्ताव सार्वजनिक बहस के विषय बन गये। सर्वप्रथम मुहम्मद इकबाल ने पश्चिमोत्तर भारत के मुस्लिम बहुल राज्यों को भारत के संघ राज्य की एक इकाई के रूप में स्थापित करने की बात कही थी। तत्पश्चात् केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के चौ. रहमत अली ने उत्तर-पश्चिम के मुस्लिम बहुल प्रान्तों को मिलाकर एक स्वतन्त्र संघ राज्य की स्थापना करने की बात कही थी। किन्तु वर्तमान शताब्दी के तीसरे दशक में रहमत अली के विचारों को तात्कालिक परिस्थितियों में अपरिपक्व मस्तिष्क की उपज माना गया। सन् 1939-40 ई. के काल में दो और महत्त्वपूर्ण योजनाएँ प्रकाश में आईं। पहली योजना के जनक सर मुहम्मदशाह थे, जिनकी योजना का शीर्षक था—'कॉनफेडेरेसी ऑफ इण्डिया'। इस योजना में सम्पूर्ण भारत को क्षेत्रीय आधार पर पाँच क्षेत्रों में बाँटा गया था। ये क्षेत्र थे—उत्तर-पश्चिम में सिन्ध क्षेत्र, राजपूताना में राजस्थान क्षेत्र, दक्षिण में दक्षिण राज्यों का क्षेत्र और बंगाल में मुस्लिम-बहुल क्षेत्र जिसमें आसाम भी सम्मिलित था। इस योजना में न तो विभाजन की बात कही गई और न जनसंख्या के हस्तान्तरण की। इस योजना से प्रेरित होकर पंजाब की यूनियनिस्ट पार्टी के नेता सर सिकन्दर हयातखाँ ने भारतीय संघ से सम्बन्धित एक योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की। इसके अन्तर्गत भारत की सात भौगोलिक क्षेत्रों, भारतीय रियासतों और ब्रिटिश प्रान्तों की सीमाओं को बिना खण्डित किये, विभाजित किया जाना था। प्रत्येक भौगोलिक क्षेत्र को अधिकतम स्वायत्तता प्रदान की गई थी तथा केन्द्रीय सरकार को बहुत ही सीमित अधिकार दिये गये थे। वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो, काँग्रेस की संविधान सभा की माँग के विकल्प के रूप में मुस्लिम-लीग के नेताओं को पृथकतावादी प्रस्ताव प्रस्तावित करने के लिये प्रेरित कर रहा था।

6 फरवरी, 1940 ई. को जिन्ना और वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो के मध्य एक मुलाकात हुई। इस मुलाकात में लिनलिथगो ने अब तक की लीग की नीति को 'नकारात्मक' नीति बताया और जिन्ना से कोई व्यावहारिक योजना प्रस्तुत करने को कहा ताकि इंगलैण्ड और अमेरिका में लीग की नीति स्पष्ट हो सके। जिन्ना ने 25 फरवरी, 1940 ई. को लीग की कौंसिल की बैठक में घोषणा की कि मुसलमान अँग्रेज़ों और काँग्रेस किसी के शासन के अधीन नहीं रहना चाहते और वे स्वतन्त्र होना चाहते हैं। 22 मार्च, 1940 ई. को लाहौर में लीग का वार्षिक अधिवेशन हुआ,

जिसमें जिन्ना ने कहा कि प्रान्तीय स्वायत्तता ने यह सिद्ध कर दिया है कि भविष्य में भी मुसलमानों को हिन्दू बहुमत के अधीन शासित होना पड़ेगा। उन्होंने यह भी घोषणा की कि मुसलमान किसी भी दृष्टिकोण से अल्प-संख्यक नहीं है वरन् एक राष्ट्र है, और राष्ट्र के लिये 'एक भौगोलिक क्षेत्र, राज्य और स्वदेश' आवश्यक है। जिन्ना ने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि, "हिन्दू और मुसलमान दो विभिन्न ऐतिहासिक स्रोतों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। इनके महाकाव्य भिन्न हैं, वीर नायक भिन्न हैं और उपाख्यान भिन्न हैं। ऐसा भी है कि एक का नायक दूसरे का शत्रु है और एक की विजय दूसरे की पराजय है। ऐसे दो राष्ट्रों को एक ही राज्य में जोतना जबकि इनमें से एक अल्पसंख्यक और दूसरा बहुसंख्यक है, असन्तोष को बढ़ावा देना है और इस आधार पर जो भी भावी प्रशासनिक ढाँचा खड़ा किया जायेगा वह कुछ ही दिन बाद ढह जायेगा।" जिन्ना के इस विश्लेषण पर लीग ने अपना प्रसिद्ध 'पाकिस्तान प्रस्ताव' पारित किया, जिसका मुख्य आधार यह था कि भारत के लिए कोई संविधान मुसलमानों को उस समय तक स्वीकार्य नहीं होगा, जिसमें भारत के पूर्व और पश्चिम के मुस्लिम बहुल क्षेत्रों को एक स्वतन्त्र और सार्वभौम राज्य के रूप में स्वीकार न किया गया हो। इन मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों में अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा के लिये प्रभावशाली संवैधानिक सुरक्षा की व्यवस्था का आश्वासन दिया गया था, जिनसे उनके धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं प्रशासनिक अधिकार सुरक्षित रहें।

परन्तु पाकिस्तान सम्बन्धी प्रस्ताव तथा लीग की अन्य योजनाओं में एक कमी यह थी कि सिन्ध, सीमा-प्रान्त, पंजाब और बंगाल के अधिकतर मुसलमान देश का विभाजन नहीं चाहते थे। सीमा-प्रान्त में काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल था और सिन्ध में भी काँग्रेस समर्थित मन्त्रिमण्डल था। यद्यपि बंगाल के मुख्यमन्त्री फजल-उल-हक ने ही विभाजन सम्बन्धी प्रस्ताव प्रस्तुत किया था, लेकिन 1941 का वर्ष बीतते-बीतते वे लीग की निन्दा करने लगे तथा विभाजन-प्रस्ताव की नई व्याख्या करते हुए कहा कि यह बंगाल पर लागू नहीं हो सकता। पंजाब में सिकन्दर हयातखाँ के उत्तराधिकारी मलिक खिज्र हयातखाँ ने जिन्ना का आदेश मानने से इनकार कर दिया। जिन्ना और उसके साथियों के लिये यह स्थिति अत्यन्त ही निराशाजनक थी और इसे आशामय रूप देना अत्यन्त ही कठिन काम था। फिर भी अगले सात वर्षों में मुस्लिम-लीग की रणनीति पाकिस्तान प्राप्त करने के लिए निर्देशित की गई। युद्ध काल में तथा उसके बाद ब्रिटिश नीति पाकिस्तान की माँग की भावना को स्वीकार करने की होती गई।

1940 ई. से 1947 ई. तक लीग की भूमिका—फरवरी-मार्च, 1942 ई. में दक्षिण एशिया में मित्रराष्ट्रों की युद्ध में स्थिति नाजुक हो गयी। ऐसी नाजुक परिस्थितियों में भारतीयों के सहयोग की आवश्यकता थी। अतः भारतीय समस्या के समाधान के लिए मार्च, 1942 ई. में ब्रिटिश सरकार ने अपने प्रस्तावों के साथ सर स्टेफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा। क्रिप्स प्रस्ताव दो भागों में थे—एक तो दूरगामी प्रस्ताव जो युद्ध के बाद लागू किये जाने थे और दूसरे तात्कालिक प्रस्ताव जो तुरन्त लागू किये जाने थे। दूरगामी प्रस्ताव में एक संविधान निर्मात्री सभा का गठन करने तथा उसके द्वारा भारतीय संघ का संविधान बनाने का प्रावधान था। मुस्लिम-लीग को सन्तुष्ट

करने के लिए इन प्रस्तावों में यह कहा गया कि यदि कोई प्रान्त भारतीय संघ में सम्मिलित नहीं होना चाहेगा तो ऐसे प्रान्त को अपना पृथक् संघ और संविधान बनाने का अधिकार होगा। तात्कालिक प्रस्ताव में वायसराय की कार्यकारिणी में युद्ध मन्त्री के अधिकारों से सम्बन्धित विषय थे। काँग्रेस ने क्रिप्स प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उसमें उत्तरदायी शासन स्थापित करने वाली कोई बात नहीं थी। यद्यपि क्रिप्स प्रस्ताव में अप्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान की माँग स्वीकार करली गई थी, तथापि लीग ने भी क्रिप्स प्रस्तावों को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि इसमें पाकिस्तान-निर्माण के सम्बन्ध में स्पष्ट स्वीकृति नहीं थी। यद्यपि काँग्रेस एक सशक्त राष्ट्र के अस्तित्व में विश्वास रखती थी, तथापि काँग्रेस नेतृत्व का एक वर्ग जिसमें राजगोपालाचारी प्रमुख थे, पाकिस्तान की माँग की वास्तविकता को स्वीकार करता जा रहा था। राजगोपालाचारी का प्रस्ताव था कि, "भारत की भौगोलिक अखण्डता अब एक विवादास्पद विषय बन गई है और यदि संविधान निर्माण के समय मुस्लिम लीग अपने पृथकतावादी निश्चय पर डटी रहे तो काँग्रेस को उसे अपेक्षाकृत कम अवगुणों वाला विकल्प मानकर स्वीकार कर लेना चाहिये।" किन्तु भारतीय काँग्रेस कमेटी ने 29 अप्रैल, 1940 ई. को उनका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया तथा जो प्रस्ताव स्वीकार किया गया उसमें कहा गया कि, "किसी भी भौगोलिक क्षेत्र को भारतीय संघ से अलग हो जाने की स्वतन्त्रता देना देश के लिए अहितकर होगा।" इस प्रकार मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की माँग को खुली चुनौती दी गई।

क्रिप्स प्रस्तावों की असफलता के बाद 8 अगस्त, 1942 को काँग्रेस ने जन-आन्दोलन चलाने का निश्चय किया, जिसने शीघ्र ही विद्रोह का रूप धारण कर लिया। लीग ने पुनः आन्दोलन की भर्त्सना की। 20 अगस्त, को बम्बई में लीग की कार्यकारिणी की बैठक हुई जिसमें पारित एक प्रस्ताव में कहा गया—"कार्यकारिणी का यह निश्चित मत है कि काँग्रेस के इस आन्दोलन का उद्देश्य ब्रिटिश सरकार को परेशान करना है जिससे वह हिन्दू कुलीनतन्त्र को शासन भार सौंप दे और इस प्रकार वह मुसलमानों तथा अन्य भारतीय अल्पसंख्यक समुदायों को समय-समय पर दिये गये वचनों तथा नैतिक उत्तरदायित्वों को पूरा न कर सके, और साथ ही मुसलमानों को भी काँग्रेस की शर्तों पर तथा आज्ञाओं के आगे झुकने के लिये विवश कर दे।" जिन्ना ने मुसलमानों को इस आन्दोलन से पूर्णतः पृथक् रहने की सलाह दी। काँग्रेस के इस आन्दोलन में काँग्रेस के सभी शीर्षस्थ नेता जेल में डाल दिये गये। इससे जिन्ना को, मुस्लिम-लीग को और भी सशक्त बनाने में मदद मिली। हर प्रान्त में लीग को सुसंगठित किया गया। केन्द्रीय और प्रान्तीय स्तरों के लीगी नेताओं द्वारा छोटे शहरों व कस्बों में पाकिस्तान का सन्देश पहुँचाने के लिये नियमित दौरे किये गये। मुस्लिम लीग के आदर्शों व कार्यक्रम को प्रचारित करने के लिए अँग्रेजी भाषा के साप्ताहिक 'डान' को जिन्ना के व्यक्तिगत प्रयासों से, दैनिक में परिवर्तित कर दिया गया। इस बीच राजनैतिक घटना-चक्र बहुत तेजी से घूम रहा था। अक्टूबर, 1943 में लॉर्ड वेवल भारत के नये गर्वनर-जनरल एवं वायसराय नियुक्त होकर भारत आये। लॉर्ड वेवल ने 6 मई, 1944 ई. को गाँधीजी को, बीमारी के कारण, कारागार से मुक्त कर दिया। जेल से मुक्त होने के बाद

गाँधीजी ने साम्प्रदायिक समस्या के समाधान हेतु जिन्ना से बातचीत करना आवश्यक समझा ताकि इस समस्या का कोई समाधान निकल आये। गाँधीजी ने राजगोपालाचारी योजना के आधार पर जिन्ना से बातचीत की। इस योजना की मुख्य बात यह थी कि युद्ध के बाद भारत के उत्तर-पूर्व तथा उत्तर-पश्चिम में मुस्लिम बहुमत वाले प्रदेशों की सीमा निर्धारित करने के लिए एक आयोग नियुक्त किया जायेगा। इन प्रदेशों में किसी व्यावहारिक मताधिकार के आधार पर यह तय करने के लिये जनमत लिया जायेगा कि ये प्रदेश भारत से अलग होना चाहते हैं या नहीं। यदि मुस्लिम बहुमत वाले क्षेत्र भारत से अलग होने का निर्णय करते हैं तो उनका राज्य अलग बन जायेगा और दोनों राज्यों के बीच प्रतिरक्षा, संचार और आवागमन के साधनों के सम्बन्ध में एक सन्धि होगी। इस फार्मूले के आधार पर सितम्बर, 1944 में गाँधीजी व जिन्ना के बीच वार्ता आरम्भ हुई। जिन्ना ने मुख्य रूप से तीन कारणों से इस फार्मूले को अस्वीकार कर दिया। प्रथम, इस फार्मूले द्वारा मुसलमानों को 'अपूर्ण, अंगहीन तथा दीमक लगा हुआ' पाकिस्तान दिया गया है, क्योंकि वह तो सम्पूर्ण बंगाल, आसाम, सिन्ध, पंजाब, उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त और बलूचिस्तान चाहता था। दूसरा, इसमें जनमत संग्रह में गैर-मुसलमानों को भी भाग लेने की अनुमति दी गई है, जबकि जिन्ना का कहना था कि पाकिस्तान केवल मुसलमानों की आवश्यकता है और मुसलमानों की एकमात्र प्रवक्ता मुस्लिम लीग है। तीसरा, इसमें प्रतिरक्षा, संचार और आवागमन के साधनों के सम्बन्ध में संयुक्त व्यवस्था का प्रस्ताव था, जिसे जिन्ना मानने को तैयार नहीं था। इस वार्ता के असफल होने से जिन्ना को अत्यधिक लाभ हुआ। एक ओर तो अब देश का विभाजन अधिक चर्चा का विषय बन गया और दूसरी ओर जिन्ना का अखिल भारतीय महत्त्व बढ़ गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद 14 जून, 1945 ई. को लॉर्ड वेवल ने भारतीय गतिरोध को दूर करने के लिए एक योजना प्रकाशित की जिसमें कहा गया कि गवर्नर-जनरल अपनी कार्यकारिणी परिषद् का पुनर्गठन करेगा, जिसमें गवर्नर-जनरल और प्रधान सेनापति को छोड़कर सभी सदस्य भारतीय होंगे। इस परिषद् में मुसलमानों व सवर्ण हिन्दुओं की संख्या बराबर होगी। यह परिषद् लगभग अस्थायी सरकार की भाँति होगी। प्रतिरक्षा, सीमान्त और कबाइली मामलों को छोड़कर सभी मामले भारतीयों के पास रहेंगे। इस योजना पर बातचीत करने के लिए वेवल ने साम्प्रदायिक हितों से जुड़े प्रतिनिधियों का शिमला में एक सम्मेलन आयोजित किया। काँग्रेस ने यह योजना स्वीकार करली, किन्तु जिन्ना ने यह दावा प्रस्तुत किया कि कार्यकारिणी परिषद् में समस्त मुस्लिम सदस्यों को मनोनीत करने का एकमात्र अधिकार मुस्लिम लीग को ही है। इस आधार पर काँग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद परिषद् के सदस्य नहीं हो सकते थे। अतः काँग्रेस जिन्ना के इस दावे को स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। जिन्ना ने तो काँग्रेस द्वारा प्रस्तुत दलित वर्ग के सदस्यों के नाम पर भी आपत्ति की। इस प्रकार जिन्ना और मुस्लिम-लीग की हठधर्मी के कारण शिमला सम्मेलन असफल हो गया।

जुलाई, 1945 ई. में इंगलैण्ड में चुनाव हुए। इंगलैण्ड के मजदूर दल ने अपने चुनाव-घोषणा-पत्र में आश्वासन दिया कि यदि मजदूर दल सत्ता में आया तो भारत को स्वाधीनता दे दी

जायेगी। चुनावों में मजदूर दल को भारी बहुमत मिला तथा जुलाई,1945 ई. में मजदूर दल की सरकार बनी। चर्चिल के स्थान पर एटली प्रधानमन्त्री बने तथा एमरी के स्थान पर लॉर्ड पैथिक लॉरेन्स भारत सचिव बने। भारत में लॉर्ड वेवल ने घोषणा की कि युद्ध के कारण जो चुनाव स्थगित हो गये थे वे दिसम्बर,1945 में होंगे। ब्रिटिश सरकार शीघ्र ही स्वशासन स्थापित करने हेतु भारत में संविधान सभा बुलाना चाहती है तथा चुनावों के बाद प्रान्तों में पुनः उत्तरदायी सरकार स्थापित कर दी जायेगी। दिसम्बर, 1945 के चुनावों में काँग्रेस को सामान्य स्थानों पर तथा मुस्लिम लीग को मुसलमानों के लिए आरक्षित स्थानों पर सफलता मिली। इन चुनाव परिणामों से यह स्पष्ट हो गया कि काँग्रेस का मुसलमानों में कोई विशेष प्रभाव नहीं है और मुसलमानों का वास्तविक प्रतिनिधित्व मुस्लिम-लीग ही कर रही है। प्रान्तों में 11 प्रान्तों में से 7 प्रान्तों में काँग्रेस के मन्त्रिमण्डल बने,उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में खुदाई खिदमतगारों का मन्त्रिमण्डल बना जिनका नेता खान अब्दुल गफ्फारखाँ काँग्रेसी था। पंजाब में काँग्रेस तथा अकाली दल की मिलीजुली सरकार बनी। बंगाल व सिन्ध में मुस्लिम लीग की सरकारें बनीं। इसके अतिरिक्त आजाद हिन्द फौज के सैनिक अधिकारियों पर चलाये गये मुकदमों में काँग्रेस की भूमिका तथा भारतीय नौ-सेना और वायु-सेना के विद्रोह का समर्थन करने से काँग्रेस इस काल में अत्यधिक लोकप्रिय हुई। इससे मुस्लिम-लीग का उत्तेजित होना स्वाभाविक था। इस उत्तेजित वातावरण में 15 मार्च,1946 को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एटली ने ब्रिटिश संसद में एक ऐतिहासिक घोषणा की। इस घोषणा में भारतीयों के आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार किया गया। घोषणा में यह भी कहा गया कि यद्यपि ब्रिटिश सरकार अल्प-संख्यकों के हितों के बारे में बहुत चिन्तित है, किन्तु किसी भी अल्पसंख्यक वर्ग को बहुमत की प्रगति रोकने के लिए निषेधाधिकार नहीं दिया जा सकता। यह भी घोषणा की गई कि ब्रिटिश सरकार भारतीय गतिरोध को हल करने के लिए एक मन्त्रिमण्डल मिशन भेज रही है। 24 मार्च,1946 ई. को मन्त्रिमण्डल मिशन भारत आया। इस मिशन में सर स्टेफर्ड क्रिप्स, सर ए.वी. अलेक्जेण्डर और भारत सचिव लॉर्ड पैथिक लॉरेन्स सदस्य थे। इस मिशन ने तीन महीने भारत में रहकर भारतीय नेताओं से विचार-विमर्श किया।

प्रारम्भिक बातचीत में मिशन के सदस्यों ने जिन्ना को यह बता दिया कि उनके द्वारा प्रस्तावित पाकिस्तान में पंजाब के हिन्दू बहुल क्षेत्र, बंगाल के कलकत्ता सहित विशाल भू-भाग व सिलहट को छोड़कर सम्पूर्ण आसाम के भौगोलिक क्षेत्रों को शामिल करना न्यायोचित नहीं होगा, इसलिए केवल आंशिक पाकिस्तान का निर्माण ही सम्भव होगा, लेकिन इस प्रकार की राजनैतिक इकाई सम्भवतः अपनी आत्म-रक्षा करने में भी असफल हो सकती थी। अतः 16 मई, 1946 को मिशन ने अपने एक वक्तव्य में अपनी एक योजना की घोषणा कर दी। इस योजना में भारत के लिए एक संघीय शासन-व्यवस्था की बात कही गई, जिसमें ब्रिटिश भारत के सभी प्रान्त तथा भारत की देशी रियासतें सम्मिलित होंगी। संघीय सरकार के पास केवल वैदेशिक मामले, प्रतिरक्षा तथा संचार साधनों का दायित्व रखा गया। केन्द्र को अपने विषयों से सम्बन्धित प्रशासनिक कार्यों के लिए साधन जुटाने का भी अधिकार दिया गया। मिशन ने भारत का संविधान बनाने के लिए एक संविधान सभा का गठन करने का भी प्रस्ताव किया, जिसमें कुल 389 सदस्यों

में से 210 गैर-मुस्लिम और 78 मुस्लिम सदस्य रखे गये। मुस्लिम-लीग द्वारा प्रचारित हिन्दू बहुमत के भय को दूर करने के लिए ब्रिटिश प्रान्तों को तीन भागों में विभाजित किया गया। खण्ड 'ए' में हिन्दू बहुल प्रान्त—मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रान्त, बिहार, मध्य प्रान्त और उड़ीसा थे। खण्ड 'बी' में पंजाब, सिन्ध, बलूचिस्तान, उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त शामिल किये गये तथा खण्ड 'सी' में बंगाल और आसाम रखे गये। इन तीनों प्रान्तीय खण्डों को अपना अलग संविधान बनाने का अधिकार दिया गया। मन्त्रिमण्डल मिशन योजना का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंश अन्तरिम सरकार की स्थापना था, जिसके अनुसार वायसराय को छोड़कर सम्पूर्ण केन्द्रीय सरकार का भार भारतीयों को सौंप देना था। इस अन्तरिम सरकार में 14 सदस्य रखे गये, जिसमें 5 काँग्रेस के सवर्ण हिन्दू सदस्य, 5 मुस्लिम लीग के सदस्य, 1 दलित वर्ग का सदस्य और 3 अन्य अल्पसंख्यकों के सदस्य सम्मिलित होने थे।

गाँधीजी ने अन्तरिम सरकार में एक राष्ट्रवादी मुसलमान की नियुक्ति पर जोर दिया, किन्तु जिन्ना मुस्लिम हितों की रक्षा का अधिकार केवल मुस्लिम-लीग द्वारा नियुक्त मन्त्रियों के द्वारा ही सम्भव समझते थे और विशेषकर काँग्रेस के द्वारा अबुल कलाम आजाद को मन्त्री बनाने की माँग के वे तीव्र विरोधी थे। ऐसी परिस्थितियों में काँग्रेस ने मन्त्रिमण्डल मिशन योजना के संविधान-निर्माण सम्बन्धी प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, किन्तु अन्तरिम सरकार के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। लीग ने सम्पूर्ण योजना को स्वीकार कर लिया और वह अन्तरिम सरकार में जाने को इच्छुक थी। ब्रिटिश सरकार को मात्र लीग को अन्तरिम सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करना तर्कसंगत प्रतीत नहीं हुआ, जिससे लीग के सदस्य क्रुद्ध हो उठे। जुलाई, 1946 ई. में योजनानुसार संविधान सभा के चुनाव हुए, जिसमें काँग्रेस को भारी सफलता मिली। 10 जुलाई को पण्डित नेहरू ने बम्बई में एक वक्तव्य दिया कि काँग्रेस संविधान सभा में भाग लेने के लिए सहमत है और मन्त्रिमण्डल मिशन योजना को संशोधित करने के लिए अपने आपको स्वतन्त्र समझती है। पण्डित नेहरू का यह वक्तव्य गलत था, क्योंकि जिन्ना ने अपने लाभ के लिए इसका खूब प्रयोग किया। 29 जुलाई, 1946 को मुस्लिम-लीग ने मन्त्रिमण्डल मिशन योजना को अस्वीकार कर दिया। जिन्ना ने कहा कि मुस्लिम-लीग ने पाकिस्तान की माँग को त्यागकर भारी कुर्बानी की थी। अब उसने पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए सीधी कार्यवाही की धमकी दी। मुस्लिम-लीग द्वारा योजना अस्वीकार करने पर काँग्रेस ने अन्तरिम सरकार में भाग लेने की स्वीकृति दे दी। इस पर 12 अगस्त, 1946 को गवर्नर-जनरल ने पण्डित नेहरू को अन्तरिम सरकार बनाने का निमन्त्रण भेज दिया।

मुस्लिम-लीग ने ब्रिटिश सरकार और मन्त्रिमण्डल मिशन के तथाकथित पक्षपातपूर्ण रवैये के प्रति रोष प्रकट करने के लिए 16 अगस्त, 1946 को 'प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस' मनाने का निश्चय किया। प्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा लीग ने पाकिस्तान प्राप्त करने के लिए सड़कों पर विरोध का मार्ग अपनाया। मुस्लिम लीग के कार्यक्रम के अनुसार 16 अगस्त, 1946 को सारे भारत में विरोध सभाएँ करना था, किन्तु इसका दुर्भाग्यपूर्ण रूप कलकत्ता में दिखाई दिया। बंगाल में

मुस्लिम-लीग की सरकार थी और सुहरावर्दी वहाँ के मुख्यमन्त्री थे। सुहरावर्दी ने 16 अगस्त का सार्वजनिक अवकाश घोषित कर दिया, इसलिए समाज के एक बहुत बड़े वर्ग के पास उस दिन के लिए कोई काम नहीं था। परिणामस्वरूप मुस्लिम-लीग के स्वयंसेवकों की भीड़ सड़कों पर उतर आई और जब उन्होंने दुकानें बन्द करवाने का प्रयास किया तो उसका विरोध हुआ और इस विरोध ने साम्प्रदायिक हिंसा का रूप धारण कर लिया। कलकत्ता में भीषण हत्याकाण्ड हुआ और इस हत्याकाण्ड में लगभग चार हजार व्यक्ति मारे गये। ये साम्प्रदायिक दंगे पूर्वी बंगाल के नोआखली जिले और पड़ौस के त्रिपुरा जिले में भी फैल गये, जिसमें लगभग दो सौ व्यक्ति मारे गये। नोआखली में बड़ी संख्या में हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का प्रयास किया गया तथा महिलाओं के साथ बड़ा अभद्र व्यवहार किया गया। बिहार में मुसलमान इन दंगों के शिकार हुए। सरकारी सूत्रों के अनुसार यहाँ लगभग 4,300 मुसलमान मारे गये। संयुक्त प्रान्त में भी 250 मुसलमान मारे गये और पंजाब में मुसलमानों व सिक्खों के मरने वालों की संख्या 3,000 तक पहुँच गई। सर्वाधिक हानि तो सिक्खों को उठानी पड़ी।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने 2 सितम्बर, 1946 को अन्तरिम सरकार का गठन कर लिया। सत्ता का सारा लाभ काँग्रेस को न मिल जाय, इस आशंका से मुस्लिम-लीग ने अपने पूर्व निर्णय के विरुद्ध 13 सितम्बर को अन्तरिम सरकार में शामिल होना स्वीकार कर लिया, लेकिन लीग ने संविधान सभा का बहिष्कार किया। अतः संविधान सभा का कार्य मुस्लिम-लीग की अनुपस्थिति में भी चलता रहा। इधर दिसम्बर के मध्य तक ब्रिटिश सरकार ने लॉर्ड वेवल को भारत से वापिस बुलाने का निर्णय ले लिया। 20 फरवरी, 1947 को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एटली ने ब्रिटिश संसद में घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार का यह निश्चित मत है कि 30 जून, 1948 तक भारतीयों को सत्ता हस्तान्तरित कर दी जाय। लॉर्ड वेवल को 'युद्ध काल' की नियुक्ति बताते हुए उसे वापिस बुला लिया और ब्रिटिश राज के अन्तिम गवर्नर-जनरल वाई काउण्ट माउण्टबेटन को भारत भेजा। 22 मार्च, 1947 को माउण्टबेटन भारत पहुँच गये। लॉर्ड माउण्टबेटन ने भारत आने पर अनुभव किया कि काँग्रेस और मुस्लिम-लीग में समझौता असम्भव है। माउण्टबेटन की दृष्टि में भारत की स्थिति अत्यन्त निराशाजनक स्थिति में पहुँच गई थी, क्योंकि शासन का मनोबल गिरा हुआ था, सिविल सेवाओं और सेना में स्वामिभक्ति का अभाव था, मुस्लिम-लीग ने पाकिस्तान प्राप्त करने के लिए देश में जबरदस्त मार-काट मचा रखी थी और काँग्रेस, लीग की नीतियों का तीव्र विरोध कर रही थी। इन परिस्थितियों में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की 30 जून, 1948 ई. तक सत्ता हस्तान्तरित करने की घोषणा विनाशकारी सिद्ध हो सकती थी।

अतः 3 जून, 1947 को सत्ता हस्तान्तरित करने की नई योजना प्रकाशित की गई जिसे 'माउण्टबेटन योजना' कहा जाता है। इस योजना के अनुसार ब्रिटिश भारत को दो स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित किया जाना था, जो प्रत्येक दृष्टि में ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के देशों के समान होंगे। राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के लिए नव स्वतन्त्र राष्ट्रों को निर्णय करना था। इस योजना के अनुसार पंजाब और बंगाल की विधानसभाओं के हिन्दू और मुस्लिम प्रतिनिधियों को अपनी अलग-अलग

बैठकों में यह निश्चय करना था कि वे विभाजन चाहते हैं या नहीं। यदि वे विभाजन के पक्ष में निर्णय देते हैं तब एक सीमा-आयोग को नियुक्त करना था जो इन प्रान्तों के विभाजन का सीमांकन करेगा। पंजाब और बंगाल के मुस्लिम बहुल क्षेत्रों ने पाकिस्तान के पक्ष में निर्णय लिया तथा हिन्दू बहुल क्षेत्रों के विधानसभा के सदस्यों ने भारत में ही रहने का निश्चय किया। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त और आसाम के सिलहट जिले में जनमत संग्रह कराया गया। इस जनमत संग्रह में वहाँ पर पाकिस्तान में जाने के पक्ष में मतदान किया। पंजाब और बंगाल के जिलों के विभाजन तथा सीमा-निर्धारण का कार्य एक आयोग को सौंप दिया गया, जिसकी अध्यक्षता रेडक्लिफ ने की। माउण्टबेटन योजना को कार्यान्वित करने के लिए ब्रिटिश संसद ने 16 जुलाई, 1947 को 'भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम' पारित कर दिया, जिसके अनुसार 15 अगस्त, 1947 को भारत और पाकिस्तान नामक दो अधिराज्य बना दिये जायेंगे और ब्रिटिश सरकार उन्हें सत्ता सौंप देगी। इस अधिनियम के अनुसार भारत का बँटवारा कर दिया गया और 15 अगस्त, 1947 को दोनों को स्वतन्त्रता दे दी गई।

किन्तु नये राज्यों के जन्म की प्रसव वेदनाएँ हृदय विदारक थीं। काँग्रेसी नेताओं ने पाकिस्तान में रहने वाले हिन्दुओं से कहा कि वे वहीं रहें, उनकी कुछ भी हानि नहीं होगी, किन्तु मुस्लिम लीग के नेता हिन्दुओं के विरुद्ध घृणा का अभियान चलाने के लिए एकत्र हुए। मुसलमान अपने मन में यह बात तय कर चुके थे कि पाकिस्तान की पाक भूमि से हिन्दुओं का सफाया करेंगे। फलस्वरूप 15 अगस्त से पहले एक देश से दूसरे देश में लाखों की संख्या में लोग जाने लगे। दोनों ओर हिंसा का नग्न ताण्डव हुआ। पंजाब में कत्ल और बलात्कारों का सिलसिला जोर पकड़ता गया। सीमान्त प्रदेश की घटनाओं का प्रभाव भारत के अन्य भागों पर भी पड़ा और वहाँ भी दंगे हुए। सदा के लिए विदा होते हुए जिन्ना ने कहा, "दो भारत मित्रों की तरह अलग हो रहे हैं और ये सदा मित्र बने रहेंगे।" किन्तु अब ये बातें सर्वथा थोथी थीं। जिन्ना और मुस्लिम-लीग ने हिंसा की राजनीति अपनाकर देश के टुकड़े करवा दिये और पाकिस्तान में सत्ता ग्रहण कर ली।

अध्याय-16

राष्ट्रीय आन्दोलन का अन्तिम चरण

गाँधी-इरविन समझौते में गाँधीजी ने दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेना स्वीकार कर लिया था। सितम्बर, 1931 ई. में गाँधीजी दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने लन्दन पहुँचे। किन्तु दूसरे गोलमेज सम्मेलन में डॉ. अम्बेडकर ने अस्पृश्यों को पृथक् प्रतिनिधित्व देने की ज़िद की तथा जिन्ना अपनी चौदह शर्तों पर जोर देता रहा। उसी समय गाँधीजी ने स्पष्ट कर दिया था कि यदि अस्पृश्यों को हिन्दू जाति से अलग करने का प्रयास किया गया तो वे अपने प्राणों की बाजी लगाकर उसका सामना करेंगे। दूसरे गोलमेज सम्मेलन में साम्प्रदायिक समस्या का समाधान नहीं हो सका। अतः सम्मेलन के अन्त में ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री रेम्जे मेकडोनल्ड ने घोषणा की कि, "यदि कोई सर्वसम्मत सुझाव प्रस्तुत नहीं किया गया तो ब्रिटिश सरकार को अपनी काम-चलाऊ योजना कार्यान्वित करनी होगी और यदि उसे यह विश्वास हो जायेगा कि भारत के विभिन्न सम्प्रदायों को एक वैकल्पिक योजना स्वीकार है तो वह ब्रिटिश संसद से सिफारिश करेगी कि साम्प्रदायिक निर्णय में रखी हुई योजना के बदले नयी योजना स्वीकार कर ली जाय।" चूँकि भारत के विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों में कोई समझौता नहीं हो सका तथा कोई सर्वसम्मत सुझाव प्रस्तुत नहीं किया जा सका, अतः 18 अगस्त, 1932 को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मेकडोनल्ड ने अपने निर्णय की घोषणा कर दी जिसे 'साम्प्रदायिक पंचाट' (Communal Award) या मेकडोनल्ड-निर्णय (Macdonald Award) कहा जाता है।

साम्प्रदायिक पंचाट—प्रधानमन्त्री मेकडोनल्ड द्वारा घोषित साम्प्रदायिक पंचाट की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(1) इसके द्वारा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं की सदस्य संख्या पहले से दुगनी कर दी गईं।

(2) इसमें मुसलमानों, सिक्खों, ईसाइयों, एंग्लो-इण्डियनों, व्यापारिक एवं औद्योगिक वर्ग, जमीदारों और विश्वविद्यालयों के लिए अलग चुनाव क्षेत्रों की व्यवस्था की गई तथा उनके लिए स्थान सुरक्षित कर दिये गये।

(3) इसके द्वारा अछूतों या अस्पृश्यों को एक अलग अल्पमत मानकर उन्हें भी पृथक् निर्वाचन का अधिकार दे दिया गया।

(4) इसके द्वारा व्यवस्थापिका सभा में स्त्रियों के लिए भी तीस प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर दिये गये।

इस पंचाट की सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात यह थी कि इसमें अछूतों को हिन्दुओं से भिन्न मानकर उन्हें पृथक् निर्वाचन तथा प्रतिनिधित्व का अधिकार प्रदान किया गया, जिस प्रकार मुसलमानों को दिया गया था। उन्हें एक अलग अल्पसंख्यक वर्ग के रूप में स्वीकार किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य हिन्दू समाज में फूट पैदा कर राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रबल वेग को रोकना था। इसमें हिन्दुओं के साथ तो बड़ा अन्याय किया गया। जिन प्रान्तों में हिन्दू अल्पमत में थे वहाँ हिन्दुओं को वे रियायतें नहीं दी गईं, जो मुसलमानों को उन प्रान्तों में दी गई जहाँ वे अल्पमत में थे। गाँधीजी को सबसे अधिक दुःख अछूतों के लिए साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली की स्थापना से हुआ। जैसाकि गाँधीजी ने पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि यदि अछूतों को हिन्दू जाति से अलग करने की चेष्टा की गई तो वे अपने प्राणों की बाजी लगा कर उसका सामना करेंगे। अतः 20 सितम्बर, 1932 को गाँधीजी ने इसके विरोध में आमरण अनशन आरम्भ कर दिया। गाँधीजी की जीवन-रक्षा के लिए पण्डित मदनमोहन मालवीय, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद तथा अन्य हिन्दू नेताओं के प्रयासों से 26 सितम्बर, 1932 को डॉ. अम्बेडकर और गाँधीजी के बीच 'पूना समझौता' हो गया। उसी दिन गाँधीजी ने अपना आमरण अनशन समाप्त कर दिया। अब तक साम्प्रदायिक समस्या केवल हिन्दुओं और मुसलमानों तक सीमित थी, लेकिन अब इस समस्या में अछूत वर्ग भी सम्मिलित हो गया।

1935 का अधिनियम व राजनैतिक सरगर्मी—मार्च, 1933 ई. में ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत-पत्र प्रकाशित किया, जिसमें ब्रिटिश सरकार ने उन बिन्दुओं की ओर संकेत किया जिनके आधार पर 1935 का अधिनियम बनने वाला था। अप्रैल, 1933 ई. में लॉर्ड लिनलिथगो की अध्यक्षता में एक संयुक्त संसदीय समिति नियुक्त की गई, जिसे श्वेतपत्र के प्रस्तावों पर विचार करना था। इस समिति की रिपोर्ट 11 नवम्बर, 1934 को प्रकाशित हो गयी और इसके आधार पर ब्रिटिश संसद ने 'भारत सरकार अधिनियम, 1935' पारित कर दिया। इस अधिनियम द्वारा अखिल भारतीय संघ की स्थापना की गई। यद्यपि 1919 के अधिनियम द्वारा प्रान्तों में द्वैध शासन प्रणाली की अव्यावहारिकता सिद्ध हो चुकी थी, फिर भी 1935 के अधिनियम द्वारा उसे केन्द्र में स्थापित कर दिया गया। गवर्नर-जनरल को विशेष शक्तियाँ देकर संघीय व्यवस्थापिका को शक्तिहीन बना दिया गया। मुस्लिम लीग ने प्रान्तीय स्वायत्तता पर अधिक जोर दिया था ताकि मुस्लिम बहुल प्रान्तों में वे स्वतन्त्र और केन्द्र के नियन्त्रण से मुक्त रह सकें। अतः इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों को पूर्ण स्वायत्तता प्रदान करदी गई। काँग्रेस तथा कुछ अन्य दलों ने और देशी रियासतों के शासकों ने संघीय भाग का विरोध किया था तथा संघीय योजना के प्रति कोई रुचि नहीं दिखाई। अतः इसका संघीय भाग लागू नहीं किया गया और प्रान्तों से सम्बन्धित भाग 1 अप्रैल, 1937 से लागू कर दिया। तदनुसार प्रान्तों में चुनाव कराये गये। इन चुनावों के परिणामस्वरूप छः प्रान्तों—मद्रास, बम्बई, बिहार, उड़ीसा, संयुक्त प्रान्त और मध्य प्रान्त, में काँग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो गया। तीन प्रान्तों—बंगाल, असम और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में काँग्रेस को सबसे अधिक स्थान मिले और दो प्रान्तों—पंजाब और सिन्ध में काँग्रेस को नहीं के बराबर स्थान प्राप्त हुए।

प्रान्तों में चुनाव जीतने के बाद काँग्रेसी नेताओं के बीच यह विवाद उत्पन्न हुआ कि काँग्रेस को प्रान्तों में सत्ता ग्रहण करनी चाहिये या नहीं। अन्त में गाँधीजी के कहने पर यह निर्णय लिया गया कि यदि गवर्नर-जनरल यह आश्वासन दे कि प्रान्तों के गवर्नर दैनिक प्रशासन में मन्त्रियों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे और संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करेंगे तो काँग्रेस सत्ता ग्रहण कर लेगी। गवर्नर-जनरल लॉर्ड लिनलिथगो ने ऐसा आश्वासन देने से इन्कार कर दिया। अतः काँग्रेस ने सत्ता ग्रहण करने से इन्कार कर दिया। प्रान्तों के गवर्नर ने दूसरे सबसे बड़े दल को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया और मन्त्रिमण्डल बना भी लिये, किन्तु बहुमत न होने के कारण विधान मण्डलों पर उनका कोई नियन्त्रण नहीं था। अन्त में विवश होकर 21 जून, 1937 को गवर्नर-जनरल ने इस प्रकार का आश्वासन दिया और 7 जुलाई, 1937 को काँग्रेस बहुमत वाले प्रान्तों में काँग्रेस ने अपने मन्त्रिमण्डल बनाये। अगले वर्ष काँग्रेस ने दूसरे दलों (मुस्लिम लीग से नहीं) के सहयोग से आसाम व उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त में भी अपने मन्त्रिमण्डल बना लिये। इस प्रकार कुल 11 प्रान्तों में से 8 प्रान्तों में काँग्रेस ने मन्त्रिमण्डल बनाये। केवल तीन प्रान्तों—बंगाल, पंजाब और सिन्ध में गैर-काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनाये गये। 1939 तक काँग्रेस तथा गैर-काँग्रेसी प्रान्तों में प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल ठीक ढँग से कार्य करते रहे। काँग्रेसी प्रान्तों में गवर्नरों ने मन्त्रियों के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं किया, किन्तु गैर-काँग्रेसी प्रान्तों में वे जिस समय भी चाहते, हस्तक्षेप कर लेते। इसका कारण यह था कि उन प्रान्तों में काँग्रेस जैसा कोई ब्रिटिश-विरोधी संगठित दल नहीं था।

द्वितीय विश्व युद्ध तथा संवैधानिक गतिरोध—1 सितम्बर, 1939 को जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। इस पर इंगलैण्ड ने 3 सितम्बर, 1939 को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इसके तुरन्त बाद लॉर्ड लिनलिथगो ने केन्द्रीय विधान मण्डल, प्रान्तीय विधान मण्डल अथवा मन्त्रिमण्डलों से परामर्श किये बिना ही भारत को भी इंगलैण्ड के साथ युद्ध में शामिल कर लिया। काँग्रेस ने गवर्नर-जनरल की इस कार्यवाही का विरोध किया तथा 10 अक्टूबर, 1939 की अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी ने माँग की कि ब्रिटिश सरकार यह घोषणा करे कि युद्ध की समाप्ति के बाद भारत को स्वतन्त्रता दे दी जायेगी और तत्काल भारतीय मामलों पर अधिक से अधिक नियन्त्रण भारतीयों को दे दिया जायेगा। किन्तु 17 अक्टूबर, 1939 को लॉर्ड लिनलिथगो ने युद्ध के बाद भारत को अधिराज्य स्थिति देने की घोषणा की। इस घोषणा से किसी को तसल्ली नहीं हुई। 22 अक्टूबर, 1939 को काँग्रेस कार्यसमिति ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें ब्रिटिश सरकार के रवैये के विरुद्ध रोष प्रकट करने के लिए काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को त्यागपत्र देने को कहा। आठ प्रान्तों के काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये। इन सभी प्रान्तों में गवर्नर-जनरल ने संविधान की विफलता घोषित करके 1935 के अधिनियम की धारा 93 के अनुसार प्रान्तों का शासन गवर्नरों को सौंप दिया। इससे प्रान्तों में गवर्नरों का निरंकुश शासन स्थापित हो गया। काँग्रेस शासित प्रान्तों में मन्त्रिमण्डलों द्वारा त्यागपत्र देने से संवैधानिक गतिरोध भी उत्पन्न हो गया था।

उधर अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बड़ी तेजी से बदलती जा रही थी। जून, 1940 तक जर्मनी ने अनेक देशों पर विजय प्राप्त कर ब्रिटेन पर बड़ी तेजी से हवाई हमले आरम्भ कर दिये थे। इससे

अँग्रेजों को भारी खतरे का अनुभव हुआ। इस अवसर पर गाँधीजी ने कहा कि, "हम ब्रिटेन की बर्बादी में अपनी आजादी तलाश नहीं करते।" काँग्रेस ने 7 जुलाई, 1940 को पूना में एक प्रस्ताव पारित कर, दो शर्तों पर ब्रिटिश सरकार को युद्ध में सहयोग देने का आश्वासन दिया। पहली शर्त यह थी कि युद्ध के बाद भारत को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र कर दिया जायेगा और दूसरी शर्त यह कि केन्द्र में सभी मुख्य राजनैतिक दलों को मिलाकर तुरन्त एक अन्तरिम सरकार स्थापित की जायेगी।

इसी समय इंगलैण्ड में राजनीतिक परिवर्तन आया। चेम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल प्रधानमन्त्री और लॉर्ड जेटलैण्ड के स्थान पर एमरी भारत सचिव बने, जिनकी भारतीयों के प्रति बिल्कुल सहानुभूति नहीं थी। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए गवर्नर-जनरल को भारतीयों को सन्तुष्ट करने की आज्ञा दी गई। अतः गवर्नर-जनरल ने 8 अगस्त, 1940 को एक घोषणा की, जिसमें युद्ध के बाद एक ऐसी समिति नियुक्त करने की बात कही गई जो पूर्णतया राष्ट्रीय होगी और वह भारत के भावी संविधान की रूपरेखा तैयार करेगी। गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी में भारतीय प्रतिनिधियों को शामिल करने का आश्वासन दिया गया। युद्ध सम्बन्धी मामलों में परामर्श देने के लिए एक युद्ध परामर्श समिति गठित करने की बात भी कही गई, जिसमें देशी रियासतों तथा भारत के राष्ट्रीय जीवन के सभी प्रमुख तत्त्वों को शामिल करने की व्यवस्था थी। काँग्रेस ने इस घोषणा को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि पूना-प्रस्ताव में उल्लिखित शर्तों का पालन इस घोषणा में नहीं किया गया था। इसके विपरीत इस घोषणा में अप्रत्यक्ष रूप से यह कह दिया गया कि मुस्लिम-लीग की स्वीकृति के बिना भारत में कोई संवैधानिक परिवर्तन नहीं किया जायेगा। इस प्रकार बहुमत को अल्पमत की दया पर छोड़ दिया गया। अतः काँग्रेस ने सरकार का विरोध करने के लिए व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू किया, जिसमें देशवासियों को युद्ध में सरकार की सहायता न करने की अपील की गई।

क्रिप्स प्रस्ताव और उसकी असफलता—इस बीच जापान भी इंगलैण्ड के विरुद्ध धुरी राष्ट्रों के साथ युद्ध में शामिल हो गया था। जापानी सेनाएँ निरन्तर आगे बढ़ती जा रही थीं। अतः गाँधीजी ने 30 दिसम्बर, 1941 को व्यक्तिगत सत्याग्रह को काँग्रेस के नेतृत्व से मुक्त कर दिया। किन्तु इस आन्दोलन के कारण इंगलैण्ड में यह भावना प्रबल होने लगी कि भारतीयों को कुछ अधिकार दिये बिना उनका सहयोग प्राप्त नहीं किया जा सकता। इधर जापान ने 1942 ई. के आरम्भ तक सिंगापुर, मलाया, इण्डोनेशिया, अण्डमान व निकोबार द्वीपों को जीत लिया। 8 मार्च, 1942 को जापान ने रंगून पर अधिकार कर लिया। जापान ने यह भी प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि वह भारत को अँग्रेजी नियन्त्रण से मुक्त करवाने आ रहा है। इससे ब्रिटिश सरकार बहुत घबराई, क्योंकि रंगून पर जापानियों का अधिकार हो जाने से भारत पर जापान का आक्रमण स्पष्ट दिखाई देने लगा था। अतः 11 मार्च, 1942 को चर्चिल ने घोषणा की कि भारत के राजनैतिक गतिरोध को दूर करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने एक योजना तैयार की है तथा इस पर बातचीत करने के लिए सर स्टेफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा जायेगा।

स्टेफर्ड क्रिप्स 23 मार्च, 1942 को दिल्ली पहुँचा। वह काँग्रेस, मुस्लिम-लीग, हिन्दू महासभा, हरिजनों, राजाओं और उदारवादियों के प्रतिनिधियों से मिला और तत्पश्चात्

30 मार्च, 1942 को अपने प्रस्तावों की घोषणा करदी। क्रिप्स के कुछ प्रस्ताव युद्ध के बाद लागू होने थे और कुछ प्रस्ताव तत्काल लागू होने थे। युद्ध के बाद लागू होने वाले प्रस्तावों में कहा गया था कि युद्ध के बाद भारत में एक निर्वाचित संविधान सभा गठित की जायेगी, जिसमें भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि भी होंगे। नये संविधान को लागू करने की निम्नलिखित दो शर्तें होंगी—

(1) ब्रिटिश भारत के जिन प्रान्तों को नवीन संविधान पसन्द नहीं होगा वे अपनी वर्तमान संवैधानिक स्थिति को कायम रख सकेंगे। जो प्रान्त नये संविधान को मानने और भारतीय संघ में शामिल होने के लिए तैयार नहीं होंगे, उन्हें भी अपने लिए नया संविधान बनाने का अधिकार होगा और इसकी स्थिति भी भारतीय संघ की तरह होगी।

(2) ब्रिटिश सरकार और संविधान सभा के बीच एक सन्धि होगी, जिसमें ब्रिटिश सरकार द्वारा अल्पसंख्यक वर्गों को उनकी रक्षा के लिए दिये गये आश्वासनों का वर्णन होगा। यदि कोई भारतीय राज्य नये संविधान को स्वीकार करना चाहे तो उसे ब्रिटिश सरकार के साथ नई सन्धि करनी पड़ेगी।

संविधान सभा के निर्वाचन के सम्बन्ध में कहा गया कि प्रान्तीय विधान मण्डलों के निचले सदन आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार संविधान सभा के चुनाव करेंगे। संविधान सभा के सदस्यों की संख्या चुनने वाली विधान सभाओं की कुल सदस्य संख्या का दसवाँ भाग होगी।

युद्ध के समय लागू होने वाले प्रस्ताव में कहा गया कि नये संविधान के बनने तक भारत की रक्षा का उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकार पर होगा। किन्तु भारतीय जनता के सहयोग के बिना जन-धन की पूरी सहायता उपलब्ध नहीं हो सकती। अतः भारतीय नेताओं को अपना रचनात्मक सहयोग देने के लिए आमन्त्रित किया।

डॉ. पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है कि, "इस प्रस्ताव में विभिन्न रुचियों को सन्तुष्ट करने के लिये विभिन्न पदार्थ थे।" यद्यपि इस प्रस्ताव में भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य दिया जाना था, फिर भी भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। काँग्रेस का कहना था कि इसमें पाकिस्तान की माँग को अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार कर लिया गया है, क्योंकि इसने विभिन्न प्रान्तों तथा राज्यों को भारतीय संघ से अलग रहने का अधिकार प्रदान कर दिया है। मुस्लिम-लीग का कहना था कि इसमें स्पष्ट रूप से पाकिस्तान की माँग को स्वीकार नहीं किया गया है तथा भारत के लिए केवल एक संविधान सभा के निर्माण की व्यवस्था की गई है, जबकि मुस्लिम-लीग अपनी अलग संविधान सभा चाहती है। तत्काल लागू होने वाले प्रस्ताव में क्रिप्स ने आश्वासन दिया था कि गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी एक मन्त्रिपरिषद् की भाँति कार्य करेगी, किन्तु लॉर्ड लिनलिथगो ने इसका विरोध किया। चर्चिल भी वास्तविक सत्ता भारतीयों को सौंपना नहीं चाहता था, जैसाकि लॉस्की ने लिखा है, "चर्चिल की सरकार ने सर स्टेफर्ड क्रिप्स को भारत की समस्या को हल करने के लिए सच्चे इरादे से नहीं भेजा था, असली विचार भारत को स्वाधीनता देना नहीं वल्कि मित्रराष्ट्रों की आँखों में धूल झोंकना था।" इस प्रकार जब भारत के प्रमुख दलों ने क्रिप्स प्रस्ताव को मानने से इन्कार कर दिया और क्रिप्स द्वारा दिये गये आश्वासनों

को ब्रिटिश सरकार ने समर्थन नहीं दिया तो क्रिप्स मिशन पूर्णतया असफल रहा। क्रिप्स ने 11 अप्रैल, 1942 को इन सुझावों को वापिस ले लिया तथा अपनी असफलता का उत्तरदायित्व काँग्रेस पर डालते हुए कहा, "यदि काँग्रेस की माँगें स्वीकार कर ली जायँ तो उसका अर्थ मुस्लिम जनता और अछूतों पर हिन्दुओं के प्रभुत्व की स्थापना करना होगा।" क्रिप्स योजना से चर्चिल को इतना लाभ अवश्य हुआ कि उसे अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा चीन के राष्ट्रपति च्यांग काई शेक के दबाव से मुक्ति मिल गई, क्योंकि इन्होंने चर्चिल पर दबाव डाला था कि वह भारतीयों से कुछ समझौता करे ताकि युद्ध में उनका सहयोग प्राप्त हो सके।

भारत छोड़ो आन्दोलन

30 मार्च, 1942 को सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने यह संकेत दिया था कि यदि भारतीय नेताओं से बातचीत असफल हो गयी तो ब्रिटिश सरकार भारतीय गतिरोध को दूर करने के लिये और कोई बातचीत नहीं करेगी। चूँकि क्रिप्स मिशन अब असफल हो चुका था, अतः भारतीयों के समक्ष स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये आन्दोलन करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था। इसलिये काँग्रेस को विवश होकर 'भारत छोड़ो' आन्दोलन चलाना पड़ा। किन्तु केवल मिशन की असफलता ही इस आन्दोलन का मूल कारण नहीं था। उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए इस आन्दोलन के निम्नलिखित कारण बताये जा सकते हैं—

(1) क्रिप्स के प्रस्ताव अपर्याप्त थे। काँग्रेस भारतीय समस्या का हल चाहती थी और वह हल था, देश की आजादी। किन्तु सितम्बर, 1941 में चर्चिल ने यह स्पष्ट कह दिया था कि वह ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने के लिये प्रधानमन्त्री नहीं बना था। उसने यह भी कहा कि एटलाण्टिक चार्टर में दिया गया 'आत्मनिर्णय का अधिकार' भारत में लागू नहीं होगा। अतः क्रिप्स मिशन की असफलता के बाद तो भारतीयों को विश्वास हो गया कि क्रिप्स को चीन तथा अमेरिका के दबाव के कारण भेजा गया था और चर्चिल भारतीयों को वास्तविक शक्ति देना ही नहीं चाहता है। अतः लोगों में निराशा फैल गयी, किन्तु लोगों की स्वतन्त्रता-प्राप्ति की लालसा अब अधिक तीव्र हो उठी थी।

(2) भारत पर जापान के आक्रमण का भय दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। यद्यपि भारतीयों की इंगलैण्ड के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी, लेकिन उनकी दृष्टि में जापान भी इंगलैण्ड से कम साम्राज्यवादी नहीं था।

(3) बर्मा पर जापान का आक्रमण होने के बाद वहाँ से जो भारतीय शरणार्थी आ रहे थे, उन्होंने अपनी दुःखभरी कहानियाँ यहाँ आकर सुनाईं। भारतीय शरणार्थियों से ऐसा व्यवहार किया जा रहा था जैसे वे किसी घटिया जाति के हों। भारतीय और यूरोपियन शरणार्थियों से व्यवहार में भेदभावपूर्ण नीति के कारण अँग्रेजों के प्रति अविश्वास बढ़ रहा था।

(4) इस समय युद्ध के कारण बहुत-सी आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध नहीं हो रही थीं और वस्तुओं के दाम बढ़ते जा रहे थे। लोगों का कागज के नोटों में विश्वास उठता जा रहा था। मध्यम वर्ग में सरकार के प्रति अविश्वास अधिक उत्पन्न हो गया था।

(5) सिंगापुर, मलाया और बर्मा में अँग्रेजों की हार से गाँधीजी को यह विश्वास हो गया था कि अँग्रेज भारत की रक्षा करने में असमर्थ हैं। गाँधीजी का यह भी विश्वास था कि यदि

अँग्रेज भारत में रहेंगे तो जापान, भारत पर आक्रमण अवश्य करेगा और यदि अँग्रेज भारत छोड़ दें तो शायद जापानियों का आक्रमण न हो। इसलिये गाँधीजी ने अँग्रेजों को भारत से निकल जाने को कहा। उन्होंने 5 जुलाई, 1942 के 'हरिजन समाज' पत्र में लिखा, "अँग्रेजों भारत को जापान के लिए मत छोड़ो बल्कि भारत को भारतीयों के लिए व्यवस्थित रूप से छोड़ जाओ।"

उपर्युक्त परिस्थितियों में गाँधीजी सरकार के समक्ष झुकने की नीति के विरुद्ध थे, क्योंकि इससे भारतीय स्वतन्त्रता अधिक दिनों तक रुकी रह सकती थी। वे प्रत्यक्ष कार्यवाही के पक्ष में थे, चाहे इसका युद्ध पर कितना ही बुरा असर क्यों न पड़े। अतः 14 जुलाई, 1942 को वर्धा में काँग्रेस की कार्य समिति ने 'भारत छोड़ो प्रस्ताव' पारित किया। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि यदि अँग्रेज भारत से अपना नियन्त्रण हटा लें तो भारतीय जनता विदेशी आक्रान्ताओं का सामना करने के लिए हर प्रकार से योगदान करने को तैयार है। इस प्रस्ताव पर अन्तिम निर्णय 7 तथा 8 अगस्त, 1942 को बम्बई में काँग्रेस की महासमिति में किया गया। काँग्रेस महासमिति ने 8 अगस्त, 1942 को 'भारत छोड़ो प्रस्ताव' कुछ संशोधनों के साथ स्वीकार कर लिया। इस अन्तिम प्रस्ताव में कहा गया, "भारत में ब्रिटिश शासन का तुरन्त अन्त होना चाहिये। पराधीन भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद का चिह्न बना हुआ है, किन्तु स्वतन्त्रता की प्राप्ति युद्ध के रूप को बदल सकती है। अतः काँग्रेस भारत से ब्रिटिश सत्ता के हट जाने की माँग दोहराती है। यह माँग न मानी जाने पर यह समिति गाँधीजी के नेतृत्व में अहिंसात्मक संघर्ष चलाने की अनुमति प्रदान करती है तथा भारतीयों से अपील करती है कि इसका आधार अहिंसा हो।" इस प्रस्ताव में यह भी स्पष्ट किया गया कि सरकारी दमन नीति के कारण यदि गाँधीजी का नेतृत्व उपलब्ध न रहे तो प्रत्येक व्यक्ति अपना नेता स्वयं होगा।

सरकार की दमन नीति—'भारत छोड़ो प्रस्ताव' अँग्रेजों को धमकी नहीं थी। गाँधीजी ने वातचीत करने के लिए गवर्नर-जनरल को एक पत्र लिखा और उसके उत्तर की प्रतीक्षा में थे। गाँधीजी ने अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा चीन के राष्ट्राध्यक्ष च्यांग काई शेक को भी जो पत्र लिखा था उसमें उन्होंने कहा था कि वे कोई कदम जल्दी में नहीं उठाना चाहते। उन्होंने यह भी लिखा था कि वे भारत की स्वतन्त्रता के लिए इंगलैण्ड पर दवाव डालें। किन्तु लॉर्ड लिनलिथगो भारत में वढ़ते हुए असन्तोष से भली-भाँति परिचित था। वह जानता था कि यदि इस बार आन्दोलन हुआ तो वह सबसे अधिक भयंकर होगा। अतः वह आन्दोलन आरम्भ होने से पूर्व ही उसे कुचल देना चाहता था। काँग्रेस महासमिति की बैठक 'भारत छोड़ो प्रस्ताव' स्वीकृत करने के वाद 8 अगस्त, 1942 को अर्द्ध रात्रि के समय समाप्त हुई थी और 9 अगस्त को सूर्योदय से पूर्व ही गाँधीजी व काँग्रेस कार्य समिति के सभी नेताओं को बम्बई में गिरफ्तार कर अज्ञात स्थान पर भेज दिया गया। वहुत दिनों तक जनता को उनकी कोई जानकारी ही नहीं मिली। बाद में पता चला कि गाँधीजी को पूना में आगाखाँ महल में तथा अन्य नेताओं को अहमदावाद जेल में वन्द किया गया था। सरकार ने काँग्रेस को गैर-कानूनी संस्था घोषित कर दिया। सरकार ने आन्दोलन का दमन करने के लिये जनता पर अमानवीय अत्याचार किये। अँग्रेज प्रशासक यह समझते थे कि ऐसा करने से आन्दोलन समाप्त हो जायेगा, लेकिन जन-आन्दोलन तो एक गेंद की तरह होता है, जिसे जितना अधिक दवाने का प्रयास किया जाता है, वह उतनी ही शक्ति से ऊपर उछलता है।

कॉंग्रेस के नेताओं की गिरफ्तारी से जनता नेतृत्वहीन हो गयी। कॉंग्रेसी नेताओं ने कोई हिदायत भी नहीं छोड़ी थी। गाँधीजी ने केवल यही कहा था कि 'मेरे जीवन का यह अन्तिम संघर्ष होगा।' उन्होंने देश की स्वतन्त्रता के लिए जनता को 'करो या मरो' (Do or Die) का नारा दिया था। ऐसी स्थति में कॉंग्रेस के शेष नेताओं ने कॉंग्रेस कमेटी की ओर से एक पुस्तिका प्रकाशित की, जिसमें 12 सूत्री कार्यक्रम दिया हुआ था। इस पुस्तिका में सम्पूर्ण देश में हड़ताल करने, सार्वजनिक सभाएँ करने, नमक बनाने, लगान न देने आदि की बात कही गई थी। इस पुस्तिका में अहिंसात्मक आन्दोलन पर विशेष बल दिया गया था।

आन्दोलन का स्वरूप—1942 के आन्दोलन की कोई तैयारी नहीं की गई थी और न आन्दोलन संचालन की रूपरेखा तैयार की गई थी। यह एक स्वाभाविक जन-आन्दोलन था, जो मुख्यतः विद्यार्थियों, किसानों और निम्न मध्यम वर्ग तक सीमित रहा। श्रमिकों ने इस आन्दोलन में बहुत कम भाग लिया। 'भारत छोड़ो आन्दोलन' चार अवस्थाओं में से होकर गुजरा था।

आन्दोलन की प्रथम अवस्था 9 अगस्त, 1942 से लेकर तीन या चार दिन तक चली। इस अवस्था में हड़तालें, प्रदर्शन, जुलूस आदि निकाले गये। सरकार ने शान्तिपूर्ण आन्दोलन को कुचलने के लिए लोगों पर अत्यधिक अत्याचार किये। 11 अगस्त, 1942 को पुलिस ने दोपहर के ढाई बजे तक बम्बई में तेरह बार गोलियाँ चलाई। इसमें कई लोग मारे गये और अनेक जख्मी हुए जिसमें औरतें और बच्चे भी शामिल थे। इससे लोगों में सरकार के विरुद्ध आग भड़क उठी और वे हिंसा पर उतर आये। इसके बाद आन्दोलन की दूसरी अवस्था आरम्भ होती है।

दूसरी अवस्था में लोगों ने म्युनिसिपल भवनों, सरकारी इमारतों तथा सम्पत्ति पर आक्रमण किये। रेलवे स्टेशन, डाकखाने और पुलिस स्टेशनों पर आक्रमण करके उनमें आग लगा दी। रेल की पटरियाँ उखाड़ दीं और तार की लाइनें काट दी गईं। पूर्वी उत्तर प्रदेश में आन्दोलन अत्यधिक प्रभावशाली रहा। बलिया जिले में अँग्रेजी राज्य प्रायः समाप्त हो गया तथा अस्थायी सरकार स्थापित कर ली गई। आन्दोलन को दबाने के लिये सेना बुला ली गई। इस सेना ने लोगों पर अमानवीय अत्याचार किये। 21 व 22 अगस्त तथा 6 सितम्बर को बिहार के एक गाँव में लोगों को मशीनगनों द्वारा भून दिया गया।

तीसरी अवस्था सितम्बर, 1942 के मध्य से प्रारम्भ होती है। इसमें लोगों ने पुलिस व सेना के अत्याचारों से क्षुब्ध होकर सरकारी सम्पत्ति, अधिकारी और संचार साधनों पर हथियारों सहित आक्रमण किये। बम्बई, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रान्त में कुछ स्थानों पर जनता द्वारा बम फेंके गये। यह स्थिति फरवरी, 1943 तक चलती रही। इसके बाद आन्दोलन को कुचल दिया गया।

चौथी अवस्था में आन्दोलन बहुत ही धीमी गति से 9 मई, 1944 तक चला। गाँधीजी को छोड़ दिया गया। लोगों ने तिलक दिवस और स्वतन्त्रता दिवस मनाये। इस आन्दोलन में जयप्रकाश नारायण और अरुणा आसफअली ने सराहनीय कार्य किये। किसानों और विद्यार्थियों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

अन्य दलों का आन्दोलन के प्रति रवैया—कॉंग्रेस को छोड़कर अन्य किसी दल ने इस आन्दोलन में भाग नहीं लिया। साम्यवादी दल की नीति तो रूस के कार्यकलापों से प्रभावित

होती रही। जब द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हुआ तो उन्होंने युद्ध को साम्राज्यवादी बताया था, किन्तु जब रूस पर जर्मनी का आक्रमण हुआ और रूस, इंगलैण्ड के साथ मिल गया, तब उन्होंने इस युद्ध को जनता का युद्ध कहना शुरू कर दिया। इस प्रकार साम्यवादी दल ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से प्रभावित होकर राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति अपना दृष्टिकोण शीघ्र बदल लिया और उन्होंने लोगों से अँग्रेजों की सहायता करने को भी कहा। साम्यवादियों ने 'भारत छोड़ो आन्दोलन' की निन्दा की। मुस्लिम-लीग ने भी इस आन्दोलन की तीव्र आलोचना की। मुस्लिम-लीग के सर्वेसर्वा जिन्ना ने इस आन्दोलन को अत्यन्त खतरनाक बताते हुए मुसलमानों को इसमें भाग न लेने की अपील की। इतना ही नहीं, इस समय जबकि काँग्रेस के प्रमुख नेता जेलों में थे, मुस्लिम-लीग ने उनकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर अँग्रेजों से साँठ-गाँठ करना आरम्भ कर दिया।

हिन्दू महासभा के प्रधान वीर सावरकर ने यद्यपि सरकार की कटु आलोचना की, लेकिन हिन्दुओं को इस आन्दोलन में भाग न लेने को कहा। उदारवादियों के नेता सर तेज बहादुर सप्रू ने काँग्रेस के प्रस्ताव को अनीतिपूर्ण और असामयिक बताया। एंग्लो-इण्डियन जाति के प्रवक्ता एन्थोनी ने आन्दोलन का विरोध करते हुए कहा कि अँग्रेजों से अपना पुराना बदला चुकाने के लिए भारत को धुरी राष्ट्रों के हाथों बेचना ठीक नहीं होगा। हरिजन नेता डॉ. अम्बेडकर, भारतीय ईसाइयों तथा अकाली दल ने भी आन्दोलन का विरोध किया, ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरे दल अँग्रेजों को अप्रसन्न करने के पक्ष में नहीं थे।

आन्दोलन का महत्त्व और परिणाम—यह आन्दोलन कोई साधारण आन्दोलन नहीं था। काँग्रेसी नेताओं को एकदम जेल में बन्द कर देने तथा शान्त प्रदर्शनकारियों पर असह्य अत्याचार करने के बाद जनता ने स्वप्रेरणा से हिंसात्मक आन्दोलन चलाया। वस्तुतः यह अँग्रेज शासकों के अत्याचार का परिणाम था। इस आन्दोलन में भाग लेने वाले हजारों व्यक्तियों ने अदम्य साहस व सहनशीलता का परिचय दिया और सैकड़ों लोगों ने अपने जीवन का बलिदान कर दिया। अँग्रेजों ने देश में हिंसा भड़काने की सारी जिम्मेदारी गाँधीजी पर डाल दी। गाँधीजी ने इसका विरोध करने के लिए 10 फरवरी, 1943 से 21 दिन का उपवास आरम्भ कर दिया। 13 दिन बाद गाँधीजी की हालत खराब होने पर भी सरकार ने उन्हें छोड़ने से इन्कार कर दिया। गाँधीजी किसी तरह बच गये, लेकिन 22 फरवरी, 1944 को उनकी धर्म-पत्नी कस्तूरबा का जेल में ही देहान्त हो गया। अन्त में जब लॉर्ड वेवल भारत के गवर्नर-जनरल बने, तब 6 मई, 1944 को उन्हें छोड़ दिया गया।

वस्तुतः भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति हेतु किये गये आन्दोलनों की पुष्पलड़ी में पिरोया जाने वाला यह अन्तिम पुष्प था। आन्दोलन को दबाने के लिए पुलिस और सेना ने 538 बार गोलियाँ चलाईं। इसमें लगभग 7,000 व्यक्ति मारे गये (गैर-सरकारी आँकड़ों के अनुसार 10,000 से लेकर 40,000 तक लोग मारे गये) और 60,259 व्यक्तियों को जेल में ठूँस दिया गया। डॉ. अम्बाप्रसाद के अनुसार यह आन्दोलन अपने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उद्देश्य में यद्यपि असफल रहा, किन्तु लोगों में सरकार से मुकाबला करने की ताकत उत्पन्न हुई। इसने भारतीय स्वतन्त्रता के लिये पृष्ठभूमि तैयार कर दी। इस आन्दोलन से अँग्रेजों को यह भलीभाँति विदित हो गया कि यहाँ उनका राज्य कोई नहीं चाहता। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप अँग्रेज और मुस्लिम-लीग एक दूसरे के समीप आने लगे, क्योंकि दोनों काँग्रेस के विरोधी थे। दूसरे विश्व युद्ध में जिन्ना

ने अँग्रेजों की हर प्रकार से सहायता करने के लिये मुसलमानों को आन्दोलन से अलग रहने को कहा। जिस समय जापान भारत पर आक्रमण करने को तैयार खड़ा था, उस समय अँग्रेज जिन्ना की सहायता को बड़ी महत्त्वपूर्ण समझते थे। इसीलिये उन्होंने आगे चलकर जिन्ना को पाकिस्तान दे दिया।

इस आन्दोलन का विदेशों पर भी प्रभाव पड़ा। 25 जुलाई, 1942 को च्यांग काई शेक ने रूजवेल्ट को लिखा था, "अँग्रेजों के लिये सबसे श्रेष्ठ नीति यह है कि भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दे।" इस पर रूजवेल्ट ने कहा कि जो बात च्यांग चाहते हैं, उसको स्थगित करना ठीक नहीं है। तत्पश्चात् चर्चिल ने धमकी दी कि, "यदि चीन भारत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करता रहा, तो अँग्रेज चीन के साथ अपनी सन्धि तोड़ देंगे।" इन सभी का परिणाम यह हुआ कि युद्ध के बाद अमेरिका और इंगलैण्ड में जनमत इतना प्रबल हुआ कि इंगलैण्ड को विवश होकर भारत को स्वतन्त्रता देनी पड़ी।

आन्दोलन की असफलता के कारण—डॉ. अम्बाप्रसाद ने इस आन्दोलन की असफलता के मुख्य तीन कारण बताये हैं—

(1) इस आन्दोलन के **संगठन और योजना** में कमियाँ थीं। किसी भी जन-आन्दोलन को आरम्भ करने से पूर्व उसके नेताओं को आन्दोलन की रणनीति का ज्ञान आवश्यक होता है। लेकिन इस आन्दोलन के नेताओं ने कोई रणनीति निश्चित नहीं की थी। सरकार उन्हें जेलों में बन्द करे, इससे पूर्व ही उन्हें अज्ञात स्थान पर चला जाना चाहिये था। किन्तु आन्दोलन का अध्ययन करने से पता चलता है कि किसी को कुछ पता नहीं था कि क्या किया जाय। गाँधीजी की यह धारणा सर्वथा गलत सिद्ध हुई कि सरकार को आन्दोलन की चेतावनी देने पर, सरकार उनसे बातचीत करेगी। उन्हें पक्का विश्वास था कि सरकार उन्हें 1920 के आन्दोलन की भाँति गिरफ्तार नहीं करेगी। गाँधीजी की ये धारणाएँ गलत सिद्ध हुईं। प्रमुख नेताओं की गिरफ्तारी के बाद आन्दोलन नेतृत्वहीन हो गया। बाद में जो हिंसात्मक कार्यवाही हुई, उसके बारे में काँग्रेस में दो ग्रुप थे। एक हिंसात्मक कार्यवाही को स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिये ठीक समझता था और दूसरा कहता था कि गाँधीजी इसे पसन्द नहीं करेंगे। अतः स्वयं आन्दोलनकारियों में भी एकता नहीं थी।

(2) इस आन्दोलन के काल में सरकारी कर्मचारी, सेना, पुलिस और देशी राजा सरकार के प्रति वफादार रहे। अतः सरकार का कामकाज बेरोक-टोक चलता रहा। सरकार के वफादार सेवकों ने आन्दोलनकारियों पर भीषण अत्याचार किये तथा राष्ट्रीयता के प्रबल तूफान को रोकने का भरसक प्रयत्न किया। ये वफादार सेवक आन्दोलनकारियों की गतिविधियों की गुप्त सूचनाएँ सरकार के पास पहुँचाते रहे, जिससे आन्दोलन का दमन करना सरकार के लिए आसान हो गया।

(3) सरकार के पास जितने साधन और शक्ति थी, उतने आन्दोलनकारियों के पास नहीं थे। आन्दोलनकारियों का न गुप्तचर विभाग था और न एक-दूसरे को सूचना पहुँचाने के साधन थे। सरकार की अपेक्षा आन्दोलनकारियों के पास आर्थिक साधन भी कम थे। सरकार ने अपने समस्त साधनों को आन्दोलन कुचलने में लगा दिया। लोगों पर दिल दहला देने वाले अत्याचार हुए जिनका सामना करना साधारण जनता के लिए कठिन था। अतः आन्दोलन को कुचल दिया गया।

यद्यपि यह आन्दोलन तत्काल अँग्रेजों को भारत से निकालने में असफल रहा, किन्तु भारतीय जनता ने जो वलिदान किये, वे व्यर्थ नहीं गये। इस आन्दोलन से भारतीय स्वतन्त्रता निकट आ गई। सरदार पटेल ने कहा, "भारत में ब्रिटिश राज के इतिहास में ऐसा विप्लव कभी नहीं हुआ, जैसा पिछले तीन वर्षों में हुआ। लोगों ने जो प्रतिक्रिया व्यक्त की, हमें उस पर गर्व है।"

राजगोपालाचारी योजना (सी.आर. फार्मूला) —सी. राजगोपालाचारी मद्रास प्रान्त के प्रभावशाली नेता थे। 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के पूर्व उन्होंने भारत की साम्प्रदायिक समस्या का हल निकालने के लिये एक योजना तैयार की थी, जिसमें भारत के उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व के मुस्लिम वहुल क्षेत्रों के लोगों को आत्मनिर्णय का अधिकार देकर मुसलमानों की पाकिस्तान की माँग स्वीकार करली गई थी। काँग्रेसी नेताओं ने इस योजना का तीव्र विरोध किया तथा इस प्रश्न पर राजगोपालाचारी से तीव्र मतभेद हो गया। अतः 1943 ई. में उन्होंने काँग्रेस से अपना त्याग-पत्र दे दिया। अक्टूवर, 1943 ई. में लॉर्ड वेवल भारत के नये गवर्नर-जनरल नियुक्त हुए। 6 मई, 1944 ई. को लॉर्ड वेवल ने गाँधीजी को जेल से रिहा कर दिया। जेल से छूटने के वाद गाँधीजी ने अनुभव किया कि साम्प्रदायिक समस्या के समाधान किये विना भारत की समस्या का समाधान सम्भव नहीं है। अतः गाँधीजी ने इस समस्या के समाधान हेतु जिन्ना से वातचीत करना आवश्यक समझा। गाँधीजी ने राजगोपालाचारी योजना के आधार पर जिन्ना से वातचीत करने का निश्चय किया। 10 जुलाई, 1944 को राजगोपालाचारी ने अपनी योजना प्रकाशित करदी, जो 'सी. आर. फार्मूला' के नाम से विख्यात हुई। इस योजना की मुख्य वात यह थी कि युद्ध के वाद भारत के उत्तर-पूर्व तथा उत्तर-पश्चिम में मुस्लिम वहुल प्रदेशों की सीमा निर्धारित करने के लिए एक आयोग नियुक्त किया जायेगा। इन प्रदेशों में किसी व्यावहारिक मताधिकार के आधार पर यह तय करने के लिए जनमत लिया जायेगा कि ये प्रदेश भारत से अलग होना चाहते हैं या नहीं। यदि मुस्लिम वहुल क्षेत्र भारत से अलग होने का निर्णय करते हैं तो उनका राज्य अलग वन जायेगा और दोनों राज्यों के वीच प्रतिरक्षा, संचार और आवागमन के साधनों के सम्वन्ध में एक सन्धि होगी।

उपर्युक्त फार्मूले पर सितम्वर, 1944 में गाँधीजी व जिन्ना के वीच वार्ता आरम्भ हुई। जिन्ना ने मुख्य रूप से तीन कारणों से इस फार्मूले को अस्वीकृत कर दिया। प्रथम, इसे मुसलमानों को 'अपूर्ण, अंगहीन तथा दीमक लगा हुआ' पाकिस्तान दिया गया, क्योंकि वह तो सम्पूर्ण वंगाल, असम, सिन्ध, पंजाव और उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त व वलूचिस्तान चाहता था। दूसरा, इसमें जनमत संग्रह में गैर-मुसलमानों को भी भाग लेने की अनुमति दी गई थी, जवकि जिन्ना केवल मुसलमानों को मताधिकार देना चाहता था। तीसरा, इसमें प्रतिरक्षा, संचार और आवागमन के साधनों के सम्वन्ध में संयुक्त व्यवस्था का प्रस्ताव था, जिसे जिन्ना मानने को तैयार नहीं था। अतः सी. आर. फार्मूले के सम्वन्ध में वार्ता असफल रही। इस वार्ता के असफल होने से जिन्ना को अत्यधिक लाभ हुआ। गाँधीजी की जिन्ना से वातचीत करना उनकी राजनैतिक भूल थी, क्योंकि अव देश-विभाजन अधिक चर्चा का विषय वन गया। गाँधीजी के जिन्ना के पीछे भागने और उससे प्रार्थनाएँ करने से जिन्ना का अखिल भारतीय महत्त्व वढ़ गया।

वेवल योजना और शिमला सम्मेलन—अक्टूबर, 1943 में लॉर्ड लिनलिथगो का कार्यकाल समाप्त होने के बाद लॉर्ड वेवल भारत का गर्वनर-जनरल नियुक्त हुआ। अपनी नियुक्ति के कुछ समय बाद उसने घोषणा की कि, "मैं अपने थैले में बहुत-सी चीजें ला रहा हूँ।" इस कथन में यह स्पष्ट संकेत था कि वह भारत की राजनीतिक समस्या का समाधान लेकर आ रहा था, लेकिन उसने 6 मई, 1944 को गाँधीजी को, बीमारी के कारण, कारागार से मुक्त करने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं किया। 21 मार्च, 1945 को लॉर्ड वेवल भारतीय समस्या के सम्बन्ध में सलाह करने इंगलैण्ड गया और 4 जून, 1945 को वह भारत लौटा। 14 जून, 1945 को लॉर्ड वेवल ने भारतीय गतिरोध को दूर करने के लिये एक योजना प्रकाशित की, जिसे 'वेवल योजना' कहा जाता है। इस योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(1) गवर्नर-जनरल अपनी कार्यकारिणी परिषद् का पुनर्गठन करने को तैयार है, जिसमें गवर्नर जनरल और प्रधान सेनापति को छोड़कर सभी सदस्य भारतीय होंगे। इस परिषद् में मुसलमानों एवं सवर्ण हिन्दुओं की संख्या बराबर होगी। यह परिषद् लगभग अस्थायी सरकार की भाँति होगी। प्रतिरक्षा और सीमान्त एवं कबाइली मामलों को छोड़कर सभी मामले भारतीयों के पास रहेंगे।

(2) प्रान्तों में गवर्नर शासन समाप्त करके मिली-जुली उत्तरदायी सरकारें स्थापित की जायेंगी।

(3) इन प्रस्तावों का भारत के भावी संविधान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, जिसको बाद में भारतीय स्वयं बनायेंगे।

वेवल ने देश में अच्छा वातावरण उत्पन्न करने के लिए काँग्रेस की कार्य समिति के सभी सदस्यों को छोड़ दिया और महात्मा गाँधी तथा अन्य नेताओं को शिमला में एक सम्मेलन में आने का निमन्त्रण दिया। 25 जून, 1945 को शिमला में सम्मेलन आरम्भ हुआ। काँग्रेस ने योजना इसलिएं स्वीकार करली कि इसके बाद भारत की स्वतन्त्रता निश्चित हो जायेगी। किन्तु जिन्ना ने यह दावा प्रस्तुत किया कि कार्यकारिणी परिषद् में समस्त मुस्लिम सदस्यों को मनोनीत करने का एकमात्र अधिकार मुस्लिम-लीग को ही है। इस आधार पर काँग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद कौंसिल के सदस्य नहीं हो सकते थे। काँग्रेस द्वारा प्रस्तुत दलित वर्ग के सदस्यों के नाम पर भी आपत्ति की गई। इस पर वेवल ने विभिन्न दलों को अपने प्रतिनिधियों की सूची देने को कहा तथा उन सूचियों में निर्धारित संख्या में सदस्यों के चयन का अधिकार अपने पास रखा। इस पर भी मुस्लिम-लीग सहमत नहीं हुई। अतः 14 जुलाई, 1945 को लॉर्ड वेवल ने सम्मेलन की असफलता घोषित कर दी। इस प्रकार, जिन्ना की हठधर्मी तथा वेवल द्वारा जिन्ना को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण शिमला सम्मेलन विफल हो गया।

आजाद हिन्द फौज पर मुकदमे—शिमला सम्मेलन की असफलता के निराशापूर्ण वातावरण में नवम्बर, 1945 ई. में आजाद हिन्द फौज के तीन अधिकारियों—कर्नल सहगल, कर्नल ढिल्लो और मेजर शहनवाजखाँ पर दिल्ली के लाल किले में मुकदमे चलाये गये। आजाद हिन्द

फौज का गठन मार्च, 1942 ई. में जापान में रह रहे भारतीय क्रान्तिकारी रासबिहारी बोस द्वारा किया गया था तथा जुलाई, 1943 ई. में रासबिहारी बोस ने आजाद हिन्द फौज का नेतृत्व सुभाष चन्द्र बोस को सौंप दिया था। फरवरी, 1944 ई. से जून, 1944 ई. तक आजाद हिन्द फौज की तीन ब्रिगेडों ने जापानी सेना के साथ मिलकर अँग्रेजों के विरुद्ध युद्ध किया था। युद्ध के दौरान कर्नल सहगल, कर्नल ढिल्लो और मेजर शहनवाजखाँ भारतीय सेना को छोड़कर आजाद हिन्द फ्रौज में शामिल हो गये थे। इसलिये ब्रिटिश सरकार ने उन पर राजद्रोह के अपराध में मुकदमा चलाया था। मुकदमे के समाचार से भारतीय जनता उत्तेजित हो गयी और काँग्रेस ने जनता की ओर से इन आजादी के दीवानों के पक्ष में मुकदमा लड़ने का निश्चय किया। देश के बड़े-बड़े श्रेष्ठतम वकील-बैरिस्टर इस मुकदमे की निशुल्क पैरवी के लिए आ पहुँचे। पण्डित नेहरू ने 30 वर्ष बाद वकील की अदालती पोशाक धारण की और लाल किले पहुँचे। सर तेजबहादुर सप्रू व भूलाभाई देसाई ने इनकी रक्षा के लिए उच्च कोटि के तर्क प्रस्तुत किये। किन्तु सैनिक न्यायालय ने तीनों को मृत्यु दण्ड की सजा सुना दी। भारतीय जनता ने इसका जबरदस्त विरोध किया, अतः जनमत का दबाव पड़ने पर गवर्नर-जनरल ने अपने विशेषाधिकार का प्रयोग कर इनको क्षमा कर दिया। इन मुकदमों के परिणामस्वरूप देश में एक नवीन चेतना फैल गई। लोगों में इन अभियुक्तों को स्वतन्त्र कराने के लिए अपार जोश उत्पन्न हुआ। सेना में विशेष रूप से जागृति उत्पन्न हुई और बाद में फरवरी, 1946 में भारतीय नौ-सेना ने भी विद्रोह किया। अतः अँग्रेजों का भारतीय सेना पर विश्वास नहीं रहा। अँग्रेजों के भारत छोड़ने के निर्णय को इन घटनाओं ने प्रभावित किया था।

इंगलैण्ड में सत्ता-परिवर्तन व भारत में चुनाव—जुलाई, 1945 में इंगलैण्ड में चुनाव हुए। इंगलैण्ड में मजदूर दल ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र में आश्वासन दिया कि यदि मजदूर दल सत्ता में आया तो भारत को स्वाधीनता दे दी जायेगी। चुनावों में मजदूर दल को भारी बहुमत मिला तथा 10 जुलाई, 1945 को मजदूर दल की सरकार स्थापित हो गयी। चर्चिल के स्थान पर एटली प्रधानमन्त्री बने तथा एमरी के स्थान पर लॉर्ड पैथिक लॉरेन्स भारत सचिव बने। अगस्त, 1945 में लॉर्ड वेवल ने गवर्नरों का एक सम्मेलन बुलाया, जिसमें भारत में चुनाव कराने का निर्णय लिया गया। 19 सितम्बर, 1945 को वेवल ने घोषणा की कि युद्ध के कारण जो चुनाव स्थगित हो गये थे, वे अब इसी शीतकाल में होंगे। ब्रिटिश सरकार शीघ्र ही स्वशासन स्थापित करने हेतु भारत में संविधान सभा बुलाना चाहती है। चुनावों के बाद प्रान्तों में पुनः उत्तरदायी सरकार स्थापित की जायेगी।

दिसम्बर, 1945 में चुनाव हुए। केन्द्रीय विधान सभा के निर्वाचन में काँग्रेस को सामान्य स्थानों पर तथा मुस्लिम लीग को मुसलमानों के लिए आरक्षित स्थानों पर सफलता मिली। इससे स्पष्ट हो गया कि काँग्रेस का मुसलमानों में कोई विशेष प्रभाव नहीं था और मुसलमानों का वास्तविक प्रतिनिधित्व मुस्लिम-लीग ही कर रही है। प्रान्तों में 11 प्रान्तों में से 7 प्रान्तों में काँग्रेस के मन्त्रिमण्डल बने, उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त में खुदाई खिदमतगारों का मन्त्रिमण्डल बना जिनका नेता खान अब्दुल गफ्फारखाँ काँग्रेसी था। पंजाब में काँग्रेस तथा अकाली दल की मिलीजुली सरकार बनी। बंगाल व सिन्ध में मुस्लिम-लीग के मन्त्रिमण्डल बने।

नवीन निर्वाचन के समय तथा उसके बाद देश का राजनीतिक वातावरण अत्यन्त उत्तेजित था। आजाद हिन्द फौज के तीन अधिकारियों को मृत्यु दण्ड की सजा सुनाने के विरुद्ध अनेक स्थानों पर प्रदर्शन हुए। कलकत्ता में 43 व्यक्ति पुलिस की गोली से मारे गये। जबलपुर में सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। 18 फरवरी, 1945 को भारतीय नौ सेना ने तथा वायु सेना के एक भाग ने आजाद हिन्द फौज के अधिकारियों की सहानुभूति में विद्रोह कर दिया। इसके तुरन्त बाद बम्बई शहर में विद्रोह हुआ। बम्बई में पुलिस की गोली से दो श्रमिक मारे गये। कराँची में अँग्रेजी सेना ने विद्रोही नौ-सेना पर जब गोली चलाई तो भारतीय सेना ने भी प्रत्युत्तर में गोली चलाई। इन घटनाओं ने अँग्रेजों की आँखें खोल दीं और उन्होंने समझ लिया कि भारतीय राष्ट्रवाद को अब सेना में घुसने से नहीं रोका जा सकता और भारत में इतनी ब्रिटिश सेनाएँ नहीं थीं कि सब जगह भेजी जा सकें। सेना की टुकड़ियों का विद्रोह भविष्य के लिए खतरे का संकेत था।

एटली की घोषणा और मन्त्रिमण्डल मिशन—भारत के उत्तेजित वातावरण को ध्यान में रखते हुए 15 मार्च, 1946 को ब्रिटिश संसद में एक ऐतिहासिक घोषणा की गई। इस घोषणा में भारतीयों के आत्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकार किया गया। भारतीयों को ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में रहने अथवा छोड़ने की भी छूट दी गई। यह भी कहा गया कि यद्यपि ब्रिटिश सरकार अल्पसंख्यकों के हितों के बारे में बहुत चिन्तित है, किन्तु किसी भी अल्पसंख्यक वर्ग को बहुमत की प्रगति रोकने के लिए निशेषाधिकार नहीं दिया जा सकता। यह भी घोषणा की गई कि ब्रिटिश सरकार भारतीय गतिरोध को हल करने के लिए एक मन्त्रिमण्डल मिशन भेज रही है।

मन्त्रिमण्डल मिशन में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के तीन सदस्य—लॉर्ड पैथिक लॉरेन्स, सर स्टेफर्ड क्रिप्स और ए. वी. अलेक्जेण्डर शामिल थे। यह मन्त्रिमण्डल मिशन 24 मार्च, 1946 को दिल्ली पहुँचा। इस मिशन का उद्देश्य एक नवीन वैधानिक रूपरेखा तैयार करना तथा केन्द्र में एक अस्थायी सरकार की स्थापना करना था। इस मिशन ने आते ही विभिन्न विचारधाराओं के लोगों से बातचीत आरम्भ कर दी। सर्वाधिक जटिल समस्या काँग्रेस और मुस्लिम-लीग में समझौते की थी। मुस्लिम-लीग अपनी पाकिस्तान की माँग पर अड़ी हुई थी, जबकि काँग्रेस अखण्ड भारत की माँग पर अडिग थी। मुस्लिम-लीग के नेताओं ने अपने भाषणों में ऐसा जहर उगलना आरम्भ कर दिया था, जो देश की एकता के लिए घातक था। मुस्लिम-लीग के एक नेता चुन्द्रीगर ने घोषणा की कि अँग्रेजों को यह अधिकार नहीं है कि वे मुसलमानों को ऐसे लोगों के हाथ में सौंप दें, जिन पर हम हजारों वर्षों तक शासन करते रहे हैं। इस प्रकार मुस्लिम-लीग ने अपनी पाकिस्तान की माँग मिशन के सामने प्रस्तुत की तथा काँग्रेस ने अखण्ड भारत के भावी शासन की अपनी योजना प्रस्तुत की। मन्त्रिमण्डल मिशन ने दोनों की योजनाओं को अस्वीकृत कर दिया और स्पष्ट कह दिया कि पाकिस्तान का निर्माण साम्प्रदायिक समस्या का समाधान नहीं है तथा उन क्षेत्रों को पाकिस्तान में मिलाना भी अनुचित होगा, जिन क्षेत्रों में गैर-मुसलमानों का बहुमत है।

जब मुस्लिम-लीग और काँग्रेस में कोई समझौता न हो सका, तब मिशन ने विभिन्न दलों के प्रतिनिधियों का शिमला में एक सम्मेलन बुलाया। सम्मेलन 11 मई, 1946 तक चलता रहा। मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग तथा इसके लिये जिन्ना की हठधर्मी के कारण सम्मेलन असफल हो गया। तब मिशन ने स्वयं ही एक योजना का निर्माण किया, जिसे 'मन्त्रिमण्डल मिशन

योजना' कहते हैं। 16 मई, 1946 को इस योजना की घोषणा कर दी गई। मन्त्रिमण्डल मिशन योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(1) भारत में एक संघ शासन की व्यवस्था होनी चाहिये, जिसमें ब्रिटिश भारत के सभी प्रान्त तथा भारत की देशी रियासतें सम्मिलित हों। प्रान्तों को पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त होनी चाहिए। संघ के पास वैदेशिक मामले, प्रतिरक्षा तथा संचार साधनों का दायित्व होना चाहिये। ऐसे सभी विषय जो स्पष्ट रूप से संघ को नहीं सौंपे गये हैं, वे सभी प्रान्तों के पास रहने चाहिएँ। जिन विषयों को देशी रियासतें संघ को नहीं सौंपेंगी, उन सभी पर देशी रियासतों का अधिकार होगा।

(2) भारत का संविधान बनाने के लिए एक संविधान सभा का गठन किया जायेगा। जिसमें प्रत्येक प्रान्त को अपनी 10 लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होगा। संविधान सभा के कुल सदस्य 389 होंगे, इसमें 93 सदस्य देशी रियासतों के, 4 चीफ कमिश्नर प्रान्तों के और शेष 292 सदस्य गवर्नर प्रान्तों के होंगे। सम्प्रदाय के आधार पर—गैर-मुस्लिम 210, मुस्लिम 78, सिक्ख 4 तथा चीफ कमिश्नर प्रान्तों के चार प्रतिनिधि होंगे।

(3) संविधान सभा की प्रारम्भिक बैठक के बाद सभी प्रान्त तीन समूहों में विभाजित हो जायेंगे। पहले समूह में मद्रास, बम्बई, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रान्त, बिहार तथा उड़ीसा होंगे; दूसरे समूह में सिन्ध, बलूचिस्तान, उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त और पंजाब शामिल होंगे तथा तीसरे समूह में बंगाल और असम होंगे। प्रत्येक समूह को यह अधिकार होगा कि वह जिस प्रकार की शासन व्यवस्था चाहे स्थापित कर सकता है और सम्पूर्ण समूह के लिए अलग संविधान का निर्माण हो सकता है। प्रान्तों को अपने समूह से सम्बन्ध विच्छेद करने का अधिकार होगा।

(4) ब्रिटिश सरकार संविधान सभा द्वारा बनाये गये संविधान को पूरी तरह लागू करेगी।

(5) भारतीय देशी रियासतों पर नियन्त्रण का अधिकार न तो संघ को होगा और न अँग्रेज सरकार के पास रहेगा।

(6) प्रशासनिक, आर्थिक और सैनिक आधार पर पाकिस्तान की माँग न्यायोचित नहीं है।

मन्त्रिमण्डल मिशन योजना में यह भी कहा गया था कि जब तक नये संविधान का निर्माण नहीं हो जाता, तब तक के लिए एक अन्तरिम सरकार की स्थापना की जायेगी। इसमें 14 सदस्य होंगे, जिनमें 6 काँग्रेस, 5 मुस्लिम लीग, भारतीय ईसाइयों, सिक्ख और पारसियों का एक-एक प्रतिनिधि होगा। प्रशासकीय मामलों में ब्रिटिश सरकार, अन्तरिम सरकार को पूर्ण सहयोग देगी तथा सत्ता का जल्द से जल्द हस्तान्तरण कर देगी।

भारत के संवैधानिक गतिरोध को दूर करने का यह एक ईमानदार प्रयास था। इसने पाकिस्तान की माँग को स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर दिया। लेकिन मुस्लिम-लीग को सन्तुष्ट करने के लिए केन्द्र को निर्बल रखा तथा काँग्रेस की माँग को ध्यान में रखते हुए एक संघ स्थापित करने की व्यवस्था की गई। संविधान सभा में जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व देकर संविधान सभा को लोकतन्त्रीय बनाने का प्रयास किया गया। इस संविधान को पूर्ण स्वतन्त्रता और सभी

अधिकार दिये गये। इसमें अन्तरिम सरकार की व्यवस्था करके सभी विभाग भारतीयों को सौंपने को कहा गया। स्वयं गाँधीजी ने कहा था कि तत्कालीन परिस्थितियों में यह सर्वोत्तम प्रलेख है। जिन्ना ने भी स्वीकार किया कि अल्पसंख्यकों की समस्या के समाधान का इससे उत्तम उपाय नहीं हो सकता था।

इस योजना में प्रान्तों को समूह में बाँटना, इसका सबसे बड़ा दोष था। इससे राष्ट्रीय एकता महत्त्वहीन हो गयी। प्रान्तों को अपना अलग संविधान बनाने का अधिकार देने से सम्पूर्ण देश में एक ही प्रकार की शासन पद्धति स्थापित नहीं हो सकती थी। समूहों का फार्मूला भी अस्पष्ट था, अतः काँग्रेस और लीग में विवाद आरम्भ हो गया। काँग्रेस के अनुसार समूह में शामिल होना ऐच्छिक था, जबकि मुस्लिम लीग इसे अनिवार्य मानती थी। अन्तरिम सरकार में राष्ट्रवादी मुसलमानों को मान्यता नहीं दी गई अर्थात् काँग्रेस किसी मुसलमान सदस्य को मनोनित नहीं कर सकती थी।

6 जून, 1946 को मुस्लिम-लीग ने इस योजना को स्वीकार कर लिया तथा 14 जून, 1946 को काँग्रेस ने भी इसे स्वीकार कर लिया। किन्तु काँग्रेस ने अन्तरिम सरकार में भाग लेने से इन्कार कर दिया, क्योंकि काँग्रेस किसी राष्ट्रवादी मुसलमान को अन्तरिम सरकार में मनोनीत करना चाहती थी। जुलाई, 1946 में योजना के अनुसार चुनाव हुए, जिसमें काँग्रेस को भारी सफलता मिली। 10 जुलाई को पण्डित नेहरू ने बम्बई में एक वक्तव्य दिया कि काँग्रेस संविधान सभा में भाग लेने के लिए सहमत है और मन्त्रिमण्डल मिशन योजना को संशोधित करने के लिये अपने आपको स्वतन्त्र समझती है। पण्डित नेहरू का यह वक्तव्य गलत था, क्योंकि जिन्ना ने अपने लाभ के लिए इसका खूब प्रयोग किया। 29 जुलाई, 1946 को मुस्लिम लीग ने इस योजना को अस्वीकार कर दिया। लॉर्ड वेवल केवल मुस्लिम लीग के सहयोग से अन्तरिम सरकार बनाने को तैयार नहीं हुआ (काँग्रेस ने अन्तरिम सरकार की योजना अस्वीकृत कर दी थी)। जिन्ना ने कहा कि मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की माँग को त्याग कर भारी कुर्बानी की थी। अब उसने पाकिस्तान की प्राप्ति के लिये सीधी कार्यवाही करने की धमकी दी।

अन्तरिम सरकार—काँग्रेस ने बाद में अन्तरिम सरकार में भाग लेने की योजना स्वीकार करली। अतः 12 अगस्त, 1946 को गवर्नर-जनरल ने पण्डित नेहरू को अन्तरिम सरकार बनाने का निमन्त्रण भेजा। मुस्लिम-लीग ने काँग्रेस के साथ मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया तथा 16 अगस्त, 1946 से सीधी कार्यवाही करने का निश्चय किया। 16 अगस्त से साम्प्रदायिक दंगों का सिलसिला आरम्भ हो गया, जिसमें लाखों व्यक्तियों की जानें गयीं तथा करोड़ों रुपये की सम्पत्ति का नुकसान हुआ। बंगाल में मुस्लिम-लीग की सरकार थी और सुहरावर्दी वहाँ का मुख्यमन्त्री था। उसने 16 अगस्त की छुट्टी घोषित करदी। अतः बंगाल में सबसे अधिक दंगे हुए। 24 अगस्त को घोषणा कर दी गई कि 2 सितम्बर को अन्तरिम मन्त्रिमण्डल शपथ ग्रहण करेगा।

24 अगस्त के बाद लॉर्ड वेवल ने मुस्लिम-लीग का समर्थन करना आरम्भ कर दिया। वह चाहता था कि मुस्लिम-लीग को उसकी शर्तों के अनुसार मन्त्रिमण्डल में शामिल कर लिया

जाय। लेकिन भारत सचिव ने इसका समर्थन नहीं किया। 2 सितम्बर, 1946 को अन्तरिम सरकार ने शपथ ग्रहण की। वेवल के प्रयत्नों से मुस्लिम-लीग ने भी अन्तरिम सरकार में अपना प्रतिनिधि भेजना स्वीकार कर लिया। मुस्लिम-लीग को अन्तरिम सरकार में लेने के बाद वेवल ने मन्त्रिमण्डल में संयुक्त उत्तरदायित्व को स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। मुस्लिम-लीग द्वारा अन्तरिम सरकार को कोई सहयोग प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि वह तो काँग्रेस की नीतियों को समाप्त करना चाहती थी। मुस्लिम-लीग के प्रतिनिधि लियाकत अली वित्त मन्त्री थे। उन्होंने नया बजट प्रस्तुत करते समय उद्योगपतियों एवं व्यापारियों पर भारी कर लगाये। उनका कहना तो यह था कि ये कर काँग्रेस की नीतियों—'आर्थिक विषमताओं को दूर करने' के लिए लगाये जा रहे हैं। लेकिन ये कर स्पष्टतः साम्प्रदायिकता से प्रेरित थे क्योंकि अधिकांश व्यापारी व उद्योगपति हिन्दू थे। अतः काँग्रेस और मुस्लिम-लीग मिलकर कार्य नहीं कर सकी।

पाकिस्तान की माँग को लेकर सारे देश में दंगे हो रहे थे। कलकत्ता के बाद नोआखली में हिन्दुओं पर मुसलमानों ने बहुत अत्याचार किये। इसकी प्रतिक्रिया बिहार, गढ़मुक्तेश्वर और अहमदाबाद में हुई, जहाँ हिन्दुओं ने मुसलमानों पर अत्याचार किये। मुस्लिम लीग ने मुसलमानों को भड़काने के लिए बिहार दिवस मनाया। फलस्वरूप उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त, पंजाब आदि में भी दंगे फैल गये।

एटली की घोषणा—भारत की विषम स्थिति से इंगलैण्ड की सरकार भली-भाँति परिचित थी। अब उसने भारत को ऐसी बिगड़ी हुई स्थिति में छोड़कर भारत से अपना अधिकार समाप्त करना ही श्रेष्ठ समझा। अतः लॉर्ड एटली ने 20 फरवरी, 1947 को घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार जून, 1948 तक भारत के उत्तरदायी व्यक्तियों को सत्ता सौंप देगी। इसके साथ ही यह घोषणा की गई कि लॉर्ड वेवल को भारत से वापस बुला लिया जायेगा और उसके स्थान पर लॉर्ड माउण्टबेटन को गवर्नर-जनरल नियुक्त किया जायेगा, जो भारत के अन्तिम गवर्नर जनरल होंगे। 24 मार्च, 1947 को माउण्टबेटन ने गवर्नर-जनरल का पद ग्रहण कर लिया।

माउण्टबेटन योजना और भारत का विभाजन

माउण्टबेटन अपने साथ ब्रिटिश प्रधानमन्त्री का ऐसा सन्देश लेकर आया था जिसमें उसके कार्य की सीमा रेखा खींच दी गई थी अर्थात् 30 जून, 1948 तक भारत के लिए एक सर्वसम्मत हल ढूँढ निकालना अब माउण्टबेटन का काम था। भारतीय नेताओं, विशेषकर जिन्ना और उसके साथियों से बातचीत करते-करते उसका यह विश्वास दृढ़ होता गया कि संयुक्त भारत के लिए सर्वसम्मत हल की कोई सम्भावना नहीं है। अतः इसके बदले में नया फार्मूला देश के विभाजन का ही हो सकता था। किन्तु देश के विभाजन के लिए काँग्रेसी नेताओं को, विशेषकर गाँधीजी को कैसे तैयार किया जाय ? माउण्टबेटन ने गाँधीजी से दो बार बातचीत की थी, लेकिन उन्होंने तो स्पष्ट कह दिया कि, "पाकिस्तान मेरी लाश पर बनेगा।" इधर काँग्रेस के नेताओं ने यह अनुभव कर लिया था कि गाँधीजी व्यावहारिक आदमी नहीं हैं। अतः काँग्रेस भी अब अपने महत्त्वपूर्ण फैसले बिना गाँधीजी की सलाह से करने लगी। इनमें से एक फैसला काँग्रेस कार्यसमिति के मार्च, 1947 ई. वाले प्रस्ताव में था, जिसमें पंजाब को दो टुकड़ों में बाँटने की सिफारिश

थी—एक टुकड़ा हिन्दुओं का और दूसरा मुसलमानों का। अतः काँग्रेस की नीति में अब बुनियादी अन्तर आ गया था। माउण्टबेटन ने तुरन्त सरदार पटेल से बातचीत की। सरदार पटेल ने माउण्टबेटन की विभाजन की सलाह स्वीकार करली। मौलाना आजाद ने लिखा है कि, "जैसे ही पटेल को विश्वास दिला दिया, माउण्टबेटन ने अपना ध्यान जवाहरलाल पर जमा दिया। पहले तो जवाहरलाल राजी नहीं हुए, बँटवारे की बात पर भड़क उठे, लेकिन माउण्टबेटन ने पीछा नहीं छोड़ा। धीरे-धीरे जवाहरलाल के सभी विरोध खत्म हो गये। माउण्टबेटन के हिन्दुस्तान आने के एक महीने के भीतर जवाहरलाल, जो बँटवारे के सख्त विरोधी थे, उसके समर्थक नहीं तो कम से कम उसके विरोधी भी नहीं रहे।" जिन्ना को कभी यह उम्मीद नहीं थी कि काँग्रेस इतनी जल्दी पाकिस्तान बनाने की बात मान जायेगी।

वायसराय माउण्टबेटन ने भारतीय समस्या को हल करने हेतु एक योजना तैयार की जिसे 'डिकी बर्ड योजना' भी कहते हैं। यह योजना मन्त्रिमण्डल मिशन की उस योजना से मिलती जुलती थी जिसमें सत्ता का हस्तान्तरण एकतरफा इस सिद्धान्त पर किया जाना था कि प्रान्तों को पहले स्वाधीन राज्य बना दिया जाय। इस योजना ने भारतीय संघ के विचार को या भारत एवं पाकिस्तान के अधिराज्य बनाये जाने के विचार को स्वीकार नहीं किया। मद्रास, बम्बई, यू. पी., मध्य प्रान्त, बिहार, उड़ीसा, असम तथा बंगाल, पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा क्षेत्र के मुस्लिम बहुल प्रान्तों को स्वाधीन घोषित होना था और वे सभी प्रान्त अलग तय करें कि भारतीय संविधान परिषद् में शामिल हुआ जाय या नहीं। अपनी इस योजना को अन्तिम रूप देने से पहले माउण्टबेटन ने इसके विषय में विस्तार से बताये बिना अनौपचारिक रूप से भारतीय नेताओं से भी बातचीत की थी। उसे ऐसा लगा कि वे सभी उसकी इस योजना को स्वीकार कर लेंगे। इसलिए उसने 2 मई, 1947 को लॉर्ड इस्मे तथा जार्ज एबल को लन्दन मन्त्रिमण्डल से इस योजना को स्वीकृत कराने के लिए भेजा।

गांधीजी को जब बँटवारे के बारे में काँग्रेसी विचारधारा का पता चला तो वे तुरन्त लौटकर दिल्ली आये और सरदार पटेल व पण्डित नेहरू से बातचीत करने के बाद वायसराय से भेंट की और कहा कि किसी भी स्थिति में अविभाजित हिन्दुस्तान के लिए उसे कोशिश करनी चाहिए। लेकिन वायसराय ने स्पष्ट कह दिया कि अब बात उसके हाथ से बाहर हो चुकी है। गाँधीजी ने जिन्ना से भी बातचीत की किन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला। इधर वायसराय दिल्ली से शिमला चले गये, जहाँ उनके सलाहकार वी. पी. मेनन ने बातचीत के दौरान उससे कहा कि लन्दन भेजी गई योजना की उसे (मेनन को) कोई जानकारी नहीं है, लेकिन उसके पास भी एक अच्छी योजना है। मेनन ने अपनी योजना का ब्यौरा बताया। लियोनार्ड मोसले ने लिखा है कि, "यह सब सुनकर माउण्टबेटन की हालत उस बच्चे जैसी ही गयी जो अपना खिलौना देखकर खुशी से नाच रहा हो और अकस्मात उसकी नजर दूसरे बच्चे पर पड़ जाय, जिसके पास और भी बढ़िया खिलौना हो।"

8 मई, 1947 को पण्डित नेहरू और कृष्ण मेनन वायसराय के अतिथि की हैसियत से शिमला आये। वायसराय ने अपने अधिकारियों की एक बैठक बुलाई, जिसमें पण्डित नेहरू को भी निमन्त्रित किया गया। इस बैठक में वी. पी. मेनन की योजना पर विचार-विमर्श हुआ तथा

अन्त में वायसराय ने नेहरू से पूछा कि यदि इस समय की बातचीत के आधार पर योजना बनाई जाय तो क्या काँग्रेस उसे स्वीकार कर लेगी। किन्तु पण्डित नेहरू ने कहा कि योजना का प्रारूप देखे बिना वह कुछ नहीं कह सकता। बैठक की समाप्ति के बाद वायसराय ने बी. पी. मेनन से कहा कि नेहरू शाम को दिल्ली जा रहा है, अतः उसके जाने से पहले योजना का प्रारूप उसे दिखाकर स्वीकृति ले ली जाय। वायसराय ने लन्दन तार भेज दिया कि जो योजना पहले भेजी गई है उसे रद्द समझा जाय। उसी दिन शाम को 6 बजे तक वी. पी. मेनन ने योजना का प्रारूप तैयार कर लिया, जिस पर नेहरू ने अपनी स्वीकृति दे दी। 18 मई, 1947 को वायसराय, लेडी माउंण्टबेटन और वी. पी. मेनन लन्दन गये। लन्दन में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने उसे अपनी स्वीकृति दे दी। वायसराय ने भारत लौटकर 2 जून को भारतीय नेताओं की बैठक बुलाई वायसराय ने योजना की प्रतियाँ भारतीय नेताओं को भेज दीं तथा 2 जून के पहले अपनी प्रतिक्रिया भेजने को कहा।

काँग्रेस ने योजना पर विचार-विमर्श कर अपनी सहमति वायसराय को भेज दी। इस सहमति के साथ योजना में कुछ मामूली संशोधन भी करने की सिफारिश की गई। लेकिन बाद में नेहरू व पटेल ने स्वीकार कर लिया कि वे बैठक में इस संशोधन की चर्चा नहीं करेंगे। जिन्ना जानबूझकर लीग की कार्यकारिणी की बैठक नहीं बुला रहा था। जिन्ना की ओर से कोई उत्तर न आने पर वायसराय ने जिन्ना से दृढ़तापूर्वक कहा कि, "यदि आपका यही रवैया रहा तो कल सुबह जो बैठक होने वाली है उसमें काँग्रेस और सिक्ख इस योजना को अस्वीकार कर देंगे और आप अपना पाकिस्तान गवाँ बैठेंगे······यदि आप मुस्लिम-लीग की ओर से स्वीकार नहीं करेंगे तो लीग की तरफ से मैं स्वयं स्वीकार करूँगा और यह कहने की जोखिम उठाऊँगा कि आपने मुझे आश्वासन दिया है और मैं उससे सन्तुष्ट हूँ······मेरी एक ही शर्त है कि जब मैं सुबह बैठक में यह कहूँ कि जिन्ना ने मुझे आश्वासन दिया है और मैं उससे सन्तुष्ट हूँ और मैंने उसे स्वीकार कर लिया है, तो उस समय आप किसी भी परिस्थिति में इसका प्रतिरोध नहीं करेंगे और जब मैं आपकी तरफ देखूँ तब आप मौन प्रकट करते हुए सिर हिला दें।" 2 जून को प्रातः भारतीय नेताओं की वायसराय के साथ बैठक हुई जिसमें नेहरू, कृपलानी, पटेल, जिन्ना, लियाकत अली खाँ तथा बलदेवसिंह आदि ने भाग लिया। सभी पक्षों ने योजना को स्वीकार कर लिया। जिन्ना ने वैसा ही किया जैसा उसे कहा गया था। 3 जून को वायसराय, नेहरू और जिन्ना रेडियो पर भारत की जनता को सूचना देने गये। सर्वप्रथम रेडियो पर माउण्टबेटन ने कहा—

"एक सौ साल से भी अधिक हुआ आप लाखों-करोड़ों की संख्या में साथ-साथ रहे और इस देश का एक इकाई की तरह शासन हुआ······किसी भी ऐसी योजना पर जिससे देश की ईकाई कायम रहे, समझौता असम्भव हुआ। लेकिन देश के एक हिस्से में जिसका बहुमत हो उसे देश के दूसरे हिस्से में औरों की बहुमत वाली सरकार के अधीन जबरदस्ती रखने का सवाल ही नहीं उठता। इसके बाद दूसरा रास्ता है—बँटवारा।" तत्पश्चात् माउण्टबेटन ने अपनी योजना की घोषणा की—"यह स्पष्ट है कि संविधान द्वारा रचित संविधान उन भागों पर लागू नहीं हो सकता जो उसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। इन भागों के लोगों की इच्छा जानने का

व्यावहारिक ढँग यह हो सकता है कि इनसे पूछा जाय कि इनका विधान—(क) वर्तमान संविधान सभा बनाये, या (ख) उनके प्रतिनिधियों की नई और अलग संविधान सभा बनाये।"

इस सम्बन्ध में ब्यौरा इस प्रकार था—

(1) पंजाब और बंगाल विधान मण्डलों के दो-दो हिस्सों की बैठकें अलग-अलग बुलाई जायँ, इनमें यूरोपियन सदस्य नहीं रहेंगे। एक में मुस्लिम बहुसंख्यक जिलों के प्रतिनिधि हों और दूसरी में गैर-मुस्लिम बहुसंख्यक जिलों के प्रतिनिधि।

(2) उक्त दोनों विधान मण्डलों के दोनों भागों के सदस्यों की बैठकें अलग-अलग हों और उन दोनों को यह निश्चित करने का अधिकार हो कि प्रान्त का विभाजन किया जाय अथवा न किया जाय। यदि दोनों भागों का साधारण बहुमत विभाजन के पक्ष में हो तो विभाजन स्वीकार कर लिया जाय और इस सम्बन्ध में व्यवस्था कर दी जाय।

(3) इससे पहले कि विभाजन का निर्णय हो, हर भाग के प्रतिनिधियों को यह बात पहले ही जान लेनी चाहिये कि यदि प्रान्त ने अविभक्त रहने का निर्णय किया तो वह किस संविधान सभा से संयुक्त होगा। इसलिए यदि कोई सदस्य चाहेगा तो दोनों भागों की संयुक्त बैठक होगी और यह निर्णय किया जायेगा कि प्रान्त के अविभक्त रहने की स्थिति में वह किस संविधान सभा से सम्बद्ध होगा।

(4) यदि विभाजन तय होता है तो प्रत्येक भाग को इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से यह निश्चय करने का अधिकार होगा कि वह किस संविधान सभा से सम्बद्ध हो।

(5) सिन्ध का विधान मण्डल (यूरोपियन सदस्यों को छोड़कर) अपना निर्णय स्वयं करेगा। सिन्ध में हिन्दू बहुसंख्यक कोई जिला नहीं है, इसलिए विधान मण्डल दो भागों में नहीं बँटेगा।

(6) उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में जनमत संग्रह होगा और उनसे पूछा जायेगा कि वे वर्तमान संविधान सभा को पसन्द करेंगे अथवा पृथक् संविधान सभा को, अर्थात् यहाँ के लोग भारत में मिलना चाहते हैं या पाकिस्तान में। यहाँ पर ऐसा इसलिए किया, क्योंकि यहाँ पर काँग्रेस का मन्त्रिमण्डल था।

(7) आसाम को इस योजना से बाहर रखा जायेगा, लेकिन आसाम के सिलहट जिले में मुसलमानों का बहुमत है, इसलिए वहाँ भी जनमत संग्रह द्वारा निर्णय लिया जाय कि वे भारत में मिलना चाहते हैं या पूर्वी पाकिस्तान में।

माउण्टबेटन के बाद पण्डित नेहरू ने रेडियो पर भावात्मक भाषण दिया और कहा, "मैं बहुत खुशी से इस प्रस्ताव की सिफारिश नहीं कर रहा। यद्यपि यह ठीक है कि मेरे दिमाग में इस बात पर कोई शंका नहीं कि इस समय यही सबसे अच्छा रास्ता है।" जिन्ना उस दिन बड़ा उदास और ठण्डा था, क्योंकि जिस क्षेत्र के लिए वह 'दीमक लगा पाकिस्तान' कह रहा था अब वही दीमक लगा पाकिस्तान लेकर ही उसे सन्तुष्ट होना पड़ रहा था। अतः उसने रेडियो पर कहा, "यह हम लोगों के लिए सोचने की बात है कि जो योजना बर्तानिया सरकार सामने रख रही है, उसे हम लोग समझौता—आखिरी सौदे के रूप में स्वीकार करें।" फिर उसकी सूखी आवाज में सुनाई

पड़ा, 'पाकिस्तान जिन्दाबाद'। सिक्ख नेता बलदेवसिंह के दिमाग में इस योजना के बारे में कोई शंका नहीं थी। उसने कहा, "यह समझौता नहीं था, आखिरी सौदा था। इसमें हर किसी को खुशी नहीं होगी, सिक्खों को तो हरगिज नहीं। लेकिन फिर भी यह गुजारे लायक है। हम लोगों को इसे मान लेना चाहिये।"

इस प्रकार माउण्टबेटन योजना को सभी भारतीय नेताओं ने स्वीकार कर लिया। लेकिन सत्ता हस्तान्तरित करने की तारीख निश्चित नहीं की गई थी। योजना की स्वीकृति के बाद 14 जून, 1947 को वायसराय ने अपनी प्रेस कॉन्फ्रेन्स में सत्ता हस्तान्तरित करने की तिथि 15 अगस्त, 1947 घोषित कर दी। इस घोषणा से स्वयं ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एटली भी अचंभित रह गया। अतः जल्द से जल्द विधेयक का प्रारूप तैयार किया गया और 22 जून को तार द्वारा माउण्टबेटन के पास भेजा गया। किन्तु विधेयक में सत्ता सौंपने की तारीख 15 अगस्त, 1947 का जिक्र नहीं था। वायसराय ने 28 जून को तार द्वारा एटली को सूचित किया, "प्रेस कॉन्फ्रेन्स में तथा भारतीय नेताओं को मैंने जो आश्वासन दिया है उसे देखते हुए मैं जोरदार सिफारिश करता हूँ कि सत्ता सौंपने की तारीख 15 अगस्त, 1947 रखी जाय। इसके बाद की तारीख रखी गई तो मौजूदा नाजुक हालत में मनोवैज्ञानिक तौर पर उल्टा असर पड़ेगा।" प्रधानमन्त्री एटली ने स्वीकार कर लिया और विधेयक में 15 अगस्त, 1947 जोड़ दिया गया। ब्रिटिश संसद ने 4 जुलाई, 1947 को यह विधेयक भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 के नाम से पारित कर दिया। इस अधिनियम के अनुसार 15 अगस्त, 1947 को भारत और पाकिस्तान नामक दो अधिराज्य बना दिये जायेंगे और ब्रिटिश सरकार उन्हें सत्ता सौंप देगी। जब तक नया संविधान न बन जाय तब तक दोनों अधिराज्यों की संविधान सभाओं को अपने-अपने अधिराज्य के लिए कानून बनाने की अनुमति दे दी गई। संविधान सभाओं को संविधान बनाने की शक्ति के अतिरिक्त वे समस्त शक्तियाँ प्रदान की गईं जो 1947 ई. से पहले केन्द्रीय विधान मण्डल के पास थीं। ब्रिटिश सरकार की देशी रियासतों पर सर्वोच्चता समाप्त कर दी गई। ब्रिटिश सरकार की देशी रियासतों से हुई समस्त सन्धियाँ समाप्त कर दी गईं। जब तक देशी रियासतों और भारत सरकार में बातचीत द्वारा कुछ तय न हो जाय, भारत सरकार और देशी रियासतों में पहला सम्बन्ध कायम रहेगा। इसका अर्थ यह था कि देशी रियासतें स्वयं इस बात का निर्णय करेंगी कि वह किस अधिराज्य में अपना अस्तित्व रखेंगी।

भारत-विभाजन के कारण—भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के अनुसार भारत का बँटवारा कर दिया गया और 15 अगस्त, 1947 को दोनों को स्वतन्त्रता दे दी गई। महात्मा गाँधी विभाजन के कट्टर विरोधी थे। लेकिन काँग्रेस के अधिवेशन में माउण्टबेटन योजना का समर्थन करते हुए महात्मा गाँधी ने कहा था, "मैं विभाजन का आरम्भ से ही विरोधी रहा हूँ, किन्तु अब परिस्थिति ऐसी उत्पन्न हो गई है कि दूसरा कोई रास्ता नहीं है।" अब प्रश्न यह उठता है कि किन परिस्थितियों से प्रेरित होकर काँग्रेस ने भारत का विभाजन स्वीकार किया ? भारत-विभाजन की परिस्थिति निम्नलिखित कारणों में अन्तर्निहित है—

(1) साम्प्रदायिक दंगे—मुस्लिम-लीग ने पाकिस्तान प्राप्त करने के लिए सीधी कार्यवाही शुरू करके साम्प्रदायिक दंगों का सूत्रपात किया था। इन दंगों में भीषण हत्याकाण्ड हुआ और

अपार सम्पत्ति का विनाश हुआ। अन्तरिम सरकार इन दंगों को रोकने में असमर्थ थी, क्योंकि मुस्लिम-लीग की प्रान्तीय सरकारें भी उपद्रवकारियों की सहायता कर रही थीं। यद्यपि अन्तरिम सरकार में सरदार बलदेवसिंह प्रतिरक्षा मन्त्री थे, किन्तु सेना और पुलिस पर उनका नियन्त्रण नहीं था, क्योंकि इन पर अँग्रेजों ने अन्त तक अपना ही नियन्त्रण रखा था। ये दंगे निश्चित रूप से योजनाबद्ध थे और इनका एकमात्र उद्देश्य काँग्रेस को आतंकित करके विभाजन का प्रस्ताव स्वीकार कराना था। यदि अँग्रेज चाहते तो इन दंगों को रोक सकते थे, लेकिन उन्होंने जानबूझकर ऐसा नहीं किया, क्योंकि वे यह बताना चाहते थे कि यदि भारत को स्वतन्त्रता दे दी जाती है तो यहाँ के लोग आपस में ही कट मरेंगे। यद्यपि गाँधीजी शान्ति के मूल्य को चुकाने के लिए देश का बँटवारा स्वीकार करने को तैयार नहीं थे, किन्तु काँग्रेस को भय था कि यदि यही स्थिति रही तो देश की अराजकता बेकाबू हो जायेगी। ऐसी परिस्थिति में इन दंगों को तुरन्त रोकना आवश्यक था। इन दंगों को बन्द करने तथा बेगुनाह लोगों की हत्याएँ रोकने के लिये विभाजन के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था।

(2) अँग्रेज प्रशासकों के षड्यन्त्र—आरम्भ से ही अँग्रेज प्रशासकों की सहानुभूति मुसलमानों के साथ थी। वस्तुतः साम्प्रदायिकता का बीजारोपण भी अँग्रेजों ने किया था, जबकि उन्होंने मुसलमानों को विधान मण्डलों में उनके लिए अलग स्थान देने के लिये प्रोत्साहित किया। सुधार अधिनियमों में साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली को स्थान देकर हिन्दू-मुसलमानों के वैमनस्य को और अधिक बढ़ावा दिया। आगे चलकर उन्होंने मुस्लिम-लीग की पृथक् राज्य की माँग का समर्थन करके उन्हें खूब प्रोत्साहित किया। साम्प्रदायिक दंगों से स्थिति बहुत खराब हो रही थी और मुसलमानों को पुलिस, प्रतिरक्षा, सूचना और यातायात विभाग में महत्त्वपूर्ण पदों पर लगाया जा रहा था। मुस्लिम-लीग के समर्थक गैर-कानूनी रूप से गोला-बारूद और शस्त्र एकत्रित कर रहे थे। अन्तरिम सरकार में मुस्लिम लीग के सदस्य काँग्रेसी मन्त्रियों के लिए सरदर्द बन गये। अन्त में पण्डित नेहरू ने तंग आकर कहा कि, "हम सरदर्द से छुटकारा पाने के लिए सिर कटवाने को तैयार हो गये।" सरदार पटेल ने नवम्बर, 1947 में नागपुर में भाषण देते हुए कहा कि, "जब अन्तरिम सरकार में आने के बाद मुझे यह पूर्ण अनुभव हो गया कि राजनैतिक विभाग के षड्यन्त्रों द्वारा भारत के हितों को बड़ी हानि पहुँच रही है तो मुझे विश्वास हो गया कि जितना जल्दी हम अँग्रेजों से छुटकारा पा लें उतना ही अच्छा है....मैंने उस समय महसूस किया कि भारत को मजबूत और सुरक्षित करने का यह तरीका है कि शेष भारत को संगठित किया जाय।" वस्तुतः मुस्लिम-लीग के सदस्यों ने सरकार चलाना भी असम्भव कर दिया था। इसलिए सरदार पटेल ने कहा था, "मैं देश के बँटवारे के लिए उस समय माना, जबकि इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहा। हम उस समय ऐसी अवस्था पर पहुँच गये थे कि यदि हम देश का बँटवारा न मानते तो सब कुछ हमारे हाथ से चला जाता।"

(3) अविलम्ब स्वतन्त्रता के लिए—काँग्रेस ने देश का विभाजन अविलम्ब स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए भी स्वीकार कर लिया। अँग्रेज हमेशा मुस्लिम-लीग का पक्ष लेते रहे। लॉर्ड वेवल मुस्लिम-लीग के बिना संविधान सभा बुलाने को तैयार नहीं हुआ और उसे अन्तरिम सरकार में सम्मिलित करने के लिये भारत सचिव के निर्देशों की भी अवहेलना की। मुस्लिम-लीग को

अन्तरिम सरकार में इसलिए लिया गया कि अँग्रेज दोनों के मतभेदों का बहाना लेकर भारत में रहना चाहते थे। माउण्टबेटन ने यह स्पष्ट कर दिया था कि, "यदि ऐसी परिस्थिति में हिन्दुस्तान की पार्टियाँ हमें ठहरने के लिए कहेंगी, तो हमें ठहरना पड़ेगा।" अतः काँग्रेस को विश्वास हो गया था कि यदि अँग्रेज शीघ्रातिशीघ्र भारत को स्वतन्त्र कर भारत से चले नहीं जाते तो भारत अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जायेगा। अन्तरिम सरकार में लीग के विभागों में उच्च पदों से लेकर चपरासी तक मुसलमान भरे जा रहे थे और हिन्दुओं को निकाला जा रहा था। इसलिये सरदार पटेल ने कहा था कि यदि पाकिस्तान स्वीकार नहीं किया जाता तो प्रत्येक दफ्तर में पाकिस्तान की एक इकाई स्थापित हो जाती। अन्तरिम सरकार में काँग्रेसी सदस्यों को यह भलीभाँति ज्ञात हो गया था कि अँग्रेज-मुस्लिम-लीग गठबन्धन देश के लिए घातक बनता जा रहा है। सरदार पटेल ने कहा, "मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि सबसे अच्छा तरीका यह है कि अँग्रेजों को भारत से शीघ्र से शीघ्र निकाला जाय, चाहे देश का बँटवारा भी करना पड़े।" काँग्रेस की बैठक में माउण्टबेटन योजना पर विचार प्रकट करते हुए गोविन्दवल्लभ पन्त ने कहा था, "3 जून, 1947 की योजना की स्वीकृति ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये एकमात्र मार्ग है...आज काँग्रेस को या तो इस योजना को स्वीकार करना है अथवा आत्महत्या करनी है।"

(4) काँग्रेस की त्रुटिपूर्ण नीति—काँग्रेस सदैव मुस्लिम-लीग से समझौता करने को उत्सुक रहती थी, इससे लीग का अनावश्यक महत्त्व बढ़ गया और वह समझने लगी, उसके बिना काँग्रेस भारत की संवैधानिक समस्या को हल नहीं कर सकती। काँग्रेस ने 1916 में लखनऊ पैक्ट में लीग की बहुत-सी बातें मान लीं। सी. आर. फार्मूले में पाकिस्तान की माँग काफी सीमा तक मान ली गई और इस फार्मूले के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए गाँधीजी, जिन्ना के पीछे भागते रहे। 14 जून, 1947 को काँग्रेस कमेटी की बैठक में पण्डित नेहरू ने कहा, "काँग्रेस भारतीय संघ में किसी भी इकाई को बलपूर्वक रखने के विरुद्ध रही है।" सरदार पटेल के भाषणों में भी इस बात को समर्थन मिलता रहा। इन परिस्थितियों में जिन्ना को यह समझते देर नहीं लगी कि काँग्रेस विवश होकर पाकिस्तान की माँग भी स्वीकार कर लेगी। मुस्लिम-लीग को अनावश्यक महत्त्व देना और उसके पीछे भागना काँग्रेस की सबसे बड़ी गलती थी।

(5) सशक्त भारत की इच्छा—काँग्रेस के नेता मुस्लिम-लीग की अडंगा नीति और तोड़-फोड़ की नीति से तंग आ चुके थे। इसलिए उन्होंने अनुभव किया कि मुस्लिम लीग की इस नीति के कारण भारत कभी सशक्त राज्य नहीं बन सकेगा, जैसा कि सरदार पटेल ने कहा था कि, "मैंने उस समय महसूस किया कि भारत को मजबूत और सुरक्षित करने का यही तरीका है कि शेष भारत को संगठित किया जाय।" मुस्लिम-लीग केन्द्र को शक्तिशाली नहीं देखना चाहती थी। इसलिए मन्त्रिमण्डल मिशन योजना में मुस्लिम-लीग की इस माँग को स्वीकार करते हुए केन्द्र को निर्वल बनाया गया। केन्द्र के निर्बल रहने से भारत कभी भी शक्तिशाली राष्ट्र नहीं बन सकता था। संयुक्त भारत के लिये लीग से समझौता करने का अर्थ होता—निर्बल व शक्तिहीन भारत। इसलिए सरदार पटेल ने कहा, "बँटवारे के बाद हम कम से कम 75 या 80 प्रतिशत भाग को शक्तिशाली बना सकते हैं, शेष को मुस्लिम-लीग बना सकती है।" इसलिए काँग्रेस को भारत को शक्तिशाली बनाने की इच्छा के कारण उसे देश का विभाजन स्वीकार करना पड़ा।

(6) जिन्ना की हठधर्मी—भारत के राष्ट्रवादी नेताओं का विचार था कि हमारा संघर्ष मुख्य रूप से अँग्रेजों के साथ है। इसलिए काँग्रेसी नेता जिन्ना से बातचीत करने को सदैव तत्पर रहते थे। जिन्ना ने सदैव इसका अनुचित लाभ उठाया और सदैव अपनी माँगों को बढ़ाना जारी रखा। जिन्ना की हठधर्मी के कारण गोलमेज सम्मेलन और वेवल योजना असफल हो गयी और साम्प्रदायिक समस्या का कोई हल नहीं निकल सका। वह सदैव काँग्रेस को एक हिन्दू संस्था सिद्ध करने का प्रयास करता था। 1937 के चुनावों के बाद जिन प्रान्तों में काँग्रेस सरकारें बनी, उन पर लगातार मनगढ़न्त आरोप लगाकर उन्हें मुसलमानों पर अत्याचार करने वाली सरकारें बताता रहा। द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ होने पर जब काँग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने त्याग-पत्र दिये तो जिन्ना ने 'मुक्ति दिवस' मनाया। ऐसी परिस्थिति में सरदार पटेल, मौलना आजाद तथा अन्य काँग्रेसी नेता इस बात के विरुद्ध थे कि गाँधीजी, व्यर्थ में जिन्ना के पीछे भागकर उसके मान-सम्मान में वृद्धि करें। गाँधीजी द्वारा बार-बार जिन्ना से बातचीत करने का परिणाम यह निकला कि जिन्ना की हठधर्मी बढ़ती गई। उसने पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए देश भर में साम्प्रदायिक दंगे फैला दिये और हजारों निर्दोष लोगों के खून से होली खेलना आरम्भ कर दिया। पाकिस्तान प्राप्त करके भी वह शान्त नहीं हुआ। उसने पाकिस्तान के हिन्दुओं को भारत में लेने की माँग की और जब उसकी यह माँग नहीं मानी गई, तो उसने हिन्दुओं पर अमानवीय अत्याचार करके उन्हें बलपूर्वक वहाँ से निकाल दिया। जिन्ना की इस हठधर्मी को प्रोत्साहित करने में न केवल गाँधीजी ने योगदान दिया, बल्कि अँग्रेज प्रशासकों ने भी अपना योगदान दिया था। वस्तुतः अँग्रेज इसके लिए अधिक उत्तरदायी थे।

(7) अन्तरिम सरकार की असफलता—पण्डित नेहरू और सरदार पटेल अन्तरिम सरकार में मुस्लिम-लीग की कार्यवाही देखकर बहुत दुःखी हुए। अन्तरिम सरकार में लियाकत अली वित्तमन्त्री थे, जो काँग्रेस मन्त्रियों की योजना में सदैव बाधा उपस्थित करते रहे। काँग्रेस मन्त्रियों के विभागों को आवश्यक धन स्वीकृत न करके उन्हें बदनाम करने का प्रयास करते रहे और सरकार का चलना बिल्कुल असम्भव बना दिया। मुस्लिम-लीग अन्तरिम सरकार में इसलिये शामिल हुई थी, क्योंकि मुसलमानों के हितों को वह काँग्रेस के हाथों में नहीं सौंपना चाहती थी और अपने मुकाबले में काँग्रेस को अपनी स्थिति मजबूत न करने देना चाहती थी। ऐसी स्थिति में दोनों में सहयोग उत्पन्न हो ही नहीं सकता था। इसलिए पटेल ने कहा, "यदि शरीर का एक भाग खराब हो जाय तो उसको शीघ्र हटाना ठीक है, ताकि सारे शरीर में जहर न फैले। मैं मुस्लिम-लीग से छुटकारा पाने के लिए भारत का कुछ भाग देने के लिये तैयार हूँ।"

(8) माउण्टबेटन का प्रभाव—साम्प्रदायिक दंगों के कारण स्थिति अनियन्त्रित होती जा रही थी। इसलिये माउण्टबेटन ने अनुभव किया कि भारत को विभाजित करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। अँग्रेजों ने भारत छोड़ने की तिथि जून, 1948 की बजाय 15 अगस्त, 1947 घोषित कर दी थी, अतः काँग्रेस के सामने केवल दो विकल्प थे—गृह-युद्ध या पाकिस्तान। माउण्टबेटन ने अपने प्रभाव का प्रयोग करते हुए समझाया कि संयुक्त भारत में मुस्लिम-लीग कभी शान्ति और व्यवस्था नहीं रहने देगी, शान्ति और व्यवस्था के अभाव में देश सदैव निर्बल रहेगा और फिर जब कोई सम्प्रदाय भारत में रहना ही नहीं चाहता तो उसे इसके लिए कैसे विवश

किया जा सकता है। माउण्टबेटन के अकाट्य तर्कों का प्रभाव पण्डित नेहरू और सरदार पटेल पर पड़ा। पण्डित नेहरू ने कहा था कि, "यदि हमें आजादी मिल भी जाती, तो भारत निस्सन्देह निर्बल रहता, जिसमें इकाइयों के पास बहुत अधिक शक्तियाँ रहतीं और संयुक्त भारत में सदैव कलह और झगड़े रहते। इसलिए हमने देश का बँटवारा स्वीकार कर लिया ताकि हम भारत को शक्तिशाली बना सकें। जब दूसरे (मुस्लिम-लीगी मुसलमान) हमारे साथ रहना ही नहीं चाहते तो हम उन्हें क्यों और कैसे मजबूर कर सकते थे ?" इन वक्तव्यों से स्पष्ट पता चलता है कि माउण्टबेटन ने अपने प्रभाव का प्रयोग करके पण्डित नेहरू व सरदार पटेल को देश-विभाजन के लिए तैयार किया था। काँग्रेसी नेताओं के पास भी बँटवारा स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था।

उपर्युक्त कारणों से देश का विभाजन अनिवार्य हो गया। वस्तुतः देश का विभाजन मुस्लिम-लीग का एक षड्यन्त्र था, जिसके फलस्वरूप देश में जन-हत्याएँ हुईं और अपार सम्पत्ति का विनाश हुआ। जिन्ना ने देश के साम्प्रदायिक दंगों को उसकी चरम सीमा पर पहुँचा दिया था, फिर भी उसे विभाजन के बाद सन्तोष नहीं हुआ। जिन्ना भारत में खून की होली खेलकर भी 'कटा-पिटा-दीमक-लगा' पाकिस्तान ले पाया। जिस पाकिस्तान के निर्माण का स्वप्न 1930 में मोहम्मद इकबाल ने देखा था तथा मुस्लिम-लीग ने राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों को तिलाञ्जली देकर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया, वह पाकिस्तान एक स्वप्न ही रहा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी पाकिस्तान में जो घटनाएँ घटीं और भारत में उसकी प्रतिक्रिया हुई, उससे इतिहास कलंकित है।

भारत की स्वतन्त्रता में सहायक तत्त्व—भारत की स्वतन्त्रता में अनेक तत्त्वों ने योगदान दिया था। 1857 के बाद भारत में जो राष्ट्रीय जागरण उत्पन्न हुआ, उस राष्ट्रीय जागरण में अनेक तत्त्व अन्तर्निहित थे। अतः मौलिक रूप से भारत की स्वतन्त्रता में निम्नलिखित तत्त्व सहायक सिद्ध हुए—

(1) गाँधीजी के नेतृत्व में हुए राष्ट्रीय आन्दोलनों का भारत की स्वतन्त्रता में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। बाह्य रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन और भारत छोड़ो आन्दोलन अपने लक्ष्यों को प्राप्त न कर सके, किन्तु इन आन्दोलनों के फलस्वरूप लोगों का ब्रिटिश शासकों की शक्ति में विश्वास समाप्त हो गया और जनता ब्रिटिश शासकों से सीधी टक्कर लेने लगी। स्थानीय जनता के सहयोग के बिना कोई भी शासक सफलतापूर्वक शासन नहीं कर सकता। शान्तिपूर्ण असहयोग आन्दोलन का प्रभाव राष्ट्रव्यापी हो चुका था और शान्तिपूर्ण आन्दोलनकारियों पर गोलियाँ चलाने व लाठियों की वर्षा करने से लोगों में विदेशी शासकों के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी थी।

(2) दूसरे विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन इतना कमजोर हो गया था कि वह भारत पर अधिक समय तक नियन्त्रण नहीं रख सकता था। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एटली ने स्वयं ब्रिटिश संसद में इस बात को स्वीकार किया था।

(3) देश में राष्ट्रीय जागरण केवल नागरिकों तक ही सीमित न रहा बल्कि इसकी लहर पुलिस व सेना तक पहुँच चुकी थी। आजाद हिन्द फौज के अधिकारियों पर चलाये गये मुकदमों

के फलस्वरूप सेना में भी नवीन चेतना आ गई थी। इसलिए 1946 में नौ-सेना का विद्रोह हुआ। इससे अँग्रेज भारतीय सेना की वफादारी पर सन्देह करने लगे थे और अँग्रेजों को विश्वास हो गया था कि भारतीय सेना पर निर्भर रहकर भारत पर शक्ति के बल पर शासन नहीं किया जा सकता।

(4) इंगलैण्ड में मजदूर दल की सरकार की स्थापना, भारत की स्वतन्त्रता के लिए एक महत्त्वपूर्ण बात थी। मजदूर दल भारत को स्वतन्त्रता देना चाहता था और सत्ता में आने से पूर्व ही आम चुनावों के अवसर पर उसने घोषित कर दिया था कि यदि मजदूर दल सत्ता में आया तो भारत को स्वतन्त्र कर देगा। इंगलैण्ड में जब तक अनुदार दल की सरकार रही, वह भारत में प्रजातीय विभेद की नीति एवं राष्ट्रीय आन्दोलन का दमन करने की नीति का अवलम्बन करती रही।

(5) मुस्लिम-लीग द्वारा फैलाये गये साम्प्रदायिक दंगों का प्रभाव सेना, पुलिस और प्रशासन में भी फैल चुका था। अतः अँग्रेजों के लिए केवल मुस्लिम-लीग की सहायता से अधिक समय तक प्रशासन चलाना असम्भव था।

(6) विश्व का जनमत भी इंगलैण्ड के विरुद्ध हो रहा था। अमेरिका और चीन निरन्तर इंगलैण्ड पर दबाव डाल रहे थे कि भारत को स्वतन्त्रता दे दी जाय। अतः इंगलैण्ड विश्व-जनमत की अवहेलना नहीं कर सकता था।

(7) इंगलैण्ड से शीघ्र स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये देश के बँटवारे को स्वीकार कर लिया था। यदि काँग्रेस देश के बँटवारे को स्वीकार नहीं करती तो मुस्लिम-लीग से कदापि समझौता नहीं हो सकता था। ऐसी परिस्थिति में अँग्रेज-मुस्लिम-लीग गठबन्धन देश की स्वतन्त्रता में देरी उत्पन्न कर सकते थे। अतः काँग्रेस ने देश की शीघ्र स्वतन्त्रता के लिए सबसे बड़ी कीमत चुकायी और वह कीमत थी—देश का बँटवारा।

(8) इंगलैण्ड द्वारा भारत को स्वतन्त्रता देना उसकी विवशता का भी द्योतक था। इंगलैण्ड की आर्थिक स्थिति बिगड़ती जा रही थी और उसे अमेरिका से भारी मात्रा में ऋण लेना पड़ रहा था। व्यापार सन्तुलन भी भारत के पक्ष में था, अतः युद्ध के समय भारत का भी ऋण इंगलैण्ड पर चढ़ गया था। अतः इंगलैण्ड के राजनीतिज्ञों में यह धारणा उत्पन्न हो गई थी कि भारत पर अधिक समय तक नियन्त्रण बनाये रखना आर्थिक दृष्टि से भी हानिकारक है।

यद्यपि स्वतन्त्रता-प्राप्ति में काँग्रेस का महान् योगदान था, परन्तु क्रान्तिकारियों और आंतककारियों के बलिदानों को सर्वथा भूल जाना भी अनुचित होगा। जिस समय सरकार बिल्कुल निरंकुश हो चुकी थी और काँग्रेस नेताओं का मनोबल गिर रहा था, इन क्रान्तिकारियों व आतंकवादियों ने ईंट का जवाब पत्थर से देकर राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर को गतिमान बनाये रखा। इसके अतिरिक्त भारतीय समाचार-पत्रों, लेखकों, विद्यार्थियों, पूँजीपतियों और साधारण जनता ने अपने ढँग से अन्दोलन में भाग लेकर भारतीय स्वतन्त्रता में सहायता दी।

अध्याय-17

भारत के स्वाधीनता संग्राम में महात्मा गाँधी, नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस का योगदान

भारत का स्वाधीनता संग्राम त्याग, अनुशासन और बलिदानों का इतिहास है। इसमें असंख्य लोगों का योगदान रहा है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद चूँकि राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व महात्मा गाँधी के हाथों में चला गया था, इसलिए प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारतीय राजनीति का इतिहास 'गाँधी युग' के नाम से प्रसिद्ध है। इस गाँधी युग के तीन महान् नेता—महात्मा गाँधी, पण्डित जवाहरलाल नेहरू और नेताजी सुभाष चन्द्र बोस, भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के त्रिरत्न है, जिनके त्याग और बलिदानों से हमारा स्वतन्त्रता संग्राम विश्व इतिहास का गौरवपूर्ण अध्याय बन गया है। अतः इस तीनों विभूतियों के कृतित्व और व्यक्तित्व का विवेचन करना समीचीन होगा।

महात्मा गाँधी

महात्मा गाँधी अपने युग के महान् नेता थे। तिलक की मृत्यु के बाद 1920 ई. से 1947 ई. तक यानी एक लम्बे समय तक गाँधीजी ने भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन का नेतृत्व कर देश को आजादी दिलाई। इसीलिए उन्हें भारत का 'राष्ट्रपिता' कहा जाता है। उन्होंने अपने इस आन्दोलन में सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह के साधनों का सफल प्रयोग कर राष्ट्रीय काँग्रेस को प्रभावशाली जन-आन्दोलन के रूप में संगठित किया। इस दौरान उन्होंने न केवल राजनीति को बल्कि भारतीय जीवन के सभी पक्षों—सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक व धार्मिक जीवन को प्रभावित किया। इस कारण इस काल को 'गाँधी युग' के नाम से पुकारा जाता है।

संक्षिप्त जीवनी (1869 ई.-1948 ई.)—मोहनदास करमचन्द गाँधी का जन्म गुजरात राज्य के पोरबन्दर नामक स्थान पर एक वैश्य परिवार में 2 अक्टूबर, 1869 ई. को हुआ था। इनके पिता करमचन्द गाँधी राजकोट रियासत के दीवान थे। इनकी माता पुतलीबाई अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थीं और उनका गाँधी पर क़ाफी प्रभाव पड़ा। 13 वर्ष की अल्पायु में ही उनका विवाह कस्तूरबा से कर दिया गया। भारत में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् 19 वर्ष की आयु (1888 ई.) में बैरिस्टरी की शिक्षा प्राप्त करने के लिए वह इंगलैण्ड गये। जाने से पूर्व उन्होंने

वहाँ शराब, स्त्री तथा मांस का स्पर्श न करने की शपथ ली और उसका पूरी तरह पालन भी किया। सन् 1891 ई. में इंगलैण्ड से वापिस लौटकर उन्होंने बम्बई में वकालत आरम्भ की। सन् 1893 ई. में वह एक मुकद्दमे की पैरवी के सिलसिले में दक्षिण अफ्रीका गये। वहाँ उन्होंने प्रवासी भारतवासियों के प्रति बरती जाने वाली रंगभेद नीति के विरुद्ध 20 वर्ष (1893-1914 ई.) तक अहिंसात्मक संघर्ष किया। जहाँ उन्हें अनेक यातनाओं तथा कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। गाँधीजी के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप अफ्रीका सरकार को अपने ऐसे अपमानजनक कानून हटाने पड़े जो उन्होंने भारतीयों के विरुद्ध बनाये थे। अफ्रीका में उनके कार्य के विषय में श्री गोखले ने लिखा था, "दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के अधिकारों की सुरक्षा निःसन्देह महात्मा गाँधी ने आरम्भ की। बिना किसी स्वार्थ या इच्छा के उन्होंने भारत के लिए एक महान् संघर्ष किया है जिनके लिए भारत उनका बहुत आभारी है।"

गाँधीजी का भारत आगमन—जनवरी 1915 में, वह भारत आ गये। साबरमती में उन्होंने एक आश्रम खोला। भारत आगमन के पश्चात् उन्होंने भारत में भी आन्दोलन प्रारम्भ कर यहाँ की स्थिति को ठीक करने का प्रयत्न किया। उन्होंने स्वयं लिखा था, "मैं भारत को उस तरीके को बताना चाहता था जिसका प्रयोग मैंने दक्षिण अफ्रीका में किया था और मैं जानना चाहता था कि भारत में उसका प्रयोग कहाँ तक सम्भव है।" 1915 ई. में वीरग्राम में आयात-कर को उन्होंने सत्याग्रह की धमकी देकर समाप्त कराया। 1917 ई. में गाँधीजी ने बिहार के चम्पारन जिले में गोरों द्वारा किसानों पर किए जाने वाले अत्याचारों के विरुद्ध सत्याग्रह किया और उसमें उन्हें सफलता प्राप्त हुई। 1919 ई. में वे अहमदाबाद के मजदूरों की स्थिति में सुधार करने में सफल हुए। इस समय तक काँग्रेस पर उनका काफी प्रभाव हो गया। 1914-1918 ई. में प्रथम विश्व युद्ध के समय भारतीयों द्वारा व्यापक पैमाने पर सहायता किये जाने के बदले अँग्रेजी सरकार ने यह कहा था कि युद्धोपरान्त भारतीयों को स्वशासन के अधिकार दे दिये जायेंगे। युद्ध समाप्ति के पश्चात् भारतीयों को स्वशासन के अधिकार के बदले 'रोलेट एक्ट' जैसा दमनकारी कानून मिला, जिसके अन्तर्गत किसी भी व्यक्ति को हिरासत में रखना तथा बिना मुकद्मा चलाए बन्दी बनाया जा सकता था। पंजाब में इस नियम का बड़ा विरोध हुआ। परिणामस्वरूप पंजाबियों पर अनेक अत्याचार हुए। जलियाँवाला बाग का प्रसिद्ध हत्याकाण्ड हुआ। ऐसी स्थिति में गाँधीजी ने देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथों में लिया।

गाँधीजी का नेतृत्व और असहयोग आन्दोलन—रोलेट एक्ट, पंजाबियों पर अत्याचार, जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड आदि बातों से क्षुब्ध होकर गाँधीजी ने अँग्रेजी सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन चलाने का निश्चय किया। सन् 1920 ई. के प्रथम कलकत्ता तथा द्वितीय नागपुर के अधिवेशनों में गाँधीजी की असहयोग योजना के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया तथा आन्दोलन प्रारम्भ करने का निर्णय लिया गया। गाँधीजी के नेतृत्व में 20 अगस्त, 1920 से इस आन्दोलन को प्रारम्भ किया गया, जिसमें निम्नलिखित बातों पर बल दिया गया—

(1) विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार तथा स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग, (2) सरकारी उपाधियों और पदों का त्याग, (3) सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार, (4) सरकारी अदालतों का बहिष्कार, (5) सरकार की नई धारासभाओं का बहिष्कार, (6) सरकारी

नौकरियों का बहिष्कार तथा (7) सरकारी दरबारों, स्वागत-समारोहों तथा उत्सवों का बहिष्कार। इन सब बहिष्कारों के द्वारा सरकार के साथ पूर्ण असहयोग करके वे सरकारी तन्त्र को विफल कर देना चाहते थे। इस बहिष्कार-कार्यक्रम के साथ काँग्रेस ने कुछ रचनात्मक कार्यक्रम भी अपनाये, जैसे—(i) बच्चों की शिक्षा के लिए राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाएँ खोलना, (ii) विवादों को निपटाने के लिए अपनी पंचायती अदालतें स्थापित करना, (iii) छुआछूत को दूर करना, (iv) स्वदेशी वस्त्रों का प्रयोग तथा खादी बुनने के लिए घर-घर सूत कातना, (v) हिन्दू-मुस्लिम एकता को बढ़ावा देना आदि।

गाँधीजी का यह आन्दोलन बड़ी तेजी से फैला। सैकड़ों राज्य कर्मचारियों ने नौकरियाँ छोड़ दीं। मजिस्ट्रेटों ने त्याग-पत्र दे दिये और वकीलों ने अदालतों का बहिष्कार किया। छात्र भी शिक्षण संस्थाओं को छोड़ने में पीछे नहीं रहे। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया और स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने का प्रचार किया गया। जब आन्दोलन तेजी पर था और सफलता के साथ चल रहा था कि 5 फरवरी, 1922 ई. को उत्तर-प्रदेश के गोरखपुर जिले में चौरी-चौरा नामक स्थान पर एक उत्तेजित भीड़ ने एक पुलिस चौकी में आग लगा दी जिसमें 1 थानेदार और 21 सिपाही जीवित जल गये। इस अहिंसात्मक काण्ड से गाँधीजी के हृदय को भारी ठेस पहुँची, क्योंकि वे आन्दोलन को अहिंसात्मक तरीके से चलाना चाहते थे। अतः आन्दोलन समाप्त कर दिया गया। यद्यपि इससे बहुत से लोग गाँधीजी से नाराज हुए। सरकार ने भी गाँधी पर मुकदमा चलाया और उन्हें 6 वर्ष का कारावास का दण्ड मिला।

असहयोग आन्दोलन लगभग 2 वर्ष चलकर बिना किसी लक्ष्य को प्राप्त किये समाप्त हो गया किन्तु अनेक दृष्टिकोण से यह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। वास्तव में यह प्रथम आन्दोलन था जिसका संचालन राष्ट्रव्यापी रूप से किया गया। प्रथम बार सारे राष्ट्र में एक नई चेतना, एक नई जागृति एवं उत्साह उत्पन्न हुआ तथा मजदूर, किसान तथा आम जनता ने इसमें सक्रिय भाग लिया। इस आन्दोलन ने भारतीयों को सत्याग्रह के रूप में अहिंसा का ऐसा शक्तिशाली अस्त्र प्रदान किया, जिसका सरकार के पास कोई उत्तर न था। आगे चलकर इसी अस्त्र का सफलतापूर्वक प्रयोग कर देश ने स्वतन्त्रता प्राप्त की।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930 ई.) —असहयोग आन्दोलन से देश में जागृति पैदा हो गयी थी। 1919 के सुधार अधिनियम द्वारा संचालित—शासन-व्यवस्था की सफलताओं तथा विफलताओं की जानकारी प्राप्त करने के लिए जब 1927 ई. में भारत में 'साइमन कमीशन' आया तो सारे देश में इसका बहिष्कार किया गया। 'साइमन कमीशन वापस जाओ' के नारों से देश गूँज उठा। राजनैतिक वातावरण में जोश आ गया। ऐसे समय में 31 दिसम्बर, 1929 की मध्यरात्रि को लाहौर अधिवेशन में काँग्रेस ने पं. जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में 'पूर्ण-स्वराज्य' को अपना लक्ष्य स्वीकार किया। काँग्रेस के आदेश से 26 जनवरी, 1930 का दिन सारे देश में 'स्वतन्त्रता दिवस' के रूप में मनाया गया।

पूर्ण स्वराज्य का लक्ष्य निश्चित करने के बाद काँग्रेस ने देशभर में गाँधीजी के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया। इस आन्दोलन में निम्नलिखित कार्यक्रम रखे गये—(1) जगह-जगह पर नमक कानून को तोड़कर नमक बनाया जाय।

(2) सरकारी नौकरियों, उपाधियों, स्कूलों, कॉलेजों, न्यायालयों आदि का बहिष्कार किया जाय। (3) स्त्रियाँ शराब, अफीम और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना दें। (4) विदेशी वस्त्रों को जलाया जाय। (5) जनता सरकार को टेक्स न दे। 6 अप्रैल, 1930 को गाँधीजी साबरमती आश्रम से 200 मील की लम्बी यात्रा पैदल तय कर समुद्र तट पर पहुँचे और नमक कानून को तोड़कर नमक बनाकर आन्दोलन का उद्घाटन किया। सारे देश में सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू हो गया। गाँधीजी का अनुसरण कर हजारों लोगों ने जगह-जगह सरकारी कानूनों को भंग किया। विदेशी वस्त्रों की होलियाँ जलाई गईं। स्त्रियों द्वारा पर्दा त्यागकर शराब आदि की दुकानों पर धरने दिये गये। किसानों ने भी सरकार को कर देने से इन्कार कर दिया। अँग्रेजी शासन को भारी धक्का लगा। सरकार ने आन्दोलन को दबाने के लिए बड़ी क्रूरता से काम लिया। जगह-जगह लाठी प्रहार तथा गोलियाँ चलीं। गाँधीजी तथा अनेक अन्य बड़े-बड़े नेताओं को बन्दी बना लिया गया। लगभग 90 हजार स्त्री-पुरुष जेलों में ठूँस दिये गये।

गाँधी-इरविन समझौता तथा द्वितीय गोलमेज कांफ्रेंस—जिस समय आन्दोलन चल रहा था, अँग्रेज सरकार ने इंगलैण्ड में भारतीय नेताओं से बातचीत के लिए लन्दन में एक 'गोलमेज सभा' का आयोजन किया। काँग्रेस ने इसका बहिष्कार किया अतः गोलमेज सम्मेलन पूरी तरह असफल रहा। ऐसी स्थिति में भारत के तत्कालीन वायसराय लॉर्ड इरविन ने गाँधीजी के साथ समझौता किया। 5 मार्च, 1931 ई. को गाँधीजी ने आन्दोलन स्थगित करने तथा लन्दन में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में शामिल होना स्वीकार कर लिया था। सरकार ने सभी राजनैतिक बन्दियों को रिहा कर दिया और उनकी जब्त की गई सम्पत्ति लौटा दी गई। नवम्बर, 1931 ई. में गाँधीजी ने काँग्रेस की ओर से लन्दन में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर विभिन्न दलों में कोई समझौता नहीं हो सका। गाँधीजी वापिस भारत आ गये। अतः 1932 ई. में काँग्रेस ने गाँधीजी के नेतृत्व में पुनः सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। सरकार ने दमनचक्र तेज कर दिया। काँग्रेस को गैर-कानूनी संस्था घोषित कर दिया। गाँधीजी, पटेल आदि अनेक नेता बन्दी बनाये गये। करीब एक लाख बीस हजार व्यक्तियों को बन्दी बनाया गया। देश की परिवर्तित परिस्थितियों को देखते हुए। 7 अप्रैल, 1934 ई. को गाँधीजी ने इस आन्दोलन को बिल्कुल बन्द कर दिया।

साम्प्रदायिक निर्णय, गाँधीजी का आमरण अनशन तथा पूना समझौता—ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मैकडॉनल्ड ने अपनी ओर से भारत की साम्प्रदायिक समस्या के हल के लिये 'मैकडॉनल्ड पंचाट' या साम्प्रदायिक पंचाट घोषित किया। उसके अनुसार मुसलमानों व ईसाइयों की तरह हरिजनों को भी पृथक् अल्पमत मानते हुए उन्हें अलग से प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था की। इस प्रकार हरिजनों तथा अछूतों को हिन्दुओं से अलग करने का प्रयत्न किया गया। भारतीय राष्ट्रवाद को कमजोर करने की यह एक चाल थी। गाँधीजी ने इसके विरुद्ध जेल में 20 सितम्बर, 1932 ई. से आमरण अनशन प्रारम्भ किया। आखिर पूना जेल में महात्मा गाँधी और हरिजन नेता डॉ. अम्बेडकर के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार हरिजनों ने पृथक् चुनाव की माँग त्याग दी।

सन् 1935 में ब्रिटिश सरकार ने '1935 का भारत अधिनियम' पारित किया। इसके अन्तर्गत प्रान्तीय प्रशासन की जिम्मेदारी भारतीयों को सौंपी गई थी। गाँधीजी की सहमति से काँग्रेस ने चुनावों में भाग लेकर 8 प्रान्तों में अपने मन्त्रिमण्डल बनाये। इन काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने गाँधीजी के अनेक रचनात्मक कार्यों को कार्यान्वित किया। 1939 ई. में द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो जाने पर ब्रिटिश सरकार ने बिना काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल की सहमति के भारत को भी युद्ध में शामिल कर लिया। विरोधस्वरूप काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने स्तीफे दे दिये।

भारत छोड़ो आन्दोलन (1942 ई.)—काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के त्याग-पत्र देने के बाद काँग्रेस ने गाँधीजी के नेतृत्व में अक्टूबर, 1940 ई. को व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ किया। हजारों व्यक्ति फिर जेल में गये। ऐसी स्थिति में सरकार ने समझौते का प्रयत्न किया। इस कार्य के लिए मार्च, 1942 में सर स्टेफर्ड क्रिप्स भारत आये। गाँधीजी तथा काँग्रेस ने क्रिप्स प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया। क्रिप्स के जाने के बाद फिर आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। अब भारतीय नेताओं ने समझ लिया कि अँग्रेज सरकार भारत को स्वतन्त्रता नहीं देना चाहती है। अन्त में काँग्रेस महासमिति ने 8 अगस्त, 1942 को बम्बई में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के ऐतिहासिक प्रस्ताव को पारित किया। इस प्रस्ताव के अनुसार भारत में ब्रिटिश शासन के तुरन्त हट जाने की माँग की और माँग न मानी जाने पर गाँधीजी के नेतृत्व में एक अत्यधिक व्यापक पैमाने पर अहिंसात्मक संघर्ष छेड़ने का निर्णय किया गया। गाँधीजी ने इस समय देश को 'करो या मरो' का नारा दिया। गाँधीजी सहित काँग्रेस कार्यकारिणी के अनेक सदस्य दूसरे दिन 9 अगस्त को गिरफ्तार कर किसी अज्ञात स्थान पर भेज दिये गये। काँग्रेस को अवैध संगठन घोषित कर दिया गया। गाँधीजी तथा नेताओं की अनुपस्थिति में भी आन्दोलन चलता रहा। लोग भारी संख्या में जेलों में ठूँस दिये गये। सरकार के अत्याचारों से भड़क कर कई जगह हिंसात्मक घटनाएँ भी घटीं। गाँधीजी को मालूम होने पर उन्होंने जेल में उपवास किया। मई, 1944 ई. में उन्हें जेल से रिहा कर दिया गया।

केबिनेट मिशन एवं स्वतन्त्रता प्राप्ति—1945 ई. में द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद इंगलैण्ड में नये चुनाव हुए और एटली के नेतृत्व में लेबर पार्टी की सरकार बनी। इस पार्टी की भारतीय जनमत के प्रति सहानुभूति थी। अतः भारतीय समस्या के समाधान के लिए तीन सदस्यों का एक मन्त्रिमण्डल मिशन भेजा। इस मिशन ने भारतीय नेताओं से विचारविमर्श किया। इस मिशन की योजना के अनुसार एक अन्तरिम सरकार बनाने की बात थी परन्तु काँग्रेस तथा मुस्लिम-लीग दोनों ने ही उस योजना को स्वीकार नहीं किया। इस समय तक हिन्दू-मुस्लिम दंगे बहुत ज्यादा बढ़ गये थे। मुस्लिम-लीग जिन्ना के नेतृत्व में अलग पाकिस्तान की माँग पर अडिग थी। यद्यपि गाँधीजी ने जिन्ना से साम्प्रदायिक समस्या को हल करने के लिए बातचीत भी की परन्तु कोई नतीजा नहीं निकला।

साम्प्रदायिक दंगे बढ़ने लगे तथा देश में अराजकता के लक्षण दिखाई देने लगे। ऐसी दशा में ब्रिटिश सरकार ने लॉर्ड वेवल को बुलाकर उसके स्थान पर लॉर्ड माउण्टबेटन को वायसराय बनाकर भेजा। अन्त में लॉर्ड माउण्टबेटन ने देश के विभाजन की एक नई योजना रखी जिसे काँग्रेस तथा मुस्लिम-लीग दोनों ने स्वीकार कर लिया। महात्मा गाँधी ने जीवन भर देश के विभाजन का विरोध किया था किन्तु जब मुस्लिम-लीग ने सारे देश में साम्प्रदायिक दंगे भड़का

दिये तो गाँधीजी तथा काँग्रेस के सामने सिवाय विभाजन को स्वीकार कर लेने के और कोई रास्ता नहीं था। इस विभाजन योजना के आधार पर ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने जुलाई, 1947 में 'भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम' पारित किया। जिसके अन्तर्गत 15 अगस्त, 1947 ई. को भारत व पाकिस्तान को ब्रिटिश साम्राज्य से स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। इस प्रकार पूज्य बापू का स्वतन्त्रता संग्राम सफल हुआ।

साम्प्रदायिक दंगों को शान्त करने का प्रयत्न तथा गाँधीजी की हत्या—स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भी अनेक स्थानों पर भयंकर साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे। हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान में भयानक मारकाट हुई। महात्मा गाँधी ने नोआखली में गाँव-गाँव घूमकर शान्ति व सद्भाव स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसके बाद वे बिहार गये और वहाँ शान्ति का वातावरण स्थापित करने के बाद कलकत्ता पहुँचे। साम्प्रदायिक वातावरण के विरुद्ध वहाँ उन्होंने 72 घण्टे का उपवास किया। अन्त में साम्प्रदायिकता के विरुद्ध संघर्ष करते हुए गाँधीजी 30 जनवरी, 1948 ई. को बिरला मन्दिर (दिल्ली) में एक प्रार्थना सभा के बीच नाथूराम गोडसे की गोली से शहीद हो गये।

महान् विचारक—महात्मा गाँधी एक महान् विचारक भी थे। उन्होंने स्वयं एक दर्शन को जन्म दिया जो भारत के लिए ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण संसार के लिए लाभप्रद है। भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—राजनीतिक, सामाजिक, शिक्षा, धार्मिक, स्त्री-उद्धार आदि पर उनका प्रभाव रहा। इस कारण भारतीय राजनीति ही नहीं बल्कि भारतीय सभ्यता भी उनकी ऋणी है। महात्मा गाँधी एक उच्च कोटि के लेखक थे और उनका लिखा हुआ साहित्य का संकलन करना और ठीक प्रकार से उसकी व्याख्या करना कठिन है। कुछ भारतीय विश्वविद्यालयों ने तो 'गाँधी-दर्शन' अध्ययन का एक विषय बना दिया है। इसके अतिरिक्त 'सत्य और अहिंसा' पर आधारित जो मानवता का सन्देश उन्होंने सम्पूर्ण संसार को दिया है, उसके कारण संसार उन्हें भारतीय राजनीतिज्ञ के रूप में ही नहीं बल्कि एक महात्मा के रूप में याद करता है।

गाँधीजी के राजनीतिक विचार—राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गाँधी की सबसे महान् देन राजनीति का आध्यात्मीकरण है। गाँधीजी की निगाह में राजनीति छल-प्रपंच का पर्याय न होकर मनुष्य के धर्माचरण का ही एक रूप है। वह अधिकारों के हथियाने को अपना मुख्य ध्येय नहीं मानती, प्रत्युत् उसका उद्देश्य मानवीय धरातल को उन्नत बनाना तथा मनुष्यों के बीच स्वतन्त्रता एवं बन्धुत्व की भावना को विकसित करना है।

गाँधीजी की राजनीति धर्म पर आधारित थी। सत्य, अहिंसा, नैतिकता, मानवता, त्याग, प्रेम, कष्ट को सहन करने की शक्ति, आत्म-विश्वास और सहायता उनके आधार थे। उन्होंने एक बार कहा था, "मेरे लिए धर्म के बिना राजनीति बेकार है। धर्महीन राजनीति मृत्यु-पाश के समान है, क्योंकि उससे आत्मा का हनन होता है।" उनका कहना था कि जो व्यक्ति धर्म को राजनीति से अलग करते हैं, उन्हें यह पता नहीं कि धर्म क्या है ? गाँधीजी की दृष्टि में धर्म किसी पुस्तक विशेष, पूजा, स्थान या क्रिया में नहीं बल्कि सत्य और न्याय की भावना में है। गाँधीजी का धर्म नैतिकता पर आधारित था अतः उनका कहना था कि राजनीति का भी वही आधार होना चाहिए। गाँधीजी ने हमेशा इस बात पर बल दिया कि केवल उद्देश्य का ही अच्छा होना पर्याप्त नहीं है, बल्कि उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनाये जाने वाले तरीके भी ठीक होने चाहिए। यहाँ यह

उल्लेखनीय है कि गाँधीजी के नेतृत्व में स्वतन्त्रता प्राप्ति के आन्दोलनों के दौरान जब भी हिंसक घटनाएँ घटित हुईं, गाँधीजी ने प्रबल जनमत के विरुद्ध भी आन्दोलनों को स्थगित कर दिया।

गाँधीजी का यह भी मानता था कि राज्यों को भी अपने नागरिको के साथ और अन्य राज्यों के साथ सत्य, न्याय और नैतिकता के नियमों के आधार पर व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार गाँधीजी ने राजनीति को कूटनीति और असत्य से उठाकर एक ऊँचे आदर्शवाद पर पहुँचा दिया जिसमें लक्ष्य और उसे प्राप्त करने के लिए अपनाये जाने वाले साधन दोनों का शुद्ध होना अनिवार्य माना गया। विश्व राजनीति को गाँधीजी की यह महत्त्वपूर्ण देन है।

सत्याग्रह व अहिंसा—भारतीय राजनीति को गाँधीजी की एक महत्त्वपूर्ण देन 'सत्याग्रह' है। सत्याग्रह संस्कृत भाषा का शब्द है जो 'सत्य' और 'आग्रह' दो शब्दों से मिलकर बना है और जिसका अर्थ है—सत्य के लिए आग्रह करना। सत्य का अर्थ 'उचित और न्यायपूर्ण' होता है और आग्रह से तात्पर्य "किसी वस्तु को इतनी शक्ति और धैर्य से पकड़ना कि वस्तु व्यक्ति के व्यक्तित्व का एक भाग बन जाय और उस वस्तु की रक्षा के लिए सभी प्रकार के कष्टों को सहन करना।" इस प्रकार सत्याग्रह वह कर्म है जिसे व्यक्ति न्याय और सत्य की रक्षा के लिए अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी करने को तत्पर रहे। गाँधीजी ने इसे प्रेम-शक्ति या आत्मिक-शक्ति भी कहा है। सत्याग्रह अहिंसा पर आधारित है। इस कारण गाँधीजी का कहना था कि व्यक्ति को सत्य की रक्षा और अत्याचार का विरोध मृत्युपर्यन्त करना चाहिए और साथ ही साथ विरोधी को भी कोई हानि नहीं पहुँचानी चाहिए। इस तरह सत्याग्रह दोहरा वरदान है। यह उसके लिए भी वरदान है जो इसका आचरण करता है और उसके लिए भी जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग किया जाय। सत्याग्रह एक ऐसा आध्यात्मिक हथियार है जो मनुष्य मात्र के प्रेम पर आधारित होता है, इसमें विरोधी के प्रति भी घृणा की भावना नहीं होती, यह कभी हिंसा में परिवर्तित नहीं हो सकता और यह सर्वदा नैतिकता की उन्नति करता है।

गाँधीजी अहिंसा के पुजारी थे। अहिंसा का अर्थ है—मन, वचन तथा कर्म से किसी को भी हानि न पहुँचाना। गाँधीजी की दृष्टि में अहिंसा का अर्थ असीम प्रेम था जिसका तात्पर्य अपने विरोधी को भी मन, वचन, कर्म से हानि न पहुँचाना था।

सत्याग्रह व अहिंसा में गाँधीजी की दृढ़ आस्था थी। उनकी मान्यता थी कि अहिंसा व सत्याग्रह द्वारा विदेशी आक्रमणकारी का भी प्रतिरोध किया जा सकता है। उन्होंने हमें यह भी बतलाया कि सत्याग्रह के नैतिक अस्त्र द्वारा किस प्रकार संसार के सबसे शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य का सामना किया जा सकता है। गाँधीजी ने सत्याग्रह और अहिंसा को सम्मिलित करके 'असहयोग आन्दोलन' और 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' को जन्म दिया था और भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम आन्दोलन को गति दी थी। इस प्रकार देश के राष्ट्रीय जीवन में राजनैतिक समस्याओं के समाधान के लिए व्यापक आधार पर सत्य और अहिंसा के प्रयोग का परीक्षण, गाँधीजी की न केवल भारत को, अपितु समस्त मानवता को एक अनूठी देन है।

राज्य-विहीन आदर्श समाज की कल्पना—गाँधीजी को कभी-कभी दार्शनिक अराजकतावादी भी कहा जाता है। क्योंकि वह अन्त में राज्य की कोई आवश्यकता नहीं समझते

थे। उनका कहना था कि एक आदर्श समाज में सरकार, पुलिस, जेल, दण्ड-व्यवस्था आदि की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ दूसरों के साथ कार्य करेगा और इस प्रकार सभी कार्य 'स्वतन्त्र समुदायों' द्वारा किये जायेंगे। उनके अनुसार ऐसी व्यवस्था में सामाजिक जीवन बाहरी नियन्त्रणों पर नहीं बल्कि आन्तरिक नैतिक नियन्त्रणों पर निर्भर करेगा। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना शासन करेगा और अपने कार्यों को सामाजिक हित की पूर्ति के लिए करेगा क्योंकि वह एक सामाजिक जीव है। ऐसे समाज में आज्ञा और आज्ञापालन तथा बड़ा और छोटा जैसा कोई सम्बन्ध नहीं होगा।

गाँधीजी भारत के लिए 'राम राज्य' की स्थापना चाहते थे। उनके अनुसार राम-राज्य "एक ऐसा पूर्ण जनतन्त्र होगा जिसमें धनवान, निर्धन, जाति, रंग, धर्म, लिंग आदि के सभी अन्तर समाप्त हो जायेंगे। उसमें राज्य और भूमि नागरिकों के हाथ में होगी, न्याय शीघ्र बिना व्यय के और पूर्ण रूप में दिया जायेगा और उसमें पूजा, भाषण और समाचार-पत्रों को स्वतन्त्रता होगी और यह सब कुछ स्वयं के नैतिक नियन्त्रण से स्थापित किया जायेगा। ऐसा राज्य सत्य और अहिंसा पर आधारित होगा और ऐसे राज्य में सभी गाँव और गाँव वाले स्वतन्त्र, प्रसन्न और आत्म-निर्भर होंगे।" गाँधीजी के इस विचार के अनुसार ऐसे समाज में पूँजीपति नहीं होंगे। वह समाज मुख्यतः कृषि और छोटे उद्योगों पर आधारित होगा। प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छा से कार्य करेगा और सभी व्यक्ति समान, प्रसन्न और स्वतन्त्र होंगे। शासन गाँव की इकाई से लेकर राष्ट्र तक विभिन्न समुदायों, गाँवों और व्यक्तियों के पारस्परिक सहयोग से चलाया जायेगा और ऐसे समाज में कोई भी शोषित या शोषण करने वाला नहीं होगा। गाँधीजी समाज और राज्य की इस स्थिति को आदर्श मानते थे और उनका कहना था कि जब तक इस आदर्श की पूर्ति न हो सके उस समय तक ऐसा राज्य होना चाहिए जिसके कार्य कम से कम हों, जिसमें सभी व्यक्ति स्वतन्त्र हों और सभी नागरिक सामाजिक और आर्थिक आधार पर प्रायः समान हों।

गाँधीजी के सामाजिक विचार—गाँधीजी का लक्ष्य मानव का सम्पूर्ण विकास था। इस कारण उन्होंने भारतीय समाज की प्रत्येक बुराई और कमी को दूर करने का प्रयत्न किया। हिन्दु-मुस्लिम एकता, स्त्री-शिक्षा और समानता, अछूतोद्धार, नशाबन्दी, राष्ट्रीय शिक्षा, कृषि और ग्राम सुधार आदि सभी ऐसे विषय हैं जिनके विषय में उन्होंने अपने विचारों को प्रस्तुत किया।

गाँधीजी सभी धर्मों की एकता में विश्वास करते थे। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के भी पक्षपाती थे। उनकी प्रार्थना में 'ईश्वर अल्लाह तेरे नाम' को सम्मिलित किया जाना उनकी महानता और सभी धर्मों की एकता का प्रतीक था। भारतीय मुसलमानों की सद्‌भावनाओं को प्राप्त करने के लिए वे अनेक अवसरों पर आवश्यकता से भी अधिक उदार हो गये थे। उन्हीं के विचारों का यह परिणाम है कि आज भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है।

महात्मा गाँधी सामाजिक भेदभाव, जाति-व्यवस्था और हर प्रकार की अस्पृश्यता के विरुद्ध थे। उन्होंने इन बुराइयों को दूर करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न किये। वह अस्पृश्यता को भारतीय समाज का कलंक मानते थे। इस कारण अछूतों के उद्धार के लिए उन्होंने जीवन भर प्रयत्न किया। उन्होंने अछूत वर्ग के लिए 'हरिजन' शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने 'हरिजन' नाम

से एक अखवार भी निकाला। वे स्वयं अछूतों की वस्ती में ही रहते थे। उन्हीं के प्रयत्नों के कारण काँग्रेस के कार्यक्रम में अछूतोद्धार को सम्मिलित किया गया। 1932 ई. में गाँधीजी ने हरिजनोद्धार कार्य के लिए 'हरिजन सेवक संघ' का गठन किया। इस संघ का प्रमुख उद्देश्य हरिजनों का शैक्षणिक, आर्थिक तथा सामाजिक स्तर ऊपर उठाना था। प्रत्येक प्रान्त में इस संघ की इकाइयाँ खोली गयीं। संघ ने अस्पृश्यता के विरुद्ध जनमत तैयार किया और आग्रह किया कि सार्वजनिक स्थानों, कुओं, धर्मशालाओं, सड़कों, स्कूलों, शमशान-स्थलों एवं मन्दिरों को हरिजनों के लिए खोल दे। इस जनमत जागरण के साथ ही इस संघ ने हरिजनों के लिए अलग से स्कूल, पानी की व्यवस्था, चिकित्सालय, छात्रवृत्तियों एवं चिकित्सा सहायता की व्यवस्था आदि रचनात्मक कार्य भी किये। इस प्रकार हरिजन सेवक संघ ने हरिजनों की दशा सुधारने का भारी प्रयास किया। इधर गाँधीजी ने अपने साप्ताहिक-पत्र 'हरिजन' में निरन्तर लेख लिखकर अस्पृश्यता उन्मूलन तथा हिन्दू मन्दिरों को हरिजनों के लिए खोलने का आह्वान किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय संविधान में अस्पृश्यता को गैर-कानूनी स्वीकार किया गया है और जब तक वे अन्य जातियों के समान उन्नति न करलें तव तक उनके लिए सुरक्षित स्थान तथा कुछ विशेष सुविधाओं की भी व्यवस्था की गयी है। यह सभी महात्मा गाँधी के कार्यों के द्वारा ही सम्भव हो सका है।

भारतीय नारी की स्थिति को सुधारने में भी गाँधीजी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उन्होंने स्त्री-शिक्षा और समानता के लिए निरन्तर प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि स्त्री-शिक्षा के विना समाज का कल्याण नहीं हो सकता। वे पर्दा-प्रथा, वाल-विवाह आदि के विरुद्ध थे। विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह और खानपान में उनका विश्वास था वह स्त्रियों को वहुत सम्मान की दृष्टि से देखते थे। गाँधीजी ने पर्दा-प्रथा को स्त्रियों के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक वताया और उसे छोड़ने का आग्रह किया। गाँधीजी के असहयोग तथा स्वदेशी आन्दोलन के आह्वान पर भारतीय नारियाँ अपने पर्दे को छोड़कर घर की चारदीवारी से बाहर निकल पड़ीं। इस प्रकार स्त्रियों को राजनीतिक क्षेत्र में लाने का प्रथम श्रेय महात्मा गाँधी को ही है जिसके कारण आधुनिक समय में भारतीय स्त्रियाँ जीवन के सभी क्षेत्रों में कार्य कर रही हैं। व्यावहारिक दृष्टि से स्त्रियों की प्रगति में जितना सहयोग महात्मा गाँधी ने दिया, उतना सम्भवतः किसी ने नहीं दिया। स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में स्त्रियों ने सत्याग्रह में भाग लिया, लाठियाँ खाईं और जेल गयीं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद भारत सरकार ने स्त्रियों को सम्पत्ति, समाज, सरकारी सेवाओं आदि में पुरुष के समान अधिकार दिया है। स्त्रियों को पुरुषों के समान ही मताधिकार भी प्राप्त है। स्त्रियों को जो ये अधिकार प्राप्त हुए हैं वह सभी महात्मा गाँधी और उनके द्वारा स्त्रियों को राजनीतिक आन्दोलन में सम्मिलित करने के कारण ही सम्भव हुए हैं।

गाँधीजी नशीली वस्तुओं मुख्यतः शराव पीने के विरुद्ध थे। भारत जैसे निर्धन देश के व्यक्ति शराव पीकर अपने धन को वर्वाद करें और विदेशों को धन भेजें, यह उन्हें स्वीकार न था। गाँधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम में नशावन्दी पर विशेष वल दिया गया। असहयोग आन्दोलन में भी स्त्रियों ने शराव की दुकानों पर धरने दिये। गाँधीजी ने अपने लेखों और भाषणों में इन व्यसनों की कड़ी आलोचना की। वे मानव जीवन के लिए शराव को जहर से भी अधिक अहितकर मानते थे। उनका कहना था कि जहर से शरीर मरता है परन्तु मद्य से आत्मा सो जाती

है और अपने ऊपर काबू पाने का गुण मिट जाता है। गाँधीजी ने प्रयत्नों का ही परिणाम है कि भारत सरकार ने भी इस दिशा में कदम उठाये हैं।

गाँधीजी के आर्थिक विचार—गाँधीजी ने भारत की आर्थिक व्यवस्था की ओर भी पूर्ण ध्यान दिया था। उनकी यह मान्यता थी कि आर्थिक विषमता समाज के लिए घातक है। इसी कारण वे पूँजीवाद के विरुद्ध थे परन्तु पूँजीवाद का उनका विरोध साम्यवादियों की भाँति न था। वे आशा करते थे स्वयं धनी व्यक्तियों को अपनी सम्पत्ति का प्रयोग सार्वजनिक हित में करना चाहिए और अधिक धन संग्रह नहीं करना चाहिये। इस प्रकार गाँधीजी का आर्थिक विषमता मिटाने का कार्यक्रम नैतिक उपायों पर आधारित था। उन्होंने पूँजीवादियों से आग्रह किया कि वे स्वयं को अपनी सम्पत्ति का स्वामी न मानकर 'ट्रस्टी' समझें। वे अपनी सम्पत्ति अपने पास रखें, लेकिन उसमें से उतना ही खर्च करें जितना उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिए जरूरी है। शेष सम्पत्ति को समाज की धरोहर मानकर उसका उपयोग समाज के लिए करें।

गाँधीजी बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों के पक्ष में न थे। उनका विश्वास था कि बड़े पैमाने पर उत्पादन से ही विभिन्न सामाजिक व आर्थिक दोष उत्पन्न होते हैं और विषमता बढ़ती है। गाँधीजी एक ऐसी विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था चाहते थे जिसमें व्यक्ति स्वयं अपनी मेहनत का स्वामी हो। इसलिए छोटे-छोटे उद्योगों पर उन्होंने विशेष बल दिया। उनकी आर्थिक व्यवस्था का आधार गाँवों की प्रगति था। छोटे उद्योगों तथा कुटीर उद्योगों की प्रगति के साथ-साथ वे कृषि की उन्नति भी चाहते थे जिससे निर्धन व्यक्तियों की आय बढ़ सकती थी और अधिक सम्पत्ति किसी के पास एकत्र नहीं होती। उनका ऐसा विश्वास था कि प्रत्येक गाँव को स्वावलम्बी बना देने से आर्थिक समस्या का हल निकल सकता है।

ग्रामों को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने के उद्देश्य से गाँधीजी ने खादी का समर्थन किया। उन्होंने प्रत्येक भारतीय को नियमित रूप से चर्खा कातने की सलाह दी।

गाँधीजी के शिक्षा सम्बन्धी विचार—तिलक की तरह गाँधीजी भी उस समय की प्रचलित शिक्षा के विरोधी थे। शिक्षा प्रणाली व्यावहारिक दृष्टि से पूर्णतया अनुपयोगी थी। शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी था और एकमात्र उद्देश्य क्लर्कों का निर्माण करना था।

गाँधीजी ने अपनी ओर से प्राथमिक शिक्षा के लिए एक क्रान्तिकारी योजना प्रस्तुत की जिसे 'बुनियादी शिक्षा' या 'वर्धा शिक्षा योजना' कहा जाता है। गाँधीजी शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी बनाने के विरोधी थे। वे शिक्षा के माध्यम से देशवासियों को स्वावलम्बी तथा शारीरिक और मानसिक दृष्टि से सशक्त बनाना चाहते थे। गाँधीजी के अपने ही शब्दों में "साक्षरता स्वयं में कोई शिक्षा नहीं है, इसलिए मैं तो बालक की शिक्षा उसे कोई उपयोगी दस्तकारी सिखाकर शुरू करना पसन्द करूँगा।" जिससे जिस क्षण वह अपनी तालीम शुरू करेगा उसी क्षण से उत्पादन करने लगेगा।" गाँधीजी की बुनियादी शिक्षा में बालक की रुचियों का विशेष महत्त्व था। उसके पीछे गाँधीजी का एक निश्चित लक्ष्य था और वह लक्ष्य एक आदर्श समाज की स्थापना करने का था, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र रहकर अपनी आजीविका चला सके।

बुनियादी शिक्षा की विशेषताएँ—(1) प्राथमिक शिक्षा की अवधि 6 वर्ष हो और उसमें अँग्रेजी को छोड़कर मैट्रिक स्तर तक के सामान्य ज्ञान का पाठ्यक्रम हो। (2) इसके साथ ही एक

लाभकारी उद्योग के शिक्षण की भी व्यवस्था हो जिससे लड़के-लड़कियाँ शिक्षा समाप्त करने पर अपनी आजीविका कमा सकें। (3) यह शिक्षा जहाँ तक सम्भव हो, आत्मनिर्भर हो। (4) उच्च शिक्षा निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दी जाय।

अक्टूबर, 1936 ई. में वर्धा में गाँधीजी के सभापतित्व में अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् की बैठक हुई, जिसमें निम्नलिखित प्रस्ताव पास किये गये—(1) सारे देश में सात वर्ष तक बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान की जाय। (2) शिक्षा का माध्यम बच्चों की मातृ भाषा हो। (3) शिक्षा में शारीरिक तथा उत्पादन कार्य व उद्योग शिक्षण की भी व्यवस्था हो। (4) बच्चों के प्रवेश की आयु 6 वर्ष हो और 6 वर्ष के शिक्षण की समाप्ति पर बच्चे के ज्ञान का स्तर अँग्रेजी को छोड़कर मैट्रिक के समकक्ष हो।

गाँधीजी उच्च शिक्षा व अन्य संस्कृतियों से घृणा नहीं करते थे। उन्होंने एक बार कहा था, "मैं तो यही चाहता हूँ कि मेरे घर के आसपास देश-विदेश की संस्कृतियों की हवा बहती रहे, पर मैं यह नहीं चाहता कि उस हवा से मेरे पैर जमीन पर से उखड़ जायें और मैं औंधे मुँह गिर पड़ूँ। मुझे यह बरदाश्त नहीं होगा कि हिन्दुस्तान का एक भी आदमी अपनी मातृ भाषा को भूल जाय, उसकी हँसी उड़ाए, उससे शरमाए या उसे ऐसा लगे कि वह अपने अच्छे से अच्छे विचार अपनी भाषा में प्रकट नहीं कर सकता।" इस प्रकार गाँधीजी एक ऐसी शिक्षा के हिमायती थे जिससे भारत के छात्र स्वावलम्बी बन सकें। उनका यह भी विश्वास था कि व्यक्ति का उत्थान अपनी राष्ट्र भाषा के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करके ही हो सकता है। वे राष्ट्रीय शिक्षा तथा भारतीय शिक्षा प्रणाली के प्रबल समर्थक थे।

गाँधीजी का मानवीय दृष्टिकोण—गाँधीजी के विचार न केवल भारत के लिए बल्कि सम्पूर्ण मानवता के लिए थे। उनका कहना था कि हमें विचारों, शब्दों और कार्यों में अहिंसा का पालन करना चाहिए। हमें दण्ड देने के स्थान पर माफ करना सीखना चाहिए। हमें उच्च विचार और साधारण जीवन में विश्वास रखना चाहिए। हमें अपने कर्त्तव्य की पूर्ति करनी चाहिए और परिणामों पर विचार नहीं करना चाहिए। हमें अपने शत्रु से भी प्रेम करना चाहिए। हमें व्यभिचार और नशे की वस्तुओं से बचना चाहिए। हमारा लक्ष्य और उसको पूरा करने के लिए तरीके भी सत्य पर आधारित होने चाहिए। ईश्वर सभी व्यक्तियों का पिता है और सभी व्यक्ति भाई-भाई हैं, इस कारण हमें सभी को प्यार करना चाहिए। हमें असत्य, अत्याचार और शोषण का विरोध प्रत्येक स्थान पर करना चाहिए। ये सभी ऐसे विचार हैं जो सम्पूर्ण मानवता के लिए आदर्श हैं और जिनका पालन करने से सम्पूर्ण संसार का भला हो सकता है तथा सम्पूर्ण मानवता को शान्ति मिल सकती है।

इस प्रकार महात्मा गाँधी ने भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर प्रभाव डाला है और बीसवीं सदी के भारत और उसकी सभ्यता के निर्माण में उनका बड़ा सहयोग है। राजनीति में आध्यात्मवाद को सम्मिलित करना तथा प्रेम और अहिंसा के सिद्धान्त को लाना, मनुष्य की समानता और भ्रातृभाव में विश्वास, स्त्री समानता, अछूतोद्धार, जाति, रंग के भेदभावों का नाश एवं बुनियादी शिक्षा आदि पर बल देकर उन्होंने भारतीय समाज के ढाँचे को ही बदल दिया है। उनके सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और शिक्षा के विचार भारतीय सभ्यता के अंग बन चुके हैं। इस कारण

भारतीय स्वतन्त्रता और राजनीति के ही लिए नहीं, बल्कि भारतीय सभ्यता के लिए भी महात्मा गाँधी का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया जाता है। लॉर्ड हैलीफैक्स ने महात्मा गाँधी के बारे में लिखा था, "मैं समझता हूँ कि सम्पूर्ण इतिहास में बहुत कम ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने अपने चरित्र और उदाहरण से अपने युग के विचारों को इतना अधिक प्रभावित किया हो।" डॉ. होम्स ने लिखा था, "महात्मा गाँधी गौतम बुद्ध के पश्चात् के समय के सबसे महान् भारतीय थे और ईसा मसीह के पश्चात् संसार के सबसे महान् व्यक्ति थे।"

पण्डित जवाहरलाल नेहरू
(1889-1964)

जवाहरलाल नेहरू आधुनिक पीढ़ी के महानतम व्यक्ति थे। वे भारत के एक ऐसे राजनीतिज्ञ थे, जिनकी भारतीयों के प्रति सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। वे हमारे स्वाधीनता संग्राम के महान् योद्धा और आधुनिक भारत के निर्माता थे। आचार्य नरेन्द्रदेव ने नेहरू को 'लोकतांत्रिक समाजवाद का प्रतीक' माना था। उनका व्यक्तित्व अद्भुत था तथा त्याग अनुकरणीय था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व उन्होंने 3262 दिन भारत के विभिन्न कारावासों में व्यतीत किये थे। नेहरू ने भारत की प्राचीन बौद्धिक उपलब्धियों को आधुनिक चिन्तन के साथ एकाकार किया। उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अवलम्बन लेकर ही भारत की आध्यात्म-प्रधान संस्कृति एवं सभ्यता के समन्वयकारी प्रभाव को स्वीकार किया। यही कारण है कि नेहरू ने पाश्चात्य जीवन के चकाचौंध पैदा करने वाले कृत्रिम प्रभावों से दूर रह कर पूँजीवाद, उपनिवेशवाद, आदि से मुक्ति का मार्ग-निर्देश करते हुए अन्तर्राष्ट्रीयतावाद तथा विश्व-सरकार की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया।

जीवन-परिचय—जवाहरलाल नेहरू का जन्म 14 नवम्बर, 1889 को, भारत के सुविख्यात वकील पण्डित मोतीलाल नेहरू के यहाँ इलाहाबाद में हुआ था। पिता के संरक्षण में उनकी शिक्षा दीक्षा पाश्चात्य ढँग से हुई थी। उन्हें शिक्षा के लिए इंगलैण्ड के प्रसिद्ध हैरो विद्यालय में भर्ती किया गया। तत्पश्चात् वे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए और विज्ञान में ऑनर्स की उपाधि ग्रहण कर, लन्दन से बैरिस्टरी का प्रमाण-पत्र लेकर भारत लौटे। जवाहरलाल नेहरू वैभवपूर्ण परिवार में पैदा हुए थे। औसत भारतीय को जीवन यापन करने में जो आर्थिक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं, उनका उन्हें केवल सैद्धान्तिक ज्ञान था, व्यावहारिक अनुभव नहीं। लेकिन अपनी आर्थिक सम्पन्नता का उन्होंने कभी स्वयं के आमोद-प्रमोद के लिये उपयोग न कर अपना सर्वस्व राष्ट्र की सेवा में अर्पित कर दिया। उनका वैवाहिक जीवन, पारिवारिक जीवन सभी कुछ राष्ट्रीय जीवन के लिए समर्पित रहा।

1912 ई. में भारत लौटने के बाद वे काँग्रेस के आन्दोलन के प्रति आकर्षित हुए और पहली बार बांकीपुर के काँग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित हुए। 1916 ई. में काँग्रेस के लखनऊ अधिवेशन के समय से गाँधीजी के सम्पर्क में आये और तब से गाँधीजी के साथ उनके सम्बन्ध निरन्तर प्रगाढ़ होते गये। अनेक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि प्रश्नों पर गाँधीजी से असहमत होते हुए भी वे गाँधीजी को अपना गुरु, मित्र तथा दार्शनिक मानते रहे। उन्होंने गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन में भाग लिया और 1921 ई. में उन्हें 3 महीने के लिए बन्दी बना लिया

गया। 1918 ई. में जवाहरलाल काँग्रेस महासमिति के सदस्य चुने गये तथा 1922 ई. में उन्हें इलाहाबाद नगरपालिका का अध्यक्ष सर्वसम्मति से चुना गया। 1927 ई. में उन्हें जेनेवा में साम्राज्यवाद-विरोधी सम्मेलन में जाने का अवसर मिला। इसी वर्ष सोवियत सरकार के निमन्त्रण पर रूस गये। 1929 ई. में उन्होंने लखनऊ में साइमन कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन में भाग लिया और उन्हें पुलिस की लाठियों का प्रहार सहन करना पड़ा। 1929 ई. में काँग्रेस के लाहौर अधिवेशन के वे अध्यक्ष चुने गये। इसी अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू ने पूर्ण स्वतन्त्रता का शंखनाद किया। वे गाँधीजी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भी अग्रणी रहे। 1936 ई. में वे लखनऊ और फ़ैजपुर के काँग्रेस अधिवेशनों के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 1940 ई. में उन्होंने गाँधीजी के व्यक्तिगत सत्याग्रह में भाग लिया तथा 1942 ई. में क्रिप्स-मिशन के आगमन पर समझौता वार्ता में भाग लिया। 1942 ई. में उन्होंने 'भारत छोड़ो प्रस्ताव' का केवल पुर-जोर समर्थन ही नहीं किया बल्कि आन्दोलन में भी भाग लिया और जेल गये। 1945 ई. में वेवल योजना पर विचार-विमर्श के लिये उन्होंने शिमला सम्मेलन में भाग लिया। जब आजाद हिन्द फौज के तीन सैनिक अधिकारियों पर सरकार ने राजद्रोह के अपराध में मुकदमा चलाया, तब 30 वर्ष बाद उन्होंने वकालत की पोशाक धारण कर उनकी रिहाई के लिए पैरवी की। मन्त्रिमण्डल मिशन योजना द्वारा प्रस्तावित अन्तरिम सरकार की स्थापना के समय वे वायसराय की परिषद् के उपाध्यक्ष बने तथा परराष्ट्र विभाग का उत्तरदायित्व उन्हें सौंपा गया। भारत के लिए गठित संविधान निर्मात्री सभा में उन्होंने 'भारतीय संविधान का उद्देश्य' प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जो स्वतन्त्र भारत के संविधान का आमुख बना।

15 अगस्त, 1947 को भारत गुलामी की बेड़ियों से मुक्त हुआ तथा स्वाधीनता की आराध्य देवी सदियों के पश्चात् भारत-भूमि पर क्रीड़ा करने लगी। अतः जब भारत ने स्वतन्त्रता के नवयुग में प्रवेश किया तब जवाहरलाल नेहरू के हाथों में ही भारत की सत्ता सौंपी गई और वे भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री बने। भारत-विभाजन के फलस्वरूप भारत के समक्ष अनेक समस्याएँ एवं चुनौतियाँ उपस्थित हुईं। काश्मीर-समस्या, शरणार्थियों की समस्या, खाद्यान्न समस्या तथा देशी रियासतों के एकीकरण की समस्या का उन्होंने समाधान करके अपनी विलक्षण बुद्धि का परिचय दिया। उनके मन्त्रिमण्डल में सरदार पटेल उप-प्रधानमन्त्री थे तथा सरदार पटेल द्वारा लिये गये निर्णयों का उन्होंने पूरी निष्ठा से पालन करवाया। भारत में उपस्थित हुए संकट के समय नेहरू के आदर्शवाद और पटेल के यथार्थवाद का सुन्दर समन्वय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उन्होंने भारत की विदेश नीति को एक नई दिशा दी। उन्होंने भारत के लिए असंलग्नता की नीति का समर्थन किया तथा उनके नेतृत्व में भारत ने गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों की अगुवाई की। एशिया तथा अफ्रीका के नव-जागरण को संबल प्रदान करते हुए नेहरू ने 1949 ई. में दिल्ली में ग्यारह एशियायी राष्ट्रों के सम्मेलन का आयोजन किया। नेहरू के ही प्रयत्नों से भारत विश्व-शान्ति का अग्रदूत बना। नेहरू ने पंचशील के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए 1954 ई. में भारत-चीन समझौता किया। नेहरू ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारत के लिये लोकतान्त्रिक समाजवाद का लक्ष्य निर्धारित किया तथा भारत के योजनाबद्ध विकास का सुभारम्भ किया। भारी उद्योगों की स्थापना, सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार, मिश्रित अर्थव्यवस्था, पंचायती राज्य शिक्षा का विस्तार, वैज्ञानिक

अनुसन्धान का विकास आदि कार्य नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल की ही देन है। यद्यपि भारत पर चीन के आक्रमण ने उन्हें विचलित कर दिया था, लेकिन इस घटना ने उन्हें यथार्थवादी बना दिया, जिसके फलस्वरूप भारत की प्रतिरक्षा को नवीन परिस्थितियों के अनुरूप ढाला गया। जवाहरलाल नेहरू कुशल राजनीतिज्ञ एवं स्वाधीनता सेनानी ही नहीं थे, बल्कि अपनी लेखनी के भी धनी थे। यदि कुछ समय के लिये उनके राजनीतिक कार्यों को विस्मृत भी कर दिया जाय तब भी वे अपनी अनुपम कृतियों के द्वारा विश्व के साहित्यिक आकाश में सदैव चमकते हुए नक्षत्र रहेंगे। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ उनके समुचित व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करते हैं। ऐसे महान् व्यक्ति का 27 मई, 1964 को निधन हो गया।

नेहरू के राजनीतिक विचार—जवाहरलाल नेहरू के विचारों पर वैज्ञानिक एवं प्राविधिक क्रान्ति, मानवतावाद, धर्म-निरपेक्षता, उदारवाद तथा मार्क्सवाद का स्पष्ट प्रभाव था। वे आर्थिक नियोजन और लोकतन्त्रवाद दोनों के बीच समन्वय स्थापित करना चाहते थे। यद्यपि आलोचकों ने उन्हें 'हेलमेट ऑफ इण्डिया' कहा, लेकिन लोकतन्त्र को यथावत बनाये रखने तथा आर्थिक नियोजन के रूसी उदाहरण का भारतीयकरण करने में उन्होंने व्यावहारिक सफलता प्राप्त की। उनका दृष्टिकोण सार्वभौम मानवतावादी था। वे भारत जैसे निर्धन, अल्पशिक्षित एवं अल्पविकसित देश में पाश्चात्य शासन पद्धति का प्रयोग करना चाहते थे, ताकि वर्षों से चली आ रही जड़ता, अज्ञानता एवं सामाजिक अन्धविश्वासिता को दूर किया जा सके। नेहरू ने लोकतांत्रिक उपायों से भारत में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। नेहरू ने केवल भारत की सभ्यता तथा संस्कृति की महत्ता का ही अवलम्बन नहीं किया, बल्कि पश्चात्य विश्व की महत्त्वपूर्ण विरासत को भी आत्मसात करने का सन्देश दिया।

नेहरू के राजनीतिक चिन्तन में उनकी संविधानवाद में दृढ़ निष्ठा प्रकट होती है। वे स्वतन्त्र रूप से निर्मित लोकतांत्रिक संविधान को संवैधानिक पद्धति का प्रमुख अंग मानते थे। उनकी यह दृढ़ मान्यता थी कि भारत में तब तक कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता जब तक कि भारत के संवैधानिक तन्त्र को जनता की स्वतन्त्र सहमति पर आधारित नहीं किया जाता। वे हिंसा पर आधारित भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता-प्राप्ति का मार्ग उचित नहीं मानते थे। इसलिये वे काँग्रेस के अहिंसात्मक असहयोग के कार्यक्रम को अधिक प्रभावशाली मानते थे। उनकी यह मान्यता थी कि वास्तविक क्रान्ति केवल हिंसा पर आधारित नहीं होती। इसलिये उन्होंने अहिंसक क्रान्ति का समर्थन किया था। वे वयस्क मताधिकार द्वारा लोकतांत्रिक पद्धति के क्रान्तिकारी कार्य को सम्पन्न करना चाहते थे। विदेशी पर्यवेक्षकों को भारत जैसे विशाल देश में लोकतन्त्र का प्रयोग असम्भव-सा प्रतीत होता था। लेकिन यह नेहरू के प्रबल संकल्प का ही प्रतिफल था कि वे भारत में व्याप्त समस्त कमियों के बावजूद भी लोकतन्त्र को सफल बना सके। उनके प्रयत्नों से लोकतंत्र को केवल सफलता ही नहीं मिली, बल्कि उसे स्थायित्व भी प्राप्त हुआ। दीर्घकालीन विदेशी शासन के पश्चात् भारत की महत्त्पूर्ण समस्या राजनीतिक एवं आर्थिक स्थायित्व प्राप्त करने की थी। नेहरू ने इन दोनों लक्ष्यों को पूरा करने का साहस प्रदर्शित किया। राजनीतिक स्थायित्व के लिये संसदात्मक शासन पद्धति का सहारा लिया। आर्थिक स्थायित्व के लिए उन्होंने सम्पत्ति के अधिकार को छीनने की बजाय जनता को पूँजी के केन्द्रीयकरण से उत्पन्न बुराइयों से

अवगत कराया तथा सहकारिता आन्दोलन के माध्यम से कुटीर एवं लघु उद्योगों की स्थापना तथा सम्पत्ति के उचित वितरण पर ध्यान केन्द्रित किया।

राजनीति में नैतिक मूल्य—जवाहरलाल नेहरू ने साधन और साध्य के पारस्परिक सम्बन्धों पर जोर देते हुए नैतिक शक्ति को पाशविक शक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण बताया। बुराई का सहारा लेकर किया गया कार्य एक कुचक्र है, जिसमें फँसकर निकलना सम्भव नहीं। सत्य के आधार पर भारत द्वारा प्राप्त की गई स्वतन्त्रता यथार्थ पर आधारित है। उन्होंने अपने सहयोगियों को स्पष्ट कहा था कि व्यक्ति के नैतिक मूल्यों का ह्रास अच्छी स्थिति का द्योतक नहीं है। उनकी मान्यता थी कि विज्ञान की आणविक तथा प्राविधि के क्षेत्र में प्रगति सभ्यता को विनाश की ओर धकेल रही है। धर्म ने जहाँ एक ओर आध्यात्मिक तथा नैतिक अनुशासन उत्पन्न किया है, वहीं अन्धविश्वास तथा सामाजिक बुराइयाँ भी उत्पन्न की हैं। धर्म द्वारा उत्पन्न इन बुराइयों ने धर्म को निगल लिया है। राजनीतिक अन्धकार में साम्यवाद एक नई ज्योति दिखाता है, किन्तु साम्यवाद भी कतिपय दोषों से युक्त है। साम्यवाद हिंसा के प्रयोग पर अवस्थित होने के कारण स्वीकृति योग्य आदर्श नहीं है। उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि भारत में व्यक्ति तथा राष्ट्र के लिये एक ऐसे जीवन दर्शन की आवश्यकता है जो हमारे चिन्तन को आध्यात्मिक पृष्ठभूमि दे सके। उनकी मान्यता थी कि प्रत्येक देश चाहे वह पूँजीवादी हो, समाजवादी हो या साम्यवादी, मूल रूप से वह लोक कल्याणंकारी राज्य के आदर्श को स्वीकार करता है। नेहरू के प्रयत्नों से ही भारत में लोक कल्याणकारी राज्य तथा समाजवाद के आदर्श को स्वीकार किया गया।

नेहरू की नैतिक आदर्शवाद में बहुत आस्था थी। उनका कहना था कि मनुष्य को व्यावहारिक, अनुभव प्रधान, नैतिक, सामाजिक परोपकारी और मानवतावादी होना चाहिये। राजनीतिक भ्रष्टाचार, शोषण तथा अभावग्रस्त जीवन को देखकर वे बहुत दुःखी होते थे। यही कारण है कि उन्होंने हिंसक और अनैतिक साधनों का कभी प्रयोग नहीं किया तथा देश की राजनीतिक समस्याओं का समाधान करने के लिए नैतिक सिद्धान्तों का सहारा लिया।

नेहरू तथा लोकतन्त्र—नेहरू का लोकतन्त्र में दृढ़ विश्वास था। नेहरू के अनुसार लोकतन्त्र केवल राजनीतिक या आर्थिक धारणा मात्र नहीं है, बल्कि एक मानसिक अवस्थिति है। लोकतन्त्र में राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में अवसरों की अधिकाधिक समानता रहती है। लोकतन्त्र में प्रयुक्त राजनीतिक स्वतन्त्रता अथवा समानता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता अर्थहीन दिखाई देगी। राज्य द्वारा प्रत्येक नीति पर जनता का समर्थन प्राप्त करना लोकतन्त्र की धुरी है। यदि जनता से यह अधिकार छीन लिया जाय तो स्वाधीनता की समाप्ति निश्चित है। नेहरू के अनुसार लोकतन्त्र में प्रचार के साधनों का दुरुपयोग किया जा सकता है तथा जनता को बहलाया-फुसलाया जा सकता है। लेकिन लोकतन्त्र में यह खतरा तो सदैव बना रहेगा। इस खतरे के कारण लोकतांत्रिक व्यवस्था का त्याग नहीं किया जा सकता। कई बार ऐसा होता है कि कोई एक समूह शक्ति या सत्ता प्राप्त करता है तथा अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए प्रचार साधनों से जनता को गुमराह करता है। ऐसी स्थिति में उबारने का उत्तरदायित्व व्यक्ति पर है। यदि व्यक्ति असफल होता है तो यह दोष लोकतन्त्र का नहीं है। व्यक्ति की असफलता को लोकतन्त्र की असफलता नहीं मानना चाहिये।

नेहरू, लोकतन्त्र को एक शान्तिपूर्ण पद्धति मानते थे। उनकी मान्यता थी कि यदि लोकतन्त्र में शान्तिपूर्ण उपायों का प्रयोग नहीं होता तो वह लोकतन्त्र का विलोम होगा। कोई भी सामाजिक संगठन बिना अनुशासन के नहीं चल सकता, अतः लोकतन्त्र में भी अनुशासन आवश्यक है। अनुशासन न रहने पर बाह्य सत्ता या सैनिक तानाशाही लोकतन्त्र का स्थान लेने के लिए सदैव तत्पर रहती है। उनके अनुसार केवल संवैधानिक ढाँचे की श्रेष्ठता से ही लोकतन्त्र की स्थापना नहीं होती, बल्कि व्यक्तियों के चरित्र से व्यवस्था चलती है। लोकतन्त्र में नेतृत्व ऐसा होना चाहिये जो जनता की अगुवाई करे, न कि स्वयं जनता के आदेशों पर चलने लग जाय। नेहरू ने संसदीय लोकतन्त्र की सफलता के लिए वयस्क मताधिकार के महत्त्व को स्वीकार किया था। उन्होंने लोकतन्त्र के निर्वाह के लिए आर्थिक कार्यक्रम को अनिवार्य बताया। केवल मताधिकार के प्रयोग से समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। अतः जन-प्रतिनिधियों का उत्तरदायित्व है कि वे आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना के लिए सभी उपाय काम में लें। उनके अनुसार लोकतन्त्र के अन्तर्गत स्थापित संसदात्मक शासन व्यवस्था को किसी निश्चित अर्थव्यवस्था से नहीं जोड़ना चाहिए। निजी क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र दोनों ही लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत समान रूप से आर्थिक कार्यक्रम के सहभागी बन सकते हैं। संसदीय लोकतन्त्र तथा निजी क्षेत्र में कोई तालमेल नहीं है।

नेहरू और लोकतान्त्रिक समाजवाद—1926-27 में नेहरू की रूस-यात्रा से उन पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव दृढ़ हो गया था। उन्होंने भारत की दरिद्रता तथा आर्थिक विषमता के निवारण के लिए समाजवादी पद्धति को सर्वोत्तम माना। इसीलिए 1931 ई. में काँग्रेस के कराची अधिवेशन में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव पारित किया तथा 1936 ई. में लखनऊ अधिवेशन में जमींदारी-प्रथा के उन्मूलन का प्रस्ताव पारित किया। वे मुनाफाखोरी, जमाखोरी, आदि आर्थिक बुराइयों को दूर करने के लिए कृत-संकल्प थे। नेहरू के मन में पूँजीपतियों द्वारा साधनहीन कृषकों तथा श्रमिकों के शोषण के प्रति गहरा क्षोभ था। वे इस आर्थिक बुराई को समाजवादी प्रक्रिया से समाप्त करना चाहते थे। समाजवाद को गति प्रदान करने के लिए नेहरू ने भारत की अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र को अत्यधिक महत्त्व दिया। नेहरू के समाजवादी समाज की रूपरेखा सीमित थी। मिश्रित अर्थव्यवस्था में पूँजीपतियों को पूर्णतया समाप्त करने का कोई कार्यक्रम नहीं होता। उन्हें समाप्त करने के लिए परोक्ष रूप से सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करने का कार्यक्रम निर्धारित किया जाता है। नेहरू ने यही किया, किन्तु देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, विशेषकर उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन के लिए लघु और मध्यम श्रेणी के उद्योगों को निजी क्षेत्र में रखा। वे समाजवाद को भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल ढालना चाहते थे। रूस अथवा चीन का अनुकरण करने का उनका कोई इरादा नहीं था।

नेहरू ने लोकतान्त्रिक समाजवाद के प्रति निष्ठा प्रदर्शित की। यदि राष्ट्रीयकरण द्वारा उत्पादन में वृद्धि सम्भव हो तो वे राष्ट्रीयकरण की नीति के समर्थक थे। उनका उत्पादन-वृद्धि पर अधिक जोर, यह सिद्ध करता है कि वे पूँजीवादी व्यवस्था को पूर्णतया समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। पूँजीवादी व्यवस्था उत्पादन प्रधान होती है जबकि साम्यवादी अथवा पूर्णतया समाजवादी व्यवस्था में उपयोग पर अधिक ध्यान दिया जाता है। नेहरू द्वारा लगातार उत्पादन के महत्त्व को

दोहराना यह स्पष्ट करता है कि वे समाजवाद के लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहते थे, किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति अपना झुकाव रोकने में भी असमर्थ थे। नेहरू ने राष्ट्रीयकरण की नीति का समर्थन करते हुए भारत में प्रतिरक्षा तथा कुछ अन्य प्रमुख उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया। वे सम्पूर्ण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण भारत के लिए व्यावहारिक नहीं मानते थे। नेहरू साम्यवाद और पूँजीवाद का मध्यम मार्ग चुनना चाहते थे। वे निजी उद्योगों का पूर्ण राष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहते थे। उनके अनुसार भारत को किसी बाह्य मॉडल की नकल करने के स्थान पर अपनी आवश्यकता तथा क्षमता के अनुसार आर्थिक कार्यक्रम अपनाना चाहिये। नेहरू ने अमेरिका का उदाहरण देते हुए बताया कि वहाँ निजी उद्योगों का बाहुल्य होते हुए भी राजकीय उपक्रमों की संख्या कम नहीं है। रूस में मार्क्सवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना का दावा किया जाता है, लेकिन वहाँ भी मार्क्स की अपने प्रकार की व्याख्या करते हुए राजकीय पूँजीवाद की स्थापना करदी गई है। अतः उचित यही है कि भारत में लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना की जाय।

नेहरू और साम्प्रदायिकता—जवाहरलाल नेहरू के अनुसार साम्प्रदायिकता शासकीय शक्ति से हित-साधन प्राप्त करने की लालसा का परिणाम है। साम्प्रदायिक तत्त्व विदेशी शासन को बनाये रखना चाहता है ताकि वह अपने समूह के लिए सब कुछ प्राप्त करता रहे। विदेशी सत्ता का अन्त होने पर साम्प्रदायिक तत्त्वों का अन्त सुनिश्चित है। साम्प्रदायिकता ने राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न की हैं और ब्रिटिश सरकार ने उन्हें पूर्ण संरक्षण दिया है। नेहरू के अनुसार साम्प्रदायिक संगठनों को धार्मिक नहीं कहा जा सकता, हालाँकि वे धार्मिक समूहों से सम्बन्धित होते हैं और धर्म के नाम पर दुरुपयोग करते हैं। उन्हें सांस्कृतिक संगठन भी नहीं कहा जा सकता। उनके उपदेशों में नैतिकता का अभाव है और उनका कोई आर्थिक कार्यक्रम नहीं है। वे भारत की पूर्ण स्वाधीनता की बात भी नहीं करते। इन साम्प्रदायिक तत्त्वों को नष्ट करने के लिए नेहरू ने आर्थिक स्वतन्त्रता पर बल दिया था। आर्थिक प्रश्नों पर ध्यान केन्द्रित होते ही साम्प्रदायिकता का प्रभाव कम होने लगेगा। नेहरू का मानना था कि साम्प्रदायिक प्रश्न का जाति से कोई लेना-देना नहीं है, बल्कि मूल समस्या आर्थिक है। नेहरू ने धर्म तथा राजनीति के गठबन्धन को देश के लिए घातक बताया। उन्होंने निर्धन तथा सामाजिक दृष्टि से दबे हुए वर्ग को ऊपर उठाने के लिए अनुसूचित जातियों को विशेष संरक्षण प्रदान करने की आवश्यकता पर बल दिया ताकि सामाजिक दृष्टि से वे अन्य वर्गों के समान प्रगति कर सकें। लेकिन अल्पसंख्यकों के लिए स्थानों को सुरक्षित करना उचित नहीं है। उन्हें जितना कम संरक्षण दिया जाय उतना ही अच्छा है। साम्प्रदायिकता को पिछड़ेपन की संज्ञा देते हुए नेहरू ने कहा कि धर्म की व्यक्तिगत मान्यता उचित है, लेकिन धर्म को राजनीति में आयातित करना सर्वथा अनुचित है। भारत को हर प्रकार के साम्प्रदायिक संगठनों का विरोध करना है चाहे वह हिन्दू संगठन हो या मुस्लिम संगठन या सिक्ख संगठन। साम्प्रदायिकता तथा राष्ट्रवाद साथ-साथ नहीं चल सकते। प्रत्येक व्यक्ति को अपने आप से यह प्रश्न पूछना है कि क्या वह भारत को एक राष्ट्र, एक देश बनाना चाहता है अथवा भारत को असंख्य टुकड़ों में विभाजित करना चाहता है। विभाज्यता सदैव भारत की दुर्बलता रही है। पृथकता की भावना चाहे हिन्दुओं, मुसलमानों, सिक्खों, ईसाइयों या किसी अन्य में रही हो, भारत के लिए खतरनाक है।

नेहरू धर्म-निरपेक्षता के प्रबल समर्थक थे। वे चाहते थे कि भारत में धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार समस्त सम्प्रदायों को समान रूप से प्राप्त हो। धर्म-प्रधान राज्य की तरह भारत एक प्रमुख धर्म को मान्यता देकर शेष धर्मों के प्रति अन्याय नहीं कर सकता। नेहरू के अनुसार धार्मिक राज्य का विचार सदियों पहले त्यागा जा चुका है, अतः आधुनिक काल में ऐसे विचार के लिए कोई स्थान नहीं है। वे भारत को केवल राष्ट्रीय एवं धर्म-निरपेक्ष मार्ग पर ही अग्रसर करने के इच्छुक रहे। उनके अनुसार भारत को संकीर्णता की परिधि से निकलकर सभी धर्मों के साथ समता का व्यवहार करना है ताकि एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित हो सके।

नेहरू तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति—नेहरू की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रत्यक्ष प्रमाण उनके द्वारा निर्मित एवं संचालित भारत की विदेश नीति में मिलता है। भारत की स्वाधीनता के बाद विदेश नीति का निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन पर नेहरू के व्यक्तित्व की इतनी गहरी छाप थी कि आज भी भारत उनके द्वारा निर्धारित विदेश नीति के मापदण्डों से विचलित नहीं हुआ है। भारत जैसे महान् राष्ट्र की गौरवपूर्ण परम्पराओं का नेहरू ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में पूर्णतया निर्वाह किया। यह नेहरू की महानता थी कि भारत की विदेश नीति का निर्माण का श्रेय स्वयं को न देकर भारत की कोटि-कोटि जनता तथा उसकी भावनाओं को देते थे। वे अपने आपको केवल माध्यम मानते थे और नीति का मूल स्रोत जनता की भावनाओं को मानते थे। यद्यपि भारत की चीन से पराजय को लेकर उनकी विदेश नीति की आलोचना की जाती है, किन्तु केवल एक घटना विशेष से उनकी विदेश नीति की सफलता अथवा असफलता नहीं आँकी जा सकती।

नेहरू की विदेश नीति का निर्धारण भारत की आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में किया गया था। भारत ने समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य निर्धारित किया था और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए भारत को साम्यवादी तथा पश्चिमी राष्ट्रों से अपने सम्बन्ध मधुर रखते हुए दोनों से आर्थिक सहायता प्राप्त करनी थी। नेहरू ने आर्थिक विकास, धर्म-निरपेक्षता तथा राजनीतिक लोकतन्त्र को आगे बढ़ाने के लिए विदेश नीति को उसी क्रम में निर्धारित किया ताकि भारत की प्रगति में बाधा उत्पन्न न हो। उस समय विश्व शीत-युद्ध के विषैले वातावरण से गुजर रहा था। विश्व के दोनों गुट विभिन्न प्रलोभनों से असंलग्न राष्ट्रों को अपनी ओर खींच रहे थे। ऐसे समय में नेहरू ने भारत की विदेश नीति को असंलग्नता के आधार पर बनाये रखा। वे शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के कर्णधार थे। उनका यह निश्चित मत था कि यदि विश्व में शान्ति के प्रयासों तथा सह-अस्तित्व की भावना को बनाये न रखा गया तो समूचे विश्व का विनाश हो जायेगा। उनकी विदेश नीति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष था भारत का पंचशील के सिद्धान्तों में विश्वास। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने का निरन्तर प्रयास किया। लेकिन पराधीन राष्ट्रों के शान्तिपूर्ण स्वातन्त्र्य आन्दोलन को उन्होंने समर्थन दिया। वे संयुक्त राष्ट्रसंघ को शक्तिशाली बनाने के कार्य में निरन्तर लगे रहे।

नेहरू ने विश्व-राज्य की अवधारणा का समर्थन किया तथा अहिंसा द्वारा विश्व-शक्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव का स्वागत किया। विश्व-राज्य की कल्पना में उनका पूर्ण विश्वास था। उनकी मान्यता थी कि संयुक्त राष्ट्र को संघात्मक स्थिति में परिवर्तित कर विश्व-राज्य की स्थापना की जा सकती है। नेहरू मानते थे कि राष्ट्रों में व्याप्त परस्पर भय तथा घृणा का अन्त करके स्वतन्त्रता तथा पारस्परिक सहयोग पर आधारित विश्व-राज्य की स्थापना सम्भव है। यदि

विश्व-राज्य की स्थापना नहीं होती है तो विश्व का भविष्य अन्धकारमय हो जायेगा। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शान्ति स्थापना के प्रयास तभी सफल हो सकते हैं जबकि शान्ति की मनोवृत्ति अपनाई जाय। 1955 ई. में मास्को विश्वविद्यालय ने उनका अभिनन्दन करते हुए कहा था, "नेहरू ने सदैव छोटे और बड़े राष्ट्रों के मूल अधिकारों की मान्यता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियमों और सिद्धान्तों की रक्षा की है। वे एशिया और समूचे विश्व में तनाव कम करने की दिशा में सच्चे दिल से प्रयत्न करते रहे हैं।" नेहरू ने न केवल राजनीतिक क्षेत्र में, बल्कि आर्थिक क्षेत्र में भी अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का समर्थन किया। उनका विश्वास था कि उद्योग-धन्धों के विकास के कारण राष्ट्रीय सीमाएँ ध्वस्त हो गई हैं तथा एक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों पर आश्रित हो गया है। कोई राष्ट्र वास्तव में स्वाधीन नहीं है, सभी एक-दूसरे पर निर्भर हैं।

वास्तव में नेहरू एक दिव्य पुरुष थे। वे विश्व-शान्ति के अग्रदूत, आधुनिक भारत के निर्माता तथा नवयुग के प्रवर्तक थे। राजनेता के रूप में वे भारतीय जनता से दूर नहीं रहे। अपनी सुरक्षा के सभी प्रबन्धकों को हतप्रभ करते हुए वे जनसमूह के मध्य आ खड़े होते थे। वे जनता को प्यार करते थे और भारतीय जनता भी उन पर अपना अपार स्नेह उँडेलती थी। नेहरू को जनता का अपार समर्थन प्राप्त होते हुए भी उनकी मूलभूत लोकतान्त्रिक मान्यताएँ परिवर्तित नहीं हुईं। यदि वे चाहते तो भारत पर अपना व्यक्तिगत शासन स्थापित कर सकते थे, किन्तु उनके लोकतान्त्रिक मानव ने उन्हें लोकतान्त्रिक पद्धति के विकास की ओर प्रवृत्त किया। नेहरू ने विश्वव्यापी लोकप्रियता अर्जित की। देश-विदेश के मनीषियों ने उनके लिए उदार उद्‌गार प्रकट किये। जोफ्रेटाइसन के अनुसार नेहरू ने केवल भारत को स्वतन्त्र ही नहीं किया अपितु आने वाले वर्षों के लिए भारत का मार्ग भी निर्धारित किया। वस्तुतः वे केवल स्वतन्त्रता आन्दोलन के महान् सेनानायक ही नहीं, वरन् उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ और राष्ट्र निर्माता भी थे। भारत के दार्शनिक राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् ने नेहरू के देहावसान पर आकाशवाणी से उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा था, "श्री नेहरू की मृत्यु से देश का एक युग समाप्त हो गया है। श्री नेहरू का जीवन अनन्त सेवा और समर्पण का जीवन था। वे हमारी पीढ़ी के महानतम व्यक्ति थे। वे एक ऐसे अद्वितीय राजनीतिज्ञ थे, जिनकी मानव जाति के प्रति सेवाएँ सदा स्मरणीय रहेंगी।" विन्सटन चर्चिल ने नेहरू को द्वेषरहित तथा निर्भीक व्यक्ति स्वीकार किया था। वे गाँधीजी के अन्यतम शिष्य होकर भी स्वतन्त्र चिन्तन के धनी थे। गाँधीजी नेहरू को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर काँग्रेस की बागडोर उनके हाथों में देते हुए भारत के भविष्य की सुरक्षा के प्रति पूर्णतया आश्वस्त रहे। गाँधीजी ने कहा था, "वे नितान्त उज्ज्वल और उनकी सच्चाई सन्देह से परे है। राष्ट्र उनके हाथों में सुरक्षित है।"

नेताजी सुभाष चन्द्र बोस

(1897-1945)

भारत छोड़ो आन्दोलन को कुचल दिये जाने के बाद से लेकर 1945 ई. में विश्व युद्ध के अन्त तक देश में कोई विशेष राजनीतिक गतिविधि नहीं हुई। सारे लोकप्रिय नेता जेलों में थे और परिस्थिति भी ऐसी नहीं थी कि कोई नया नेतृत्व सामने आ सके। जनसाधारण में असन्तोष और खिन्नता की भावना फैली हुई थी, यद्यपि परोक्ष रूप से भीतर ही भीतर आग सुलग रही थी।

लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन में एक प्रकार का ठहराव आ गया था। डॉ. ताराचन्द ने दोनों विश्व युद्धों की तुलना करते हुए लिखा है कि प्रथम विश्व युद्ध के समय गदर पार्टी तथा अन्य क्रान्तिकारियों ने तुर्की तथा जर्मनी की, ब्रिटेन के विरुद्ध, सहायता प्राप्त करने का असफल प्रयास किया था। द्वितीय विश्व युद्ध में फिर से वैसा ही अवसर आया। इस समय इस प्रकार के आन्दोलन के नेता थे सुभाष चन्द्र बोस, जो भारत के हित में इस युद्ध का लाभ उठाने का निश्चय कर चुके थे।

जीवन परिचय—सुभाषचन्द्र बोस का जन्म 23 जनवरी, 1897 को कटक में एक कायस्थ परिवार में हुआ था। इनके जन्म के समय सम्भवतः उनके माता-पिता ने स्वप्न में भी यह नहीं सोचा होगा कि उनका पुत्र भारत के इतिहास पर अपनी एक अमिट छाप छोड़ेगा। पाँच वर्ष की आयु में उन्हें एक अँग्रेजी स्कूल में भेजा गया। स्कूल में भारतीय बच्चों से कहा जाता था कि भारतीय होने के कारण वे कुछ छात्रवृत्ति परीक्षाओं में नहीं बैठ सकते, यद्यपि वार्षिक परीक्षाओं में उन्होंने सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया था। एंग्लो-इण्डियन बच्चे स्वयंसेवक दस्तों में शामिल हो सकते थे, किन्तु भारतीय बच्चों के लिए मनाही थी। इससे सुभाषचन्द्र बोस ने यह अनुभव किया कि एक ही संस्था में पढ़ते हुए उन्हें और बच्चों से नीच समझा जाता है। जब वे भारतीय स्कूल में पढ़ने गये तब उस स्कूल के प्रधानाध्यापक बेनीमाधव प्रसाद के उच्च चरित्र का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन पर दूसरा प्रभाव स्वामी विवेकानन्द के भाषणों व लेखों का था। विवेकानन्द ने सुभाष बाबू को यह पाठ पढ़ाया कि सबसे बड़ा आदर्श मानवता की सेवा करना है, जिसमें अपने देश की सेवा भी सम्मिलित है। इससे उनकी आत्मा को नई चेतना प्राप्त हुई। वे समस्त सांसारिक इच्छाओं को त्याग कर मानवता की सेवा करने को अग्रसर हुए। उनके माता-पिता ने उन्हें जितना अधिक नियन्त्रण में रखने का प्रयास किया, उतने ही अधिक वे विद्रोही होते गये।

1913 ई. में 15 वर्ष की आयु में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की तथा सम्पूर्ण विश्वविद्यालय में उन्हें दूसरा स्थान प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् वे कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कॉलेज में प्रविष्ट हुए। चूँकि इस कॉलेज में सर्वोत्तम विद्यार्थी ही प्रवेश पाते थे, इसलिए उन विद्यार्थियों में स्वतन्त्र विचारशक्ति रहती थी। ब्रिटिश सरकार ऐसे विद्यार्थियों से सशंकित रहती थी और ब्रिटिश शासकों की खुफिया पुलिस का ध्यान उनकी ओर लगा रहता था। कॉलेज के मुख्य छात्रावास को क्रान्तिकारियों का मिलन-स्थल समझा जाता था। उस समय कलकत्ता में क्रान्तिकारी आन्दोलन चल रहा था। एक ओर अँग्रेजों की दमनकारी नीति ने सुभाष की राजनीतिक चेतना को झकझोरा तो दूसरी ओर प्रथम विश्व युद्ध ने उन्हें यह विश्वास दिला दिया कि जिस राष्ट्र के पास सैनिक शक्ति नहीं है वह अपनी आजादी की रक्षा करने की आशा नहीं कर सकता।

1919 ई. में सुभाष बाबू ने बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की तथा 1920 ई. में उन्होंने इंगलैण्ड जाकर आई.सी.एस. की परीक्षा दी, जिसमें वे सफल रहे। लेकिन वे विदेशी सरकार की गुलामी करने को किसी भी स्थिति में तैयार नहीं थे, अतः उन्होंने आई.सी.एस. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के वावजूद सरकार की नौकरी करना पसन्द नहीं किया और देश सेवा को अपना कार्यक्रम बना लिया। 1921 ई. में वे बम्बई पहुँचे और वहाँ उन्होंने महात्मा गाँधी से भेंट की। उस समय गाँधीजी ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन छेड़ रखा था। लेकिन गाँधीजी का

कार्यक्रम सुभाष बाबू को प्रभावित नहीं कर सका। बम्बई से सुभाष बाबू लौटकर कलकत्ता आये और वहाँ देशबन्धु चितरंजनदास से मिले। उनसे मिलने पर उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें एक योग्य नेता मिल गया है। धीरे-धीरे वे देशबन्धु के निकट आते गये और इस प्रकार उन्होंने अपना राजनीतिक जीवन देशबन्धु चितरंजनदास के नेतृत्व में आरम्भ किया। जब तक देशबन्धु दास जीवित रहे, सुभाष बाबू उनके सहयोगी के रूप में कार्य करते रहे। असहयोग आन्दोलन के समय गाँधीजी के आह्वान पर जब बहुत से छात्रों ने कॉलेज छोड़ दिया, तब ऐसे छात्रों की पढ़ाई के लिए देशबन्धु दास ने एक राष्ट्रीय कॉलेज की स्थापना की और सुभाष बाबू को उसका प्रिंसीपल बनाया।

आन्दोलनकारी सुभाष—जिस समय असहयोग आन्दोलन अत्यन्त तीव्र गति से चल रहा था, सरकार ने घोषणा की कि प्रिन्स ऑफ वेल्स भारत की यात्रा करेंगे। काँग्रेस ने इस यात्रा का बहिष्कार करने का निश्चय किया। सुभाष काँग्रेस के सदस्य बन चुके थे, अतः कलकत्ता से प्रिन्स ऑफ वेल्स के बहिष्कार के लिए आन्दोलन का नेतृत्व सुभाष बाबू को सौंपा गया। ब्रिटिश सरकार ने इस तूफान को रोकने के लिए देशबन्धु दास तथा उनके साथियों को, जिनमें सुभाष बाबू भी सम्मिलित थे, गिरफ्तार करने का आदेश दे दिया। 10 दिसम्बर, 1921 को उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। 1922 ई. में असहयोग आन्दोलन ने एक नया मोड़ लिया, जबकि चौरी-चौरा काण्ड के कारण व्यथित होकर महात्मा गाँधी ने आन्दोलन स्थगित कर दिया। इससे कई राष्ट्रवादी नेताओं ने महात्मा गाँधी के इस निर्णय की निन्दा की। देशबन्धु दास तथा उनके सहयोगियों ने, जो उस समय जेल में थे, विधान मण्डलों से निर्वाचित होकर प्रशासन को ठप्प करने की योजना बनाई। महात्मा गाँधी इस प्रकार के कार्यक्रम के विरुद्ध थे। अतः देशबन्धु दास और पण्डित मोतीलाल नेहरू ने स्वराज्य पार्टी की स्थापना करने की घोषणा कर दी।

1922 ई. के आरम्भ में सुभाष बाबू जेल से रिहा किये गये। इसी बीच देश के काफी भागों में स्वराज्य पार्टी का कार्यक्रम काफी लोकप्रिय हो चुका था। स्वराज्य पार्टी द्वारा चुनाव लड़ने के निश्चय का सर्वत्र स्वागत हुआ। देशबन्धु दास ने स्वराज्य पार्टी का एक समाचार-पत्र 'फॉरवर्ड' निकालना आरम्भ किया और सुभाष बाबू को इस दैनिक समाचार-पत्र का मैनेजर नियुक्त किया। मार्च, 1924 ई. में स्वराज्य पार्टी को कलकत्ता नगर निगम के चुनावों में भारी सफलंता प्राप्त हुई और देशबन्धु दास नगर निगम के मेयर बने, तब उन्होंने सुभाष बाबू को कार्यपालक अफसर नियुक्त किया। सुभाष बाबू के कार्यकलापों से ब्रिटिश सरकार बहुत चिन्तित रहने लगी। सरकार ने सुभाष बाबू को अपनी ओर मिलाने का भरसक प्रयत्न किया, लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। क्रुद्ध होकर ब्रिटिश सरकार ने अक्टूबर, 1925 ई. में एक क्रान्तिकारी षड्यन्त्र करने के झूठे आरोप में उन्हें गिरफ्तार कर माण्डले भेज दिया। वे लगभग $2\frac{1}{2}$ वर्ष तक जेल में रहे, लेकिन जब जेल में उनका स्वास्थ्य गिरने लगा, तब मई, 1927 ई. में उन्हें बंगाल में लाकर रिहा कर दिया गया। इससे पूर्व सुभाष बाबू के प्रिय नेता देशबन्धु दास की मृत्यु हो गयी थी, जिससे उन्हें बड़ा आघात लगा। अपनी रिहाई के बाद सुभाष बाबू पहली बार बंगाल प्रदेश काँग्रेस कमेटी के प्रधान निर्वाचित हुए और तीन वर्ष से अधिक के व्यवधान के पश्चात् फिर सक्रिय राजनीति में भाग लेने लगे।

काँग्रेस में वामपंथियों का प्रभाव—ब्रिटिश सरकार ने भारत में नये संवैधानिक सुधारों के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए 1927 ई. में साइमन कमीशन नियुक्त किया। चूँकि इस कमीशन में एक भी भारतीय को नहीं लिया गया था, अतः काँग्रेस ने इस कमीशन का बहिष्कार करने का निर्णय लिया। साइमन कमीशन जहाँ भी गया वहाँ उसके विरुद्ध प्रदर्शन किया गया। सुभाष बाबू ने भी बंगाल में कमीशन के विरुद्ध किये गये प्रदर्शन का नेतृत्व किया। 1927 ई. में उन्होंने 'बंगाल छात्रसंघ' तथा 'बंगाल युवक संघ' की स्थापना की। इसी वर्ष मद्रास में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ, जिसमें वामपंथी गुट का प्रभाव स्पष्ट नजर आ रहा था। इस अधिवेशन में सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पारित किया गया कि राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्देश्य पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना है। यह प्रस्ताव गाँधीजी की अनुपस्थिति में पारित किया गया था, जिसकी उन्होंने बाद में निन्दा की और इसे नासमझी व जल्दबाजी का प्रतीक बताया। काँग्रेस में वामपंथियों के प्रभाव को स्वीकार करते हुए पहली बार काँग्रेस कार्यकारिणी समिति में वामपंथियों को शामिल किया गया तथा पण्डित नेहरू, श्री कुरैशी और सुभाष बाबू को पार्टी का महासचिव बनाया गया।

दिसम्बर, 1928 ई. में कलकत्ता के काँग्रेस अधिवेशन में सुभाष बाबू की गाँधीजी से पहली टक्कर हुई। इस अधिवेशन में 'नेहरू रिपोर्ट' पर विचार किया गया। नेहरू रिपोर्ट में औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग की गई थी। लेकिन सुभाष बाबू तथा अन्य वामपंथियों ने 'पूर्ण स्वतन्त्रता' का प्रस्ताव रखा। तब गाँधीजी ने प्रस्ताव रखा कि यदि दिसम्बर, 1929 ई. तक ब्रिटिश सरकार भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य का दर्जा नहीं देती है तो काँग्रेस एक अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन चलायेगी। इस पर सुभाष बाबू ने इसमें संशोधन पेश किया कि काँग्रेस पूर्ण स्वतन्त्रता से कम किसी भी दर्जे पर सन्तुष्ट नहीं होगी। यद्यपि यह संशोधन 1350 मतों के मुकाबले 973 मतों से गिर गया, फिर भी इस मतदान से वाप पक्ष की शक्ति तथा प्रभाव का पता लग गया। इसके एक वर्ष बाद पण्डित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुए काँग्रेस के लाहौर अधिवेशन में वामपंथियों ने पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव बड़े जोश से पास करवा लिया। इसके बाद सुभाष का व्यक्तित्व स्वाधीनता संग्राम के अग्रिम मोर्चे पर शक्तिशाली राजनीतिज्ञ के रूप में आता है।

गाँधीजी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में सुभाष ने बड़े जोश से भाग लिया। आन्दोलन के दौरान सुभाष बाबू को बन्दी बना लिया गया और गाँधी-इरविन समझौते के बाद उन्हें रिहा किया गया। दूसरे गोलमेज सम्मेलन से लौटकर गाँधीजी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को पुनः प्रारम्भ करने की घोषणा की। इस बार भी आन्दोलन के दौरान उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। कुछ समय बाद उनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया। ऐसी स्थिति में उन्हें वियना जाकर इलाज कराने की अनुमति मिल गई।

गाँधीजी से तीव्र मतभेद—वियना से इलाज करवाने के बाद जब वे लौटकर भारत आये तब 19 से 21 फरवरी, 1938 तक काँग्रेस का अधिवेशन गुजरात के सूरत जिले के हरिपुरा गाँव में हुआ, जिसमें सुभाष बाबू को निर्विरोध अध्यक्ष चुन लिया गया। यद्यपि गाँधीजी और सुभाष बाबू के बीच, काँग्रेस की नीति व कार्य-प्रणाली को लेकर मतभेद थे, किन्तु वामपंथियों का प्रभाव देखकर किसी ने सुभाष बाबू का विरोध नहीं किया। यह अधिवेशन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। इस अधिवेशन के लिए सुभाष बाबू का अध्यक्ष के रूप में निर्वाचन, वामपंथियों की जीत

थी। दूसरा इस अधिवेशन में पहली बार भारतीय रियासतों के बारे में भी निर्णय लिया गया कि रियासती जनता को भी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। काँग्रेस ने जो पूर्ण स्वराज्य का लक्ष्य बनाया है वह रियासतों सहित समूचे भारत के लिए है।

1938 ई. में सुभाष बाबू ने भरसक प्रयत्न किया कि जिन्ना से सुलह हो जाय और सारा राष्ट्र एक हो जाय ताकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद का कारगर ढँग से विरोध कर सके। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि वे मुसलमानों के हितों के प्रति भी उतने ही सजग हैं, जितने दूसरों के। काँग्रेस केवल हिन्दुओं का नहीं, बल्कि सारे देश का विचारमंच है। उन्होंने भारतीय एकता को सर्वोपरि स्थान दिया। सुभाष बाबू ने लाख प्रयत्न किये किन्तु जिन्ना टस से मस नहीं हुआ। सुभाष बाबू ने राष्ट्रीय एकता स्थापित करने को विशेष महत्त्व दिया—चाहे वह आसामी-बिहारी समस्या हो या मुस्लिम-लीग की हठधर्मिता या साम्प्रदायिकता। सुभाष बाबू चटगाँव (वर्तमान में बंगलादेश में) गये। वहाँ मुस्लिम लीगियों ने अपना संयम खोकर उन पर व काँग्रेसियों पर पथराव किया, जिससे सुभाष बाबू को मामूली चोटें आईं और चौदह अन्य काँग्रेसी भी आहत हुए। उस समय उन्होंने जनता से अपील की कि वह धैर्य व आत्म-संयम से काम ले और प्यार करे, घृणा को इसी से दूर किया जा सकता है। यही एक रास्ता है जिसके द्वारा सत्य व अहिंसा के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की जा सकती है।

सितम्बर, 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हो गया और इंगलैण्ड भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो गया। इस अवसर पर गाँधीजी व सुभाष बाबू के मतभेद प्रत्यक्ष रूप से खुलकर सामने आये। इन मतभेदों का मूल कारण यह था कि सुभाष बाबू द्वितीय विश्व युद्ध को भारत के लिए वरदान समझते थे और इस बात में विश्वास करते थे कि 'इंगलैण्ड का संकट भारत के लिए अवसर है।' लेकिन गाँधीजी इंगलैण्ड के संकट को भारत के लिए 'अवसर' नहीं समझते थे तथा इस संकटकाल में इंगलैण्ड से सहयोग करना चाहते थे। ये मतभेद निरन्तर बढ़ते ही गये। इन्हीं मतभेदों के बीच इसी वर्ष काँग्रेस का अधिवेशन त्रिपुरा में हुआ। इसमें सुभाष बाबू को पुनः काँग्रेस अध्यक्ष पद के लिए खड़ा किया गया, जबकि गाँधीजी सहित उनके साथी इसके पक्ष में नहीं थे और उन्होंने पट्टाभि सीतारमैया को सुभाष बाबू के सामने खड़ा कर दिया। सुभाष बाबू का कहना था कि दक्षिण पंथी नेतृत्व की समझौता-परस्त नीति का विरोध करने के लिए आवश्यक है कि वह पुनः चुनाव में खड़े हों। यह प्रथम अवसर था जबकि काँग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए सर्वसम्मति से कोई फ़ैसला न होकर चुनाव करना पड़ रहा था। आखिर चुनाव का परिणाम सामने आया। पट्टाभि हार गये। पट्टाभि को 1376 मत मिले जबकि सुभाष बाबू को 1575। यह चुनाव काँग्रेस के इतिहास में सर्वाधिक चर्चित रहा। यह व्यक्तियों की हार-जीत नहीं थी, बल्कि नीति की हार-जीत थी। वस्तुतः गाँधीजी काँग्रेस के सदस्य न होते हुए भी उस पर अपना प्रभुत्व बनाये रखने की बराबर चेष्टा करते रहे। "गाँधीजी का महात्मापन दो बार धराशायी हुआ था—एक तो जब डॉ. अम्बेडकर ने गाँधीजी की बात मानने से इन्कार कर दिया था और उनके प्राणों की रक्षा के लिए उन्हें विवश किया गया था कि वे गाँधीजी की बात मान जाएँ और ऐसा ही हुआ। दूसरे, इस बार जब पट्टाभि के हारने पर उन्होंने यह स्वीकार किया और घोषणा की कि यह उनकी हार है।" गाँधीजी ने यह भी कहा कि, "अब मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं

हूँ।" इससे यह स्पष्ट हो गया कि जनता सुभाष की नीतियों को पसन्द करती है और उसका झुकाव वामपंथियों की ओर है। गाँधीजी ने सुभाष का विरोध क्यों किया ? इस सम्बन्ध में डॉ. के.एम. मुंशी के 4 दिसम्बर, 1942 के पत्र में लिखा है कि सुभाष ने जर्मनी के राजदूत से कलकत्ता में भेंट की थी तथा उसे आश्वासन दिया था कि विश्व युद्ध में जर्मनी कॉंग्रेस के समर्थन की आशा कर सकता है। इसलिए गाँधीजी नहीं चाहते थे कि कॉंग्रेस अध्यक्ष इस प्रकार का देशद्रोहपूर्ण कार्य करे।

कॉंग्रेस के त्रिपुरा अधिवेशन में सुभाष बाबू की जय-जयकार हुई। गाँधीजी तथा उनके साथी बड़े निराश हुए। गाँधीजी संयम नहीं रख सके और उन्होंने अपनी बौखलाहट व्यक्त करते हुए कहा कि कॉंग्रेस अब भ्रष्ट संगठन हो गया है तथा बहुमत की इस नीति को यदि इन सदस्यों ने न माना तो सम्भवतः कॉंग्रेस संगठन के दक्षिण पंथी सदस्य उससे अलग हट सकते हैं। गाँधीजी ने यह भी कहा कि जो लोग कॉंग्रेस में रहना पसन्द नहीं करते वे बाहर आ सकते हैं। गाँधीजी ने कॉंग्रेस में बगावत खड़ी कर दी थी। गाँधीजी के इशारे पर कॉंग्रेस कार्यसमिति के 15 सदस्यों ने यह कहकर अपने-अपने पदों से त्याग-पत्र दे दिया कि सुभाष बाबू अपनी इच्छानुसार कार्यसमिति का गठन करलें। सुभाष बाबू नहीं चाहते थे कि कॉंग्रेस में फूट पड़े। इसलिए उन्होंने गाँधीजी, नेहरू, कृपलानी आदि से बात करके मतभेदों को दूर करने का प्रयास किया, लेकिन उसका कोई परिणाम नहीं निकला। त्रिपुरा अधिवेशन में गाँधीजी के समर्थकों ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसमें गाँधीवादी नीतियों का समर्थन किया गया। इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि सुभाष बाबू, गाँधीजी की इच्छानुसार कॉंग्रेस कार्यसमिति के सदस्य मनोनीत करें। गाँधीजी व सुभाष में मतैक्य नहीं हो सका। इधर सुभाष बाबू अस्वस्थ होने के कारण अधिवेशन में भाग नहीं ले सके। विषय समिति की बैठक में उन्हें स्ट्रेचर पर लाया गया। सुभाष बाबू ने प्रस्ताव रखा कि ब्रिटिश सरकार को अल्टीमेटम दे देना चाहिये कि छः महीने में भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय। यदि छः महीने में ब्रिटिश सरकार भारत को आजाद नहीं करती है तो भारत युद्ध के अवसर का लाभ उठाकर ब्रिटिश-विरोधी शक्तियों से सैनिक सहायता ले लेगा। गाँधीजी ने इस प्रस्ताव का जबरदस्त विरोध किया। अतः यह प्रस्ताव पारित नहीं हो सका। गाँधीजी और उनके अनुयायियों ने सुभाष की बीमारी को बहाना बताकर प्रचार किया कि सुभाष बीमारी के बहाने सहानुभूति अर्जित करना चाहते हैं। इस समय सुभाष का अस्वस्थ शरीर अन्दर से अधिक बलिष्ठ हो उठा और उन्होंने कॉंग्रेस के अध्यक्ष-पद से त्याग-पत्र दे दिया।

फारवर्ड ब्लाक का गठन—कॉंग्रेस के अध्यक्ष-पद से त्याग-पत्र देने के बाद सुभाष बाबू ने कॉंग्रेस में रहकर एक अलग दल बनाया, जिसका नाम फारवर्ड ब्लाक रखा गया। इस सम्बन्ध में कॉंग्रेस में कोई विरोध नहीं उठा। कॉंग्रेस के अन्दर फारवर्ड ब्लाक तेजी से काम करने लगा। फारवर्ड ब्लाक के गठन में सुभाष के दो लक्ष्य थे—प्रथम तो यह कि भविष्य में दक्षिणपंथियों से संघर्ष होने पर वे अधिक प्रभावशाली ढंग से टक्कर ले सकें। सुभाष को यह पूर्ण विश्वास था कि एक दिन वह कॉंग्रेस को अपने दृष्टिकोण तथा कार्यक्रमों से सहमत करा लेंगे। दूसरे, यदि वे इसमें सफल न हो सके तो किसी महत्त्वपूर्ण संकट के समय अपने ही बल पर बिना दक्षिणपंथियों की सहायता के आवश्यक कदम उठा सकेंगे। सुभाष ने फारवर्ड ब्लाक के तीन प्रमुख उद्देश्य

वताये थे—(1) तेजी से कार्य करना,(2) गाँधी गुट के नेतृत्व को समाप्त करना,(3) समझौते का कड़ा विरोध करना। सुभाष बाबू ने फारवर्ड ब्लाक के बारे में कहा था कि, "फारवर्ड ब्लाक श्री गाँधी के व्यक्तित्व और अहिंसात्मक असहयोग के उनके सिद्धान्त को पूरा सम्मान देता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि काँग्रेस के मौजूदा हाई कमान में भी अपनी निष्ठा वनाये रखे।"

सुभाष वावू के त्याग-पत्र देने से काँग्रेस के दोनों घटक आमने-सामने आ गये थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एकता की अपील करते हुए,काँग्रेस अध्यक्ष राजेन्द्र प्रसाद को लिखा,"काँग्रेस में विघटनात्मक शक्तियों के बुरे चिह्न दुःखद रूप से प्रकट हो गये तथा संकट के समय संयत विचारों,पक्षपातहीन निर्णयों तथा सहानुभूतिपूर्ण हृदय वाले नेता की बहुत जरूरत है। दुर्भाग्य से सुभाष का त्याग-पत्र अनिवार्य हो गया है।" परन्तु एकता के सभी प्रयास विफल रहे। गाँधी गुट बाजी मार गया।

काँग्रेस के सभी पदों से च्युत—तात्कालिक समय में एकता की सख्य जरूरत थी,लेकिन काँग्रेस संगठन में दरार बढ़ती गई। काँग्रेस अध्यक्ष राजेन्द्र प्रसाद ने जो गाँधी गुट के नेता थे, सुभाष बाबू से उनकी गतिविधियों के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण पूछा। यद्यपि सुभाष बाबू ने अपने जवाब में सब कुछ स्पष्ट कर दिया था,किन्तु फिर भी सुभाष बाबू को काँग्रेस के सभी पदों से हटाकर मात्र चार आने वाला सामान्य सदस्य रहने दिया। इस प्रकार सुभाष काँग्रेस संगठन से अलग कर दिये गये। निःसन्देह काँग्रेस संगठन में यह कार्य लोकतन्त्र की चेतना के विरुद्ध था। काँग्रेस संगठन की यह दुर्घटना काँग्रेस के न्याय और विवेक को नंगा कर देती है और यह सिद्ध करती है कि गाँधीजी अपने सिद्धान्तों से डिग गये थे। गाँधीजी चाहते तो सुभाष को त्याग-पत्र नहीं देना पड़ता और न काँग्रेस में दरार पड़ती,परन्तु जिस स्पष्टता से उन्होंने अपनी हार स्वीकार की थी,उस स्पष्टता से वे उसे वर्दाश्त नहीं कर सके और जो नहीं करना था वह करवा लिया।

सुभाष की गिरफ्तारी और जर्मनी पहुँचना—इस समय द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हो चुका था। सुभाष बाबू की धारणा थी कि—(1) युद्ध में ब्रिटेन पराजित होगा और ब्रिटिश साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जायेगा,(2) विषम परिस्थिति होते हुए भी ब्रिटेन भारतीय जनता को अधिकार हस्तान्तरित नहीं करेगा और उन्हें अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ना होगा,(3) यदि भारत ने ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया और जो राष्ट्र ब्रिटेन से लड़ रहे हैं उनसे सहयोग किया तो भारत अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेगा। सुभाष बाबू शत्रु के विरुद्ध शत्रु के शत्रु से सहायता लेने में कोई हानि नहीं समझते थे। फारवर्ड ब्लाक ने सुभाष बाबू के नेतृत्व में अँग्रेजों के विरुद्ध जंगी तैयारियाँ आरम्भ कर दीं। सरकार ने सुभाष को एक खतरनाक क्रान्तिकारी के रूप में देखा और 2 जुलाई,1940 को उन्हें गिरफ्तार कर लिया। इस पर उन्होंने सरकार को अल्टीमेटम दिया जिसमें उन्होंने कहा, "मेरी गिरफ्तारी का कोई नैतिक अथवा कानूनी आधार नहीं है और यदि मुझे तुरन्त रिहा नहीं किया गया तो मैं अनशन करूँगा।" सरकार ने इस अल्टीमेटम की कोई परवाह नहीं की। अनशन आरम्भ करने से पूर्व उन्होंने बंगाल के गवर्नर को लिखा, "व्यक्ति को मरना चाहिये ताकि राष्ट्र जिन्दा रह सके। आज मुझे मरना चाहिये ताकि भारत अपनी आजादी और गौरव प्राप्त कर सके।" 29 नवम्बर को उन्होंने अनशन आरम्भ कर दिया। कुछ दिन बाद सुभाष की हालत चिन्ताजनक देखकर उन्हें रिहा कर दिया गया। किन्तु सरकार ने उनकी गतिविधियों पर कड़ी

निगरानी रखने के लिए उन्हें उनके ही घर में नजरबन्द कर दिया। लगभग 40 दिन तक सुभाष अपने घर के सोने के कमरे से बाहर नहीं निकले। जनवरी, 1941 को उन्हें अन्तिम बार देखा गया, किन्तु इसके 10 दिन बाद सारा भारत और ब्रिटेन यह सुनकर स्तम्भित रह गये कि ब्रिटिश सरकार के कड़े पहरे के बावजूद सुभाष पुलिस को चकमा देकर अपने निवास-स्थान से भागने में सफल हो गये। सुभाष बाबू वेश बदलकर काबुल के लिए चल दिये। वहाँ कुछ दिन रहकर वे मास्को गये और वहाँ से 28 मार्च को बर्लिन के लिए रवाना हो गये।

बर्लिन में जर्मनी के विदेश मन्त्री बान रिबेनट्राप ने सुभाष बाबू का स्वागत किया और जर्मनी के रेडियो द्वारा ब्रिटेन के विरुद्ध अपने विचारों को प्रसारित करने की सुविधा देने का आश्वासन दिया। नवम्बर, 1941 ई. में उन्होंने जर्मनी रेडियो से अपना सन्देश प्रसारित किया। उस समय हिटलर का सितारा बुलन्दी पर था। भारत को स्वतन्त्र कराने के उनके दृढ़ निश्चय से जर्मन सरकार अत्यन्त प्रभावित हुई। ऐसा भी कहा जाता है कि हिटलर ने सुभाष बाबू को भारत के स्वाधीनता संग्राम में सहायता देने का आश्वासन दिया था। किन्तु हिटलर ने भारत की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में घोषणा करने से इन्कार कर दिया। मुसोलिनी भी घोषणा करने को तैयार नहीं हुआ।

सुभाष और आजाद हिन्द फौज—दिसम्बर, 1941 ई. में जापान ने अमेरिका के विरुद्ध युद्ध आरम्भ कर दिया और ब्रिटेन ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अतः ब्रिटेन के इस नये शत्रु से सहयोग करने की बात सोचना सुभाष बाबू के लिए सम्भव हो गया। मार्च, 1942 ई. में कतिपय भारतीय प्रवासियों की एक कान्फ्रेन्स टोकियो में हुई जिसमें 'भारतीय स्वतन्त्रता लीग' और 'आजाद हिन्द फौज' गठित करने का निश्चय किया गया। जून में बैंकाक में दूसरी कान्फ्रेन्स हुई जिसमें रासबिहारी बोस की अध्यक्षता में 'भारतीय स्वतन्त्रता लीग' स्थापित की गई और निश्चय किया गया कि एक मुक्त सेना गठित की जाय जिसके सेनापति केप्टिन मोहनसिंह हों। कान्फ्रेन्स ने सुभाष बाबू को दक्षिण एशिया में आने का निमन्त्रण दिया। 1 सितम्बर, 1942 को आजाद हिन्द फौज गठित हो गयी। किन्तु रासबिहारी बोस व केप्टिन मोहनसिंह के बीच मतभेद उत्पन्न हो गये। जापान के सैनिक अधिकारियों को भी मोहनसिंह की गतिविधियों पर सन्देह हो गया तथा मोहनसिंह नजरबन्द कर दिये गये। आजाद हिन्द फौज विघटित हो गयी।

13 जून, 1943 को सुभाष बाबू टोकियो पहुँचे जहाँ जापान के प्रधानमन्त्री तोजो ने उनका स्वागत किया और जापान की विधान सभा में घोषित किया कि भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता में जापान भारत की पूरी सहायता करेगा। तत्पश्चात् 2 जुलाई को सुभाष बाबू सिंगापुर पहुँचे और रासबिहारी बोस के अनुरोध पर उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता लीग की अध्यक्षता स्वीकार करली। 21 अक्टूबर को अस्थायी स्वतन्त्र भारतीय सरकार गठित हुई। अस्थायी सरकार ने ब्रिटेन और अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जापान, जर्मनी, इटली तथा छः अन्य राज्यों ने अस्थायी सरकार को मान्यता प्रदान कर दी तथा जापान ने उसे अण्डमान व निकोबार द्वीप हस्तान्तरित कर दिये। इसके बाद भारत की मुक्ति हेतु आजाद हिन्द फौज का क्या योगदान हो, इस प्रश्न पर सुभाष बाबू और जापान के कमाण्डर में मतभेद उत्पन्न हो गये। जापानी कमाण्डर का कहना था कि आजाद हिन्द फौज को सिंगापुर में ही रहने दिया जाय और भारत को आजाद कराने का सारा दायित्व जापानी सेना वहन करे। सुभाष इसके लिए तैयार नहीं हुए। वे तो चाहते थे कि अपने

देश की आजादी के युद्ध में भारतीय सैनिक अधिक से अधिक कुर्बानी करें। अन्त में यह तय हुआ कि आजाद हिन्द फौज की एक रेजीमेण्ट को लड़ाई में सक्रिय भाग लेने का मौका दिया जाय और कुछ भारतीय सिपाही जापानी पलटनों के साथ सहायक के रूप में जोड़ दिये जायँ।

इसके बाद सिंगापुर के टाउन हाल में सुभाष बाबू ने सैनिक वर्दी में आजाद हिन्द फौज के सर्वोच्च सेनापति के रूप में फौज का निरीक्षण किया। अपनी फौज के समक्ष 'दिल्ली चलो' का नारा बुलन्द करते हुए एक रोमांचकारी भाषण दिया, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार थीं, "कोई भी उद्देश्य इससे अधिक पवित्र नहीं हो सकता और इसकी प्राप्ति के लिए कोई भी बलिदान बड़ा नहीं, जीवन का बलिदान भी नहीं..... अतः आप ऐसा उदाहरण पेश करेंगे जिससे आपके देशवासी आपको आशीर्वाद दें और आने वाली पीढ़ियाँ आपसे प्रेरणा ग्रहण करें।" अपने भाषण के अन्त में कहा, "यदि आप जीवन-मरण में मेरा साथ दें तो मैं आपको यकीन दिला सकता हूँ कि हम मिलकर स्वतन्त्रता अवश्य प्राप्त करेंगे। हम में से कितने स्वाधीनता का सूर्योदय देखने के लिए जीवित बचेंगे, इस बात का कोई महत्त्व नहीं है। इतना ही काफी है कि भारत स्वाधीन होगा और हम उसे स्वाधीन कराने में अपना सर्वस्व लगा देंगे।" सुभाष बाबू ने घोषणा की कि "तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूँगा।" तत्पश्चात् 31 दिसम्बर, 1943 को सुभाष बाबू ने अण्डमान की स्वतन्त्र भूमि पर कदम रखा। अण्डमान से वे बर्मा पहुँचे और वहाँ रंगून में अस्थायी सरकार, भारतीय स्वतन्त्रता लीग तथा आजाद हिन्द फौज की सर्वोच्च कमान के मुख्यालयों की स्थापना की। बर्मा और भारत की सीमा लगी होने के कारण रंगून में मुख्यालय होना आवश्यक था, क्योंकि यहाँ से भारत पर आक्रमण करना अधिक सुविधाजनक था।

4 फरवरी, 1944 को अराकान के मोर्चे पर भारत का स्वाधीनता संग्राम आरम्भ हुआ। मार्च, 1944 में भारत पर चढ़ाई करने का अभियान शुरू कर दिया। काक्स बाजार के निकट मोडाक, इम्फाल और कोहिमा में भारत का राष्ट्रीय ध्वज गाड़ते हुए आजाद हिन्द फौज लगभग 150 मील भारत में घुस गई। इस अभियान में लगभग 4,000 भारतीय सैनिक शहीद हो गए, कई हजार घायल हुए, जिससे आजाद हिन्द फौज के फिर से गठित करने की समस्या पैदा हो गयी। इधर बरसात की परिस्थितियों तथा युद्ध की बिगड़ती हुई स्थिति से मजबूर होकर जून, 1944 में जापान ने भारत-भूमि से अपनी सेनाएँ हटा लीं। 1944 ई. की शरद ऋतु में ब्रिटिश सेनाओं ने जापान के विरुद्ध बर्मा पर आक्रमण कर दिया। दिसम्बर के अन्त तक जापानी सेना को अराकान से खदेड़ दिया गया। मई, 1945 में ब्रिटेन ने रंगून पर कब्जा कर लिया। अब सुभाष बाबू का रंगून में रहना खतरे से खाली नहीं था। अतः वे बैंकाक पहुँच गये और वहाँ से मलाया चले गये। यहाँ उन्हें समाचार मिला कि रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी है। इसके बाद 11 अगस्त को उन्हें सूचना मिली कि जापानी सेनाओं ने पराजय स्वीकार करली है। अब आजाद हिन्द फौज के लिए अकेले लड़ाई जारी रखना सम्भव नहीं रहा। अतः उसे लड़ाई बन्द कर देनी पड़ी। इस प्रकार सैनिक दृष्टि से आजाद हिन्द फौज असफल अवश्य रही, किन्तु जहाँ भी इस फौज के रणबाँकुरों ने लोहा लिया वहाँ अमर कीर्ति ने उनके कदम चूमे।

सुभाष बाबू तुरन्त सिंगापुर पहुँचे और वहाँ अस्थायी सरकार के सैनिक और असैनिक विभागों को अगली कार्यवाही के बारे में निर्देश दिये। इस समय अस्थायी सरकार के मन्त्रिमण्डल का विचार था कि सुभाष बाबू का सिंगापुर में रहना खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि विजयी ब्रिटिश

सेनाओं द्वारा उन्हें बन्दी बनाना प्रायः निश्चित था। अन्त में 16 अगस्त, 1945 को वे अपने विश्वस्त सहयोगियों के साथ सिंगापुर से बैंकाक के लिए विमान द्वारा रवाना हुए। इसके पाँच दिन बाद 22 अगस्त, 1945 को टोकियो रेडियो ने घोषणा की कि जिस विमान से सुभाष बाबू बैंकाक जा.रहे थे वह विमान दुर्घटनाग्रस्त हो गया है और उसमें सुभाष बाबू सहित उनके सारे सहयोगी मारे गये हैं।

सुभाष चन्द्र बोस का मूल्यांकन—भारत के इतिहास में सुभाष चन्द्र बोस एक जाज्वल्यमान दीपक के समान हैं। काँग्रेस के अन्दर वे एक वामपंथी नेता तथा उग्रविचार के निर्भीक और उत्साही देशभक्त थे। वे अँग्रेजों को देश का सबसे बड़ा शत्रु समझते थे। उनकी मान्यता थी कि अपने साध्य की सिद्धि के लिए मनोनुकूल साधनों का उपयोग किया जा सकता है। वे गाँधीवादियों की ढुलमिल नीति के सख्त विरोधी थे। गाँधीवादियों द्वारा 1935 के अधिनियम के कार्यान्वयन को वे देश की स्वतन्त्रता के प्रति विश्वासघात समझते थे। उनकी राय में गाँधीवादी नीति प्रतिक्रियावादी और उदार थी। वे चाहते थे कि काँग्रेस, जनता के साम्राज्यवाद-विरोधी-संघर्ष का नेतृत्व करे और सरकार से किसी प्रकार का समझौता न करे। काँग्रेस में उनके विचारों की लोकप्रियता बढ़ती गई और हरिपुरा काँग्रेस के अधिवेशन में वे काँग्रेस के अध्यक्ष पद पर निर्विरोध निर्वाचित हो गये। काँग्रेस संगठन में वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने महात्मा गाँधी को चुनौती दी और उनसे टक्कर ली। त्रिपुरा में काँग्रेस के अधिवेशन में उन्होंने केवल पट्टाभि को ही पराजित नहीं किया, बल्कि महात्मा गाँधी को भी धराशायी कर दिया। महात्मा गाँधी को यह स्वीकार करना पड़ा कि पट्टाभि की पराजय, स्वयं उनकी पराजय है। उनकी राय में दूसरा विश्व युद्ध भारत के लिए सुनहला अवसर था, जबकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद की भारत में अन्त्येष्टि की जा सकती थी। जिस समय वेवल योजना पर विचार करने के लिए शिमला सम्मेलन हो रहा था, उस समय वे जापान में थे और जापानी रेडियो से वे निरन्तर यह प्रसारित करते रहे कि काँग्रेस वेवल योजना को स्वीकार न करे और समझौते के लिए वायसराय भवन की ओर न दौड़े।

सुभाष बाबू एक महान् क्रान्तिकारी और सच्चे देशभक्त थे। उन्होंने आजाद हिन्द फौज का संगठन कर अपार साहस और उत्साह का परिचय दिया। उनके अथक प्रयास ने केवल भारत के ही नहीं बल्कि पूर्वी एशिया के समस्त भारतीयों में एक नवीन स्फूर्ति का संचार किया। उनकी यह दृढ़ मान्यता थी कि भारत की स्वतन्त्रता बाह्य शक्तियों की सहायता और सशस्त्र संघर्ष द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। इसलिए उन्होंने जापान का सहयोग लेकर आजाद हिन्द फौज का गठन किया। आजाद हिन्द फौज ने अभावों की परिस्थितियों में भी बड़ी बहादुरी से युद्ध किया। उनमें देशभक्ति की भावना असीम थी और उन पर सुभाष बाबू के वायदों की नई शराब का नशा था। आजाद हिन्द फौज ने यह सिद्ध कर दिया कि भारतीय सैनिक मात्र पैसे के लिए काम करने वाले सैनिक नहीं हैं, अपितु मातृभूमि के सच्चे सपूत और देशभक्त हैं। सुभाषबाबू ने ऐसी देशभक्त फौज का संगठन करके 'नेताजी' का खिताब अर्जित किया और भारतीय इतिहास में, कठिन परिस्थितियों में भी मुकाबला करने की एक मिसाल कायम की। वस्तुतः नेताजी सुभाष चन्द्र बोस देशभक्त, बुद्धिजीवी, मौलिक चिन्तक, अनुशासनप्रिय और अत्यन्त लोकप्रिय नेता थे।

अध्याय-18

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में क्रान्तिकारियों का योगदान

जिस समय भारत के राजनैतिक रंगमंच पर काँग्रेस के अन्दर नरम दल और गरम दल का प्रादुर्भाव हो रहा था, उस समय देश में एक दूसरी विचारधारा भी पल्लवित हो रही थी। वह क्रान्तिकारी विचारधारा थी और इस विचारधारा के अनुयायियों की नीति क्रान्ति की नीति थी, जिसका आधार पाश्चात्य क्रान्तिकारी साधनों, विशेषकर वम तथा पिस्तौल द्वारा आतंकवाद, राजनीतिक हत्याएँ एवं राजनीतिक डकैतियों का प्रयोग था। क्रान्तिकारी आतंकवाद, उग्रराष्ट्रवाद का ही एक पक्ष था, किन्तु कार्य पद्धति की दृष्टि से यह राजनीतिक उग्रवाद से सर्वथा भिन्न था। उग्रवादी, उदारवादियों की भिक्षावृत्ति की नीति से असन्तुष्ट थे, अतः स्वराज्य प्राप्त करने के लिए कुछ तीखे उपायों को आवश्यक मानते थे। इसलिए वें ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सक्रिय असहयोग का समर्थन करते थे। लेकिन उग्रवादियों का संघर्ष शान्तिमय था और उसमें हिंसा का कोई स्थान नहीं था। इसके विपरीत क्रान्तिकारियों का विश्वास था कि शान्तिमय संघर्ष से ब्रिटिश सरकार पर कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। अतः वे हिंसा व आतंकवाद में विश्वास करते थे।

क्रान्तिकारी आन्दोलन का उद्भव—कुछ विद्वानों की मान्यता है कि जव उग्रवादी आन्दोलन के विरुद्ध ब्रिटिश हुकूमत का दमन-चक्र चालू हो गया, सरकार ने उग्रवादियों को जेलों में ठूँसना आरम्भ कर दिया, जुलूसों व सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिवन्ध लगा दिये तथा हजारों लोगों पर, वंगाल-विभाजन के विरुद्ध आन्दोलन के कारण घोर अत्याचार किये, तव कुछ देशभक्तों के पास क्रान्तिकारी आन्दोलन के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं रह गया था और इसलिए देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। लेकिन इसमें केवल आंशिक सत्यता है। क्योंकि देश में उग्रवाद के उदय से पूर्व क्रान्तिकारी आन्दोलन का विगुल वज उठा था। 1876 ई. में पूना में वड़ा भारी अकाल पड़ा, जिसमें हजारों लोग मर गये, लेकिन सरकार ने लोगों को राहत देने के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाया। इससे पूना के वासुदेव वलवन्त फड़के के मन में क्रान्ति की आग भड़क उठी और उसने सरकार के विरुद्ध क्रान्ति संगठित करनी शुरू कर दी। सरकार ने उसे गिरफ्तार कर लिया और 31 अगस्त, 1879 को उस पर मजिस्ट्रेट की अदालत में अनेक आरोप लगाये तथा 22 अक्टूवर को उसे सेशन कोर्ट में पेश किया गया। अदालत ने उसे

देश-निर्वासन का दण्ड देकर अदन की जेल में बन्द कर दिया। वहाँ अँग्रेजों की घोर यातनाओं के कारण फरवरी, 1883 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। तत्पश्चात् 1894 ई. में महाराष्ट्र में दामोदर चाफेकर तथा उसके भाई बालकृष्ण चाफेकर ने एक 'सोसाइटी फोर द् प्रोटेक्शन ऑफ हिन्दू रिलीजन' स्थापित की और 22 जून, 1897 को उन्होंने पूना के प्लेग कमिश्नर रैण्ड व उसके सहायक एयर्स्ट की हत्या कर दी। इस घटना को भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन की प्रथम चिंगारी कहा जाता है। इन घटनाओं से स्पष्ट है कि उग्रवाद के उदय के पूर्व भी भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन का सूत्रपात हो चुका था। 'लन्दन टाइम्स' के संवाददाता वेलेन्टाइन शिरोल ने लिखा था कि क्रान्तिकारी एवं आतंकवादी आन्दोलन पश्चिम के विरुद्ध ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया थी और उसे कट्टरवादी हिन्दुओं ने प्रेरित किया था। गुप्त संगठन, जो हिंसा का प्रचार करते थे, धर्म से प्रेरणा लेते थे। शिरोल ने यह भी लिखा कि दक्षिण का ब्राह्मणवाद अत्यन्त लड़ाकू था और तिलक इसके नेता थे। किन्तु शिरोल का यह कथन पूर्णतः सही नहीं मान सकते। महाराष्ट्र के क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए भले ही हम स्वीकार करलें, किन्तु पंजाब और बंगाल में क्रान्तिकारी आन्दोलन गैर-ब्राह्मणों ने ही चलाया था।

क्रान्तिकारी आन्दोलन के उदय के कारण—भारत में क्रान्तिकारी एवं आतंकवादी आन्दोलन का उदय प्रायः उन्हीं कारणों से हुआ जिनके कारण उग्रवाद का उदय हुआ था। किन्तु उग्रवादियों के विरुद्ध सरकार की दमनकारी नीति तथा कुछ अन्य घटनाओं ने इसे विशेष बल प्रदान किया। क्रान्तिकारी आन्दोलन को बढ़ावा देने में निम्नलिखित कारण विशेष रूप से उत्तरदायी थे—

(1) उदारवादियों के संवैधानिक उपायों और उनकी असफलता के कारण भारतीय नवयुवकों में वैधानिक मार्ग के अवलम्बन पर तनिक भी विश्वास नहीं रहा। भारतीय नवयुवकों को विश्वास हो गया कि सरकार के समक्ष गिड़गिड़ाने और हाथ-पैर जोड़ने से ब्रिटिश सरकार भारतीयों को स्वतन्त्रता देने वाली नहीं है। इसके लिए शक्ति संचय करके क्रान्तिकारी उपायों का अवलम्बन करना होगा।

(2) उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में चारों ओर आर्थिक असन्तोष की लहर व्याप्त थी। अकाल और महामारी के कारण जनता की गरीबी बढ़ती जा रही थी। आर्थिक दरिद्रता और आर्थिक असन्तोष क्रान्ति को जन्म देते हैं। न्यायालय में वासुदेव बलवन्त फड़के ने अपने बयान में कहा था कि, "भारतीय आज मृत्यु के द्वार पर खड़े हैं। ब्रिटिश सरकार ने जनता को इतना अधिक कुचल दिया है कि वे सदा अकाल और खाद्य पदार्थों की कमी से दुःखित रहते हैं। जहाँ कहीं भी दृष्टि डालो, वहीं पर ऐसे दृश्य दिखाई देंगे, जिससे हिन्दू और मुसलमानों का सिर लज्जा से झुक जाता है।" इससे स्पष्ट है कि भारतीय जनता में आर्थिक असन्तोष अत्यधिक तीव्र था। आर्थिक असन्तोष ने लोगों को क्रान्ति के लिए प्रेरित किया था।

(3) क्रान्तिकारी आन्दोलन विशेषकर मध्यम वर्ग में फैला, जिसमें अधिकांश पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त नवयुवक थे। इन युवकों में ब्रिटिश सरकार की नीतियों के प्रति तीव्र आक्रोश था। काँग्रेस की असफलताओं ने इन युवकों में क्रान्तिकारी प्रवृत्ति उत्पन्न करदी थी। यह क्रान्तिकारी भावना स्वतन्त्रता प्राप्ति की लालसा से प्रेरित थी।

(4) भारतीय राजनीति में क्रान्तिकारी आन्दोलन के उदय के सम्बन्ध में यही कहना उचित होगा कि यह सरकार की दमनकारी नीतियों का एक स्वाभाविक परिणाम था। लॉर्ड कर्जन की नीतियों ने उसे विशेष रूप से प्रोत्साहित किया। लॉर्ड कर्जन द्वारा प्रसारित 'आफिशियल सीक्रेट्स एक्ट', 'भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम' और 'बंगाल-विभाजन' जैसे कार्यों ने क्रान्तिकारी आन्दोलन को बढ़ाने में विशेष योग दिया। बंगाल-विभाजन के बाद देश में जो आन्दोलन चला, सरकार ने उनका कठोरतापूर्वक दमन किया, जिसके प्रतिक्रियास्वरूप क्रान्तिकारी आन्दोलन का जन्म अनिवार्य हो गया। उग्रवादियों का दमन, तिलक की गिरफ्तारी और निर्वासन से सारे देश में रोष का तूफान उमड़ पड़ा और नवयुवक क्रान्तिकारी उपायों का सहारा लेने की सोचने लगे। भारत सचिव माण्टेग्यू ने भी यह स्वीकार किया था कि, "दण्ड-संहिता की सजाओं और चाकू चलाने की नीति ने साधारण और बिगड़े नवयुवकों को शहीद बनाया और विप्लवकारी लोगों की संख्या बढ़ा दी।" डॉ. परमात्माशरण ने भी लिखा है कि, "1907 और 1908 में बने राजद्रोहात्मक सजा अधिनि[illegible], समाचार-पत्रों के अधिनियम तथा अन्य दमनकारी कानूनों ने किसी भी अन्य प्रकार का राजनीतिक आन्दोलन, सिवाय उसके जिसे नौकरशाही सहन कर सकती थी, खुले रूप में चलाना असम्भव बना दिया। अतः बंगाल में विशेषकर तथा अन्य प्रान्तों में भी क्रान्तिकारी संगठन बने, जो छिपकर अपना कार्य करते तथा प्रचार करते थे।" इससे स्पष्ट है कि भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन के उदय और विस्तार के मूल में सरकार की प्रतिक्रियावादी दमन-नीति थी।

क्रान्तिकारी आन्दोलन के उद्देश्य—क्रान्तिकारी भगतसिंह और बटुकेश्वरदत्त के वक्तव्यों से स्पष्ट होता है कि क्रान्तिकारी जहाँ देश को पराधीनता से मुक्त कराना चाहते थे, वहीं वे देश में सच्चा लोकतन्त्र भी स्थापित करना चाहते थे और सभी प्रकार की आर्थिक व सामाजिक असमानताओं का अन्त करना चाहते थे। वे ब्रिटिश सरकार को धूर्तता और शक्ति पर आधारित एक जघन्य संस्था समझते थे। अतः उन्हें हिंसात्मक कार्यों द्वारा सरकार का विनाश करने में कोई संकोच नहीं था। वे मातृभूमि को स्वतन्त्र कराने के लिए किसी भी त्याग और बलिदान को अधिक नहीं समझते थे। चूँकि वे ब्रिटिश साम्राज्य को शक्ति तथा धोखे पर आधारित समझते थे, अतः ऐसे साम्राज्य को षड्यन्त्र अथवा सशस्त्र विद्रोह से समाप्त करना उचित समझते थे। वे लोग अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अँग्रेज अधिकारियों की हत्या करना तथा सरकारी खजाने को लूटना अपराध नहीं मानते थे। लेकिन उनका व्यक्तिगत हत्याओं और डकैतियों में विश्वास नहीं था। वे व्यक्तिगत अँग्रेज अधिकारियों की हत्या केवल उसी समय करते थे, जबकि वे देशभक्तों पर अत्यधिक अत्याचार करते थे। क्रान्तिकारियों का उद्देश्य समाज में आतंक फैलाना नहीं था, बल्कि अत्याचारी अँग्रेज अधिकारियों के मन में आतंक पैदा करना था। क्रान्तिकारी राजनीतिक हत्याओं व डाकेजनी द्वारा विदेशी सत्ता का अन्त करना चाहते थे। उन्हें क्रान्तिकारी इसलिए कहते हैं, क्योंकि उनका उद्देश्य क्रान्ति के द्वारा भारत को स्वतन्त्र करना तथा असमानताओं पर आधारित समाज को बदलकर समानता पर आधारित राष्ट्र का नव-निर्माण करना था।

क्रान्तिकारियों की मान्यता थी कि राजनीतिक बन्धनों में जकड़ा हुआ जीवन मृतप्राय है। विकास और प्रगति करने की क्षमता ही जीवन है। किन्तु एक परतन्त्र व्यक्ति का विकास रुक

जाता है, क्योंकि वह अपने स्वामी की इच्छाओं पर आश्रित है। इसलिए व्यक्ति को अपनी शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति के लिए स्वयं को पराधीनता से मुक्त करना चाहिए। क्रान्तिकारी आन्तरिक विद्रोह और सेना में असन्तोष पैदा कर सरकार का तख्ता पलटना चाहते थे और अस्त्र-शस्त्रों के लिए विदेशों पर निर्भर थे। जब क्रान्तिकारी पकड़े जाते थे तो उनका आजन्म-कारावास, देश-निर्वासन या मृत्यु-दण्ड से कम सजा नहीं मिलती थी। क्रान्तिकारी भी इस बात को अच्छी तरह जानते थे, परन्तु मातृभूमि को विदेशियों के बन्धन से मुक्त कराने के लिए वे किसी भी त्याग और बलिदान को तुच्छ समझते थे। इसीलिए अनेक क्रान्तिकारी अण्डमान की जेलों में सड़कर मर गये तथा असंख्य क्रान्तिकारी फाँसी के तख्तों पर हँसते-हँसते झूल गये थे।

क्रान्तिकारियों की कार्यप्रणाली—क्रान्तिकारी ब्रिटिश सरकार से घृणा करते थे। उनका कहना था कि ब्रिटिश सत्ता पाशविक शक्ति पर स्थित है और यदि हम अपनी पराधीनता से मुक्त होने के लिए पाशविक शक्ति का प्रयोग करते हैं तो वह सर्वथा उचित है। उनकी कार्यप्रणाली में निम्नलिखित बातें सम्मिलित थीं—

(1) प्रचार के द्वारा शिक्षित वर्ग के मस्तिष्क में दासता के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न करना।

(2) संगीत, नाटक और साहित्य द्वारा बेकारी और भूख से त्रस्त लोगों को निडर बनाकर उनमें मातृभूमि एवं स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम-भाव उत्पन्न करना।

(3) शत्रु को आन्दोलनों एवं प्रदर्शनों से परेशान करना।

(4) बम बनाना, बन्दूकें आदि अपलब्ध रखना तथा विदेशों से अस्त्र-शस्त्र प्राप्त करने का प्रयत्न करना।

(5) चन्दा, दान तथा राजनैतिक डकैतियों द्वारा धन का प्रबन्ध करना।

आतंकवादी, क्रान्तिकारी साहित्य द्वारा अपने विचारों का प्रचार करते थे तथा शिवाजी और भवानी की पूजा द्वारा विदेशी शासकों के मन में आतंक उत्पन्न करते थे। क्रान्तिकारियों को आदेश था कि वे अक्सर मृत्यु की परछाईं की भाँति छिपे रहें और विदेशी अधिकारियों पर घातक वार करें। क्रान्तिकारियों ने एक पुस्तक प्रकाशित की थी, जिसमें कहा गया था कि यूरोपियनों को गोली से मारने के लिए अधिक शक्ति की आवश्यकता नहीं है। छिपे तौर पर शस्त्र और हथियार तैयार किये जा सकते हैं और भारतीयों को हथियार बनाने का कार्य सीखने के लिए विदेशों में भेजा जा सकता है। भारतीय सैनिकों की सहायता अवश्य ली जानी चाहिये और उन्हें देशवासियों की दुर्दशा के बारे में समझाना चाहिये। क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रारम्भिक व्यय के लिए चन्दा प्राप्त किया जाय और ज्यों-ज्यों काम बढ़े, समाज के धनिक वर्ग से शक्ति प्रयोग द्वारा धन प्राप्त किया जाय। चूँकि इस धन का प्रयोग समाज-कल्याण के लिये होगा, अतः हमारी कार्यवाही उचित होगी। राजनीतिक डकैती कोई पाप नहीं है।

अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए क्रान्तिकारियों ने 'अनुशीलन समितियाँ' (Study Circle) स्थापित कीं, जहाँ क्रान्तिकारी सदस्यों को भारतीय इतिहास और संस्कृति का ज्ञान कराया

जाता था, राजद्रोहात्मक सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाती थी और शारीरिक प्रशिक्षण भी दिया जाता था। प्रत्येक सदस्य को माँ काली के समक्ष यह शपथ लेनी पड़ती थी कि वे अपना काम पूरी ईमानदारी और निष्ठा से करेंगे।

क्रान्तिकारी आन्दोलन का विकास—भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में क्रान्तिकारियों का योगदान समझने के लिये क्रान्तिकारियों की गतिविधियों का अध्ययन अनिवार्य है। 1857 ई. में भारतीय जनता ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एक सशस्त्र क्रान्ति की थी। तत्पश्चात् 1872 ई. में पंजाब के नामधारी सिक्खों ने ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध 'कूका आन्दोलन' चलाया था। अँग्रेजों ने क्रान्तिकारी नामधारियों को तोपों से उड़ा दिया। 22 जून, 1897 को दामोदर चापेकर ने पूना के प्लेग कमिश्नर रैण्ड तथा उसके सहायक एयर्स्ट की, गोली मारकर, हत्या करदी। ये सभी घटनाएँ क्रान्तिकारी आन्दोलन का ही एक अंग थीं। 1905 ई. में लॉर्ड कर्ज़न द्वारा बंगाल का विभाजन कर देने पर जिस राष्ट्रवादी धारा का उदय हुआ, उसकी एक धारा क्रान्तिकारी आन्दोलन थी। इस क्रान्तिकारी आन्दोलन का विकास काफी तेजी से हुआ।

बंगाल—क्रान्तिकारी आन्दोलन का मुख्य केन्द्र बंगाल था। अरविन्द घोष के छोटे भाई वारीन्द्र कुमार घोष तथा स्वामी विवेकानन्द के छोटे भाई भूपेन्द्र दत्त ने 1906 ई. में 'युगान्तर' नामक एक समाचार-पत्र निकाला, जो क्रान्ति का जोरदार शब्दों में प्रचार करता था। बंगाल के क्रान्तिकारियों ने 'अनुशीलन समिति' नामक एक क्रान्तिकारी संगठन की स्थापना की, जिसकी लगभग 500 शाखाएँ थीं। ढाका और कलकत्ता इसके मुख्य केन्द्र थे। 'वन्देमातरम्', 'न्यू इण्डिया', 'संध्या' और 'नवशक्ति' नामक समाचार-पत्र क्रान्ति की आग उगलते थे। वारीन्द्र कुमार घोष के एक मित्र हेमचन्द्र, बम बनाने की क्रिया सीखने के लिये रूस गये। जब सरकार ने क्रान्तिकारियों को अत्यधिक तंग करना शुरू कर दिया तब इन्होंने उन्हें दण्ड देने का निश्चय कर लिया। 1907 ई. में बंगाल के गवर्नर की गाड़ी उड़ा देने के षड्यन्त्र से क्रान्तिकारी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। 6 दिसम्बर, 1907 को मिदनापुर के पास वह गाड़ी, जिसमें बंगाल का गवर्नर यात्रा कर रहा था, उड़ाने का प्रयास किया, लेकिन गर्वनर बच गया और गाड़ी पटरी से उतर गई। 23 दिसम्बर, 1907 को ढाका के मजिस्ट्रेट को गोली मार दी गई। 30 अप्रैल, 1908 को मुजफ्फरपुर के जज किंग्जफोर्ड की हत्या करने का प्रयास किया गया। किंग्जफोर्ड पहले कलकत्ता में मजिस्ट्रेट रह चुका था और उसने क्रान्तिकारियों को बड़े अमानवीय दण्ड दिये थे। अतः 19 वर्षीय युवक खुदीराम बोस को मुजफ्फरपुर भेजा गया, जिसने किंग्जफोर्ड की मोटर समझकर उसमें बम रख दिया। किन्तु वह मोटर मिसेज कैनेडी की थी, अतः मिसेज कैनेडी व मिस कैनेडी दोनों इसमें मारे गये। खुदीराम बोस को पकड़ लिया गया और उसे फाँसी की सजा दे दी गई। 19 वर्षीय उस युवक ने हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन कर लिया। क्रान्तिकारियों ने नन्दलाल नामक पुलिस दरोगा को, जिसने खुदीराम बोस को पकड़ा था, गोली से उड़ा दिया। कलकत्ता के मानिकतल्ला मोहल्ले में पुलिस ने हथियारों का एक कारखाना पकड़ा। ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र करने के अपराध में 30 व्यक्तियों को सजाएँ दी गईं। इस मुकदमे की सुनवाई के समय अदालत के बाहर निकलते हुए पुलिस के डिप्टी सुपरिंटेंडेण्ट को 24 जनवरी, 1910 को गोली मार दी गई। यह घटना 'अलीपुर षड्यन्त्र केस' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस षड्यन्त्र केस में

और कनाईलाल को फाँसी की सजा दी गई और वारीन्द्र घोष को अण्डमान-निकोबार की जेल में भेज दिया। क्रान्तिकारियों ने इस मुकदमे की पैरवी करने वाले सरकारी वकील आशुतोष विश्वास को गोली से उड़ा दिया। क्रान्तिकारी चन्द्रनगर की फ्रांसीसी बस्ती से हथियार व विस्फोटक प्राप्त करते थे।

महाराष्ट्र—महाराष्ट्र में प्रसिद्ध क्रान्तिकारी विनायक दामोदर सावरकर हुए। 1901 ई. में उन्होंने पूना के फर्ग्यूसन कॉलेज में प्रवेश लिया और वहाँ क्रान्ति की भावना का प्रसार करने के लिए 'अभिनव भारत' नामक संस्था स्थापित की। सावरकर तिलक के शिष्य थे, अतः सरकार का ध्यान उनकी ओर गया। कॉलेज के अधिकारियों ने उन्हें कॉलेज से निकाल दिया। परन्तु बम्बई विश्वविद्यालय ने उन्हें बी.ए. की परीक्षा में बैठने की अनुमति दे दी। यह परीक्षा पास करने के बाद तिलक की सिफारिश पर श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा चलाया हुआ 'छत्रपति शिवाजी वजीफा' उन्हें मिल गया और 1906 ई. में वे बैरिस्ट्री पास करने हेतु लन्दन चले गये, जहाँ उन्होंने न केवल क्रान्ति का प्रचार किया बल्कि उन्होंने वहाँ 'भारत का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम' नामक पुस्तक की रचना भी की, जिसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि 1857 की क्रान्ति सैनिक विद्रोह न होकर भारत का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम था। ब्रिटिश सरकार ने उस पुस्तक पर पाबन्दी लगा दी।

विनायक सावरकर के भाई गणेश सावरकर भी महाराष्ट्र में 'अभिनव भारत' के माध्यम से क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार कर रहे थे। उन्होंने कुछ देशभक्ति से परिपूर्ण कविताएँ लिखीं। अतः नासिक के जिला मजिस्ट्रेट ने उन पर अँग्रेजों के विरुद्ध लोगों को भड़काने का आरोप लगाकर 1909 ई. में देश-निर्वासन का दण्ड दे दिया। इस पर सावरकर समूह के क्रान्तिकारियों ने 21 दिसम्बर, 1909 को जिला मजिस्ट्रेट जैक्सन की हत्या कर दी। इसे नासिक षड्यन्त्र केस कहा जाता है। इस हत्या के सम्बन्ध में अनन्त कान्हरे, विनायक राव देशपाण्डे, कृष्णजी पन्त कर्वे तथा अन्य 37 नवयुवकों को बन्दी बना लिया। अनन्त कान्हरे ने अदालत में कहा, "मैंने अपना कर्त्तव्य निभाया है। गणेश सावरकर को देश-निर्वासन का दण्ड दिया जा रहा है, जबकि तुम्हारे एक इंजीनियर को, जिसने एक भारतीय की हत्या की है, पुरस्कार दिया जा रहा है। इसलिए मुझे जैक्सन की हत्या करनी पड़ी। मुझे भागने की कोई इच्छा नहीं है।" अदालत ने अनन्त कान्हरे, विनायक राव देशपाण्डे और कृष्णजी पन्त कर्वे को मृत्यु-दण्ड दे दिया। चूँकि गणेश सावरकर को देश-निर्वासन का दण्ड देने में भारत सचिव के मुख्य परामर्शदाता सर कर्जन वाइली का भी हाथ था। अतः 1 जुलाई, 1909 को मदनलाल ढींगरा ने सर कर्जन वाइली को गोली से उड़ा दिया। मदनलाल ढींगरा को गिरफ्तार कर 16 अगस्त, 1909 को फाँसी की सजा दे दी गई।

पंजाब—पंजाब सरकार ने 'उपनिवेश अधिनियम' द्वारा भूमि की चकबन्दी को हतोत्साहित किया तथा सम्पत्ति के विभाजन के अधिकारों में हस्तक्षेप करना चाहा, जिससे लोगों में आक्रोश फैल गया। मई, 1907 ई. में लाला लाजपतराय को पंजाब से निर्वासित कर दिया, जिससे लोगों का आक्रोश तीव्र हो उठा। लेकिन सरकार ने 'उपनिवेश अधिनियम' को रद्द कर दिया जिससे परिस्थिति बिगड़ने से बच गई।

पंजाब में क्रान्तिकारी हलचलों को अमेरिकी गोलार्द्ध से लौटे सिक्खों ने मजबूत किया। 1913 ई. में कनाडा में लगभग चार हजार भारतीय रहते थे, जिनमें अधिकतर सिक्ख थे। बहुत से भारतीय कनाडा और अमेरिका जाने के लिए वर्मा, हाँगकाँग और शंघाई चले जाते थे और वहाँ से कनाडा तथा अमेरिका चले जाते थे। कनाडा सरकार ने भारतीयों को कनाडा में आने से रोकने के लिए एक कानून बना दिया, जिसके अनुसार वही भारतीय कनाडा में उतर सकता था जो भारत से किसी जहाज से सीधा कनाडा आया हो। उन दिनों कोई भी जहाज भारत से सीधा कनाडा नहीं जाता था। अतः इस कानून से भारतीयों की परेशानी बढ़ गई। अमृतसर के एक व्यापारी गुरुदत्तसिंह ने भारतीयों की परेशानी अनुभव करते हुए 'गुरु नानक स्टीम नेवीगेशन कम्पनी' बनाई और एक जापानी जहाज को किराये पर ले लिया, जिसका नाम 'कोमागातामारू' था। इसमें कनाडा जाने वाले भारतीयों को बैठा दिया। 22 मई, 1914 को यह जहाज कनाडा के मुख्य बन्दरगाह बैंकावर पहुँच गया। किन्तु कनाडा सरकार ने यात्रियों को उतरने की अनुमति नहीं दी और जहाज को लौटने का आदेश दे दिया। बाबा गुरुदत्तसिंह ने इस आदेश को मानने से इन्कार कर दिया, क्योंकि जहाज के यात्रियों के लिए न तो खाने का भोजन था और न पीने का पानी। अनेक यात्री बीमार थे। कनाडा पुलिस ने जहाज को लौटाने के लिए यात्रियों पर उबलता हुआ पानी फेंकना शुरू कर दिया। इस पर यात्रियों ने पुलिस पर जलते हुए कोयले फेंकने शुरू कर दिये। पुलिस दल वहाँ से भाग खड़ा हुआ। तत्पश्चात् कनाडा सरकार ने एक जंगी बेड़े को भेज दिया। विवश होकर 'कोमागातामारू' को वापिस भारत की ओर लौटना पड़ा। मार्ग में ब्रिटिश सरकार ने इस जहाज को कहीं ठहरने की अनुमति नहीं दी, जिससे यात्रियों को बहुत कष्ट पहुँचा। 26 सितम्बर, 1914 को यह जहाज बजबज (कलकत्ता) पहुँचा। भारत सरकार को इन यात्रियों की क्रान्तिकारी गतिविधियों का पता लग चुका था। बाबा गुरुदत्तसिंह स्वयं क्रान्तिकारी थे तथा उनको लाला हरदयाल के क्रान्तिकारी आन्दोलन से बड़ी सहानुभूति थी। भारत सरकार ने बाबा गुरुदत्तसिंह सहित यात्रियों को गिरफ्तार करने के लिए पहले ही एक गाड़ी खड़ी कर रखी थी। पुलिस ने सभी यात्रियों को बलपूर्वक उस गाड़ी में भरने का प्रयत्न किया। फलस्वरूप दोनों पक्षों में झगड़ा हो गया और दोनों तरफ से गोली चल गई। इस झगड़े में 18 सिक्ख मारे गये तथा बाबा गुरुदत्तसिंह घायल हो गये। कुछ पुलिस के अधिकारी मारे गये। बचे हुए यात्री गोलियों की बोछारों में से बाबा गुरुदत्तसिंह को उठाकर भाग गये। सरकार ने बाबा गुरुदत्तसिंह को पकड़ने के लिए पुरस्कार तक घोषित किया, किन्तु उनका सरकार को पता नहीं लग सका।

मद्रास—1907 ई. में विपिनचन्द्र पाल ने मद्रास का दौरा किया तथा अपने विचारों का प्रचार नवयुवकों में किया। सरकार ने विपिनचन्द्र पाल को गिरफ्तार कर लिया। उनके रिहा होने पर एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया। सरकार ने सभा के आयोजकों को बन्दी बना लिया। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप टिनेवली में उपद्रव हुए। सरकार ने अनेक समाचार-पत्र के सम्पादकों तथा आन्दोलनकारी नेताओं को बन्दी बना लिया तथा उन पर मुकदमा चलाया। फलस्वरूप नवयुवकों में जोश उत्पन्न हुआ और वे संगठित होने लगे। बाद में उन्होंने टिनेवली के मजिस्ट्रेट को गोली से उड़ा दिया।

दिल्ली षड्यन्त्र केस—जब सरकार ने पंजाब के क्रान्तिकारी नेता अजीतसिंह और उग्रराष्ट्रवादी नेता लाला लाजपतराय को पंजाब से निर्वासित कर दिया तब लोगों का रुख सरकार के विरुद्ध कठोर हो गया। दिल्ली में क्रान्तिकारी संगठित हुए और 1912 ई. में वायसराय लॉर्ड हार्डिंग पर बम फेंक कर मारने का प्रयास किया गया। पुलिस ने इस घटना की जाँच-पड़ताल कर 13 व्यक्तियों को गिरफ्तार किया, जिनमें मास्टर अमीरचन्द्र, सुल्तानचन्द्र (अमीरचन्द्र का भतीजा व दत्तक पुत्र), दीना नाथ, अवधबिहारी, बालमुकुन्द, बसन्तकुमार, हनुमन्तसहाय, विश्वास, बलराज आदि थे। मार्च, 1914 ई. में इन सभी पर मुकदमा चलाया गया, जिसे 'दिल्ली षड्यन्त्र केस' कहते हैं। पुलिस ने मास्टर अमीरचन्द्र का लिखा हुए एक पर्चा अदालत में पेश किया जिसमें लिखा हुआ था, "भारत संवैधानिक सुधारों से कुछ भी हासिल नहीं कर सकता, एकमात्र तरीका जिससे हम स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं, वह है क्रान्ति का तरीका। इतिहास यह बताता है कि उत्पीड़कों ने किसी भी देश को अपनी खुशी से कभी आजादी नहीं दी और वे हमेशा तलवार से ही मुक्त किये गये।" मास्टर अमीरचन्द्र दिल्ली के सबसे बड़े क्रान्तिकारी थे। उन्होंने लाला हरदयाल से प्रेरणा लेकर दिल्ली में क्रान्तिकारी दल का गठन किया था। उन्हीं का शिष्य अवध बिहारी था। दिल्ली षड्यन्त्र केस में जब अवध बिहारी को फाँसी लगने वाली थी, तब एक अँग्रेज अधिकारी ने उनसे पूछा कि, "आपकी अन्तिम इच्छा क्या है ?" इस पर उन्होंने उत्तर दिया, "अँग्रेजी राज्य का अन्त", इस पर अँग्रेज ने कहा, "अब तो शान्ति से मरिये।" अवधबिहारी ने तुरन्त जवाब दिया, "शान्ति कैसी ? मैं तो यह चाहता हूँ कि आग भड़के और चारों तरफ भड़के, जिसमें तुम भी जलो और हम भी जलें, हमारी दासता भी जले और अन्त में भारत कुन्दन (सोना) बनकर रह जाय।"

विदेशों में क्रान्तिकारी आन्दोलन—देशभक्त क्रान्तिकारियों की गतिविधियाँ केवल भारत तक ही सीमित नहीं थीं, बल्कि भारत के बाहर विदेशों में भी वे सक्रिय थे। पूना के प्लेग कमिश्नर रैण्ड तथा उसके सहायक की हत्या के सम्बन्ध में सरकार को सन्देह था कि इसमें श्यामजी कृष्ण वर्मा का हाथ था। श्यामजी कृष्ण वर्मा संस्कृत के महान् विद्वान् थे तथा उदयपुर और जूनागढ़ में दीवान रह चुके थे। रैण्ड की हत्या के बाद जब सरकार ने उन्हें अत्यधिक तंग करना शुरू कर दिया, तब वे इंगलैण्ड चले गये। इंगलैण्ड में उन्होंने व्यापार में काफी धन कमाया और सारा धन इंगलैण्ड में भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रचार में लगा दिया। उन्होंने इंगलैण्ड में 'इण्डिया हाऊस' की स्थापना की, जो शीघ्र ही भारतीय क्रान्तिकारियों का मुख्य केन्द्र बन गया। श्यामजीकृष्ण वर्मा ने विदेशों में भारतीयों के बीच क्रान्ति की भावना उत्पन्न करने के लिए जनवरी, 1905 ई. में 'सोशियोलोजिस्ट' नामक समाचार-पत्र निकालना आरम्भ किया। इसमें बड़े क्रान्तिकारी लेख होते थे। इस प्रकार श्यामजी कृष्ण वर्मा पहले व्यक्ति थे जिन्होंने विदेशों में क्रान्ति की लहर उत्पन्न की। वे उन भारतीय विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता देते थे जो भारत से इंगलैण्ड आकर राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेते थे। एक भारतीय नवयुवक सरदारसिंह राणा और मैडम कामा क्रान्तिकारी साहित्य की रचना में श्यामजीकृष्ण वर्मा को सहयोग देते थे।

मैडम कामा ने 30 वर्ष तक भारतीय स्वतन्त्रता के लिए इंगलैण्ड तथा फ्रांस में काम किया। श्यामजीकृष्ण वर्मा अपने इण्डिया हाऊस के माध्यम से क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार करते रहे। उन्होंने लंदन में 'होमरूल सोसायटी' की स्थापना की। अतः ब्रिटिश सरकार ने उनकी

गतिविधियों पर निगरानी रखना आरम्भ कर दिया। श्यामजीकृष्ण वर्मा लन्दन से पेरिस आ गये तथा इण्डिया हाऊस का कार्य वीर सावरकर को सौंप दिया। वीर सावरकर ने 'अभिनव भारत' नामक संस्था स्थापित की जिसने यूरोप में बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया। श्यामजीकृष्ण वर्मा ने लाला हरदयाल को पेरिस बुलाकर 'वन्देमातरम्' नामक समाचार-पत्र निकालने का प्रयत्न किया। 13 मार्च, 1910 को वीर सावरकर को लन्दन में गिरफ्तार कर लिया गया। श्यामजीकृष्ण वर्मा ने उन्हें भगाने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। 22 मार्च, 1911 को सावरकर को 50 वर्ष की कैद की सजा देकर अण्डमान भेज दिया गया, जहाँ उन्हें कोल्हू में बैल की तरह जोता गया और हर प्रकार की सख्त यातनाएँ दी गईं। अन्त में 1937 ई. में जब बम्बई में नया मन्त्रिमण्डल बना तब उन्हें 10 मई, 1937 को छोड़ दिया गया। दिसम्बर, 1937 ई. में उन्हें अहमदाबाद के अधिवेशन में हिन्दू महासभा का प्रधान चुन लिया गया। श्यामजीकृष्ण वर्मा ने भारतीय स्वतन्त्रता के लिए इंगलैण्ड, फ्रांस और जर्मनी में काफी कार्य किया। वे स्विट्जरलैण्ड में भी रहे। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार के कहने पर जब फ्रांसीसी सरकार ने उन्हें तंग करना शुरू किया तब वे पेरिस छोड़कर जेनेवा आ गये और यहीं पर 30 मार्च, 1930 को उनकी मृत्यु हो गई।

जिस प्रकार श्यामजीकृष्ण वर्मा ने इंगलैण्ड, फ्रांस व जर्मनी में कार्य किया उसी प्रकार भाई परमानन्द ने अमेरिका व इंगलैण्ड में कार्य किया। लाला हरदयाल ने अमेरिका में 25 मार्च, 1913 को सेन फ्रांसिस्को (केलिफोर्निया) नगर में भारत में गदर कराने की दृष्टि से 'गदर पार्टी' की स्थापना की। इस गदर पार्टी के सभापति बाबा सोहनसिंह, उपसभापति बाबा केसरसिंह, मन्त्री हरदयाल और कोषाध्यक्ष पण्डित काशीराम चुने गये। इस पार्टी ने 1 नवम्बर, 1913 से एक साप्ताहिक पत्रिका 'गदर' का प्रकाशन आरम्भ किया। यह अँग्रेजी भाषा में निकलता था और इसका अनुवाद अनेक भारतीय भाषाओं में होता था। यह पत्रिका, भारत के अतिरिक्त विदेशों में जहाँ-जहाँ भारतीय रहते थे, भेजी जाती थी। इस पत्रिका में क्रान्ति और भारतीय स्वतन्त्रता का खूब प्रचार रहता था। यह पत्रिका चीन, जापान, सिंगापुर, जर्मनी, फ्रांस, इंगलैण्ड, अमेरिका, कनाडा, बर्मा आदि देशों में खूब बिकती थी। विदेशों में रहने वाले भारतीय इसे बड़े शौक से पढ़ते थे। अमेरिका में पहले गदर पार्टी ने और बाद में 'इण्डिया लीग' ने भारतीय स्वतन्त्रता के लिए कार्य किया। श्री जे.ज़े. सिंह कई वर्षों तक अमेरिका में 'इण्डिया लीग' के प्रधान रहे। जब अमेरिका में कोमागातामारू की घटना का समाचार पहुँचा तब गदर पार्टी ने कनाडा और भारत सरकार के विरुद्ध क्रान्ति कराने के उद्देश्य से हजारों नवयुवकों को भर्ती कर लिया।

प्रथम विश्वयुद्ध के अवसर पर लाला हरदयाल जर्मनी गये और उन्होंने जर्मनी के सम्राट विलियम कैसर से साँठ-गाँठ करने की योजना बनाई। इन्हीं दिनों लाला हरदयाल की प्रेरणा से काबुल में राजा महेन्द्रप्रताप ने भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए एक अस्थायी सरकार का गठन किया और यह निश्चित किया गया कि जर्मनी और तुर्की की सहायता से ईरान, ईराक, अरब और अफगानिस्तान के मुसलमान विद्रोह कर दें और उधर पंजाब में सिक्ख उसका साथ दें। लाला हरदयाल ने इस कार्य के लिए सैकड़ों क्रान्तिकारी तथा बहुत-सा गोला-बारूद भी भारत भेजा। जर्मनी में लाला हरदयाल ने 'भारत स्वतन्त्रता समिति' स्थापित की जो क्रान्तिकारियों को अस्त्र-शस्त्र व आर्थिक सहायता देती थी। 21 फरवरी, 1915 को क्रान्ति का दिन निश्चित किया गया तथा

रासबिहारी बोस, करतारसिंह, पिंगले और शचीन्द्र सान्याल ने सारे भारत में विद्रोह कराने की एक योजना तैयार की, किन्तु यह योजना एक देशद्रोही कृपालसिंह द्वारा नष्ट कर दी गई। उस समय युद्ध के दौरान यदि वह क्रान्ति की योजना सफल हो जाती तो भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास ही दूसरा होता।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद क्रान्तिकारी आन्दोलन—प्रथम विश्वयुद्ध क्रान्तिकारियों के लिए स्वर्ण अवसर था। क्रान्तिकारियों को जर्मनी से सहायता मिलने की आशा थी। अमेरिका की गदर पार्टी भी काफी क्रियाशील थी। विश्वयुद्ध में तुर्की ब्रिटेन के विरुद्ध हो जाने के कारण भारतीय मुसलमानों में ब्रिटिश-विरोधी भावनाएँ प्रबल हो उठीं। मौलवी उबैदुल्ला सिन्धी व मौलाना महमूद हसन का योगदान उल्लेखनीय रहा। उबैदुल्ला ने महमूद हसन को अनेक पत्र लिखे जिनमें क्रान्तिकारी भावनाएँ व्यक्त हुई थीं। ये पत्र पीली सिल्क पर फारसी में लिखे गये थे और पकड़े जाने पर "सिल्क पेपर्स षड्यन्त्र' समाप्त हुआ।

विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद रोलेट एक्ट, जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड और खिलाफत के प्रश्न को लेकर महात्मा गाँधी ने असहयोग आन्दोलन चलाया। यह आन्दोलन 1920 ई. से 1922 ई. तक चला, लेकिन इसका कोई परिणाम नहीं निकला। क्रान्तिकारी इस अहिंसात्मक आन्दोलन का परिणाम देखने को उत्सुक थे तथा उन्होंने अपना आन्दोलन स्थगित कर दिया था। किन्तु जब क्रान्तिकारियों ने देखा कि अहिंसात्मक आन्दोलन का भी कोई परिणाम नहीं निकला है, तब उन्होंने पुनः क्रान्तिकारी दलों को संगठित किया। क्रान्तिकारी शचीन्द्र सान्याल ने, जिन्हें आम माफी के सिलसिले में फरवरी, 1920 में छोड़ दिया गया था, सारे क्रान्तिकारी दलों को संगठित करके 'हिन्दुस्तान प्रजातान्त्रिक संघ' की स्थापना की। सरकार ने क्रान्तिकारियों का दमन करने के लिए अनेक दमनकारी कानून पास किये। लेकिन इससे क्रान्तिकारियों का मनोबल टूटा नहीं। देश में सशस्त्र क्रान्ति कराने के लिए उन्हें हथियार खरीदने थे, जिसके लिए धन की सख्त आवश्यकता थी। अतः 9 अगस्त, 1925 को हरदोई से लखनऊ जाने वाली रेलगाड़ी से काकोरी ग्राम के निकट सरकारी खजाना लूट लिया गया। सरकारी पुलिस वं गुप्तचर विभाग ने तत्परता से जाँच-पड़ताल कर कुछ सुराग लगाया तथा 40 व्यक्तियों को गिरफ्तार कर लिया। इन सभी पर मुकदमा चलावा गया। इसे 'काकोरी षड्यन्त्र केस' कहा जाता है। इस केस में पण्डित रामप्रसाद बिसमिल, राजेन्द्र लाहिड़ी और रोशनसिंह को फाँसी की सजा हुई। शचीन्द्र सान्याल को आजीवन कारावास की सजा हुई। मन्मथनाथ गुप्त को 14 वर्ष कैद की सजा हुई। अशफाक उल्लाह को भी फाँसी की सजा हुई। फाँसी के तख्ते पर चढ़ने से पूर्व अशफाक उल्लाह ने देशवासियों के नाम सन्देश छोड़ा था, जिसमें कहा गया था, "भारतवासियो, चाहे आप किसी सम्प्रदाय या धर्म के अनुयायी हों, किन्तु आप देशहित के कार्यों में एक होकर योग दीजिए। आप लोग व्यर्थ झगड़ रहे हैं। सब धर्म एक है, चाहे रास्ते भिन्न हों, परन्तु सभी का लक्ष्य एक है। इसलिए आप सब एक होकर नौकरशाही का मुकाबला कीजिए। मैं हत्यारा नहीं हूँ, जैसाकि मुझे साबित किया गया है। मैं पहला भारतीय मुसलमान हूँ, जो स्वतन्त्रता के लिए फाँसी के तख्ते पर चढ़ रहा हूँ।" उन्होंने ये शब्द भारतीय मुसलमानों को क्रान्तिकारी आन्दोलन में योगदान देने के लिए कहे थे।

क्रान्तिकारी आन्दोलनों व स्वराज्य दल की गतिविधियों से विवश होकर ब्रिटिश सरकार ने भारत में संवैधानिक सुधारों के बारे में सलाह देने के लिए 1927 ई. में साइमन कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन के सभी सदस्य अँग्रेज थे। अतः काँग्रेस ने इसका बहिष्कार करने का निश्चय किया। 20 अक्टूबर, 1928 को कमीशन का बहिष्कार करने के लिए लाला लाजपतराय के नेतृत्व में एक जुलूस निकाला गया। इस अवसर पर अँग्रेज पुलिस अधिकारी साण्डर्स ने लालाजी पर लाठियों की वर्षा की। लाठियों की चोटों के फलस्वरूप 17 नवम्बर, 1928 को लालाजी का देहान्त हो गया। एक अँग्रेज अधिकारी के अत्याचारों से देशभक्त की मृत्यु महान् राष्ट्रीय अपमान समझा गया। सरदार भगतसिंह और उसके साथियों ने स्वयं अपनी आँखों से लालाजी पर लाठियों की वर्षा होते देखा था। सरदार भगतसिंह के क्रान्तिकारी दल का नाम पहले 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसियेशन' था अब उसका नाम 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी' रख दिया गया। इस दल के प्रमुख नेता सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, शिवराम राजगुरू, जयगोपाल आदि थे। इन्होंने इस राष्ट्रीय अपमान का बदला लेने का निश्चय किया। 17 दिसम्बर, 1928 को जब अँग्रेज अधिकारी साण्डर्स शाम को साढ़े चार बजे अपने ऑफिस से मोटर-साइकिल पर निकला, तब इन युवकों ने उस पर तीन-चार गोलियाँ चलाईं। वह वहीं ढेर हो गया। ये युवक बचकर लाहौर के डी.ए.वी. कॉलेज में जा छुपे। पुलिस ने उन्हें पकड़ने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु असफल रही। ये युवक वेश बदलकर लाहौर से दिल्ली आ गये। इसके बाद इस दल की तरफ से एक इश्तिहार जारी किया गया, जिसमें कहा गया था कि, "साण्डर्स मारा गया, लालाजी की मृत्यु का बदला ले लिया गया।" इससे सारे देश में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। देशवासियों ने अनुभव किया कि भारत-भूमि अभी वीरों से शून्य नहीं हुई है।

साण्डर्स की हत्या के बाद एक और घटना घटित हुई। दिल्ली की केन्द्रीय एसेम्बली में 'पब्लिक सेफ्टी बिल' पर बहस चल रही थी। इस बिल द्वारा सुरक्षा के नाम पर सरकार आन्दोलनकारियों का दमन करने पर उतारू थी। जनता इस बिल के सख्त विरुद्ध थी। अतः हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी की केन्द्रीय समिति ने यह निर्णय लिया कि इस बिल को रुकवाने तथा सरकार को जनता की आवाज सुनाने के लिए केन्द्रीय एसेम्बली में बम फेंका जाय। भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त के आग्रह पर यह काम उन्हें सौंपा गया और उन्हें निर्देश दिया गया कि बम फेंकने के बाद वे भागें नहीं बल्कि अपने आपको गिरफ्तार करवा दें तथा उसके बाद अदालत में जो बयान दें उसमें दल के उद्देश्यों और कार्यक्रम पर प्रकाश डालें। सभी जानते थे कि इनकी गिरफ्तारी का परिणाम मृत्यु-दण्ड होगा, लेकिन देश में जागृति उत्पन्न करने के लिए यह बलिदान आवश्यक समझा गया। 8 अप्रैल, 1929 को जब पब्लिक सेफ्टी बिल पर मतदान होने वाला था, सरदार भगतसिंह ने केन्द्रीय एसेम्बली में बम फेंका। सारा सदन धुएँ से भर गया और भगदड़ मच गई। जब धुँआ साफ हुआ तब उन्होंने एक पर्चा एसेम्बली हाल में फेंका जिसमें लिखा हुआ था, "बहरों को सुनाने के लिए बमों की आवश्यकता है।" जैसी कि योजना थी, उन्होंने अपने हथियार फेंक कर अपने आपको गिरफ्तार करवा लिया। सरकार ने उन पर तथा उनके कुछ साथियों पर मुकदमा चलाया। इन्होंने 4 जून, 1929 को सेशन जज के समक्ष एक लम्बा वक्तव्य दिया जिसमें उन्होंने अपने दल के उद्देश्यों पर पूरा प्रकाश डाला। हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी खुले तौर पर ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध प्रचार नहीं कर सकती थी, इसलिये यह महसूस किया

गया कि भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त अँग्रेजी में क्रान्तिकारियों के उद्देश्यों एवं कार्यक्रमों के बारे में एक वक्तव्य दें ताकि उनका वक्तव्य देश के समस्त समाचार-पत्रों में छप सके और जनता में इस दल के प्रति फैली हुई गलतफहमी दूर हो सके। सरकार ने उन पर मुकदमा चलाकर भगतसिंह और उसके दो अन्य साथियों—राजगुरु और सुखदेव को फाँसी की सजा दे दी। 23 मार्च, 1931 को लाहौर जेल में उन तीनों को फाँसी दे दी गई और पुलिस ने उनकी लाशों को जनता के हवाले भी नहीं किया, बल्कि चुपचाप रात्रि के समय उनकी लाशों को फिरोजपुर में जला दिया। इन क्रान्तिकारियों की मृत्यु से क्रान्तिकारी दल को महान् क्षति पहुँची तथा सारा देश शोक में डूब गया।

काकोरी षड्यन्त्र केस में चन्द्रशेखर आजाद भी शामिल थे तथा साण्डर्स की हत्या में भी उसने सरदार भगतसिंह के साथ भाग लिया था। जिस समय भगतसिंह जेल में थे तब उन्हें जेल से छुड़ाने के लिए चन्द्रशेखर आजाद ने एक योजना बनाई थी, परन्तु वह सफल नहीं हुई। वायसराय लार्ड इरविन ने जनमत के दबाव के बावजूद भगतसिंह व उसके साथियों के मृत्यु-दण्ड को कम नहीं किया। अतः चन्द्रशेखर आजाद और यशपाल ने वायसराय की ट्रेन को उड़ाने का निश्चय किया। 23 दिसम्बर, 1929 को वायसराय को कोल्हापुर से वापिस दिल्ली पहुँचना था। अतः निजामुद्दीन स्टेशन के पास दिल्ली-मथुरा रेल लाइन पर पटरियों के नीचे बम गाड़ दिये गये तथा उनका सम्बन्ध तारों से कई सौ गज पर एक बैटरी से कर दिया गया। जब वायसराय की ट्रेन उस जगह पहुँची तो स्विच दबा दिया गया। बड़े जोर का धमाका हुआ और गाड़ी पटरी से नीचे उतर गई। तीन डिब्बे क्षतिग्रस्त हो गये, लेकिन लार्ड इरविन बाल-बाल बच गये। इसी दिन पंजाब के गवर्नर को भी मारने की योजना बनाई गई। जब वे पंजाब विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण देने आये, हरकिशन नामक व्यक्ति ने उस पर गोली चला दी। गवर्नर घायल हो गये। 9 जून, 1931 को हरकिशन को फाँसी की सजा दे दी गई।

27 फरवरी, 1931 को चन्द्रशेखर आजाद, यशपाल और सुरेन्द्र पाण्डे इलाहाबाद आये। इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क में चन्द्रशेखर आजाद और एक अन्य क्रान्तिकारी सुखदेवराज बड़ी गम्भीरता से किसी मसले पर विचार-विमर्श कर रहे थे कि वहाँ पुलिस आ पहुँची। पुलिस ने चन्द्रशेखर आजाद पर गोलियाँ चलाईं। चन्द्रशेखर आजाद ने भी कई पुलिस अधिकारियों को घायल कर दिया। किन्तु अन्त में इन दोनों क्रान्तिकारियों को अपने जीवन का बलिदान करना पड़ा। चन्द्रशेखर आजाद की मृत्यु से क्रान्तिकारी दल को इतनी भारी क्षति पहुँची कि उसे कभी पूरा नहीं किया जा सका। चन्द्रशेखर आजाद की मृत्यु के बाद हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी का नेतृत्व यशपाल पर आ गया। 23 जनवरी, 1932 को यशपाल किसी से मिलने इलाहाबाद गये। पुलिस को पता चल गया और उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। यशपाल को 14 वर्ष कैद की सजा हुई। किन्तु 1937 ई. में जब उत्तरप्रदेश में कांग्रेस का मन्त्रिमण्डल स्थापित हुआ तब मुख्यमन्त्री गोविन्द वल्लभ पंत ने 2 मार्च, 1938 को उन्हें बिना शर्त मुक्त कर दिया।

जल सेना एवं वायु सेना में क्रान्ति—जिन दिनों आजाद हिन्द फौज के तीन सैनिक अधिकारियों पर मुकदमे चल रहे थे और जनता उन्हें छुड़ाने के लिए आन्दोलन चला रही थी, उस समय सेना में भी क्रान्ति की लहर फैल चुकी थी। अतः अँग्रेजों के दुर्व्यवहार से तंग आकर 20 जनवरी, 1946 को कराची में वायु सेना के सैनिकों ने हड़ताल शुरू कर दी। तत्पश्चात् यह

हड़ताल बम्बई, लाहौर और दिल्ली में भी फैल गई। जल सेना ने भी वायु सेना का अनुसरण किया और 19 फरवरी, 1946 को जल सेना के सैनिकों ने भी हड़ताल कर दी। 21 जनवरी, 1946 को यह हड़ताल क्रान्ति के रूप में बदल गई तथा बम्बई के अतिरिक्त कलकत्ता, कराची और मद्रास में भी फैल गई। अँग्रेज अधिकारियों ने इस क्रान्ति का दमन करने के लिए गोलियाँ चलाईं। क्रान्तिकारी सैनिकों ने भी गोली का जवाब गोली से दिया। बड़ी कठिनाई से सरदार पटेल ने समझौता करवाया। इसके बाद ब्रिटिश सरकार को पूरा विश्वास हो गया कि भारतीय जनता और सेना अब इतनी जागृत हो चुकी है कि अब उसे सैनिक शक्ति द्वारा गुलाम बनाये नहीं रखा जा सकता। इसलिए ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एटली ने घोषणा की कि अँग्रेज भारत को छोड़ देंगे।

क्रान्तिकारी आन्दोलन की असफलता—सशस्त्र प्रयत्नों से अँग्रेजी साम्राज्य को समाप्त करने के क्रान्तिकारियों के प्रयत्न विफल रहे, यद्यपि क्रान्तिकारी भावना समाप्त नहीं हुई। क्रान्तिकारी आन्दोलन की असफलता के मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

(1) क्रान्तिकारियों की असफलता का मुख्य कारण उनका कोई केन्द्रीय संगठन नहीं था। केन्द्रीय संगठन के अभाव में विभिन्न प्रान्तों के क्रान्तिकारियों की गतिविधियों में किसी प्रकार का न तो सहयोग रहा और न समन्वय रहा। विभिन्न प्रान्तों के क्रान्तिकारी अपने-अपने क्षेत्र में भिन्न-भिन्न समय में क्रान्तिकारी आन्दोलनों का संचालन करते रहे, जो योजनाबद्ध भी नहीं थे। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अलग-अलग समय पर अयोजनाबद्ध क्रान्तिकारी घटनाओं से ब्रिटिश सत्ता का अन्त सम्भव नहीं था।

(2) क्रान्तिकारियों की कार्यवाहियों का भारतीय समुदाय के अत्यन्त छोटे वर्ग ने समर्थन किया। उसे जन-साधारण या मध्य वर्ग तथा काँग्रेस जैसी संस्था का भी समर्थन नहीं मिल सका। समाज के उच्च तथा मध्यम वर्ग के लोग तो क्रान्तिकारी कार्यों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी व आशुतोष मुकर्जी जैसे नेताओं ने तो सरकार से क्रान्तिकारियों का दमन करने के लिए कठोर कदम उठाने का आग्रह किया था।

(3) यद्यपि क्रान्तिकारी आन्दोलन में मध्यम वर्ग के शिक्षित नवयुवकों ने भाग लिया था, लेकिन नवयुवकों का जनता पर कोई विशेष प्रभाव नहीं था। अतः वे नवयुवक जन-साधारण का सहयोग व समर्थन प्राप्त करने में असफल रहे। जन-साधारण के सहयोग के अभाव में कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती।

(4) यद्यपि क्रान्तिकारी नेताओं में अपूर्व साहस व उत्साह था। वे अपनी मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए अपने प्राणों का बलिदान करने को उद्यत रहते थे। लेकिन उनके पास साधनों का नितान्त अभाव था। उन्हें अस्त्र-शस्त्रों के प्राप्त करने में अत्यधिक कठिनाई उठानी पड़ती थी। क्रान्तिकारियों को सरकार से बचकर गुप्त रूप से कार्य करना पड़ता था, जबकि सरकार का खुफिया विभाग इतना कुशल और तत्पर था कि क्रान्तिकारियों की प्रत्येक गतिविधि का सरकार को तुरन्त पता लग जाता था और सरकार तुरन्त कार्यवाही करके क्रान्तिकारियों की योजना पर पानी फेर देती थी।

(5) भारत में सबसे प्रभावशाली राजनीतिक संस्था भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस थी। काँग्रेस के उदारवादी नेता तो सरकार से सीधी टक्कर लेना उचित नहीं समझते थे और उग्रवादी नेता

अहिंसात्मक आन्दोलन के पक्ष में थे। अतः कान्तिकारियों को काँग्रेस की सहानुभूति भी प्राप्त नहीं हो सकी। गाँधीजी भारतीय जनता के लोकप्रिय नेता थे, लेकिन गाँधीजी ने क्रान्तिकारियों के प्रति सहानुभूति रखना तो दूर रहा, वे क्रान्तिकारियों की गतिविधियों का सख्त विरोध करते थे। काँग्रेस और गाँधीजी के इस दृष्टिकोण के कारण क्रान्तिकारियों को कहीं से सहानुभूति या समर्थन प्राप्त नहीं हो सका।

(6) भारतीय जनता देश की स्वाधीनता चाहती थी और यदि भारतीय जनता को देश की स्वाधीनता के लिए क्रान्तिकारी आन्दोलन का कोई अन्य विकल्प प्राप्त नहीं होता तो निश्चित रूप से जनता का झुकाव क्रान्तिकारी आन्दोलन की तरफ हो सकता था। लेकिन गाँधीजी ने सत्याग्रह के रूप में क्रान्तिकारी आन्दोलन का विकल्प प्रस्तुत कर दिया, जो जनता में लोकप्रिय होता गया। गाँधीजी के अहिंसात्मक सत्याग्रह ने क्रान्तिकारी आन्दोलन की कमर ही तोड़ दी।

(7) क्रान्तिकारी आन्दोलन की असफलता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण सरकार की दमनकारी नीति थी। सरकार ने 1907 ई. में सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया। 1908 ई. में विद्रोही सभा अधिनियम पारित किया तथा फौजदारी कानून को अधिक कठोर बनाकर उसका सख्ती से पालन करने की आज्ञा दी। 1908 व 1910 ई. में प्रेस अधिनियम द्वारा समाचार-पत्रों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। 1911 ई. में सभाओं पर नियन्त्रण रखने के लिए सरकारी अधिकारियों को अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करने का अधिकार दे दिया गया। पकड़े जाने पर क्रान्तिकारियों को आजीवन कारावास, देश-निर्वासन या मृत्यु-दण्ड से कम सजा नहीं दी जाती थी। ऐसी दमनकारी नीति के सामने क्रान्तिकारी अधिक समय तक टिके नहीं रह सके।

(8) हमारे देश में जयचन्द जैसे देशद्रोही तो हर युग में हुए हैं, जो सरकार के प्रति अपनी निष्ठा एवं भक्ति प्रदर्शित करते हुए क्रान्तिकारियों की योजना सरकार को बता देते थे और उनकी योजना पर पानी फेर देते थे।

राष्ट्रीय आन्दोलन में क्रान्तिकारियों का योगदान—यद्यपि क्रान्तिकारी अपने लक्ष्य को तत्काल प्राप्त करने में असफल रहे, तथापि क्रान्तिकारी आन्दोलन ने हमारे स्वतन्त्रता संघर्ष को एक नई दिशा दी तथा समय-समय पर ब्रिटिश सरकार को नीति-परिवर्तन के लिए बाध्य किया। यद्यपि बंगाल-विभाजन के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन हुआ, लेकिन सरकार ने इस आन्दोलन को निर्ममतापूर्वक कुचल दिया तथा लाजपतराय और तिलक को भी जेल में ठूँस दिया गया। प्रेस एक्ट द्वारा अखबारों का मुँह बन्द कर दिया गया। अतः भारतीय नवयुवकों को अब विश्वास हो गया कि सरकार आसानी से होश में आने वाली नहीं है। इसलिए रासबिहारी बोस ने सरकार को सुनाने के लिए क्रान्ति का बिगुल बजाया। इससे सरकार चौकन्नी हो उठी और बंगाल का विभाजन रद्द कर दिया।

क्रान्तिकारी राजनैतिक अधिकारों या औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग नहीं कर रहे थे, बल्कि वे तो भारत के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे। महात्मा गाँधी ने असहयोग आन्दोलन आरम्भ करते समय कहा था कि, "यदि देश मेरे पीछे चले तो मैं एक वर्ष के भीतर स्वराज्य ला दूँगा।" क्रान्तिकारियों ने महात्मा गाँधी के नये प्रयोग को देखने के लिए दो वर्ष तक अपना आन्दोलन स्थगित रखा। लेकिन जब गाँधीजी का असहयोग आन्दोलन असफल हो गया तब

क्रान्तिकारियों को पक्का विश्वास हो गया कि अहिंसात्मक और वैधानिक आन्दोलन से सरकार कुछ भी देने वाली नहीं है। सरकार एसेम्वलियों में चुने हुए प्रतिनिधियों की बात भी सुनने वाली नहीं है। ऐसी वहरी सरकार को जनता की आवाज सुनाने के लिए सरदार भगतसिंह और वटुकेश्वरदत्त ने केन्द्रीय एसेम्वली में वम फेंका। उनके वक्तव्यों से स्पष्ट होता है कि वे परिस्थितियों से विवश होकर ही वमों का प्रयोग करते थे। क्रान्तिकारियों का उद्देश्य सशस्त्र क्रान्ति द्वारा ब्रिटिश शासन को समाप्त करना था, क्योंकि उन्होंने देखा कि रूस में भी इसी तरह की क्रान्ति हुई थी। अतः वे सेनाओं में भी विद्रोह कराने का निरन्तर प्रयास करते रहे। क्रान्तिकारियों का अहिंसात्मक साधनों में विल्कुल विश्वास नहीं था। उनकी यह दृढ़ मान्यता थी कि जो सरकार शक्ति पर आधारित है उसका अन्त सत्याग्रह या अहिंसा से नहीं हो सकता। 23 दिसम्बर, 1929 को जब वायसराय लॉर्ड इरविन की ट्रेन उड़ाने का प्रयत्न किया गया तब महात्मा गाँधी ने अपने एक लेख, 'वम की पूजा' में इस कृत्य की निन्दा की तथा लाहौर कॉंग्रेस अधिवेशन में इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव भी पास किया था। इसका प्रत्युत्तर क्रान्तिकारियों ने 'बम का दर्शन' नामक पर्चा निकाल कर दिया। इस पर्चे में क्रान्तिकारियों ने कहा, "कॉंग्रेस ने 1928 ई. में ब्रिटिश सरकार से कई वातें करने को कहा, परन्तु सरकार ने उनकी तनिक भी परवाह नहीं की और राष्ट्र का अपमान भी किया। इसलिए सरकार की नीति का विरोध करने और राष्ट्रीय अपमान का बदला लेने के लिये हमने उसकी ट्रेन के नीचे वम रखा था। लॉर्ड इरविन द्वारा पूर्णतया देश का अपमान करने पर भी यदि महात्मा गाँधी वायसराय से कुछ माँगने जाते हैं तो यह अधिक राष्ट्रीय अपमान है। चूँकि महात्मा गाँधी की 23 दिसम्वर, 1929 को वायसराय से मुलाकात होने वाली थी, इसलिए हमने उसी दिन वायसराय की ट्रेन के नीचे बम रखा, ताकि महात्मा गाँधी की वायसराय से मुलाकात न हो। वायसराय के वचने पर अव मुलाकात का भी क्या लाभ हुआ ? स्वशासन, औपनिवेशिक स्वराज्य, आत्मनिर्णय का अधिकार आदि माँगें गुलामी की निशानी हैं। क्रान्तिकारियों ने तो 25 वर्ष पहले पूर्व स्वतन्त्रता की प्राप्ति अपना लक्ष्य घोषित किया था, जवकि कॉंग्रेस ने केवल इस वर्ष स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास किया।" इस पर्चे में यह भी कहा गया कि महात्मा गाँधी अहिंसात्मक आन्दोलन से ब्रिटिश शासकों के मन में परिवर्तन लाना चाहते हैं, लेकिन इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ है। अतः प्रेम और अहिंसा से ब्रिटिश जाति को जीतने की आशा व्यर्थ है। महात्मा गाँधी और क्रान्तिकारी आन्दोलन की गतिविधियों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि गाँधीजी ने जनता में जागृति फैलाने का कार्य किया, जवकि क्रान्तिकारियों ने जनता में जागृति और क्रान्ति दोनों फैलाने का कार्य किया। यद्यपि कॉंग्रेस क्रान्तिकारियों की हिंसात्मक गतिविधियों की घोर विरोधी थी, लेकिन जैसा कि पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है, "कराची में कॉंग्रेस के अधिवेशन के समय सरदार भगतसिंह का नाम भारत में उतना ही सर्वप्रिय हो चुका था, जितना गाँधीजी का (कराची अधिवेशन के कुछ समय पूर्व ही सरदार भगतसिंह को फाँसी दी गई थी), इसलिए कॉंग्रेस ने भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव के बलिदानों की सराहना में एक प्रस्ताव पास किया।"

इस प्रकार कॉंग्रेस के वैधानिक आन्दोलन और क्रान्तिकारी आन्दोलन ने एक दूसरे के लिए पूरक का कार्य किया। ब्रिटिश सरकार इन क्रान्तिकारियों से वहुत घवराती थी। अतः वह चाहती थी कि लोगों का झुकाव इन क्रान्तिकारियों की ओर न हो और इसके लिए आवश्यक था

कि लोगों को राजनैतिक अधिकार दिये जायँ ताकि लोगों का क्रान्ति से विश्वास उठ जाय। इसलिये ब्रिटिश सरकार को विवश होकर कुछ-न-कुछ देना पड़ा। जब सरकार वैधानिक आन्दोलन को कुचलने के लिए भारतीयों पर अमानवीय अत्याचार करती थी तो क्रान्तिकारी इसका प्रत्युत्तर बमों से देते थे। इसलिए सरकार भारतीयों को विभक्त रखने के लिये काँग्रेस की कुछ बातें मान लेती थी तथा क्रान्तिकारियों को कुचलने की नीति जारी रखती थी। क्रान्तिकारियों का मार्ग बहुत ही कठिन था। एक ओर सरकारी गुप्तचर उनके पीछे लगे रहते थे तो दूसरी तरफ वैधानिक आन्दोलन चलाने वाले भी उनकी निन्दा करते थे। उन्हें जनता का भी पूर्ण सहयोग प्राप्त नहीं था। उनके पास धन का सदा अभाव रहता था। फिर भी प्रत्येक क्रान्तिकारी ने अपनी मातृभूमि के लिये फाँसी के तख्ते पर झूलते समय अद्वितीय साहस व प्रसन्नता दिखाई थी। क्रान्तिकारियों ने ही मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिये प्राणों का बलिदान करने का उज्ज्वल उदाहरण जनता के समक्ष प्रस्तुत किया था। बलिदान की यही भावना आगे चलकर अहिंसात्मक आन्दोलन की सफलता के लिए उत्तरदायी हुई थी। मन्मथनाथ गुप्त ने ठीक ही लिखा है कि, "हमारी जाति की मुरझाई हुई मनोवृत्ति पर शहीदों के खून की वह वर्षा काफी उत्तेजक सिद्ध हुई। जिस वन्देमातरम् के कहने पर लोग मर जाते थे, जन-आन्दोलन जब एक स्वप्न था, उस जमाने में इन लोगों ने जो हिम्मत की, उसे कोई अन्धा, मूर्ख, कायर भले ही छोटा बताये, किन्तु हमारी जाति के मन पर उसका जो असर पड़ा, वह बहुत महत्त्वपूर्ण था।"

इस प्रकार क्रान्तिकारी आन्दोलन ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में अपूर्व योग दिया। क्रान्तिकारियों के बलिदानों को कभी नहीं भुलाया जा सकेगा। क्रान्तिकारियों के बलिदानों ने देश में राष्ट्रीयता और देशभक्ति की अपूर्व भावना का संचार किया। 1942 ई. की क्रान्ति और सुभाष चन्द्र बोस द्वारा आजाद हिन्द फौज संगठित कर ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर प्रहार करना क्रान्तिकारी आन्दोलन का ही एक अंग था। वस्तुतः क्रान्तिकारी आन्दोलन के अभाव में वैधानिक आन्दोलन की सफलता ही संदिग्ध थी। इसलिये भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में क्रान्तिकारी आन्दोलन का उतना ही महत्त्व है जितना वैधानिक आन्दोलन का। किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि इतिहास-लेखकों ने क्रान्तिकारी नेताओं के साथ अन्याय किया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास पर अनेक पुस्तकें निकलीं, लेकिन इन सभी में क्रान्तिकारियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका को वह स्थान प्राप्त नहीं हो सका, जितना होना चाहिये था। लेकिन भारत के स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास में इन महान् देशभक्तों को उचित स्थान देना ही पड़ेगा, क्योंकि आज़ादी के इन दीवानों की गाथा स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है।

अध्याय-19

भारतीय संविधान की विशेषताएँ

भारतीय संविधान भारतीयों की चिर-प्रतीक्षित अभिलाषाओं तथा उसके लिए किये गये प्रयासों का सामूहिक परिणाम है। ब्रिटिश सरकार द्वारा साइमन कमीशन की नियुक्ति के समय भारतीयों ने माँग की थी कि भारतीय संविधान का निर्माण स्वयं भारतीयों द्वारा किया जाय। तत्पश्चात् भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने दिसम्बर, 1936 में अपने फैजपुर अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित किया, जिसमें कहा गया था कि, "यह काँग्रेस भारत में एक सच्चे लोकतन्त्रात्मक राज्य का समर्थन करती है जहाँ राजनीतिक शक्ति पूर्ण रूप से जनता के प्रतिनिधियों को सौंपी जाय और सरकार उनके प्रभावशाली नियन्त्रण में हो। इस प्रकार का राज्य केवल वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी हुई संविधान सभा के द्वारा ही अस्तित्व में आ सकता है और उसे अन्तिम रूप से भारत के संविधान के निर्माण का अधिकार होना चाहिये।"

संविधान सभा का अर्थ—आधुनिक युग में संविधान के निर्माण का कार्य जनता प्रायः एक विशेष रूप से गठित प्रतिनिधिक संविधान सभा द्वारा करती है। 17वीं और 18वीं शताब्दी की महान् क्रान्तियों ने इस विचार को जन्म दिया कि शासन के मौलिक कानूनों का निर्माण नागरिकों की एक विशिष्ट प्रतिनिधि सभा द्वारा किया जाना चाहिये। इसका सैद्धान्तिक आधार सामाजिक समझौता, प्राकृतिक अधिकार, लोकप्रिय प्रभुता तथा सामान्य इच्छा के राजनीतिक सिद्धान्तों में पाया जाता है। साधारण शब्दों में, संविधान सभा उस सभा को कहते हैं जो किसी देश के संविधान का निर्माण करती है। यह किसी देश के संविधान का ढाँचा तैयार करने के लिए विशेष रूप से गठित, नागरिकों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का एक संगठन है। इसके विशिष्ट अर्थ की विवेचना पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने इन शब्दों में की थी, "यह एक चलायमान राष्ट्र है जो अपनी पुरानी पोशाक को उतारकर अपने लिए नयी पोशाक का निर्माण करता है। यह राष्ट्र के नागरिकों का निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से कार्यरत समूह है अतः इसका निश्चित क्रान्तिकारी महत्त्व है।"

भारतीय संविधान सभा का निर्माण—भारत के स्वाधीनता संग्राम के काल से भारतीयों ने संविधान के निर्माण के लिए एक संविधान सभा की माँग शुरू कर दी थी। 1922 ई. में महात्मा गाँधी ने कहा था कि, "भारतीय संविधान भारतीयों की इच्छानुसार ही होगा।" 1924 ई. में पण्डित मोतीलाल नेहरू ने ब्रिटिश सरकार के समक्ष संविधान सभा के निर्माण की माँग प्रस्तुत की थी।

तत्पश्चात् एम.एन. राय ने औपचारिक रूप से संविधान सभा के विचार का प्रतिपादन किया। यह विचार देश में लोकप्रिय होने लगा। अतः पण्डित जवाहरलाल नेहरू के प्रयासों से काँग्रेस ने औपचारिक रूप से घोषणा की कि, "यदि भारत को आत्म-निर्णय का अवसर मिलता है तो भारत के सभी विचारों के लोगों की एक प्रतिनिधि सभा बुलाई जानी चाहिये, जो सर्वसम्मति से संविधान का निर्माण कर सके। वही संविधान सभा होगी।" इसके बाद काँग्रेस अपने प्रत्येक अधिवेशन में इस माँग को दुहराती रही। 1939 ई. में काँग्रेस के एक प्रस्ताव में कहा गया कि, "एक स्वतन्त्र देश के संविधान-निर्माण का एकमात्र तरीका संविधान सभा है, सिर्फ जनतन्त्र और स्वतन्त्रता में विश्वास नहीं रखने वाले ही इसका विरोध कर सकते हैं।" यद्यपि ब्रिटिश सरकार भारतीयों की इस माँग को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थी, लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध की परिस्थितियों तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों ने उसे, इस माँग को स्वीकार करने को बाध्य कर दिया। अतः वायसराय की अगस्त, 1940 की घोषणा में कहा गया कि भारत का संविधान स्वयं भारतीय ही तैयार करेंगे। तत्पश्चात् 1942 ई. में क्रिप्स प्रस्तावों में भी यह माँग स्पष्ट रूप से स्वीकार करली गई थी, किन्तु भारतीयों ने कुछ अन्य कारणों से क्रिप्स प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया था। अन्त में 1946 ई. में मन्त्रिमण्डल मिशन योजना में इस माँग को स्वीकार कर इसे व्यावहारिक रूप दिया गया।

मन्त्रिमण्डल मिशन योजना के आधार पर 1946 ई. में संविधान सभा का चुनाव प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर हुआ। विभाजन के पूर्व संविधान सभा में 389 सदस्य थे, किन्तु बाद में पाकिस्तान का निर्माण हो जाने के बाद इस संविधान सभा में 310 सदस्य रह गये। भारत की स्वतन्त्रता की घोषणा के बाद जिन देशी रियासतों के शासकों ने भारतीय संघ में शामिल होना स्वीकार कर लिया, उनके द्वारा नामजद प्रतिनिधियों ने भी संविधान सभा की सदस्यता ग्रहण की। यह संविधान सभा भारत के विशाल बहुमत की वास्तविक प्रतिनिधि संस्था थी। इसमें अत्यन्त ही अनुभवी और योग्य व्यक्ति थे। काँग्रेस के तो प्रायः सभी चोटी के नेता इसके सदस्य थे। इसके अतिरिक्त अन्य दलों से सम्बन्धित नेता तथा कुछ विख्यात महिलाएँ भी इसकी सदस्य थीं।

प्रारम्भ में यह संविधान सभा सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न संस्था नहीं थी। वह मन्त्रिमण्डल मिशन योजना में उल्लिखित संविधान की मूल रूपरेखा में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती थी तथा यह ब्रिटिश संसद की सर्वोच्च सत्ता के अधीन थी। लेकिन 3 जून, 1947 को वायसराय माउण्टबेटन द्वारा की गई घोषणा से इस संविधान सभा की स्थिति पूर्ण रूप से बदल गई। माउण्टबेटन की घोषणा के आधार पर ब्रिटिश संसद द्वारा पारित 'भारतीय स्वाधीनता अधिनियम, 1947' ने इस संविधान सभा को सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न संस्था बना दिया।

संविधान सभा का कार्य—संविधान सभा की प्रथम बैठक 9 दिसम्बर, 1946 को डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा की अध्यक्षता में हुई। तत्पश्चात् 11 दिसम्बर, 1946 को डॉ. राजेन्द्रप्रसाद संविधान सभा के स्थायी अध्यक्ष निर्वाचित हुए और संविधान निर्माण का कार्य आरम्भ हुआ। सर्वप्रथम पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने 'उद्देश्य प्रस्ताव' प्रस्तुत किया, जिसे 22 जनवरी, 1947 को स्वीकार कर लिया गया। इस 'उद्देश्य प्रस्ताव' में कहा गया कि भारत एक पूर्ण स्वतन्त्र और

सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न गणराज्य होगा एवं अपने संविधान का निर्माण स्वयं करेगा। भारतीय संघ तथा इसके अन्तर्गत विभिन्न राज्यों में समस्त राजशक्ति का मूल स्रोत जनता होगी। भारतीय संविधान में 'उद्देश्य प्रस्ताव' का वही महत्त्व है जो अमेरिका के संविधान में 'स्वतन्त्रता के घोषणा-पत्र' का है। 29 अगस्त,1947 को संविधान सभा ने डॉ. भीमराव अम्बेडकर की अध्यक्षता में सात सदस्यों की एक प्रारूप समिति का गठन किया।

प्रारूप समिति ने 315 धाराओं तथा 8 परिशिष्टों का संविधान का प्रारूप तैयार करके 5 नवम्बर,1948 को संविधान सभा में प्रस्तुत किया। संविधान सभा में संविधान के प्रारूप का प्रथम वाचन 5 नवम्बर को आरम्भ हुआ और 9 नवम्बर,1948 तक चला। इसका दूसरा वाचन 15 नवम्बर,1948 को आरम्भ हुआ और 17 अक्टूबर,1949 तक चला। दूसरे वाचन में 7,635 संशोधन प्रस्तुत किये गये परन्तु उनमें से केवल 2,473 संशोधनों पर चर्चा हुई। प्रारूप का तीसरा और अन्तिम वाचन 14 नवम्बर,1949 को आरम्भ हुआ तथा 26 नवम्बर,1949 तक चला। अन्तिम रूप से 395 धाराओं तथा 9 परिशिष्टों का यह संविधान 26 नवम्बर,1949 को पारित किये जाने पर उसी दिन संविधान सभा के सभापति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने उस पर हस्ताक्षर किये और इसे पारित घोषित कर दिया। संविधान सभा का अन्तिम अधिवेशन 24 जनवरी,1950 को हुआ। इसमें डॉ. राजेन्द्रप्रसाद को सर्वसम्मति से भारत का प्रथम राष्ट्रपति चुन लिया गया और 26 जनवरी,1950 से भारत के नये संविधान को लागू करने का निर्णय लिया गया।

भारतीय संविधान के मुख्य स्रोत—भारतीय संविधान के निर्माताओं का लक्ष्य एक व्यावहारिक संविधान का निर्माण करना था,किसी मौलिक या अभूतपूर्व संविधान का नहीं। अतः उन्होंने विश्व के अन्य संविधानों का गहन अध्ययन किया और उनसे भारतीयों के लिए उपयोगी तत्त्वों को बिना हिचक के ग्रहण कर लिया। इसीलिए भारतीय संविधान पर विश्व के कई प्रमुख संविधानों का प्रभाव देखने को मिलता है। इस प्रसंग में एक आलोचक ने इसे 'भानुमति के कुनबे' की संज्ञा दी है अथवा इसे 'वर्णशंकर' कहा है। एक अन्य आलोचक ने कहा कि वह 'उधार ली गई वस्तुओं का संकलन मात्र है।' दूसरे आलोचक ने इसे 'कैंची और गोंद का खिलवाड़' कहा है।

भारतीय संविधान पर अनेक संविधानों का प्रभाव उल्लेखनीय है। संविधान की विषय-सामग्री तथा भाषा पर भारतीय शासन अधिनियम 1935 का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। वस्तुतः संविधान का लगभाग 2/3 भाग इसी अधिनियम से लिया गया है। संघ और राज्यों के बीच शक्तियों का बँटवारा,राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकार तथा केन्द्रीय और राज्य सरकार के शासन यन्त्र विशेष रूप से इसी अधिनियम से प्रभावित हुए हैं। प्रोफेसर श्रीनिवास के अनुसार, "भारतीय संविधान 1935 ई. के अधिनियम की लगभग नकल है। उस अधिनियम के प्रसंग में इसकी उस हस्तलिपि से तुलना करना गलत न होगा जिस पर पुरानी लिखावट को मिटाकर नयी लिखावट के लिए स्थान बनाया गया है।" यद्यपि दोनों संविधानों में काफी समानता है, लेकिन दोनों में मौलिक अन्तर भी है। भारतीय संविधान को 1935 ई. के अधिनियम का 'गौरवपूर्ण संस्करण' कहना अनुचित होगा। ब्रिटिश संविधान का प्रभाव संविधान के संसदीय स्वरूप तथा उसके नियमों पर पड़ा है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना, मौलिक अधिकार, उप-राष्ट्रपति का स्थान, संशोधन प्रक्रिया आदि से सम्बन्धित विषयों पर अमरीकी संविधान का प्रभाव देखने को

मिलता है। राज्य के नीति निर्देश तत्त्व, राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए निर्वाचक मण्डल की व्यवस्था तथा द्वितीय सदन में विशेषज्ञों का मनोनयन आदि से सम्बन्धित उपबन्ध आयरलैण्ड के संविधान से प्रभावित हैं। कनाडा के संविधान के आदर्श पर भारतीय संघ को 'यूनियन' कहा गया है और अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को दी गई हैं। संविधान की प्रस्तावना में निहित भावनाएँ, समवर्ती सूची तथा इस सूची के विषयों पर संघ और इकाइयों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों को निबटाने के उपाय आस्ट्रेलिया के संविधान के समान हैं। संशोधन की प्रक्रिया दक्षिणी अफ्रीका के संविधान से मिलती-जुलती है।

इस प्रकार 1935 ई. का भारतीय शासन अधिनियम और विश्व के प्रमुख संविधान भारतीय संविधान के मुख्य स्रोत रहे हैं। किन्तु इस आधार पर इसे 'भानुमति का कुनबा' अथवा 'उधार ली गई वस्तुओं का संकलन मात्र' नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः संविधान निर्माताओं ने अन्य संविधानों की केवल उन्हीं व्यवस्थाओं को ग्रहण किया, जिनकी भारतीय परिस्थितियों में उपयोगिता थी और उन व्यवस्थाओं को भी भारतीय परिस्थितियों के अनुसार ढाला गया है।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना—प्रत्येक संविधान में मौलिक उद्देश्यों को प्रायः संविधान की प्रस्तावना के रूप में व्यक्त किया जाता है। भारतीय संविधान के प्रारम्भ में भी प्रस्तावना है तथा यह प्रस्तावना संविधान से जुड़ा हुआ एक श्रेष्ठ आभूषण है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना इस प्रकार है, "हम भारत के लोग, सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उससे समस्त नागरिकों का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 (मिति मार्ग शीर्ष शुक्ला सप्तमी संवत् दो हजार छः विक्रमी) को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

1976 ई. में संविधान के 42वें संशोधन द्वारा प्रस्तावना में कुछ और शब्द जोड़ दिये गये। 'सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' के स्थान पर 'सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक धर्म-निरपेक्ष समाजवादी गणराज्य' शब्द और 'राष्ट्र की एकता' के स्थान पर 'राष्ट्र की एकता और अखण्डता' शब्द जोड़ दिये गये हैं। इस प्रकार 'धर्म-निरपेक्षता', 'समाजवाद' और 'राष्ट्रीय अखण्डता' शब्दों को मूल प्रस्तावना में जोड़कर संविधान के उद्देश्यों को अधिक स्पष्ट कर दिया गया है। किन्तु अनेक विद्वानों ने इसकी आलोचना करते हुए संविधान सभा के गठन की ओर संकेत किया है कि इस संविधान को जनता ने नहीं बनाया है। क्योंकि संविधान सभा का चुनाव न तो जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से हुआ था और न जनमत-संग्रह द्वारा संविधान को जनता द्वारा स्वीकृत कराया गया था। वस्तुतः यह आलोचना निराधार है, क्योंकि इस संविधान का आधार जनता की प्रभुसत्ता है। इसकी यह कहकर भी आलोचना की जाती है कि सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न गणराज्य होने के बावजूद भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य कैसे है ? किन्तु इस आलोचना में भी कोई वजन नहीं है, क्योंकि राष्ट्रमण्डल की सदस्यता भारत की सार्वभौमिकता के मार्ग में विरोध पैदा नहीं करती, क्योंकि राष्ट्रमण्डल राज्यों का ऐच्छिक समझौता है।

भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएँ

किसी भी देश का संविधान कतिपय सिद्धान्तों पर आधारित होता है। संविधान राष्ट्र के जीवन का एक मार्ग है,जो देश,काल एवं परिस्थितियों से अछूता नहीं रहता। राष्ट्र के जीवन का यह मार्ग उसकी अपनी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप होता है। एक देश की परिस्थितियाँ और आवश्यकताएँ दूसरे देश से भिन्न होती हैं। अतः प्रत्येक देश के संविधान की कुछ मौलिक विशेषताएँ होती हैं। संविधान की विशेषताएँ ही उस राष्ट्र के जीवन-मार्ग को दर्शाती हैं। भारतीय संविधान की कुछ मौलिक विशेषताएँ हैं। भारतीय संविधान की निम्नलिखित विशेषताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(1) लिखित एवं निर्मित संविधान—संविधान दो प्रकार के होते है—(1) लिखित एवं निर्मित तथा (2) अलिखित एवं विकसित। लिखित एवं निर्मित संविधान वह होता है जिसमें सिद्धान्त,स्वरूप और नियम स्पष्ट रूप से एक स्थान पर लिपिवद्ध रहते हैं। अलिखित एवं विकसित संविधान वह होता है जो ऐतिहासिक हो और जिसका निश्चित स्वरूप, युग-युगीन राजनीतिक विकास के कारण निर्धारित हुआ हो। रूस, अमेरिका,फ्रान्स आदि देशों का संविधान लिखित एवं निर्मित है,जबकि ब्रिटेन का संविधान अलिखित एवं विकसित है। भारतीय संविधान लिखित एवं निर्मित संविधान का श्रेष्ठ नमूना है। भारतीय संविधान के निर्माण के लिए एक संविधान सभा का निर्माण किया गया था,जिसने एक निश्चित तिथि के अन्तर्गत संविधान का प्रलेख तैयार किया था। शासन से सम्वन्धित नियमों को संविधान सभा के द्वारा एक लेख के रूप में तैयार किया गया, जिसमें 395 धाराएँ,22 भाग तथा 9 अनुसूचियाँ हैं। किन्तु कोई भी संविधान न तो पूर्णतः लिखित हो सकता है और न पूर्णतः अलिखित। एक अलिखित एवं विकसित संविधान के कतिपय नियम एवं सिद्धान्त ऐसे होते हैं जिनका विकास अपने आप इतिहास की गतिविधि के अनुसार होता है। इन नियमों को रूढ़ियों एवं परम्पराओं के रूप में संविधान का अभिन्न अंग मान लिया जाता है। भारतीय संविधान में भी वहुत से विकसित एवं अलिखित संवैधानिक नियम पाये जाते हैं। इस प्रकार,यद्यपि भारतीय संविधान मूलतः लिखित एवं निर्मित संविधान है तथापि इसमें लिखित तत्त्वों के अतिरिक्त अलिखित एवं विकसित तत्त्व भी विद्यमान हैं।

(2) लोकप्रिय प्रभुसत्ता पर आधारित—भारतीय संविधान लोकप्रिय प्रभुसत्ता पर आधारित संविधान है अर्थात् भारतीय संविधान को जनता द्वारा निर्मित संविधान कहा गया है। संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है कि संविधान का निर्माण भारतीय जनता ने किया है और जनता ने ही उसे अधिनियमित तथा अंगीकृत किया है। इसका तात्पर्य यह है कि इस संविधान द्वारा अन्तिम शक्ति जनता को प्रदान की गई है। यह किसी अन्य देश या किसी अन्य वाह्य शक्ति की कृति नहीं है जिस प्रकार 1935 ई. का भारतीय शासन अधिनियम था,जिसका निर्माण भारत के लिए ब्रिटेन की संसद ने किया था।

किन्तु अनेक आलोचकों का कहना है कि भारतीय संविधान भारतीय जनता की कृति नहीं माना जा सकता,क्योंकि संविधान सभा का निर्वाचन न तो जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से हुआ था और न संविधान के प्रारूप को जनता के समक्ष अनुसमर्थन के लिए ही रखा गया था। लेकिन

यह आलोचना उचित प्रतीत नहीं होती। व्यावहारिक दृष्टि से उस समय संविधान सभा का प्रत्यक्ष एवं लोकप्रिय निर्वाचन सम्भव ही नहीं था। काँग्रेस दल को जो भारतीय जनता का एकमात्र प्रतिनिधक दल था, संविधान सभा में बहुमत प्राप्त था तथा इसमें देश के सभी हितों को भी उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त था। अतः जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचित न होने के बावजूद संविधान सभा भारतीयों की पूर्णतः प्रतिनिधिक संस्था थी। अमरीकी संविधान की भी यही कहानी है। वहाँ भी संविधान सभा का न तो प्रत्यक्ष चुनाव हुआ और न संविधान को जनता का अनुसमर्थन ही प्राप्त हुआ। फिर भी उसके संविधान में, भारतीय संविधान की भाँति, "हम संयुक्त राज्य अमेरिका के लोग" शब्दों का प्रयोग किया गया है।

(3) **विशाल एवं व्यापक संविधान**—भारत का संविधान एक विशाल एवं व्यापक प्रलेख है। इसमें 395 धाराएँ, 22 भाग तथा 9 अनुसूचियाँ हैं। इसकी तुलना में संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में 7, नेपाल के संविधान में 74, चीन के संविधान में 30, आस्ट्रेलिया के संविधान में 146, रूस के सुविधान में 146, कनाडा के संविधान में 147 तथा दक्षिणी अफ्रीका के संविधान में 135 धाराएँ हैं। इससे पता चलता है कि अन्य देशों की तुलना में भारतीय संविधान अधिक विस्तृत है। भारतीय संविधान की विशालता और व्यापकता के निम्नलिखित कारण हैं—

(1) इसमें न केवल केन्द्रीय बल्कि प्रान्तीय सरकारों के स्वरूप और शक्तियों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

(2) भारतीय संविधान संघात्मक है और संघ की इकाइयों के बीच सम्बन्धों का संविधान में व्यापक रूप से वर्णन किया गया है।

(3) संविधान में मौलिक अधिकारों तथा विभिन्न परिस्थितियों में उन पर लगाये जाने वाले प्रतिबन्धों की व्यवस्था के कारण संविधान अधिक विशाल हो गया है।

(4) संविधान में अनेक नयी संस्थाओं की व्यवस्था की गई है, जैसे—निर्वाचन आयोग, लोक सेवा आयोग, नियन्त्रक एवं लेखा परीक्षक, वित्त एवं भाषा आयोग।

(5) संविधान में अल्पसंख्यकों, एंग्लो-इण्डियनों, अनुसूचित जातियों व जनजातियों से सम्बन्धित विशेष वर्गों के हितों की रक्षा के लिए विशेष व्यवस्थाएँ की गई हैं।

(6) संविधान में प्रशासनिक प्रबन्धों का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। श्रीनिवासन के शब्दों में, "भारतीय संविधान केवल एक संविधान ही नहीं है, वरन् देश की संवैधानिक और प्रशासनिक पद्धति के महत्त्वपूर्ण पहलुओं से सम्बन्धित एक विस्तृत संहिता भी है।

(7) संविधान में राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों का विस्तृत विवरण दिया गया है।

यद्यपि अनेक विद्वानों ने भारतीय संविधान की विशालता की आलोचना की है, किन्तु अधिकांश भारतीय विद्वानों ने भारतीय संविधान के विस्तृत उपबन्धों को उपयोगी तथा उचित ठहराया है। डॉ. एम. पी. शर्मा ने लिखा है कि, "भारत की जटिल परिस्थितियों तथा भारतीय जनता की राजनीतिक अनुभवहीनता को दृष्टि में रखते हुए भारतीय संविधान के निर्माताओं ने

यही उचित समझा कि सभी बातें स्पष्ट रूप से संविधान में रखदी जायँ और कोई खतरा न उठाया जाय।" अतः भारतीय संविधान की विशालता एवं व्यापकता व्यर्थ नहीं है,बल्कि भारत की विशेष और अत्यन्त जटिल परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम है। ऐसे संविधान में अनिश्चितता तथा लचीलापन नहीं होता।

(4) सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतान्त्रिक धर्म-निरपेक्ष समाजवादी गणराज्य—संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है कि भारत एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य होगा। यह शव्दावली भारतीय गणतन्त्र की प्रकृति को वतलाती है। सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न के दो पहलू हैं—आन्तरिक और वाह्य। आन्तरिक पहलू के अनुसार भारतीय सीमा के अन्तर्गत भारतीय संघ सर्वोच्च सत्ता है और इसकी इच्छा ही सर्वोपरि है। इसका आदेश अन्तिम है,जिसे इस क्षेत्र के भीतर रहने वाले सभी लोग मानने के लिए वाध्य हैं। बाह्य क्षेत्र में भी भारत पूर्णतः स्वतन्त्र तथा सार्वभौम है। वह किसी अन्य सत्ता या राज्य के कानूनी नियन्त्रण से पूर्णतया स्वतन्त्र है तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में किसी अन्य राज्य का आदेश मानने के लिए बाध्य नहीं है।

भारत एक लोकतान्त्रिक गणराज्य है अर्थात् भारत में राजसत्ता जनता में निहित है। इसका शासन स्वयं जनता द्वारा या उसके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा संचालित होगा। वे प्रतिनिधि जनता के स्वामी न होकर सेवक होंगे। भारत का गणतन्त्रवादी स्वरूप इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारत का सर्वोच्च अधिकारी वंशानुगत राजा न होकर भारतीय जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति है। बाद में इसमें 'धर्म-निरपेक्ष' शव्द जोड़कर राज्य को धर्मों से परे कर दिया है। संविधान के निर्माता धर्म विशेष को राजनीति के साथ मिश्रित करने के दुष्परिणामों से परिचित थे,इसलिए उन्होंने धर्म-निरपेक्ष का आदर्श अपनाया। 'समाजवाद' शव्द देश के भावी सामाजिक व आर्थिक ढाँचे को स्पष्ट करता है। राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ-साथ सामाजिक तथा आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना का भी संविधान का लक्ष्य है। विना किसी भेदभाव के सभी नागरिकों को सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में समान अवसर प्राप्त होंगे।

इस सम्वन्ध में आलोचना की जाती है कि एक सार्वभौम राज्य होते हुए भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य है। इस संगठन का प्रधान ब्रिटिश सम्राट या साम्राज्ञी है। अतःइसमें भारत की सदस्यता उसकी सार्वभौमिकता के विरुद्ध है। किन्तु इस आलोचना में कोई सार नहीं है। राष्ट्रमण्डल स्वतन्त्र तथा सार्वभौम राष्ट्रों का संगठन है। उसकी सदस्यता राष्ट्रों की स्वेच्छा पर निर्भर करती है तथा ब्रिटिश सम्राट या साम्राज्ञी को केवल एकता के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया गया है। अतः भारत की सार्वभौमिकता पर राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से कोई आँच नहीं आती। कुछ आलोचकों द्वारा धर्म-निरपेक्षता के आधार पर भारत को धर्म-विरोधी-राज्य की संज्ञा दी गई है। लेकिन भारत धर्म-विरोधी-राज्य होने के स्थान पर मानवता के व्यापक सिद्धान्तों पर आधारित एक ऐसा वास्तविक नैतिक राज्य है जिसका उद्देश्य संकीर्ण धार्मिक विवादों से दूर रहते हुए अपने सभी नागरिकों को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति की ओर उन्मुख करना है। भारतीय संविधान द्वारा अपनाई गई धर्म-निरपेक्षता नकारात्मक धर्म-निरपेक्षता न होकर सकारात्मक धर्म-निरपेक्षता है।

(5) संसदीय शासन प्रणाली—शासन के विभिन्न अंगों के बीच कार्यों के विभाजन के आधार पर सरकार के दो रूप होते हैं—संसदीय शासन तथा अध्यक्षात्मक शासन। भारत में संसदीय शासन प्रणाली अपनायी गई है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत यद्यपि राष्ट्रपति की शक्तियों का दायरा अत्यन्त ही विस्तृत है, तथापि वह केवल संवैधानिक अध्यक्ष है। व्यवहारतः उसकी शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिपरिषद् द्वारा होता है। मन्त्रिपरिषद् ही वास्तविक कार्यपालिका है और प्रधानमन्त्री शासन का वास्तविक प्रधान। राष्ट्रपति उसके परामर्श से ही कार्य करता है। संविधान में मन्त्रिपरिषद् को संसद, विशेषकर लोकसभा के प्रति उत्तरदायी बनाया गया है। लोकसभा के विश्वास-पर्यन्त ही मन्त्रिपरिषद् आसीन रह सकती है। मन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व सामूहिक है। संसदीय प्रणाली के वृहत् सिद्धान्तों को संविधान में लिखा गया है, लेकिन उसके कार्यकरण (Working) से सम्बन्धित अधिकांश नियमों के सम्बन्ध में यह आशा व्यक्त की गई है कि उनका विकास स्वतः परम्पराओं के रूप में हो जायेगा। भारतीय संविधान में संसदीय प्रणाली को अपनाते हुए अध्यक्षात्मक पद्धति के कतिपय तत्त्वों को अंगीकृत किया गया है, जैसे राष्ट्रपति के आदेश पर मन्त्रियों का हस्ताक्षर नहीं होगा, संसद द्वारा पारित विधेयक को राष्ट्रपति पुनः उसके विचारार्थ लौटा सकता है, संसद की सर्वोच्चता को सीमाबद्ध कर दिया गया है तथा न्यायपालिका को शासनांगों से पृथक् एवं स्वतन्त्र रखकर शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को सीमित अंश में अपनाया गया है इसलिए न्यायाधीश पी. बी. मुकर्जी ने कहा है कि भारतीय संविधान संसदीय प्रणाली और अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का गठबन्धन कराता है।

भारतीय संविधान निर्माताओं द्वारा संसदीय शासन प्रणाली को अपनाने का मुख्य कारण यह था कि संसदीय शासन प्रणाली की क्रियान्विति सरल होती है तथा भारत के लोग ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत संसदीय शासन प्रणाली के सिद्धान्त और व्यवहार का पर्याप्त ज्ञात प्राप्त कर चुके थे। इस प्रणाली के अन्तर्गत शासन जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि, "इसमें उत्तरदायित्व तथा स्थिरता दोनों पायी जाती हैं।"

(6) कठोरता एवं लचीलेपन का सम्मिश्रण—लचीला संविधान वह होता है जिसमें विधि निर्माण की साधारण प्रक्रिया द्वारा संविधान में संशोधन कर दिया जाता है, जबकि कठोर संविधान में संशोधन की एक विशिष्ट प्रक्रिया को अपनाया जाता है। इस प्रक्रिया का उल्लेख संविधान में रहता है। लचीले संविधान का श्रेष्ठ उदाहरण ब्रिटिश संविधान है जबकि कठोर संविधान का उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान है। भारतीय संविधान कठोरता और लचीलेपन का अभूतपूर्व सम्मिश्रण है। वह न तो ब्रिटिश संविधान की तरह अधिक लचीला है और न अमेरिकी संविधान की भाँति अत्यधिक कठोर है। भारतीय संविधान की अनेक धाराओं में परिवर्तन लाने के लिए एक खास प्रक्रिया अपनायी गई है जो उसे लचीला बना देती है। संविधान के कई उपबन्ध तो संसद के साधारण बहुमत से ही संशोधित हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, नये राज्यों का निर्माण, वर्तमान राज्यों का पुनर्गठन, भारतीय नागरिकता के अर्थ में परिवर्तन, राज्यों में विधान परिषद् की स्थापना या समाप्ति आदि। इसके अतिरिक्त अन्य प्राधिकारी को भी संविधान की कतिपय धाराओं में परिवर्तन लाने का अधिकार दिया गया है, जैसे—यदि राज्य सभा दो-तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पारित करदे कि कोई विषय पहले राज्य सूची में था, अब राष्ट्रीय महत्त्व बन गया है तो संसद उस विषय पर एक वर्ष तक कानून बना सकती है। राष्ट्रपति द्वारा

की घोषणा के दौरान संविधान का संघात्मक स्वरूप बड़ी आसानी से एकात्मक बन जाता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि भारतीय संविधान में लचीलेपन के तत्त्व विद्यमान हैं।

भारतीय संविधान में कठोरता के लक्षण भी विद्यमान हैं। डॉ. जेनिंग्ज ने लिखा है कि, "संशोधन की जटिल प्रणाली संविधान को विस्तृत तथा इसकी विशालता इसे कठोर बना देती है।" संविधान की अधिकांश धाराओं में संशोधन लाने के लिए संसद के सभी सदस्यों के साधारण बहुमत के अतिरिक्त उपस्थित सदस्यों का दो-तिहाई बहुमत होना चाहिये। कुछ विषयों में संशोधन के लिए संसद के सभी सदस्यों के साधारण बहुमत और उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत के अतिरिक्त कम-से-कम आधे राज्यों की विधानसभाओं का अनुसमर्थन भी आवश्यक है। संशोधन की यह प्रणाली अत्यन्त जटिल है। यह संयुक्त राज्य अमेरिका की संशोधन प्रणाली से मिलती-जुलती है। इसके अतिरिक्त संविधान की विशालता और इसके कानून का विस्तृत दायरा भी संविधान को जटिल बना देता है।

इस प्रकार भारतीय संविधान की कुछ धाराओं को साधारण विधि प्रक्रिया द्वारा सरलता से संशोधित किया जा सकता है तथा कुछ धाराओं में संशोधन लाने के लिए जटिल प्रक्रिया की व्यवस्था की गई है। अतः भारतीय संविधान कठोरता और लचीलेपन का अद्‌भुत सम्मिश्रण करता है। वस्तुतः संविधान निर्माताओं ने मध्यम मार्ग अपनाया है। इस सम्बन्ध में पण्डित नेहरू ने संविधान सभा में कहा था, "यद्यपि जहाँ तक सम्भव हो हम इस संविधान को ठोस और स्थायी संविधान का रूप देना चाहते हैं, तथापि संविधान में कोई स्थायित्व नहीं होता, उसमें लचीलापन होना चाहिये। यदि संविधान में सभी कुछ स्थायी और कठोर बना दिया जाय तो राष्ट्र का विकास रुक जायेगा, क्योंकि राष्ट्र जीवित विकासशील प्राणियों का समूह है। किसी भी स्थिति में हम अपने संविधान को इतना कठोर नहीं बनाना चाहते कि वह बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित न हो सके।"

(7) एकात्मक लक्षणों सहित संघात्मक शासन—भारतीय संविधान एक संघात्मक गणराज्य की स्थापना करता है, हालाँकि संविधान में 'संघ' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। 'संघ' शब्द के स्थान पर 'यूनियन' शब्द का जानबूझकर प्रयोग किया गया है। भारतीय संविधान में संघात्मक प्रणाली की सभी मौलिक विशेषताएँ विद्यमान हैं उदाहरणार्थ, केन्द्र तथा संघ की इकाइयों के बीच शक्तियों का बँटवारा, लिखित संविधान और उसकी सर्वोच्चता, संविधान के व्याख्याता तथा संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना, दुष्परिवर्तशील संविधान तथा दोहरा शासन-यन्त्र। इस प्रकार भारत में संघात्मक शासन व्यवस्था स्थापित की गई है।

लेकिन संविधान-निर्माता संघराज्य की दुर्बलताओं से अवगत थे। एक सुदृढ़, स्थायी तथा शक्तिशाली शासन ही पृथकतावादी प्रवृत्तियों का सामना कर सकता है तथा राष्ट्रीय एकता की स्थापना की जा सकती है। अतः केन्द्र को शक्तिशाली बनाना आवश्यक था। इसी उद्देश्य से संविधान में कुछ ऐसे उपबन्धों को स्थान दिया गया जो साधारणतया एकात्मक शासन व्यवस्था की विशेषताएँ होती हैं। जैसे, केन्द्र द्वारा राज्य प्रशासन में बाह्य हस्तक्षेप, राष्ट्रपति द्वारा राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति, अखिल भारतीय सेवाएँ, एकल समाहत न्यायपालिका, एकल नागरिकता, संविधान के संशोधन में राज्यों की नगण्य भूमिका, राज्यों की विधानसभाओं द्वारा पारित कुछ

विधेयकों पर राष्ट्रपति की अन्तिम स्वीकृति, अवशिष्ट शक्तियों का केन्द्र में निहित होना, पूरे देश में एक ही प्रकार के दीवानी तथा फौजदारी कानून, संसद द्वारा राज्यों के नाम, क्षेत्र तथा सीमाओं में परिवर्तन आदि। अन्त में राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारों के अन्तर्गत संकटकाल की घोषणा द्वारा तो स्पष्ट रूप से संघात्मक व्यवस्था को एकात्मक व्यवस्था के रूप में बदला जा सकता है। संविधान के इन उपबन्धों से स्पष्ट होता है कि यद्यपि भारतीय संविधान मूलतः संघात्मक है, तथापि केन्द्र को शक्तिशाली बनाने के लिए इसमें एकात्मक संविधान की अनेक विशेषताओं को समाविष्ट किया गया है। प्रोफेसर व्हीमर के शब्दों में, "भारत का नया संविधान ऐसी शासन-व्यवस्था को जन्म देता है जो अधिक से अधिक अर्द्ध-संघीय है। यह एक ऐसे संघात्मक राज्य की स्थापना करता है जिसमें कतिपय संघीय विशेषताएँ हैं न कि ऐसा संघात्मक राज्य है जिसमें कतिपय एकात्मक विशेषताएँ हैं।" इसी प्रकार डी. डी. बसु ने भी कहा कि, "भारतीय संविधान न तो पूर्णतः संघात्मक है और न पूर्णतः एकात्मक है बल्कि यह दोनों का सम्मिश्रण है। यह एक नवीन प्रकार का संघ है।" यद्यपि इन दोनों विद्वानों के कथनों को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता, तथापि यह तथ्य निर्विवाद है कि भारतीय संविधान एक ऐसी संघात्मक शासन व्यवस्था स्थापित करता है जिसका झुकाव एकात्मकता की ओर है।

(8) एकल नागरिकता—साधारणतया संघात्मक राज्य में दोहरी नागरिकता पायी जाती है—पूरे संघ की नागरिकता तथा प्रत्येक अवयवी राज्य की नागरिकता। स्विट्ज़रलैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधानों में दोहरी नागरिकता की व्यवस्था है जबकि कनाडा और बर्मा के संविधान में एकल नागरिकता की व्यवस्था है। भारत में संविधान निर्माताओं का विचार था कि दोहरी नागरिकता भारत की एकता को बनाये रखने में बाधक सिद्ध हो सकती है। वस्तुतः उनका विचार सही भी था, क्योंकि वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए, जिसमें विभिन्न राज्यों में पृथकतावादी शक्तियाँ सिर उठा रही हैं, दोहरी नागरिकता भारतीय अखण्डता को नष्ट कर देती। अतः संविधान निर्माताओं द्वारा संघ राज्य की स्थापना करते हुए भी एकल नागरिकता के आदर्श को अपनाया गया।

(9) न्यायपालिका की सर्वोच्चता सहित संसदीय प्रभुता—भारतीय संविधान में एक ओर तो न्यायपालिका की सर्वोच्चता स्थापित की गई है तो दूसरी ओर संसद की प्रभुता को भी बनाये रखा गया है। इस प्रकार संविधान में इंगलैण्ड की संसदीय प्रभुता तथा संयुक्त राज्य अमेरिका की न्यायिक सर्वोच्चता के मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया है। डी. डी. बसु के शब्दों में, "भारतीय संविधान अद्भुत ढंग से अमेरिका के न्यायालय की सर्वोच्चता के सिद्धान्त तथा इंगलैण्ड की संसदीय सम्प्रभुता के सिद्धान्त के बीच का मार्ग अपनाता है।" इंगलैण्ड में व्यवस्थापिका सर्वोच्च है तथा ब्रिटिश संसद द्वारा पारित किसी कानून को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। दूसरी ओर अमेरिका के संविधान में न्यायपालिका को संविधान का रक्षक और अभिभावक माना गया है अर्थात् न्यायालय, संघीय काँग्रेस (व्यवस्थापिका) द्वारा पारित किसी कानून अथवा कार्यपालिका के आदेशों का परीक्षण कर यह निश्चित करता है कि कोई कानून या आदेश संविधान के प्रावधानों के विरुद्ध तो नहीं है। संविधान के विरुद्ध कानून और आदेशों को न्यायालय द्वारा अवैध घोषित कर दिया जाता है। इसलिए अमेरिका में न्यायपालिका अत्यधिक शक्तिशाली है।

भारतीय संविधान में संसद की प्रभुता स्वीकार करके भी संघात्मक व्यवस्था के आदर्श के अनुरूप न्यायालय को संविधान की व्याख्या करने तथा उन कानूनों एवं आदेशों को अवैध घोषित करने का अधिकार है, जो संविधान के किसी प्रावधान के विरुद्ध हों। इसके साथ ही संसद को यह अधिकार भी दिया गया है कि आवश्यकतानुसार वह न्यायालय की शक्तियों को सीमित कर सकती है। इस प्रकार भारतीय संविधान संसदीय प्रभुता तथा न्यायपालिका की सर्वोच्चता का समन्वय करता है।

(10) मौलिक अधिकार—भारतीय नेताओं और संविधान निर्माताओं को ब्रिटिश शासन का कटु अनुभव था, जिसके अन्तर्गत उन्हें न केवल राजनीतिक अधिकारों से वंचित किया गया था बल्कि उन पर अमानवीय अत्याचार भी किये गये थे। अतः संविधान निर्माताओं ने शासन की शक्तियों को मर्यादित करने की आवश्यकता अनुभव की। अतः अमेरिका और आयरलैण्ड आदि देशों के संविधान की तरह भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। संविधान की धारा 12 से 15 में नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख किया गया है। मौलिक अधिकारों से आशय नागरिकों के ऐसे अधिकारों व स्वतन्त्रताओं से है, जिन्हें राज्य तथा सरकार के विरुद्ध भी लागू किया जा सकता है। भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त कुछ मौलिक अधिकार इस प्रकार हैं—समता का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार, संस्कृति एवं शिक्षा सम्बन्धी अधिकार, संवैधानिक उपचारों का अधिकार आदि। इन अधिकारों की न्यायालय से माँग की जा सकती है तथा इन अधिकारों का हनन होने पर न्यायालय से प्रार्थना की जा सकती है अर्थात् न्यायालय को मौलिक अधिकारों का संरक्षक बनाया गया है।

संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकार पूर्णतया असीमित एवं अनियन्त्रित नहीं हैं। संविधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि किन परिस्थितियों में और किस प्रकार के उन पर प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं। संकटकालीन स्थिति में इन मौलिक अधिकारों को निलम्बित भी किया जा सकता है। संविधान अधिकारों का केवल परिगणन ही नहीं करता है बल्कि उनकी व्याख्या भी करता है। भारतीय संविधान एक लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना चाहता है, जिसका आधार है—न्याय, स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व। नागरिक अधिकारों का उल्लेख इसी दिशा में एक प्रयास है। मोतीलाल बनाम उत्तर प्रदेश के मुकदमे में न्यायाधीश सप्रू ने कहा था, "संविधान में उल्लिखित मौलिक अधिकारों का उद्देश्य नागरिकों को केवल सुरक्षा तथा समानता प्रदान करना ही नहीं था बल्कि उन्हें चरित्र, नागरिकता, न्याय, सद्व्यवहार का पाठ भी पढ़ाना है।"

(11) राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व—भारतीय संविधान के चौथे अध्याय में शासन संचालन के लिए कुछ मूलभूत सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है, जिन्हें राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व या नीति निश्चित करने वाले तत्त्व कहा जाता है। भारतीय संविधान में इनका विचार आयरलैण्ड के संविधान से लिया गया है। विधि-निर्माण के समय इन तत्त्वों को व्यवहार में लाना संघ तथा राज्य सरकारों का कर्त्तव्य होगा। इन तत्त्वों द्वारा संविधान उस सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था का चित्रण करता है जिसे संविधान के निर्माता भारत में स्थापित करना चाहते थे। जैसा कि श्री जी. एन. जोशी ने लिखा है कि, "ये (तत्त्व) आधुनिक प्रजातन्त्र के लिए व्यापक राजनीतिक,

सामाजिक तथा आर्थिक कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं।" वास्तव में इनका उद्देश्य एक लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। ये शासकों को जनता द्वारा दिये गये आदेश-पत्र हैं। किन्तु मौलिक अधिकारों से इनकी प्रमुख विभिन्नता यह है कि इन्हें कानून की अनुशक्ति प्राप्त नहीं है। इनका पालन कराने के लिए न्यायालय के माध्यम से सरकार को बाध्य नहीं किया जा सकता, जैसा कि स्वयं संविधान के 37वें अनुच्छेद में कहा गया है कि, "नीति निर्देशक तत्त्वों को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता नहीं दी जा सकेगी, फिर भी ये तत्त्व देश के शासन में मूलभूत हैं।" फिर भी लोकमत के भय तथा नैतिक बन्धन के कारण शासन इनको व्यावहारिक रूप देगा, ऐसी आशा की जाती है।

(12) **वयस्क मताधिकार**—यह भारतीय संविधान की एक क्रान्तिकारी अपरम्परागत विशेषता है। प्रोफेसर श्रीनिवासन ने लिखा है, कि, "किसी प्रकार की अर्हता से रहित वयस्क मताधिकार का सूत्रपात करके संविधान सभा ने अत्यन्त साहस और निष्ठा का कार्य किया है।" ब्रिटिश शासन काल में 1909 के भारत परिषद् अधिनियम द्वारा साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का सूत्रपात किया गया था, जो 1919 और 1935 के अधिनियमों द्वारा उत्तरोत्तर विकसित होती रही। फलस्वरूप इस साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति ने भारत के विभिन्न प्रमुख सम्प्रदायों को एक-दूसरे का विरोधी बना दिया था। इसके अतिरिक्त भारत सरकार अधिनियम, 1935 ने केवल 14 प्रतिशत जनसंख्या को मताधिकार प्रदान किया था। किन्तु भारत के नये संविधान के अन्तर्गत साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का अन्त कर वयस्क मताधिकार के आधार पर संयुक्त प्रतिनिधित्व प्रणाली को अंगीकृत किया गया है तथा सभी प्रकार की अर्हताओं को समाप्त कर दिया गया है। करोड़ों व्यक्तियों को एक साथ मताधिकार प्रदान करना संविधान सभा का निःसन्देह एक साहसिक कार्य था। भारत में निर्वाचकों की विशाल संख्या विश्व के सभी देशों से अधिक है।

(13) **लोक-कल्याणकारी राज्य**—भारतीय संविधान का उद्देश्य लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। संविधान की प्रस्तावना में ही संविधान के उच्च आदर्शों तथा भावी समाज का चित्र अंकित कर दिया गया है। इस समाज में नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय, विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और पूजा की स्वतन्त्रता तथा प्रतिष्ठा व अवसर की समानता प्राप्त होगी। मौलिक अधिकारों तथा नीति निर्देशक तत्त्वों के अन्तर्गत भावी समाज की रूपरेखा देखने को मिलती है। मौलिक अधिकारों द्वारा हर प्रकार के सामाजिक तथा राजनीतिक भेदभावों और असमानताओं को समाप्त कर दिया गया है। नागरिकों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रदान कर उन्हें शिक्षा, धर्म और सम्पत्ति के अधिकार दिये गये हैं। राजनीतिक तथा सामाजिक न्याय के अलावा आर्थिक न्याय पर विशेष बल दिया गया है। स्त्री-पुरुषों को जीविकोपार्जन के समान अवसर और अधिकार दिये गये हैं। उत्पादन के साधनों के केन्द्रीयकरण को रोकने की व्यवस्था की गई है, बालक-बालिकाओं तथा नवयुवकों के शोषण और अनैतिकता के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान की गई है तथा श्रमिकों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का निर्देश दिया गया है। अल्पसंख्यकों के धार्मिक, भाषायी और सांस्कृतिक हितों की रक्षा की विशेष व्यवस्था की गई है। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों को सेवाओं, विधान सभाओं और [illegible]